'सभ्यता का संकट' में हम देखते हैं कि अंग्रेज़ों के प्रति, और योरोपीय सभ्यता के प्रति, उनकी श्रद्धा आजीवन बनी रही। इस निबन्ध में उन्होंने लिखा : "मनुष्य के प्रति विश्वास खो देना पाप है।"

'राष्ट्रीयता' किसे कहना चाहिए ? सभी देशों का गठन क्या एक ही पद्धति से हुआ है ? क्या विभिन्न देशों का लक्ष्य एक ही रहा है ? ये प्रश्न भी किसी समय रवीन्द्रनाथ के मन में उठे थे। यह कहना न होगा कि भारत की निजस्वता का अनुसन्धान ही इन प्रश्नों के पीछे था। कवि ने इस सिद्धान्त को माना कि भारतीय सभ्यता का प्रधान आश्रय समाज है और योरोपीय सभ्यता का आश्रय है राष्ट्रनीति। उन्होंने कहा :

"मनुष्य के लिए सामाजिक महत्त्व का भी मूल्य है, राजनैतिक महत्त्व का भी। लेकिन यदि हम सोचें कि योरौपीय नमूने पर ही 'नेशन' का निर्माण करना सभ्यता का लक्षण है और मनुष्यत्व का एक-मात्र उद्देश्य है, तो यह हमारी बड़ी भूल होगी।"

इस तरह की उक्तियों से ऐसा लगता है कि कवि के मतानुसार भारत का पथ और योरोप का पथ एक-दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र है। किसी समय ऐसी ही धारणा की ओर कवि का झुकाव अवश्य था। परन्तु सन् १६१६ में लिखे गए 'कर्तार इच्छाय कर्म' निबन्ध से स्पष्ट है कि उन्हें एक बात में ज़रा भी संदेह नहीं था—जो कुछ भी मानव-जीवन को श्रेष्ठ सार्थकता प्रदान कर सकता है वह कमनीय है, और उसे प्राप्त करने के लिए सबको यत्न करना होगा। कवि कहते हैं :

"यदि कोई जाति किसी प्रकार की महान् सम्पदा प्राप्त करती है तो वह किसलिए ? इसीलिए कि वह उस सम्पदा का देश-देश में, दिशा-दिशा में, वितरण करे। योरोप की मुख्य सम्पदा है विज्ञान, जनसाधारण का ऐक्य-बोध, आत्म-कर्तृत्व। इस सम्पदा और शक्ति को भारत तक पहुँचाना—यही था अंग्रेज़ी शासन का महान् दायित्व। यह दायित्व मानो विधाता का दिया हुआ राजकीय आदेश-पत्र था।···हमारे समाज में, हमारी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी धारणाओं में काफ़ी दौर्बल्य है, इस बात को छिपाने का प्रयत्न बेकार है। फिर भी हम आत्म-कर्तृत्व चाहते हैं। अँधेरे कमरे के एक कोने में यदि एक छोटा-सा दिया टिमटिमा रहा हो तो इसका मतलब यह तो नहीं हुआ कि दूसरे किसी कोने में एक और दीपक जलाने का हमें अधिकार नहीं है। बत्ती चाहे जहाँ की हो, और चाहे जितनी क्षीण हो, हमें दीप तो जलाना ही है।···भारत का चिर-जागृत, चिर-यौवनपूर्ण भगवान् आज हमारी आत्मा को आह्वान दे रहा है। वह कह रहा है कि आत्मा

अपरिमेय है, अपराजित है, अमृत-लोक पर उसका अनन्त अधिकार है। भारत की आत्मा आज अन्ध-प्रथा और प्रभुत्व के अपमान से धूल में मुँह छिपा रही है। युग-युग तक हमारे राशि-राशि अपराध जमा होते रहे हैं, उनके भार से हमारा पौरुष दलित हो गया है, विचार-बुद्धि मुमूर्षु हो गई है। सदियों के इस जंजाल को पूरी शक्ति से दूर हटाने का अब समय आ गया है। आगे बढ़ने के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट है हमारा अतीत; जिसने अपने सम्मोह-वाण से हमारे भविष्य पर आक्रमण किया है। इस अतीत की धूल और सूखे पत्तों से नव-युग का प्रभात-सूर्य मलिन हो गया है, अध्यवसायी यौवन-धर्म पराभूत हो गया है। आज हमें अपनी पीठ को अतीत के बोझ से छुड़ाना है। तभी हम असीम व्यर्थता की लज्जा से बच सकेंगे, नित्य-पुरोगामी मनुष्यत्व के साथ योगदान कर सकेंगे—उस मनुष्यत्व के साथ जो मृत्युञ्जय है, चिर-जागरूक है, सदा सन्धान-रत है, जो विश्वकर्मा के 'दक्षिणहस्त' की तरह है, जो ज्ञान-ज्योति से आलोकित सत्य-मार्ग का अथक यात्री है, जिसके स्वागत के लिए युग-युग में नये तोरण-द्वार बने हैं, और जिसका जयघोष देश-देशान्तर में प्रतिध्वनित हुआ है।"

स्मरण रहे कि 'कर्त्तार इच्छाय कर्म' से बहुत पहले कवि ने 'ततः किम् ?' निबन्ध में प्राचीन भारत के ब्रह्मनिष्ठ गार्हस्थ्य जीवन-आदर्श की चर्चा की थी और कहा था कि यह आदर्श केवल हिन्दुओं के लिए नहीं वरन् समस्त मानव-जाति के लिए कल्याणकारी है।

हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों की समस्या पर भी कवि ने काफ़ी चिन्तन किया था। हिन्दू-मुस्लिम-विरोध से उन्हें बड़ा दुःख होता था। मुख्य समस्या के बारे में उनका मत सदा यही रहा कि सामाजिक व्यवहार में हिन्दुओं की अनुदारता दोनों जातियों के मिलन-पथ में जितनी बड़ी बाधा है उतनी ही बड़ी बाधा मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता भी है। कवि के शब्दों में यह संघर्ष दो 'चिरप्रथाओं' का, दो अनन्य कठोर मतवादों का संघर्ष है। इस तरह देखने से हम कल्पना कर सकते हैं कि समस्या कितनी विकट है। आखिर इसका हल क्या है ? कवि ने कहा :

"इसका हल है मानसिक परिवर्तन, युग का परिवर्तन। जिस तरह योरोप ने ज्ञान और सत्य-साधना की व्याप्ति से मध्ययुगी संकीर्णता को छोड़कर आधुनिक युग में पदार्पण किया, वैसे ही हिन्दू-मुसलमानों को करना होगा, पुरानी वेष्टन रेखाओं से बाहर आना होगा।···हिन्दू-मुसलमानों का मिलन युग-परिवर्तन की माँग करता है।"

हिन्दू और मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य बहुत-से दल और उपदल भी

हमारे देश में हैं। इनमें देश और भाषा के भेद हैं, और इनके अनुयायी विभिन्न मतों और आचार-पन्थों का अवलम्बन करते हैं। देश की समस्या यही है कि ऐसे विचित्र उपादानों से एक सुसंहत राष्ट्र का गठन कैसे हो। स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद इस समस्या का रूप बहुत स्पष्ट हो गया है, लेकिन रवीन्द्रनाथ ने भी उसका महत्त्व भली-भाँति समझा था। अपने लेख 'हिन्दू-विश्वविद्यालय' में उन्होंने इस पर काफी रोशनी डाली है। उनका मूल वक्तव्य यह है :

"कुछ लोग सोचते हैं कि विविधता और जटिलता को अस्वीकार करने से प्रश्न की मीमांसा सरल हो सकेगी, लेकिन वास्तव में इससे समस्या और भी कठिन हो जाती है। वैचित्र्य को स्वीकार करते हुए ही हमें इस प्रश्न की विवेचना करनी है। हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रश्न ही लीजिये। हमारी पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि समस्त देश की प्रगति के साथ इस तरह की संस्था सुसंगत नहीं है। लेकिन हिन्दुओं और मुसलमानों की जीवन-धारा और चिन्ता-धारा में पार्थक्य है। ये अलग-अलग धाराएँ काल्पनिक नहीं हैं और इन्हें यथासम्भव अच्छा रूप मिले यही हमारा प्रयास होना चाहिए।"

'अच्छे रूप' से कवि का क्या अभिप्राय था यह उन्हीं के शब्दों से स्पष्ट है :

"विशेषत्व को दूर हटाकर जो सुविधा प्राप्त होती है वह अस्थायी है, दो दिन का भुलावा-मात्र है। विशेषत्व को महत्त्व प्रदान करते हुए जो सुविधा मिलती है वही सत्य है।"

मतलब यह, कि विशेषता को स्वीकार करना होगा और ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि वह महत्त्व की कसौटी पर उत्तीर्ण हो, देश की साधारण जीवन-धारा में बाधा न बने बल्कि उससे देश की महान् सहायता हो। उदाहरणस्वरूप, हिन्दू और मुसलमान विश्वविद्यालयों में दोनों जातियों की चिन्ता और भावना को अपना-अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त हो और साथ-ही-साथ सारे विश्व के श्रेष्ठ ज्ञान-विज्ञान को भी इन संस्थाओं में स्थान मिले। इसका परिणाम यह होगा कि हिन्दू और मुसलमान अपनी पुरानी जगहों पर अड़े नहीं रहेंगे, विश्व की उच्च चिन्ता-भावना के संस्पर्श से उनमें परिवर्तन होगा।

यह ध्यान देने की बात है कि कवि देशवासियों के प्राचीन संस्कारों को यकायक बदलना नहीं चाहते थे, बल्कि एक महत्तर जीवन-चेतना द्वारा उन्हें सुसंस्कृत और समृद्ध बनाना चाहते थे।

हिन्दू और मुस्लिम-विश्वविद्यालयों की देश में स्थापना हुई है और वहाँ विश्व के ज्ञान-विज्ञान को भी स्थान मिला है। परन्तु क्या इसका परिणाम अपेक्षानुरूप निकला है? कुछ लोग कहेंगे, इस प्रश्न को उठाने का समय अभी नहीं आया।

इस बात को स्वीकार किया जा सकता है। जो कुछ भी हो, कवि के विचारों का जो इंगित था—"विशेषत्व को महत्त्व की कसौटी पर उत्तीर्ण होना है"—उसे देश के सभी लोगों को याद रखना चाहिए, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, बौद्ध या ईसाई, मद्रासी या बंगाली।

व्यक्तिगत जीवन की तरह सामूहिक जीवन के मूल्य के प्रति भी रवीन्द्रनाथ सचेत थे। रूस में अल्पकाल में ही सामूहिक जीवन में जो उन्नति हुई उसे देखकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। अपनी विख्यात पुस्तक 'रूस की चिट्ठी' में उन्होंने एक जगह लिखा है :

"रूस आया हूँ। यदि न आता तो मेरे जीवन में तीर्थ-यात्रा अधूरी ही रह जाती। यहाँ के लोगों ने जो कुछ भी किया वह बुरा है या भला, यह विचार मन में सबसे पहले नहीं उठता। ध्यान जिस बात पर पहले जाता है वह है उनका अद्भुत साहस। मनुष्य के मन-प्राण में, अस्थि-मज्जा में 'सनातनत्व' सहस्र दिशाओं से आकर समाया है। जगह-जगह पर उसके महल बने हैं, द्वार-द्वार पर उसका पहरा लगा है। युग-युग में 'टैक्स' वसूल करके उसने कितनी बड़ी धन-राशि जमा कर रखी है! इस 'सनातनत्व' को रूस के लोगों ने जटा पकड़कर नीचे गिराया है। उनके मन में न भय है, न संशय।"

लेकिन रूस की सामाजिक तथा राष्ट्रीय व्यवस्था में व्यक्ति का मूल्य कम है, और इस बात का कवि ने समर्थन नहीं किया। इस प्रश्न पर उनका वक्तव्य स्पष्ट है :

"शिक्षा-प्रणाली के लिए इन्होंने एक साँचा तैयार कर लिया है। परन्तु साँचे में ढला हुआ मनुष्यत्व कभी टिकता नहीं।"

एक और स्थान पर कहते हैं :

"इसमें सन्देह नहीं कि तानाशाही में अनेक विपत्तियाँ निहित हैं। उससे अति-एकरूपता और अचलता उत्पन्न होनी अनिवार्य है। चालकों और चालितों की इच्छा में पूर्ण संयोग न होने से विद्रोह की आशंका सदा बनी रहती है। इसके अतिरिक्त, बाह्य दबाव से निर्देशित होने की आदत चित्त और चरित्र को दुर्बल कर देती है। हो सकता है तानाशाही से दो-चार फ़सलों में वृद्धि हो, लेकिन अन्दर जड़ों को घातक चोट पहुँचती है।"

सहकारिता की उन्होंने प्रशंसा की :

"हमारे देश के गाव-गाँव में धन-उत्पादन और कार्य-निर्देशन में सहकारिता की नीति सफल हो, यही मेरी कामना है।"

गाँवों की उन्नति के सम्बन्ध में उनके ये शब्द अर्थपूर्ण हैं :

"जब हम इच्छा करते हैं कि हमारे गाँवों की रक्षा हो, तो हमारा यह मतलब नहीं होता कि ग्राम्यता का पुनर्प्रस्थान हो। ग्राम्यता का अर्थ है वह मनोवृत्ति जिससे विद्या, बुद्धि, विश्वास या कर्म का गाँव की सीमा के बाहर की दुनिया से संयोग नहीं होता, जो वर्तमान युग-प्रकृति से पृथक् ही नहीं वरन् उसके विरुद्ध है। हमारे युग की बुद्धि और विद्या की भूमिका विश्व-व्यापी है, यद्यपि अभी तक उसकी आन्तरिक अनुवेदना सम्पूर्ण रूप से विस्तृत नहीं हुई है। हमें गाँव के अन्दर उस प्राण का संचार कराना है जिसके उपादान तुच्छ और संकीर्ण न हों, और जिसके द्वारा मानव-प्रकृति हीन न हो, तिमिरावृत न हो।"

'मानव-प्रकृति किसी तरह हीन या तिमिराच्छादित न हो,' यही रवीन्द्रनाथ के लिए आजीवन साधना का विषय था, और इस सम्बन्ध में वे अत्यन्त सचेत थे। असहयोग आन्दोलन के दिनों में चर्खे का प्रचार देश-भर में किया गया। कवि ने गांधीजी के चर्खा-सम्बन्धी आदेश का विरोध किया, यद्यपि उन्हें महात्मा गांधी के नेतृत्व पर असाधारण श्रद्धा थी। रवीन्द्रनाथ के मतानुसार इस तरह के काम से अन्य लाभ चाहे जो कुछ भी हो, मानसिक उत्कर्ष सम्भव नहीं है।

मानव की महत्तर परिणति में कवि की आस्था 'नारी' शीर्षक अपूर्व निबन्ध में भी व्यक्त हुई है।

रवीन्द्रनाथ कवि भी थे, जीवन-जिज्ञासु भी। कवि के रूप में उनका आनन्द प्रकाशित हुआ सौन्दर्य में—प्रकृति के अशेष सौन्दर्य में और मानव-मन के अन्तहीन सौन्दर्य में। मनुष्य की क्षुद्रता और व्यर्थता से वे दुखी भी बहुत हुए, लेकिन इसके पीछे भी सौन्दर्य-बोध था। जीवन-जिज्ञासु की हैसियत से उन्होंने जीवन की वास्तविक सार्थकता पर विचार किया और जीवन-सम्बन्धी मूलगत प्रश्नों का सामना किया। ये प्रश्न थे—हम जीवित रहकर क्या करेंगे? धर्म क्या है? ईश्वर क्या है? देश के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? अपने 'अहं-तत्त्व'—अर्थात् सभी का 'अहं-तत्त्व'—समाज और राष्ट्र में किस तरह सार्थकता प्राप्त कर सकता है? अपनी जीवन-व्यापी साहित्यिक प्रचेष्टा के द्वारा ही उन्होंने इन सब मूलगत प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया। साधारण अर्थ में न तो वे सामाजशास्त्रज्ञ थे, न राजनीतिशास्त्रज्ञ। परंतु उनकी जीवन-जिज्ञासा अत्यन्त व्यापक थी; समाज और राष्ट्र किस तरह जीवन-विकास के योग्य क्षेत्र बन सकते हैं यह भी उनकी जिज्ञासा का विषय था। इस पक्ष से देखने पर उन्हें समाजशास्त्रज्ञ और राजनीतिज्ञ कहा जा सकता है। उनकी सर्वाधिक तीव्र जिज्ञासा का विषय था अपने युग और देश का जीवन, जिसमें राष्ट्र, व्यक्ति, देश के विभिन्न सम्प्रदाय तथा सामाजिक विभाग, देश के बाहर की दुनिया, इन सभी सम्बन्धित समस्याओं का— अलग-

अलग और सम्मिलित, दोनों रूपों में—समावेश होता है। इन समस्याओं का समाधान वे इस तरह करना चाहते थे कि अपने युग में ही नहीं वरन् सभी युगों में मानव-मन को उनके दिये हुए उत्तरों से आनन्द मिले। यही उनके चिन्तन की मर्यादा थी।

रवीन्द्रनाथ के चिन्तन का मूल विषय—जीवन की महान् परिणति—शिक्षा के क्षेत्र में भी उनके विचारों का केन्द्र-बिन्दु था और ऐसा होना स्वाभाविक ही था। 'जीवन की महान् परिणति'—इस उद्देश्य से प्रेरित होकर शिक्षा के लिए उन्होंने जो आयोजन किया, या करना चाहा, उसीमें रवीन्द्रनाथ का वैशिष्ट्य व्यक्त हुआ है। अन्ततः यही वह क्षेत्र है जिसमें देश को दिया हुआ उनका दान असाधारण मौलिकता रखता है।

उन्होंने स्वयं स्कूल या कालेज में बहुत कम शिक्षा प्राप्त की थी। अपने आपको वे 'स्कूल से भाँगा हुआ लड़का' कहते थे। लेकिन स्कूल से चाहे उन्होंने पलायन न किया हो, पुस्तकों से पलायन किया। स्कूल का बन्धन उन्होंने स्वीकार नहीं किया, फिर भी पढ़ने का आग्रह उनमें कम नहीं था। और जल-स्थल-आकाश-सूर्योदय, ये भी तो उनके नित्य के साथी थे—असीम आनन्द और उल्लास भरे। जीवन की इस अभिज्ञता से उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को रूप मिला।

शिक्षा के सम्बन्ध में कवि का चिन्तन मुख्यतः इन विषयों पर था—मनुष्य का—विशेषतः बालक-बालिकाओं का—शारीरिक और मानसिक विकास; इस विकास पर प्रकृति का प्रभाव; शिक्षा के लिए उचित परिवेश-निर्माण, और हमारी आज की पारिवारिक व्यवस्था की इसके लिए अनुपयुक्तता; शिक्षा और उसके लक्ष्य के बारे में देश में चेतना का अभाव; शिक्षा के विस्तार में बाधाएँ।

परिवेश और शिक्षक के महत्त्व पर कवि ने विशेष रूप से जोर दिया है। पाठ्य-क्रम, शिक्षण-पद्धति इत्यादि प्रश्नों पर भी उन्होंने ध्यान अवश्य दिया, परन्तु योग्य परिवेश की रचना और योग्य शिक्षकों की प्राप्ति, इन समस्याओं की ओर वे विशेष उत्सुकता से झुके! और यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा के क्षेत्र में ये दोनों प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

मनुष्य के शरीर, हृदय और मन के विकास के लिए प्रकृति की अनुकूलता कितनी अर्थपूर्ण होती है, इस सम्बन्ध में कवि का निम्न कथन प्रसिद्ध है :

"खुला आकाश, मुक्त पवन, पेड़-पौधे—ये सब चीज़ें बच्चों की शारीरिक तथा मानसिक सुपरिणति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। कार्यदक्ष लोग भी शायद इस बात को बिलकुल ही अस्वीकार नहीं करेंगे। जब हम बड़े होंगे,

जब 'ऑफिस' हमें अपनी ओर खींचेगा और हम भीड़ की धारा में बहेंगे, जब तरह-तरह के प्रयोजनों से मन आकृष्ट होगा, उस समय हमारे हृदय का विश्व-प्रकृति से विच्छेद होगा। जब तक जल-स्थल-वायु-आकाश से--जिनकी गोद में हमने जन्म लिया है—हमारा परिचय होता रहे; माँ के स्तनों की तरह विश्व-प्रकृति से भी हम अमृत रस प्राप्त करें, उसका उदार मन्त्र ग्रहण करें, तभी हम सम्पूर्ण रूप से मनुष्य बन सकेंगे। जब तक बालकों के हृदय में नूतनता है, कुतूहल सजीव है, इंद्रिय-शक्ति सतेज है, तब तक उन्हें उन्मुक्त आकाश के नीचे मेघ और सूर्य की क्रीड़ा-भूमि में खेलने दो। इस 'भूमा' के आलिंगन से उन्हें वंचित न रखो।···हे प्रवीण अभिभावक, कृपया इन सबको अनावश्यक न कहो। कल्पना को चाहे जितना निर्जीव बनाओ, हृदय को चाहे जितना कठिन करो, तुम्हारी दुहाई है, बस यह एक बात न कहो। अपने बच्चों को विशाल विश्व के बीच विश्व-जननी की प्रत्यक्षलीला का स्पर्श अनुभव करने दो। यह स्पर्श स्कूल-इन्सपैक्टरों के मुआयने से और परीक्षक की प्रश्नावली से कितना अधिक उपयोगी है इसका अनुभव तुम्हें नहीं है, लेकिन उसकी नितान्त उपेक्षा न करो!"

हमारे देश के लोग प्रधानतः गाँवों में रहते हैं। इसलिए इतने दिनों तक सहजभाव से ही उनका लालन-पोषण प्रकृति की गोद में हुआ। लेकिन अंग्रेज़ों के शासन-काल में देश की अवस्था बदली। नगरों और औद्योगिक केन्द्रों की वृद्धि हुई, और अत्यन्त असुन्दर रूप से यहाँ बस्तियों की स्थापना हुई। राजभाषा अंग्रेज़ी ने हमारे मन को आकृष्ट किया। जो अंग्रेज़ी विद्या हमारे पल्ले पड़ी वह अनेज क्षेत्रों में बहुत ही उथली, सभ्य मनुष्य के लिए अशोभनीय थी। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि देश में जिस अस्वाभाविक अवस्था की सृष्टि हुई उसके सम्बन्ध में लोगों में कोई चेतना नहीं थी। ऐसी ही परिस्थिति में रवीन्द्रनाथ ने देश के सामने अपना अत्यन्त अर्थपूर्ण शिक्षा-दर्शन रखा। हम इस दर्शन को 'अत्यन्त अर्थपूर्ण' इसलिए कहते हैं कि अस्वाभाविक अवस्था से छुटकारा पाना व्यक्ति और जाति दोनों के लिए महान् मुक्ति-लाभ हुआ करता है। इस तरह की मुक्ति हमें पूर्ण रूप से मिली है, यह दावा नहीं किया जा सकता। फिर भी यह तो सत्य है कि शिक्षा की अस्वाभाविकता के सम्बन्ध में देश के शिक्षित समाज में आज काफ़ी चेतना है। उदाहरण के लिए इस बात का उल्लेख कर सकते हैं कि आज मातृभाषा की अवहेलना नहीं की जाती। उसे गौरव का आसन प्राप्त हुआ है, यद्यपि उसका अभी यथोचित विकास नहीं हुआ है। व्यापक जन-शिक्षा की दिशा में भी प्रयत्न किये जा रहे हैं।

परिवारिक जीवन में शिक्षा के मार्ग में जो बाधाएँ थीं उनकी चर्चा भी

रवीन्द्रनाथ ने की। इनमें से एक बाधा थी परिवार के कर्त्ता की उत्कट 'साहबियत'। ऐसी 'साहबियत' आज समाज में प्रशंसा नही पाती, यद्यपि धनवान लोगों में से कुछ ऐसे हैं जिनका व्यवहार अब भी आपत्तिजनक है। लेकिन वह दिन अब भी बहुत दूर है जब हम यह कह सकेंगे कि हमारी पारिवारिक व्यवस्था और चाल-चलन बालक-बालिकाओं की उचित शिक्षा के लिए अनुकूल है। संक्षेप में कहा जाय दो इसका कारण है हमारे जीवन में चिंता, आशा और संकल्प की क्षीणता और अस्पष्टता। इस सन्दर्भ में कवि ने कहा था :

"हमारे एक मित्र फलित-ज्योतिष का अध्ययन करते थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा कि जिन लोगों में कोई वैशिष्ट्य नहीं होता, जिनके जीवन में 'हाँ' या 'नहीं'-जैसी किसी वस्तु का चिह्न नहीं होता, उनके सम्बन्ध में ज्योतिष-शास्त्र को ठीक दिशा ही नहीं मिलती। उनके बारे में शुभ या अशुभ ग्रहों का हिसाब लगाना कठिन हो जाता है। तेज़ हवा चल रही हो तो बड़े पाल का जहाज़ दो दिन का रास्ता एक ही दिन में तै कर सकता है, यह अनुमान करते हमें देर नहीं लगती। परन्तु कागज़ की नाव के बारे में अनुमान लगाना मुश्किल होता है—वह डूब भी सकती है, मँडरा भी सकती है। जिसका कोई निश्चित बन्दरगाह नहीं है ऐसे व्यक्ति का क्या अतीत और क्या भविष्य !

समाज मनुष्य को सबसे बड़ी चीज़ जो दे सकता है वह है सबसे बड़ी आशा। समाज के प्रत्येक सदस्य को आशा की पूर्ण सफलता नहीं मिलती, लेकिन जाने-अनजाने इस आशा से प्रत्येक मनुष्य बाध्य होता है और इसीलिए उसकी शक्ति जहाँ तक संभव होता है अग्रसर होती रहती है। किसी भी देश के लिए यही सबसे उच्च वस्तु है।···शिक्षा का अस्तित्व जीवन से अलग नहीं है।

'हम क्या होंगे ?' और 'हम क्या लिखेंगे ?' ये दोनों प्रश्न अविच्छिन्न रूप से संलग्न हैं। पात्र जितना बड़ा है, उससे अधिक जल उसमें समा नहीं सकता।

आज हमारी अभिलाषाएँ बड़ी नहीं हैं। समाज हमें नहीं पुकारता, किसी बड़े त्याग के लिए हमें नहीं खींचता···राजशक्ति भी हमारे जीवन के सामने कोई बृहत् संचार-क्षेत्र उन्मुक्त नहीं करती।

'तुम क्लर्क से बड़े हो, डिप्टी कलक्टर से बड़े हो, मुन्सिफ़ से बड़े हो। तुम्हारी शिक्षा का यह प्रयोजन नहीं है कि आतिशबाज़ी के बाण की तरह पहले तुम्हें स्कूल-मास्टरी तक ऊपर उछाल दे और आखिर पेन्शनरी की धूल में गिरा दे।' यह मंत्र हमारे देश की शिक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है, इस बात का हमें सर्वदा ध्यान रहे। इसे न समझना हमारी सबसे बड़ी मूर्खता होगी। लेकिन समाज में इस बात की चेतना नहीं है, और हमारे स्कूलों में यह शिक्षा नहीं दी जाती।"

मनुष्य के देह-मन की सुपरिणिति के लिए प्रकृति के संस्पर्श की गंभीर अर्थपूर्णता है—शिक्षा के क्षेत्र में कवि का यह चिंतन जितना मूल्यवान् है, उतना ही मूल्यवान् है उनका यह विचार कि आशा-लक्ष्य-संकल्प का अभाव हो तो मानव-जीवन काग़ज़ की नाव की तरह अर्थहीन है, चार दिन का खेल-मात्र है। प्रकृति के प्रभाव की महिमा और आशा-लक्ष्य-संकल्प की नीरव महिमा का प्रत्यक्ष रूप उन्हें मिला प्राचीन भारत के तपोवनों में, गुरु-शिष्यों की जीवन-यात्रा में। शान्तिनिकेतन-आश्रम में उस महान् आदर्श को आधुनिक युग के लिए उपयुक्त रूप देने की चेष्टा कवि ने की।

उनका प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है? इस प्रश्न से भी बड़ा दूसरा प्रश्न है—रवीन्द्रनाथ की परम अर्थपूर्ण उपलब्धि और लक्ष्य का अनुसरण करने का हमने कहाँ तक प्रयत्न किया है?

कविगुरु की जन्म-शतवार्षिकी के अवसर पर यही प्रश्न हमारे लिए संकल्प-मंत्र सिद्ध हो।

क़ाजी अब्दुल वदूद

प्रथम खण्ड

महापुरुष-चरित

१. बुद्धदेव
२. भारत-पथिक राममोहन राय
३. विद्यासागर-चरित
४. महात्मा गांधी

बुद्धदेव

जिसे मेरा हृदय सर्वश्रेष्ठ मानव जानता है, आज वैशाखी पूर्णिमा के दिन उसके जन्मोत्सव में अपना प्रणाम निवेदन करने आया हूँ। यह किसी विशेष उत्सव का उपकरण या अलंकार-मात्र नहीं है। जो अर्घ्य एकांत में बार-बार समर्पण कर चुका हूँ, वही आज यहाँ आपके सामने देता हूँ।

एक दिन बुद्धगया के मंदिर का दर्शन करने गया था। मन में यह विचार उठा था—जिसके चरण-स्पर्श से वसुधा पवित्र हुई वह जब इसी गया में भ्रमण कर रहा था क्यों न मैंने उस युग में जन्म ग्रहण किया, क्यों न समस्त शरीर और मन से उसका पुण्यप्रभाव प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सका ?

लेकिन फिर मैंने यह भी सोचा कि वर्तमान समय की परिधि अत्यन्त संकीर्ण है, क्षणिक घटनाओं के धूलि-चक्र से कलुषित है। इस संकुचित, मलिन युग में उस महामानव को हम परिपूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं कर पाते। इतिहास ने बार-बार उसे प्रणाम किया है। बुद्धदेव के जीवन-काल में क्षुद्र मन की ईर्ष्या और विरोध का आघात उन पर हुआ था, उनके माहात्मय को खर्व करने के लिए तरह-तरह का मिथ्या प्रचार किया गया था। सहस्त्रों लोगों ने उन्हें प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा। ये लोग बुद्धदेव का 'दूरत्व' अनुभव नहीं कर सके। उनकी अलौकिकता का बोध उन्हें यथार्थ रूप से नहीं हुआ, क्योंकि तब तक यथेष्ट समय नहीं बीता था। इसलिए सोचता हूँ कि तत्कालीन घटनाओं की अस्पष्टता के बीच उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया, यह अच्छा ही हुआ।

जो वास्तव में महापुरुष होते हैं वे जन्म लेते ही महान युग में स्थान ग्रहण करते हैं। अतीत में भी वे वर्तमान होते हैं और सुविस्तीर्ण भविष्य में भी विराजते हैं। यह बात मैंने उस दिन बुद्धगया के मंदिर में समझी। मैंने देखा कि दूर जापान से, समुद्र पार करके, एक निर्धन मछुआ मन्दिर में आया हुआ था, अपने किसी दुष्कर्म के लिए पश्चात्ताप व्यक्त करने। निर्जन, नि:शब्द मध्य-रात्रि में एकाग्र मन से हाथ जोड़कर वह बार-बार कह रहा था : 'मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ।'

शताब्दियों पहले की बात है, शाक्य-कुल का राजपुत्र मनुष्य का दुःख दूर करने की साधना से आधी रात को राजमहल त्यागकर बाहर निकल पड़ा था। और उसीकी शरण लेने जापान का वह दुःखी तीर्थयात्री उस दिन बुद्ध-गया के मन्दिर में आया था। उस पाप-परितप्त यात्री के लिए उस समय पृथ्वी की

सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं की अपेक्षा बुद्धदेव अधिक निकट थे। उस मुक्तिकामी के जीवन में बुद्धदेव का जन्म-दिन व्याप्त हो गया था। उस दिन वह यात्री अपने मनुष्यत्व की गंभीर आकांक्षा के प्रकाश में अपने सम्मुख नरोत्तम बुद्ध को देख सका था।

जिस युग में भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था उसमें यदि वे प्रतापशाली राजा के रूप में, या विजयी वीर के रूप में, दुनिया के सामने आते तो उस युग को अभिभूत करके आसानी से सम्मान-लाभ कर सकते। लेकिन वह सम्मान अपनी संकुचित काल-सीमा के बीच लुप्त हो जाता। प्रजा राजा को बड़ा मानती है, निर्धन के लिए धनी महान् है, दुर्बल के लिए प्रबल। लेकिन महामानव की अभ्यर्थना तो वही मानव कर सकता है जिसने मनुष्यत्व की साधना की है, पूर्णता की साधना की है। मानव द्वारा महामानव की स्वीकृति ही महायुग का आधार होता है। आज भगवान् बुद्ध को हम देखते हैं मानव-मन के महासिंहासन पर, महायोग की वेदी पर, जहाँ अतीत का प्रकाश वर्तमान का अतिक्रमण कर रहा है। अपने चित्त-विकार से और अपने चरित्र की अपूर्णता से पीड़ित मनुष्य आज भी उन्हीं के पास आकर कहता है: 'मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ।' चिरकाल तक प्रसारित मानव-चित्त की इस घनिष्ठ उपलब्धि में ही बुद्धदेव का यथार्थ आविर्भाव है।

हम साधारण लोग एक-दूसरे के द्वारा अपना परिचय देते हैं। यह परिचय विशेष श्रेणी का, विशेष जाति का, विशेष समाज का परिचय होता है। पृथ्वी पर ऐसे बहुत कम लोग हुए हैं जो अपने-आप प्रकाशवान् हैं, जिनका आलोक प्रतिबिंबित आलोक नहीं है, जो केवल अपनी महिमा और सत्य से ही संपूर्ण रूप से प्रकाशित हैं। प्रकाश का अंश तो हम बहुत-से बड़े लोगों में देखते हैं—वे ज्ञानी हैं, विद्वान् हैं, वीर हैं, राष्ट्र-नेता हैं; उन्होंने मनुष्य को अपनी इच्छानुरूप चलाया है; उन्होंने अपने संकल्प के आदर्श से इतिहास को संगठित किया है। लेकिन यह तो आंशिक प्रकाश है। पूर्ण मनुष्यत्व का प्रकाश तो केवल उन्हींका है जिन्होंने सभी देशों, युगों और लोगों पर अधिकार किया है, जिनकी चेतना राष्ट्र, जाति या देश-काल की सीमाओं से खंडित नहीं हुई।

सत्य ही मनुष्य का प्रकाश है। इस सत्य के विषय में उपनिषद् का कहना है: 'आतमवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।' जिन्होंने जीव-मात्र को अपने समान समझा है उन्होंने ही सत्य को समझा है। जिन्होंने इस तरह अपने-आपमें सत्य को जाना है उनमें ही मनुष्यत्व प्रकाशित हुआ है। वे अपनी मानव-महिमा से देदीप्यमान हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
आत्मनः सर्वभूतेषु न ततो विजुगुप्सते।

अपने बीच सभी को और सभी के बीच अपने-आपको जो देख सके हैं वे छिपे नहीं रह सकते, प्रत्येक युग में वे प्रकाशित हैं।

मनुष्यत्व का यह प्रकाश आज दुनिया के अधिकांश लोगों में व्याप्त है। कहीं वह स्पष्ट है, कहीं ओझल। पृथ्वी की जब सृष्टि हुई उस समय भूमंडल वाष्प के घने आवरण से ढका हुआ था। उस समय केवल थोड़े-से पर्वत-शिखर इस आवरण से ऊपर उठकर आलोकित थे। आज भी इसी तरह अधिकतर लोग अपने स्वार्थ से, अहंकार से और अवरुद्ध चैतन्य से प्रच्छन्न हैं। जिस सत्य में सर्वत्र आत्मा का प्रवेश है, उस सत्य का विकास अधिकतर लोगों में अपरिणत आस्था में है। मनुष्य की सृष्टि आज भी असंपूर्ण है। असमाप्ति के इस घने आवरण के बीच हमें मनुष्य का परिचय कैसे मिलता यदि प्रकाशवान् महापुरुषों के रूप में मानवता का सहसा आविर्भाव न होता ? मनुष्य का यह महाभाग्य था कि भगवान् बुद्ध में मनुष्य का सत्यस्वरूप देदीप्यमान हुआ। उन्होंने मानव-मात्र को अपने विराट हृदय में ग्रहण किया और मानवता को प्रकाशित किया।' न ततो विजुगुप्सते'—उन्हें गोपन कौन रख सकता है ? देश-काल की कौन-सी सीमा, प्रयोजन-सिद्धि की कौन-सी प्रलुब्धता, उन्हें छिपा सकती है ?

तपस्या के आसन से उठकर भगवान् बुद्ध ने अपने-आपको प्रकाशित किया। इस आलोक की सत्यदीप्ति से भारतवर्ष का प्रकाशन हुआ। मानव इतिहास में उनका चिरंतन आविर्भाव भारत की भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करके देश-देशांतर में व्याप्त हुआ। भारत तीर्थ बन गया, अन्य सभी देशों द्वारा वह स्वीकृत हुआ, क्योंकि बुद्ध की वाणी से उस दिन भारत ने सभी मानव-जाति को स्वीकार किया था। उसने किसी की अवज्ञा नहीं की, इसलिए वह स्वयं गोपन नहीं रहा। सत्य के तूफ़ान ने वर्ण की दीवार को गिरा दिया, और देश-विदेश की सभी जातियों तक भारत का आमंत्रण पहुँचा। चीन और ब्रह्मदेश ने, जापान, तिब्बत और मंगोलिया ने इस आमंत्रण को स्वीकार किया। अमोघ सत्य के संदेश ने दुस्तर गिरि-समुद्र के बीच पथ ढूँढ़ लिया। दूर-दूर तक मनुष्य की यह आवाज़ सुनाई दी : 'मानव का प्रकाशन हुआ, हमने देखा है—महानतम् पुरुषम् तमसः परस्तात्।' इस घोषणा वाक्य को अक्षय रूप मिला मरु-प्रांत की प्रस्तर-मूर्तियों में। अद्भुत अध्यवसाय के साथ मनुष्य ने मूर्ति, चित्र और स्तूप द्वारा बुद्धदेव का वंदन किया। लोगों ने कहा—इस अलौकिक पुरुष के प्रति दुःसाध्य साधनों से ही भक्ति प्रदर्शित करनी होगी। उनके मन को अपूर्व

शक्ति की प्रेरणा मिली। अँधेरी गुफाओं की दीवारों पर उन्होंने चित्र बनाये, भारी-से-भारी पत्थरों को पहाड़ की चोटियों पर ले जाकर उन्होंने मन्दिर बनाये। शिल्प-प्रतिभा ने समुद्र पार करके अपरूप शिल्प-संपदा का निर्माण किया। शिल्पी ने अपना नाम भुला दिया, शाश्वत काल के लिए वह केवल यह मन्त्र छोड़ गया : 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि'। जावा द्वीप में बोरोबुदुर के वृहत् स्तूप की प्रदक्षिणा करते हुए मैंने शत-शत मूर्तियाँ देखी हैं जिनमें जातक-कथाओं की वर्णना है। उनमें से प्रत्येक मूर्ति में शिल्पी का नैपुण्य प्रतिबिंबित है, कहीं लेश-मात्र भी आलस्य नहीं है, अनवधान नहीं है। इसको कहते हैं शिल्प की तपस्या, और साथ-ही-साथ यह भक्ति की तपस्या भी है। यहाँ ख्यातिलोभहीन, निष्काम, कष्टमय साधना है। शिल्पी ने अपनी श्रेष्ठ शक्ति का उत्सर्ग किया चिरस्मरणीय के नाम, चिरवरणीय के नाम। लोगों ने कठिन दुःख स्वीकार करते हुए अपनी भक्ति को सार्थक किया। उन्होंने सोचा—मानव-मात्र की जो चिरंतन भाषा है उसके द्वारा यदि हम अकृपण रूप से अपनी प्रतिभा को व्यक्त न करें तो यह कैसे कह सकेंगे : 'बुद्धदेव समस्त मानव-जाति के लिए आए थे, युग-युगांतर के लिए आए थे?' बुद्धदेव ने मानव से ऐसी अभिव्यक्ति माँगी थी जो दुःसाध्य हो, चिर-जागरूक हो, जो बन्धनों पर विजयी हो। इसीलिए पूर्व महादेश के दुर्गम स्थानों में उनकी जय-ध्वनि पूजा के आकार में प्रतिष्ठित हुई—पर्वत-शिखर पर, मरुभूमि में, निर्जन गुहा में। भगवान बुद्ध को इससे भी महान् अर्घ्य उस दिन मिला जब राजाधिराज अशोक ने शिलालेख द्वारा अपना पाप स्वीकार किया, अहिंसा-धर्म की महिमा को घोषित किया, अपने प्रणाम को शिला-स्तभ पर अंकित करके महाकाल के प्रांगण में सुरक्षित रखा।

इतना बड़ा सम्राट् पृथ्वी ने और भी कोई देखा है? इस सम्राट् को जिस गुरु ने माहात्म्य दान किया उसका आह्वान करने की आवश्यकता जैसी आज है वैसी उस दिन भी नहीं थी जब उसने इसी भारत में जन्म ग्रहण किया था। वर्ण-वर्ण में, जाति-जाति में, आज धर्म के नाम पर अपवित्र भेद-बुद्धि की निष्ठुर मूढ़ता पृथ्वी को रक्तरंजित कर रही है। परस्पर हिंसा से भी अधिक सांघातिक परस्पर घृणा मनुष्य को पग-पग पर अपमानित कर रही है। भ्रातृ-द्वेष से कलुषित इस अभागे देश में आज हम उत्कंठापूर्वक उन्हें स्मरण करते हैं जिन्होंने सभी जीवों के प्रति मैत्री का मुक्तिपथ बताया था। उन्हीं की वाणी आज भी सुनता चाहते हैं। मानव की श्रेष्ठता का उद्धार करने के लिए वह श्रेष्ठ मानव पूजा-वेदी पर आविर्भूत है। सबसे बड़ा दान श्रद्धा-दान होता है, और इस दान से बुद्धदेव ने किसी मनुष्य

को वंचित नहीं रखा। जिस दया को, जिस दान को उन्होंने धर्म कहा, वह दूर से दिया हुआ अर्थदान नहीं, वह अपने-आपका दान है। वह धर्म कहता है: 'श्रद्धापूर्वक दान करो!' डर यही है कि अपनी श्रेष्ठता, पुण्य या धन के अभिमान से हमारा दान अपमानित न हो, अधर्म में परिणत न हो। इसीलिए उपनिषद् में कहा है 'भ्रिया देयम्'—भय करते हुए दान दो। किसका भय? धर्म-कर्म के द्वारा मनुष्य के प्रति श्रद्धा खो देने की जो आशंका है उसीसे हमें डरना चाहिए। आज भारत में धर्मविधि की प्रणाली से चारों ओर मनुष्य के प्रति अश्रद्धा प्रसारित हुई है। इसकी भयानकता केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के क्षेत्र में भी देश के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है। इस बात को आज हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं। राजनीति के पथ से, या किसी बाह्य उपाय से, क्या इस समस्या का कभी समाधान हो सकता है?

एक दिन भगवान् बुद्ध राज्य-सम्पदा का त्याग करके तपस्या करने बैठे थे। उसके पीछे समस्त मानव-जाति के दुःख-मोचन का संकल्प था। उस तपस्या में क्या कोई अधिकार-भेद था? उनके लिए कोई म्लेच्छ था? कोई अनार्य था? उनका सर्वस्व-त्याग दीनतम, मूढ़तम मनुष्य के लिए भी था। उनकी तपस्या के बीच सभी देशों के, सभी लोगों के प्रति श्रद्धा थी। उनकी इतनी बड़ी तपस्या आज क्या भारत से विलीन होगी?

मैं पूछता हूँ, एक-दूसरे के बीच दीवार खड़ी करके हम आखिर किस चीज़ की रक्षा कर पाए हैं? एक दिन हमारे पास धन से परिपूर्ण भंडार था। क्या वह बाहर के आघात से टूट नहीं गया? क्या उसका कोई चिह्न बाकी है? आज एक के बाद एक प्राचीर बनाकर हमने मनुष्य के प्रति आत्मीयता को अवरुद्ध कर दिया है। देवता के मंदिर-द्वार पर पहरा लगा दिया है। देवता पर अपने अधिकार को भी कृपण की तरह हमने छिपा रखा है। दान और व्यय द्वारा जो धन गया उसे तो हम बचा नहीं सके। लेकिन जिस धन की दान द्वारा क्षति नहीं बल्कि वृद्धि होती है उस धन को—मनुष्य के प्रति श्रद्धा को—हमने साम्प्रदायिकता के संदूक में ताला लगाकर बन्द कर दिया। पुण्य का भंडार हमारे लिए विषयी का भंडार हो गया। एक दिन जिस भारत ने मनुष्य के प्रति श्रद्धा द्वारा समस्त पृथ्वी में अपना मनुष्यत्व उज्ज्वल किया था, आज वही देश अत्यन्त संकुचित रूप से अपना परिचय देता है। मनुष्य के प्रति अश्रद्धा दिखाकर वह स्वयं मनुष्य की अश्रद्धा का भागी हो गया है। आज मनुष्य-मनुष्य में विरोध है, क्योंकि आज मनुष्य सत्यभ्रष्ट हो गया है, उसका मनुष्यत्व प्रच्छन्न हो गया है। तभी आज सारी पृथ्वी पर एक-दूसरे के प्रति इतना संदेह, इतना आतंक, इतना आक्रोश है। आज वह

दिन आ गया है जब हम महामानव को पुकारकर प्रार्थना करें—'तुम अपने प्रकाश द्वारा फिर मानव को प्रकाशित करो !'

भगवान् बुद्ध ने कहा था, 'अक्रोध के द्वारा क्रोध पर विजय लाभ करो !' आज से कुछ वर्ष पहले पृथ्वी पर महायुद्ध हुआ था। एक पक्ष विजयी हुआ—वह विजय बाहुबल की विजय थी। लेकिन बाहुबल तो मनुष्य का चरम बल नहीं। इसलिए मानव-इतिहास की दृष्टि से वह विजय निष्फल है। उसने केवल नये युद्ध के बीज बोये हैं। मनुष्य के अंदर अभी तक 'पशु' जीवित है। वही पशु हमें यह समझने नहीं देता कि मनुष्य की वास्तविक शक्ति अक्रोध में है, क्षमा में है। इसीलिए मानव-सत्य के प्रति श्रद्धा रखते हुए मानव के गुरु ने कहा—'अपने क्रोध को और दूसरों के क्रोध को अक्रोध द्वारा पराजित करो !' यदि ऐसा न किया तो जिसके लिए मनुष्य मनुष्य हुआ है वह व्यर्थ हो जायगा। बाहुबल की सहायता से यदि हम क्रोध पर और प्रतिहिंसा पर विजय प्राप्त करें तो हमें शान्ति नहीं मिल सकती। क्षमा में ही शान्ति है। यह बात जब तक मनुष्य अपनी राजनीति और समाजनीति में स्वीकार नहीं कर सकेगा, तब तक अपराधी का अपराध बढ़ता जायगा; राष्ट्रीय विरोध की अग्नि नहीं बुझेगी; कारागृह की दानविक निष्ठुरता से, और सशस्त्र सैन्य-शिविर के भृकुटि-विक्षेप से, पृथ्वी की मर्मांतक पीड़ा उत्तरोत्तर दुःसह होती जायगी, कहीं उसका अंत नहीं दिखाई पड़ेगा। पाशविकता की सहायता से सिद्धि-लाभ की दुराशा मनुष्य में है। जिन्होंने इस दुराशा से मनुष्य को मुक्त करना चाहा था उनके शब्द थे : 'अक्कोधेन जिनेत् कोधः।' मनुष्यत्व के जगद्व्यापी अपमान के इस युग में आज वह दिन आ गया है कि हम उस महापुरुष को स्मरण करें और कहें : 'बुद्धमृ शरणम् गच्छामि'। हम उन्हीं की शरण लेंगे जिन्होंने अपने बीच मानव को प्रकाशित किया। उन्होंने जिस मुक्ति की बात कही वह सकारात्मक है, नकारात्मक नहीं; वह मुक्ति कर्म-त्याग से नहीं मिलती, साधुकर्म से और आत्मत्याग से मिलती है; उस मुक्ति का आधार केवल राग-द्वेप-वर्जन नहीं है, बल्कि सभी जीवों के प्रति अपरिमित मैत्री-साधना है। आज के दिन जबकि हम चारों ओर स्वार्थ-क्षुधा से अंध वैश्य-वृत्ति देखते हैं, निर्मम निःसीम लुब्धता देखते हैं, हम उसी बुद्ध से शरण माँगते हैं जिसके आविर्भाव में विश्व-मानव का सत्य रूप प्रकाशित हुआ।

[१८ मई, १९३५ को महाबोधि सोसाइटी, कलकत्ता में बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर दिया गया अध्यक्षीय सम्भाषण। 'प्रवासी' में (आषाढ़ १३४२ बँगला संवत्) जून, १९३५ में प्रकाशित।]

भारत-पथिक राममोहन राय

इतिहास में हम देखते हैं कि प्राचीन काल की अनेक महान् राष्ट्रीय सभ्यताओं का उन देशों की नदियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। नदी देश को जल देती है, अन्न देती है—लेकिन इससे भी बड़ा उसका एक दान है। वह देश को गति देती है। सुदूर बाह्य-जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। स्थावर शरीर के बीच प्राण-धारा प्रवाहित करती है।

जो देश नदी पर निर्भर है उसमें यदि नदी की धारा सूख जाय तो मिट्टी कृपण बन जाती है, अन्न-उत्पादन की शक्ति क्षीण हो जाती है। देश की अपनी जीविका चाहे किसी-न-किसी तरह चल भी जाय, बाहर के बृहत् संसार के साथ उसका योग विच्छिन्न हो जाता है। फिर वह देश न कुछ दे पाता है, न कुछ ग्रहण कर पाता है। अपने-आपमें ही वह अवरुद्ध हो जाता है, उसकी ऐक्यधारा विभाजित हो जाती है। देशवासियों के मिलन का पथ दुर्गम हो जाता है। वह देश बाहर से पृथक् और अंदर से खंडित हो जाता है।

जिस तरह विशिष्ट देश 'नदी-मातृक' होते हैं उसी तरह कभी-कभी जन-चित्त भी नित्य प्रवाहित मनन-धारा पर सर्वतया निर्भर होता है। इसी मनन-धारा के योगदान से वह चित्त बाहर की शक्ति को आत्मसात् करता है और उसके आंतरिक भेद-विभेद दूर हो जाते हैं। यह प्रवाह चिंतन-क्षेत्र की नई-नई सफलताओं से परिपूर्ण रहता है, समस्त देश और समस्त युग को समृद्ध बनाता है।

कभी भारत का भी ऐसा ही चित्त था, जिसकी अपनी गतिशील मनन-धारा थी। उसमें यह कहने की क्षमता थी : 'आयन्तु सर्वतः स्वाहा'—सब लोग आयें, सब दिशाओं से आयें—; 'श्रृण्वन्तु विश्वे'—विश्व के सब लोग सुनें। और इस चित्त ने कहा था : 'वेदाहम्'—मैं जानता हूँ; जो जानता हूँ वह सारे विश्व को आमंत्रित करके सुनाने योग्य है। जो तारा ज्योतिहीन हो जाता है उसे नक्षत्र-लोक स्वीकार नहीं करता। प्राचीन भारत ने नित्यकाल के बीच अपने परिचय का दीप जलाया। अपना दान करके, अपने दाक्षिण्य से, वह विश्व-लोक में प्रकाशित हुआ। उस दिन वह अकिंचन नहीं था, नगण्य नहीं था।

सदियाँ बीत गईं। इतिहास की पुरगामिनी धारा रुक गई। भारतवर्ष के मनोलोक में चिन्ता की महानदी सूख गई। देश वृद्ध हो चला, संकीर्ण हो उठा,

उसके सजीव चित्त के तेज का दूर-दूर तक प्रसारित होना बंद हो गया। जब नदी सूख जाती है तो उसकी धारा के नीचे जो पत्थर और रोड़े रहते हैं वे ऊपर आकर रास्ता रोक लेते हैं। ये असंलग्न, अर्थहीन पत्थर पथिकों के मार्ग में विघ्न बन जाते हैं। इसी तरह का दुर्दिन जब हमारे देश में आया तब ज्ञान की गति अवरुद्ध हो गई, नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि निर्जीव हो गई। निश्चल आचार-पुंज, आनुष्ठानिक निरर्थकता, विचारहीन लोक-व्यवहार की पुनरावृत्ति––इन सबका प्रकट रूप देश के सामने आया। जनता का प्रशस्त राजपथ इन सबसे वाधाग्रस्त हो गया। मतुष्य का मनुष्य के साथ सम्वन्ध विच्छिन्न हो गया।

निद्रा की अवस्था में मन की सब खिड़कियाँ बंद हो जाती हैं। मन बन्दी हो जाता है। उस समय जिन स्वप्नों से मन अपने-आपको बहलाता है उनका विश्व-सत्य के साथ कोई योग नहीं रहता। सुप्त मन के ऊपर ही उनका प्रभाव केन्द्रित रहता है, चाहे वे स्वप्न कितने ही अद्भुत और उत्कट क्यों न हों। बाहर के वास्तव-राज्य से इस स्वप्न-राज्य तक पहुँचने के लिए कोई पथ खुला नहीं रहता। यह स्वप्न विनोद की सामग्री हो सकते हैं, किन्तु उन पर विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे युक्ति से परे होते हैं।

ऐसे ही अर्थहीन आचार के स्वप्न-जाल में भारतवर्ष जकड़ा हुआ था। उसका आलोक प्रायः बुझ चुका था। अपने प्रति अपना ही सत्य परिचय देने में वह असमर्थ हो गया था। ऐसे समय, आत्म-विस्मृति के अन्धकार में, राममोहन राय का आविर्भाव हुआ। उस समय भारत का इतिहास निरादर की कालिमा से आच्छन्न था। भारत अपनी वाणी खो चुका था। पृथ्वी के नवीन युग के लिए उसके पास कोई संदेश नहीं था। घर के एक कोने में बैठकर वह मृतयुग का मंत्र जप रहा था। इस तरह जब देश अपनी दुर्बलता और अपमान से अभिभूत था, वाहर के लोग उसके द्वार पर आये। ऐसा कोई उपाय नहीं था कि अपने सम्मान की रक्षा करते हुए देश उनकी अभ्यर्थना करता। आगन्तुक को गृह-स्वामी अतिथि के रूप में नहीं पुकार सका। उसके स्वर्ण भण्डार का दरवाजा तोड़कर आगन्तुक ने दस्यु के रूप में प्रवेश किया।

भारत उस दिन अपने चित्त के लिए नवीन अन्न उत्पादित न कर सका, उसका खेत जंगली लताओं और घास से भरा हुआ था। ऐसे दुर्दिन में राममोहन राय ने सत्य की क्षुधा लेकर जन्म ग्रहण किया। इतिहास की प्राणहीन, परित्यक्त वस्तुओं से, बाह्यविधि की कृत्रिमता से, उन्हें तृप्ति नहीं मिली। न जाने कहाँ से वे अपने साथ ऐसा उत्सुक मन लाये जिसमें ज्ञान का आग्रह था, जो सम्प्रदायों का वेष्टन तोड़कर बाहर निकल आया। चारों ओर लोग जिन

बातों में मग्न थे उनके प्रति राममोहन का मन उदासीन था। वह चाहता था मोह-मुक्त बुद्धि का ऐसा आश्रय-स्थान जहाँ समस्त मानव जाति का मिलन-तीर्थ है।

वेष्टन तोड़ने की इस साधना का ही अर्थ है भारत में मिलन-तीर्थ का उद्घाटन करना। यह साधना विशेष रूप से भारतवर्ष की है। इंग्लैं छोटे-से द्वीप की सीमाओं में बद्ध है, इसीलिए उसकी साधना 'द्वीपभाव' के विपरीत दिशा में जाती है। दूर-दूर तक वह अपने-आपको विस्तारित करना चाहता है। देश की विशेष अवस्था के अनुसार ही उसकी माँगें सामने आती हैं, उसकी अभाव-पूर्ति का प्रयास होता रहता है।

प्रत्येक जाति और देश का अपना निहितार्थ होता है, अपनी विशेष समस्या होती है। उस अर्थ को पूरा करना पड़ता है निरन्तर प्रयास द्वारा। प्रयास से ही देश के चरित्र की सृष्टि होती है, उसकी रचनात्मक शक्ति को बल मिलता है। मनुष्य को प्रतिक्षण अपना मनुष्यत्व जीतना होता हे। प्रत्येक जाति का इतिहास इसी जय-यात्रा का इतिहास है। कठिन बाधाओं को दूर करने का पथ ही स्वास्थ्य और सम्पदा का पथ है। इसीलिए कहा गया है : 'वीर भोग्या वसुन्धरा'। मानव दुर्गम को सुगम बनाने के लिए आया है, दुर्लभ को उपलब्ध करने के लिए उसने पृथ्वी पर पदार्पण किया है। प्रत्येक देश के सामने विधाता ने विशेष समस्या रखी है, और उसका वास्तविक समाधान करते रहने में ही उस देश का परित्राण है। जिन्होंने समाधान करने में भूल की उनका विनाश हुआ, और जिन्होंने यह समझा कि ऐसी कोई समस्या ही नहीं है जिसका समाधन करना आवश्यक है, उनकी दुर्गति हुई। जब तक मनुष्य में प्राण है अविरत समस्या-पूर्ति में लगे रहना ही जीवन-क्रिया है। हमारे चारों ओर जड़त्व और जटिलता की बाधाएँ हैं। इतिहास सिखाता है कि पके हुए बालों की जटा को जब सनातन समझकर उसकी पूजा की जाती है तो वही जटा फाँस बनकर गला घोटती है।

मानव-इतिहास की मुख्य समस्या क्या है? यही कि अन्धता और मूर्खता के कारण मनुष्य का मनुष्य से विच्छेद हो जाता है। मानव-समाज का सर्व-प्रधान तत्त्व है मनुष्य-मात्र का ऐक्य। सभ्यता का अर्थ है एकत्र होने का अनु-शीलन। जहाँ इस ऐक्य-तत्त्व की उपलब्धि क्षीण होती है वहीं यह दुर्बलता तरह-तरह की व्याधियों का रूप धारण करके देश पर चारों ओर से आक्रमण करती है।

भारतवर्ष की समस्या स्पष्ट है। यहाँ अनेक जातियों के लोग एकत्रित हुए हैं। पृथ्वी के किसी दूसरे देश में ऐसी परिस्थिति नहीं है। जो एकत्र हुए हैं

उन्हें एक करना ही होगा, यही है भारत की सर्वप्रथम समस्या। और यह एकीकरण बाह्य व्यवस्था से नहीं, आंतरिक आत्मीयता से ही हो सकता है। इतिहास का मंत्र है 'संगच्छध्वं, संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्'—एक होकर चलेंगे, एक होकर बोलेंगे, सबके मनों को एक जानेंगे। इस मंत्र की साधना भारत में जैसी दुरूह और कठिन है, वैसी और किसी देश में नहीं है। लेकिन वह कितनी ही दुरूह क्यों न हो, इस साधना के अतिरिक्त देश की रक्षा का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

किसी दूसरे देश की श्रीवृद्धि से जब हम मुग्ध हो जाते हैं तब बहुधा हम उस देश की साधना के परिणत रूप पर ही दृष्टिपात करते हैं। जिस दुर्गम पथ पर चलकर वह साधना सफल हुई है उसे हम नहीं देखते। किसी स्वाधीन देश की राष्ट्र-व्यवस्था देखते ही हम यह सोचने लगते हैं कि उस व्यवस्था की अपने देश में प्रतिमा स्थापित करके ही हमारा उद्धार होगा। हम भूल जाते हैं कि राष्ट्र-व्यवस्था तो शरीर-मात्र है; यदि उसमें प्राण न हों तो शरीर निरर्थक है। वह प्राण है जातिगत ऐक्य। अन्य देशों में इस ऐक्य की आंतरिक शक्ति से ही राष्ट्र-व्यवस्था की रचना हुई है। और उन देशों में भी जिस मात्रा में एकता विकृत हुई थी उसी मात्रा में समस्या कठिन हो उठी थी। हमारे देश में जाति-जाति में पार्थक्य है, पश्चिमी महादेश में श्रेणी-श्रेणी में भेद है। श्रेणीगत पार्थक्य में भी यदि आंतरिक सामंजस्य स्थापित न हो तो बाह्य व्यवस्था की रक्षा नहीं हो सकती।

यदि हम किसी खेत में अच्छी फसल देखें, तो शुरू से ही हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि फसल बालू में नहीं, बल्कि मिट्टी में उत्पन्न हुई है। मरुभूमि में देखा जाता है कि पेड़-पौधे एक-दूसरे से अलग बिखरे हुए रहते हैं, और प्रत्येक की प्रवृत्ति होती है काँटों के वेष्टन से अपने-आप को बचाना। वहाँ धरती माता एक रस से सबका परिपोषण नहीं करती। उनके प्राणों में परस्पर ऐक्य का अभाव होता है। मुख्य कारण यह है कि वहाँ मिट्टी के कण-कण में बन्धन है, बालू के कण-कण में विच्छेद है। जब हम किसी समृद्ध देश का इतिहास पढ़ते हैं तो उसके हरे-भरे खेतों पर हमारा ध्यान जाता है, और उस देश की कृषि-प्रणाली का भी हम, परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए, यत्नपूर्वक अध्ययन करते हैं। लेकिन हम यह बात भूल जाते हैं कि ये हरे-भरे खेत न होते यदि भूमि में विच्छिन्नता होती। खेती करने का हम अधिकार माँगते हैं, और अच्छी फसल की आशा भी करते हैं, लेकिन हमारी भूमि की प्रकृति में जो विच्छेद है उसे नहीं देखते, उसे नगण्य जानते हैं। यही नहीं, धर्म के नाम पर उस विच्छेद को बनाए रखने की

चेष्टा करते हैं। इतिहास की पुस्तक का हम केवल आवरण देखते हैं, उसके पन्ने नहीं उलटते। हम भूल जाते हैं कि किसी भी देश में सामाजिक विशिष्टता के आधार पर राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघटित नहीं हुआ है। जहाँ जनता विभक्त है वहाँ किसी विशेष व्यक्ति का एकाधिपत्य बाह्य बन्धन में लोगों को जकड़ रखता है। और यह एकाधिपत्य भी अधिक समय तक नहीं रहता, बार-बार हस्तांतरित होता रहता है। जहाँ मनुष्य-मनुष्य में विच्छेद है वहाँ राष्ट्रीय शक्ति के साथ-साथ बुद्धि भी शिथिल हो जाती है। वहाँ कभी-कभी प्रतिभाशाली व्यक्तियों का अभ्युदय हो सकता है, लेकिन उनकी प्रतिभा के दान को धारण और पोषण करने की क्षमता सर्वसाधारण में नहीं होती, और इसलिए वह प्रतिभा-दान पहले विकृत और फिर विलुप्त हो जाता है। ऐक्य के अभाव से मनुष्य बर्बर हो जाता है, ऐक्य की शिथिलता से मनुष्यत्व व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि सहकारिता ही मनुष्य का सत्य धर्म है, उसकी श्रेष्ठता का आधार है।

ऐक्य-बोध का उपदेश जिस गम्भीरता से उपनिषदों में दिया गया है वैसा किसी दूसरे देश के शास्त्रों में नहीं मिलता। भारतवर्ष में ही ये शब्द कहे गए: 'विद्वान् इति सर्वान्तरस्थ: स्वसंविद् रूपविद् विद्वान्'—अपने चैतन्य को जो सभी के अन्तर में स्थित जानते हैं वही विद्वान् हैं। फिर भी इसी भारत में असंख्य कृत्रिम और अर्थहीन विधियों द्वारा परस्पर को पृथक् करके जाना गया है, जैसा कि पृथ्वी के किसी और देश में नहीं हुआ। इसलिए हमें यह कहना ही पड़ता है कि भारत में एक बाह्य स्थूलता है जो उसके आंतरिक सत्य के बिलकुल विरुद्ध है, और जिसका मर्मांतक आघात भारत के इतिहास में दीर्घकाल तक दु:ख, दारिद्र्य और अपमान में व्यक्त होता आया है।

इस द्वन्द्व के बीच भारत की शाश्वत वाणी को विजयी बनाने के लिए युग-युग में महापुरुषों का आविर्भाव हुआ है। वर्तमान युग में राममोहन राय ऐसे महापुरुषों में अग्रणी हैं। पहले भी कई बार भारत में निविड़ अन्धकार के बीच ऐक्य-वाणी सुनाई पड़ी है। मध्ययुग में अचल संस्कारों के पिंजरे का द्वार खोलकर प्रभात के सजग पक्षी बाहर निकल पड़े। सामाजिक जड़त्व-पुंज से उठकर खुले आकाश में उन्होंने नव-आलोक के वंदन-गीत गाये। वे उसी मुक्त-प्राण का सन्देश लाये जिसे सम्बोधन करके उपनिषद् में कहा गया है: 'व्रात्यस्त्यम्'—हे प्राण, तुम व्रात्य हो, संस्कार से विजड़ित नहीं हो, अचल नहीं हो। इन मुक्तिदूतों में एक थे कबीर, जिन्होंने भारत-पथिक के रूप में अपना परिचय दिया है। घने जंगलों के बीच भारत का पथ जिन्हें स्पष्ट दिखाई पड़ा था उनमें से एक और थे दादू। वह कहते हैं—

'भाई रे ऐसा पन्थ हमारा
द्वैपख-रहित पन्थ गहि पूरा अवरण एक अधारा।'

भाई, हमारा पन्थ पक्षभेद-रहित है, वर्णहीन है, एक है। दादू ने और भी कहा है—

'जाको मारन जाइये सोई फिरि मारै,
जाको तारन जाइये सोई फिरि तारै।'

उन्हींके शब्द हैं—

'सब घट एकै आतमा, क्या हिन्दु-मुसलमान।'

रज्जब भी उन दिनों के ऐसे ही साधुओं में से थे जिनके लिए भारत का पथ सुगोचर था। वह कहते हैं—

'बुन्द-बुन्द मिलि रस सिन्धु है, जुदा-जुदा मरु भाय।'

विन्दु से बिन्दु मिलकर ही रस का सागर बनता है, बिन्दु से बिन्दु पृथक् होता है तो रेगिस्तान बनता है। रज्जब ने यह भी कहा था—

'हाथ जोड़ूँ गुरुसूँ हौं मिले हिन्दु-मुसलमान।'

मैं गुरु के सामने हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि हिन्दू-मुसलमान मिल जायँ।

भारत के इन पथिकों ने जिस मिलन की बात कही थी वह मिलन मनुष्यत्व की साधना में है, भेद-बुद्धि और अहंकार से मुक्ति-लाभ की साधना में है— राष्ट्रीय प्रयोजन की साधना में नहीं। ऐक्य का यही पथ भारत का यथार्थ पथ है। आधुनिक काल में राममोहन राय इसी पथ के पथिक हुए हैं। उन्होंने अपनी शुभ बुद्धि से भारत के इतिहास में संयुक्त मानव का एक महान् रूप देखा था। यह रूप उन्होंने प्रयोजन की दिशा से नहीं देखा, वरन् मानव-आत्मा का जो आंतरिक मिलन-धर्म है उसके नित्य आदर्श से प्रेरित होकर देखा था। भारत के उदार प्रशस्त मार्ग पर उन्होंने सबको बुलाया, जिस मार्ग पर हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सबका अविरोध मिलन सम्भव है। यदि यह विपुल मार्ग भारत का अपना नहीं है, यदि आचार के कंटकमय वेष्टन से घिरी हुई साम्प्रदायिक खंडता ही भारत की नित्य प्रकृति के अनुकूल है तब तो हमारी रक्षा का कोई उपाय नहीं। हमारे देश में मुसलमान आये हैं, ईसाई आये हैं—

'साधन माहिं जोग नहीं जै, क्या साधन परमाण।।'

ऐतिहातिक साधना से इन सबका यदि हम मिलन नहीं करा पाते तो हमारी साधना प्रमाणित कैसे होगी? इनको अंगीकार करने की प्राण-शक्ति यदि भारत में नहीं है, पत्थर की तरह कठिन होकर इन्हें बाहर रोके रखना ही यदि हमारा धर्म है, तो ऐसी अनात्मीयता का दारुण भार कौन सह सकेगा?

प्रतिदिन क्या लोग दलों में विभाजित होकर नीचे नहीं गिर रहे हैं ? समाज के निम्न स्तर में क्या एक गह्वर नहीं बढ़ता जा रहा है ? अपने लोग जब पराये हो जाते हैं तो उनमें कठोरता आ जाती है, इस बात का प्रमाण क्या हमें नहीं मिल रहा है ? जिनकी उपेक्षा करते हैं उनसे हम अलग हो जाते हैं, जिनको हम स्पर्श नहीं करते उन पर हमारा अधिकार भी नहीं चलता। अपनों को परकीय बनाने के सहस्रों मार्ग हमने प्रशस्त कर रखे हैं, और इन्हीं मार्गों पर चलकर शनि के जितने अनुचर हैं सबने देश में प्रवेश किया है। अपनी विशाल जन-तरणी के तख्तों को अलग-अलग करके रखना ही यदि भारत का चिरकालीन धर्म है तो बाहर की लहरों को शत्रु घोषित करके आक्रोश करना बेकार है। तब तो विनाश के लवणश्रु-सागर में डूब जाने को भारतीय इतिहास का चरम लक्ष्य मानकर निश्चेष्ट बैठे रहना ही श्रेयस्कर है। अन्दर आये हुए पानी को बाल्टियों से निकालते-निकालते हम अपनी जीर्ण भाग्य-नौका को कब तक चला सकेंगे ?

हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व के आरम्भ-काल में ही राममोहन राय का पदार्पण हुआ। उस समय युग के मर्म को न विदेशियों ने पहचाना था, न भारतवासियों ने। केवल राममोहन राय समझ सके थे कि इस युग का आह्वान महान् ऐक्य का आह्वान है। ज्ञानालोक से प्रदीप्त उनके उदार हृदय में हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सबके लिए स्थान था। उनका हृदय भारत का हृदय है, उन्होंने अपने-आप में भारत का सत्य परिचय दिया है। भारत का सत्य परिचय उसी मनुष्य में मिलता है जिसके हृदय में मनुष्य-मात्र के लिए सम्मान है, स्वीकृति है।

सभी देशों में दो विरोधी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व देखा जाता है। एक वह पक्ष होता है जिसमें देश अपनी श्रेष्ठता का स्वयं ही खंडन करता है, अन्धता और अहंकार से अपने-आपको छोटा करता है। यह पक्ष अभावार्थक है, देश का कृष्ण पक्ष है, जिसमें उसकी क्षति दिखाई पड़ती है। दूसरा पक्ष वह है जिसमें देश का आलोक है, निहितार्थ है, चिरसत्य है। यही पक्ष भावार्थक है, प्रकाशात्मक है। इस दिशा से देश का परिचय म्लान न हो तो उसका गौरव चिरकाल के लिए बना रहता है।

किसी समय योरोप के सभी देशों में डायनों-चुड़ैलों के अस्तित्व में लोगों का विश्वास था। इस विश्वास के कारण सैकड़ों निरपराध स्त्रियों को जला दिया गया। किन्तु यह अन्धता का पक्ष योरोप का आंतरिक भाव व्यक्त नहीं करता, इसलिए ऐसा विश्वास रखने वाले लोगों की गिनती करके उसके द्वारा योरुप का

मूल्यांकन करना अविचार होगा। एक दिन योरोप की धार्मिक मूढ़ता ने जिओ-रडॅनो ब्रूनो को जलाकर उसकी हत्या की, लेकिन उस दिन चिता पर जलते-जलते जिओरडॅनो ने ही योरोप के चित्त का परिचय दिया। उस चित्त को साम्प्रदायिक जड़बुद्धि ने उस समय अस्वीकार किया, लेकिन आज समस्त मानव-जाति ने सम्मान के साथ उसे स्वीकार कर लिया है। किसी दिन इंग्लैंड के साहित्य और इतिहास में हमने अँग्रेज़ों का परिचय प्राप्त किया था। हमने मनुष्य के प्रति उनकी मैत्री देखी थी। दास-प्रथा के प्रति उनकी घृणा, पराधीन लोगों की मुक्ति के लिए उनकी अनुकम्पा और न्याय-विचार के प्रति उनकी निष्ठा—ये सभी बातें हमने देखी थीं। आज उनके इस स्वभाव का निष्ठुर प्रतिवाद हम भारत में देखते हैं, लेकिन उसीके आधार पर अँग्रेजों का चरम परिचय ग्रहण करना सत्य के अनुरूप नहीं होगा। कारण जो कुछ भी हो, आज इंग्लैंड का अभावार्थक पक्ष प्रबल हो उठा है। लेकिन आज भी इंग्लैंड में ऐसे लोग हैं जिनका हृदय उन अन्यायों से पीड़ित होता है जो वास्तव में अँग्रेज़ी स्वभाव के विरुद्ध है। यह सोचना हमारी भूल होगी कि अँग्रेज़ अँग्रेज़ी स्वभाव का प्रतिनिधित्व करते हैं। विशुद्ध अँग्रेज़ों की संख्या चाहे छोटी हो, और अपने समाज में चाहे वे लांछित हो रहे हों, फिर भी समस्त इंग्लड के सच्चे प्रतिनिधि वही हैं।

उसी तरह जिस दिन बंगाल में अन्धकार, कृत्रिमता और साम्प्रदायिक संकीर्णता के बीच राममोहन राय का आगमन हुआ, उस दिन वही अकेले थे जिन्होंने भारत का नित्य परिचय देने का भार वहन किया। अपनी सर्वतोमुखी बुद्धि और सर्वतः प्रसारित हृदय से उन्होंने बंगाल के एक अज्ञात कोने में खड़े हो-कर सारी मानव-जाति के लिए आसन प्रस्थापित किया। आज मुक्त कंठ से यह कहने का समय आ गया है कि वह आसन कृपण के घर में एक कोने में पड़ा हुआ आतिथ्य-भ्रष्ट आसन नहीं है। जिस आसन पर सभी लोग अबाधित रूप से स्थान प्राप्त कर सकते हैं ऐसा उदार आसन ही भारतवर्ष की चिरंतन रचना है। लाखों आचारवादी चाहे ऊसे संकुचित करें, खण्ड-खण्ड करें, सारी दुनिया के सामने स्वदेश को धिक्कारित करें, भारतीय सभ्यता का प्रतिवाद करें, फिर भी हम उसी आसन को स्वीकार करेंगे। एक दिन भारत की वाणी से ही राममोहन राय ने मानव-ऐक्य का सन्देश घोषित किया था। उस समय देशवासियों ने उनका तिरस्कार किया था। सारी प्रतिकूलता के बीच खड़े होकर उन्होंने मुसलमानों को, ईसाईयों को, भारत के सभी लोगों को, हिन्दुओं के साथ एक पंक्ति में बैठने के लिए भारत की महान् अतिथिशाला में आमन्त्रित किया था। वे शब्द भारत के ही तो थे :

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मान: ततो न विजुगुप्सते।'

जो सबके बीच अपने को और अपने बीच सबको देखते हैं वे किसी से घृणा नहीं करते।

उनकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष बीत चुके हैं। उस दिन की बहुत-सी बातें आज पुरानी हो गई हैं, लेकिन राममोहन राय पुरातत्त्व की अस्पटष्ता से आवृत्त नहीं हुए। आज भी वे सदा की तरह आधुनिक हैं। इसका कारण यह है कि जिस युग पर उन्होंने अधिकार किया उसकी एक सीमा प्राचीन भारत में होते हुए भी वह अतीतकाल में आबद्ध नहीं है। उसकी दूसरी सीमा भारत के सुदूर भविष्य की ओर चली गई है। उन्होंने भारत के उस चित्त के बीच अपने चित्त को मुक्ति दिलाई जो ज्ञान के पथ पर सभी मनुष्यों में उन्मुक्त है। वह भारत के उस आगामी काल में विराज रहे हैं जिसमें भारत का महान् इतिहास अपने सत्य से सार्थक हुआ है, जिसमें हिन्दू-मुसलमान-ईसाई एक अखंड महाजातीयता में संयुक्त हुए हैं। जब बिमान आकाश में बहुत ऊपर उठता है तो हम एक ओर उस प्रदेश को देखते हैं जिसे हम पीछे छोड़ आए हैं, और दूसरी ओर हमारी दृष्टि उस विशाल भूमण्डल पर जाती है जो हमारे सम्मुख है। राममोहन राय का जीवन जिस युग में बीता वह भी इसी तरह अतीत और अनागत दोनों से परिव्याप्त है। आज भी हमने उस युग को पार नहीं किया है।

आज और कुछ कहने की शक्ति मेरे पास नहीं है। केवल यही कहने आया हूँ कि यद्यपि अज्ञान और दुर्बलता का भारी पत्थर भारत के सीने पर रखा हुआ है, यद्यपि हम लज्जा से संकुचित हैं और दु:ख से हमारा देह-मन जीर्ण है, यद्यपि अपमान से हमारा माथा झुका हुआ है और विदेश के यात्री देश-देश में हमारे कलंक प्रदर्शित करने का रोज़गार करते हैं, फिर भी हमारी सारी दुर्गति के ऊपर एक आशाप्रद बात यह है कि राममोहन राय ने इस देश में जन्म ग्रहण किया और उनके द्वारा भारत अपना परिचय दे सकता है। देश के बहुत-से लोगों ने साम्प्रदायिकता और क्षुद्र अहंकार से प्रेरित होकर राममोहन राय की अवज्ञा की। लेकिन भारत के अंत:करण ने निश्चय ही उन्हें सदा के लिए स्वीकार किया है। वर्तमान युग की रचना में आज भी उनका प्रभाव क्रियाशील है। उनके नीरव कंठ से भारत की अमर वाणी आज भी कह रही है—

'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्ति योगात्
वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देव:।'

उन्हीं के कण्ठ से भारत प्रार्थना कर रहा है—

'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्त।'

२

मानव का प्राण विद्रोही है। जड़ता का दानव अपनी प्रचंड शक्ति और असंख्य हाथों से हमें चारों ओर से घेरता है। लेकिन क्षुद्र प्राण प्रतिक्षण बाहर निकलकर अपने-आपको प्रकाशित करता है। क्लान्ति की दीवारें खड़ी करके जड़ता का दानव हमारे प्रयास की परिधि को संकीर्ण करना चाहता है। लेकिन प्राण इन दीवारों को तोड़कर बार-बार अपने अधिकारों की रक्षा करता है। इसीलिए हमारा हृत्पिण्ड दिन-रात व्यस्त है, जड़ वस्तुओं की निष्क्रियता के विरुद्ध उसका आक्रमण जारी है। इस आक्रमण के स्थगित होने का नाम ही मृत्यु है।

इस सचेष्टता में प्राण की तरह मन का भी आत्म-प्रकाश होता है। मन की जिज्ञासा अनंत है। चारों ओर सत्य का रहस्य मूक खड़ा है। इस रहस्य का उत्तर हमारे मन को अपनी शक्ति से ढूँढना है। ध्यान में ज़रा भी कमी हुई तो हम ग़लत उत्तर पाते हैं। इन ग़लत उत्तरों को निश्चेष्ट होकर बिना किसी संदेह के स्वीकार करना ही मन का पराभव है। जिज्ञासा की शिथिलता ही मन की जड़ता है। जिस तरह जीवन-शक्ति का निरुद्यमी हो जाना अस्वास्थ्य है, रोग और विनाश का मूल है, उसी तरह मानव-शक्ति के क्षीण हो जाने पर मनुष्य के ज्ञान में कितने ही विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जब मन आलस्य और भीरुतावश सच-झूठ, भला-बुरा सबको बिना प्रश्न मान लेता है, तभी से मनुष्यत्व की सर्वाङ्गीण दुर्गति आरम्भ हो जाती है। जड़त्व के बीच अचलता है, मूढ़ता है। जिस क्षण मानव-मन उसके साथ संधि कर लेता है तब से मनुष्य विषण्ण हो उठता है, वह जड़ता-राजा का कर चुकाते-चुकाते दरिद्र हो जाता है।

हमारे देश में किसी दिन मन के स्वराज्य का नाश हो गया। उस समय मन पंगु हो चुका था, आत्मकर्तृत्व खो चुका था। उसके पास न तो प्रश्न करने की शक्ति थी और न अपने पर विश्वास। उसने जो सुना वही मान लिया, जो शब्द उसके कान में पड़े उसने दोहराये। प्रत्येक संकट को विधिलिखित मानकर उसने स्वीकार किया। अपनी बुद्धि के प्रयोग से एक नवीन प्रणाली के बीच, वर्तमान काल की समस्याओं का समाधान करना उसने अपने अधिकार से बाहर समझा, और निःसंकोच अपना अपमान होने दिया। उस दिन इस देश

में मन के आत्म-प्रकाश की धारा अवरुद्ध हो गई थी। आने वाले युग की ओर क़दम बढ़ाने के बदले भारत बीते हुए युग की प्रदक्षिणा कर रहा था। जो कुछ चिन्ता-शक्ति बाक़ी थी उसका प्रयोग अनुसरण में किया जा रहा था, अनुसन्धान में नहीं।

घर में चोरी तभी होती है जब घर के लोग गहरी नींद में पड़े रहते हैं। जब मन के अन्दर अनुभूति की क्षमता नहीं रहती तभी बाहर की विपत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं। जिस व्यक्ति का चित्त स्वाधीन नहीं है उसको बाहर के दबाव से छुटकारा नहीं मिल सकता। जिसका मन चुपचाप सब-कुछ मान लेता है उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि बाह्य-शक्ति के अन्याय और प्रभुत्व को अस्वीकार करे। जो बुद्धि मन की असत्य से रक्षा करती है वही बुद्धि बाह्य संसार को अमंगल से बचाती है। निर्जीव मन अन्दर-बाहर कहीं भी किसी आक्रमण का सामना नहीं कर पाता। उस युग के इतिहास में बार-बार यह देखा गया कि भारतवर्ष ने अपने मर्मान्तक पराभव को मान लिया और उसके साथ-साथ दूसरी हज़ारों ऐसी बातें मान लीं जिन्हें कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए था। उसकी बाह्य दुर्दशा का बोझ आंतरिक अबुद्धि के बोझ का ही अंश था।

उस दिन हमारी आर्थिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई थी। हमारी दृष्टि मोहावृत्त और सृजन-शक्ति मन्द हो गई थी। हमारे पास ऐसी वाणी नहीं थी जो वर्तमान युग के प्रश्नों का कोई नया उत्तर दे सके। अपने चित्त के दैन्य पर लज्जा अनुभव करने की भी चेतना क्षीण हो चुकी थी। ऐसी दुर्गति के दिनों में राममोहन राय का इस देश में आविर्भाव हुआ। प्रबल शक्ति के साथ उन्होंने दुरवस्था के मूल पर ही आघात किया। स्वाधीन बुद्धि ही मानव की परम सम्पदा है, और उसके प्रति अविश्वास, राममोहन राय की दृष्टि में, देश की दुर्गति का मूल कारण था। लेकिन उस समय भारतवासी दुर्गति के कारण की ही पूजा करते थे; इसलिए उन्होंने राममोहन राय को शत्रु समझा और उन पर आघात करने के लिए हाथ उठाया। डॉक्टरों का कहना है कि रोग शरीर पर अधिकार जमाने का चाहे जितना दावा करे फिर भी वह हमेशा आगन्तुक ही रहता है। स्वास्थ्य-तत्त्व ही शरीर का आंतरिक सत्य है, चिरंतन सत्य है। इसी तरह राममोहन राय ने कहा कि अज्ञान और अन्धता को कालगणना के पक्ष से चाहे हम सनातन कहें, सत्य के पक्ष से वे अनात्मीय हैं, आगंतुक हैं। उन्होंने दिखाया कि हमारे देश की अन्तरात्मा में कहीं विशुद्ध ज्ञान की प्रतिष्ठा भी है, जो चिरपुरातन होते हुए

भी चिरनूतन है। मानसिक स्वास्थ्य और आत्मिक शक्ति को प्रबल तथा उज्ज्वल करने के लिए राममोहन राय ने उस साधन-सम्पदा का द्वार खोला जो भारत का निजी भंडार है। लेकिन लोगों ने उस समय उन्हें शत्रु घोषित किया।

क्या आज भी राममोहन राय को शत्रु कहकर उनका असम्मान करना सम्भव है? ऐसे कितने लोग हमारे पास हैं, जिनकी महिमा द्वारा देश समस्त संसार के सामने अपने गौरव का परिचय दे सकता है? जो यथार्थ महापुरुष हैं उनके नाम का गौरव करना ही देश के भविष्य के प्रति आशा व्यक्त करना है। यह गौरव प्रादेशिक या सामयिक हो तो हम उस पर निर्भर नहीं रह सकते। गौरव ऐसा होना चाहिए जिसे सारी पृथ्वी का समर्थन प्राप्त हो। राममोहन का हृदय स्थान और समय की परिधि से बद्ध नहीं था, यदि होता तो शायद देश के साधारण लोग भी अनायास उनका आदर करते। नित्य व्यवहार में हम जो मानदंड अपनाते हैं, वह विशेष देश-काल के लिए होता है, विश्व-व्यापी और चिरकालीन नहीं होता। लेकिन ऐसे मानदंड से नापे हुए गौरव के आधार पर देश अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता, देश-देशान्तर और युग-युगान्तर के सामने आत्म-प्रकाश नहीं कर सकता। देश के वास्तविक गौरव को निम्न भूमिवर्त्ती जनता के आदर्श से बहुत ऊपर उठना होगा। इसके लिए साम्प्रतिक रुचि-विश्वास और आचार उस पर निष्ठुर आघात कर सकता है, लेकिन चिरंतन आदर्श की शक्ति इस आघात की शक्ति से कहीं अधिक बलवती है। कठोर समालोचक के स्थूल हस्त का आघात मुहूर्त्त-मात्र के लिए है, किन्तु भारत के सूक्ष्म इंगित की शक्ति शाश्वत है। उस शक्ति के द्वारा जिन विरोधकों का लोप हुआ है उनकी जय-ध्वनि का क्षीणतम स्पन्दन तक महाकाल और महाकाश में दिखाई नहीं पड़ता।

राममोहन राय उन लोगों में से नहीं थे जिनके गौरव की नौका क्षणिक निरादर के झोंके से डूब जाती है। विस्मृति या उपेक्षा का कुहरा कुछ समय के लिए उनके नाम को आच्छन्न रख सकता है, लेकिन यह आवरण निश्चय ही दूर हो जायगा। आज देश में नवजागरण की हवा बहने लगी है। उससे जब वातावरण स्वच्छ होगा तो सबसे पहले राममोहन राय की महोच्च-मूर्ति दिखाई पड़ेगी। उन्होंने ही देश को नवयुग की उद्‌बोधक वाणी प्रदान की। यह वाणी देश के पुरातन मंत्र में प्रच्छन्न थी, और इसी मंत्र के शब्दों में उन्होंने कहा: 'अपावृणु'—हे सत्य, अपना आवरण दूर करो! भारत की यह वाणी केवल स्वदेश के लिए नहीं, सभी देशों और युगों के लिए है। इसलिए जिनके द्वारा भारतवर्ष का वास्तविक प्रकाश होता है, उनका क्षेत्र सार्वजनीन है।

राममोहन राय ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। स्थानिक और सामयिक मापदंड से जो लोग 'बड़े' कहलाते हैं उन पर हमें गर्व हो सकता है। लेकिन जिन लोगों से देश वास्तव में गौरवान्वित होता है, उनके विषय में हम कह सकते हैं—

'पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थित पृथिव्या इव मानदण्डः।'

उनकी महिमा पूर्व और पश्चिम के समुद्र-तटों को स्पर्श करती है।

भारतवर्ष में राममोहन राय के पूर्ववर्ती लोगों में कबीर अन्यतम थे। कबीर ने अपने-आपको भारत-पथिक कहा था। उन्होंने भारत को एक महान् पथ के रूप में देखा था। इस पथ पर इतिहास के आदिकाल से मानव-जीवन की धारा प्रवाहित हुई है। स्मरणातीत काल में जो इस पथ पर चले उनके पद-चिह्न मिट चुके हैं। इसी पथ पर होमाग्नि वहन करते हुए आर्य-जाति ने पदार्पण किया। चीन के तीर्थयात्री भी मुक्ति-तत्त्व की आशा लेकर इसी पथ पर आये। उसके बाद कोई साम्राज्य के लोभ से आया, कोई अर्थ-कामना से। सभी को अतिथि-सत्कार प्राप्त हुआ। इस भारत में पथ की साधना है पृथ्वी के सभी देशों के साथ आवागमन और लेन-देन के सम्बन्ध जोड़ना। यहाँ सबके साथ संयोग स्थापित करना ही हमारी समस्या है। इस समस्या का जब तक समाधान नहीं होता, तब तक हमारे दुःखों का अन्त नहीं। यह मिलन-सत्य ही मानव-जाति का चरम सत्य है, और हमारे इतिहास को इसे आत्मसात् करना होगा। इसी पथ के चौराहे पर आकर राममोहन राय खड़े हुए—भारत का जो सर्वश्रेष्ठ दान है उसे हाथ में लेकर। उनका हृदय भारत के हृदय का प्रतीक था। वहाँ हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सभी अपनी श्रेष्ठ सत्ता को लेकर एक-दूसरे से मिले। इस मिलन का आसन था भारत का महान् ऐक्य-तत्त्व, 'एकमेवाद्वितीयम्।' आधुनिक युग में मानवीय एकता का भार जिन्होंने वहन किया है, उन्हींकी प्रेरणा से उदबुद्ध होकर भारत के आधुनिक कवि ने भारत का गीत गाया है। इसी गीत को उद्धृत करते हुए राममोहन राय की यह प्रशस्ति मैं समाप्त करता हूँ—

ओ मेरे मन ! जाग उठो अब पुण्यतीर्थ में—
इस भारत में—मानवता के सागर-तट पर···
यहीं एक दिन अन्तहीन ओंकारध्वनि से,
हृदयतंत्र में गूंज उठा था मंत्र ऐक्य का।
'एकं' की ज्वाला में देकर 'बहु' की आहुति
महाचित्त का सृजन किया था तपःशक्ति ने।

आज यहीं मिलना है सबको शीश झुकाकर,
इस भारत में—मानवता के सागर-तट पर···
आओ, आर्य-अनार्य ! सुनो, सब हिन्दू-मुस्लिम !
आओ, अंग्रेज़ो ! आओ ईसा के भक्तो !
आओ, पतितो ! अपमानों का बोझ त्याग दो।
आओ, ब्राह्मण ! शुचि-मन से सबको अपनाओ।
आओ सत्वर, माता के अभिषेक-पर्व में।
मंगल-घट है रिक्त अभी, उसको भरना है
सर्व-स्पर्श-पवित्रित निर्मल तीर्थ-नीर से—
इस भारत में, मानवता के सागर-तट पर।

[(माघ ५, १९२१ बंगला-सम्वत्) १७ जनवरी, १८८५ को (पुराने) सिटी कालेज हॉल में पठित।

'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' (चैत्र १८०६ शक) में प्रकाशित, मार्च १८८५ में पुस्तिका रूप में प्रकाशित। **चारित्रपूजा** (सन् १९०७) के लिए संशोधित।]

विद्यासागर-चरित

आज मेरा कर्तव्य सम्पन्न नहीं होगा, यदि मैं विद्यासागर के चरित्र के प्रधान गुण की प्रशंसा न करूँ। यह वह था जिसके द्वारा उन्होंने ग्रामीण आचार-व्यवहार की संकीर्णता और बंगाली-जीवन के जड़त्व को भेदते हुए केवल अपनी गतिशीलता की शक्ति से तीव्र विरोधों पर विजय प्राप्त की। उन्होंने अपने दृढ़निष्ठ, एकाग्रजीवन की धारा को हिन्दुत्व की ओर नहीं, साम्प्रदायिकता की ओर नहीं, वरन् मनुष्यत्व की ओर प्रवाहित किया—करुणा के आँसुओं से परिपूर्ण, उन्मुक्त अपार मनुष्यत्व की ओर। विद्यासागर के जीवन-वृत्तान्त को ध्यान से देखने पर यह विचार बार-बार मन में उठता है कि वे एक महान् बंगाली ही नहीं थे, रीतिगत हिन्दू ही नहीं थे; बल्कि इन सबसे बहुत बड़े थे; वे यथार्थ 'मनुष्य' थे। उनके जीवन में सर्वोच्च गौरव का विषय इस सरल मनुष्यत्व का प्राचुर्य ही है और इसी से उनकी कीर्ति की अपेक्षा उनका विशाल चरित्र-माहात्म्य ऊँचा है।

विद्यासागर की कीर्ति का प्रधान क्षेत्र था बंगला भाषा। उनकी कीर्ति समुचित गौरव लाभ कर सकेगी, यदि यह भाषा कभी साहित्य-सम्पदा से ऐश्वर्य-शालिनी हो उठे, यदि इस भाषा की अमर शक्ति के कारण उसकी गणना मानव-सभ्यता की धात्रियों और जन्मदात्रियों में हो, यदि यह भाषा पृथ्वी के शोक-दुःख के बीच एक नया सान्त्वना केन्द्र स्थापित करे, संसार की तुच्छता और क्षुद्र स्वार्थ के बीच एक महत्ता का आदर्शलोक रचे, दैनंदिन मानव-जीवन के अवसाद और अस्वास्थ्य के बीच सौन्दर्य का एकान्त निकुञ्ज-वन निर्माण करे।

बंगला भाषा के विकास पर विद्यासागर का किस तरह प्रभाव पड़ा इसे स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक है। विद्यासागर बंगला भाषा के सर्वप्रथम शिल्पी थे। उनके पहले बंगला में गद्य-साहित्य का प्रारम्भ हो चुका था, लेकिन उनके द्वारा ही सबसे पहले बंगला-गद्य में कला-नैपुण्य की अवतारणा हुई। विद्यासागर ने दृष्टान्त देकर इस बात को प्रमाणित किया कि भाषा केवल भाव का एक आधार ही नहीं होती, उसमें येन-केन-प्रकारेण बहुत-से वक्तव्य-विषय भर देने से ही कर्तव्य सिद्ध नहीं होता। उन्होंने दिखाया कि वक्तव्य को सरल, सुन्दर और सुश्रृंखलित रूप में व्यक्त करना आवश्यक होता है। शायद यह काम आज इतना बड़ा न प्रतीत हो, लेकिन जिस तरह मनुष्यत्व के विकास के

लिए सामाजिक बन्धन आवश्यक है, उसी तरह भाषा को कला-बंधन द्वारा सुन्दर रूप से नियंत्रित करना आवश्यक है—अन्यथा वह भाषा प्रकृत साहित्य को जन्म नहीं दे सकती। युद्ध के लिए सेना की ज़रूरत होती है, केवल जन-समूह की नहीं। जन-समूह का निर्देशन करना कठिन होता है, और युद्ध-क्षेत्र में उसके सदस्य एक-दूसरे को ही खण्डित और प्रतिहत करने लगते हैं। विद्यासागर ने बंगला-गद्य को उच्छृंखल जन-समूह को सुविभक्त, सुविन्यस्त और सुसंयत करके इसे सहज गति तथा कार्य-कुशलता प्रदान की। उसीके फलस्वरूप आज अनेक सेनापति भाव-प्रकाशन की कठिन बाधाओं को परास्त करके साहित्य के नये-नये क्षेत्रों का आविष्कार कर रहे हैं और उन पर अधिकार प्राप्त कर रहे हैं। लेकिन युद्ध-विजय के लिए सबसे पहले तो उन्हीं को श्रेय देना होगा जिन्होंने सेना की रचना की थी।

बंगला भाषा में समासों का जो अनावश्यक आडम्बर प्रचलित था, उससे मुक्ति दिलाकर, और पदों के बीच अंश-योजना के सुनियम स्थापित करके विद्यासागर ने बंगला-गद्य को सर्व प्रकार से व्यवहार-योग्य बनाया। लेकिन इतना ही करके उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। भाषा को सुशोभित बनाने की चेष्टा भी वह सर्वदा करते रहे। गद्य के पदों में ध्वनि-सामंजस्य स्थापित करके गीत में छंद-स्रोत की रक्षा करके और सौम्य तथा सरल शब्दों का निर्वाचन करके विद्यासागर ने बंगला-गद्य को सौन्दर्य और परिपूर्णता का दान दिया। ग्राम्य पांडित्य और ग्राम्य बर्बरता, दोनों से ही बंगला का उद्धार करके विद्यासागर उसे दुनिया के भद्र-समाज में उपयुक्त एक आर्य-भाषा का रूप दे गए हैं। उनके पहले बंगला-गद्य की जो अवस्था थी उसको देखने से भाषा-निर्माण के कार्य में विद्यासागर की शिल्प-प्रतिभा और सृष्टि-क्षमता का यथेष्ट परिचय मिलता है।

लेकिन केवल प्रतिभा-सम्पन्न कहने से विद्यासागर का सम्मान नहीं होता। जिस वस्तु पर उन्होंने अपनी प्रतिभा का विशेष रूप से प्रयोग किया वह प्रवहमान और परिवर्तनशील है। भाषा नदी की धारा-जैसी होती है, उस पर किसी का नाम खोदकर नहीं रखा जा सकता। ऐसा लगता है कि वह सदा इसी तरह स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होती आई है। लेकिन वास्तव में कौन-से झरनों द्वारा वह गठित और परिपुष्ट हुई है इसका निर्णय करने के लिए मूल स्रोत तक पहुँचकर दुर्गम पर्वत-शिखर चढ़ना होगा। किसी विशिष्ट ग्रन्थ, चित्र या मूर्ति के लिए यह सम्भव है कि वह चिरकाल तक अपना स्वातन्त्र्य सुरक्षित रखते हुए अपने रचनाकार की स्मृति बनाये रखे। लेकिन भाषा छोटे-बड़े असंख्य लोगों के हाथ से जीवन-लाभ करते-करते व्याप्त होती है। वह

अपना प्राचीन इतिहास भूल जाती है और किसी विशेष व्यक्ति के नाम की घोषणा नहीं करती।

लेकिन इस पर आपत्ति करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विद्यासागर का गौरव केवल उनकी प्रतिभा के ऊपर निर्भर नहीं है।

प्रतिभा मनुष्य का सब-कुछ नहीं, वह मनुष्य का केवल एक अंश है। प्रतिभा बादलों के बीच चमकने वाली बिजली की तरह है। लेकिन मनुष्यत्व चरित्र का सूर्य-प्रकाश है, जो सर्वव्यापी और स्थायी होता है। प्रतिभा मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ अंश है, लेकिन मनुष्यत्व जीवन के प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कार्य द्वारा अपने-आपको व्यक्त करता रहता है। कभी-कभी प्रतिभा अपनी आंशिक शक्ति से ही बिजली की तरह दूसरों की आँखों को चकाचौंध करती है, जबकि चरित्र-महत्त्व अपनी व्यापकता के कारण ही प्रतिभा की तुलना में फीका लगता है। लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस बात में ज़रा भी संशय नहीं रह जाता कि चरित्र की श्रेष्ठता ही यथार्थ श्रेष्ठता है।

भाषा, पत्थर या चित्रों द्वारा सत्य तथा सौन्दर्य को प्रकाशित करने के लिए निश्चय ही बड़ी क्षमता की आवश्यकता है। इसमें तरह-तरह की बाधाओं का अतिक्रमण करना होता है और असामान्य नैपुण्य का प्रयोग करना पड़ता है। लेकिन अपने समग्र जीवन द्वारा सत्य और सौन्दर्य का प्रकाशन इससे भी अधिक दुष्कर है। इसमें पग-पग पर और भी कठिन बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसमें स्वाभाविक सूक्ष्म बोध, नैपुण्य, संयम और शक्ति की और भी अधिक आवश्यकता होती है।

चरित्र-रचना में जिस प्रतिभा का प्रयोग होता है वह किसी विशेष शास्त्र पर आधारित नहीं होती। अमर कवि का कवित्व अलंकार-शास्त्र के परे होता है; विश्व-हृदय के बीच जो विधिरचित, निगूढ़, अलिखित अलंकार-शास्त्र है उसके किसी नियम से स्वाभाविक कवित्व का विरोध नहीं होता। इसी तरह जो यथार्थ मनुष्य हैं उनका 'शास्त्र' उनके अन्तःकरण में होता है, विश्व-व्यापी मनुष्यत्व के सभी विधानों के साथ इस शास्त्र का सामंजस्य होता है। इसलिए प्रतिभा के अन्य रूपों में जिस तरह 'ओरिजिनॅलिटी' अथवा मौलिकता व्यक्त होती है, उसी तरह महान् चरित्र-विकास में भी मौलिकता का प्रयोजन होता है। बहुतों का विचार है कि विद्यासागर की प्रतिभा में मौलिकता का अभाव था। ये लोग समझते हैं कि मौलिकता केवल साहित्य और शिल्प, विज्ञान और दर्शन में ही व्यक्त होती है। विद्यासागर ने बंगाली समाज में अपने चरित्र को मनुष्यत्व के आदर्श रूप में प्रस्फुटित कराया, और इस तरह एक ऐसी असामान्य मौलिकता

को व्यक्त किया जो बंगाल के इतिहास में अत्यन्त विरली है। एक शताब्दी में केवल दो-एक ही ऐसे नाम हमारे सामने आते हैं और इसमें राममोहन राय सर्वश्रेष्ठ हैं।

'मौलिकता' शब्द सुनते ही संकीर्णता का भ्रम हो सकता है। कभी-कभी हम सोचते हैं कि मौलिकता का अर्थ है व्यक्ति-विशेषत्व, जिसका साधारण के साथ कोई योग नहीं हो सकता। लेकिन यह धारणा अयथार्थ है। नियमों की शृंखला में, कृत्रिमता के जटिल बंधन में हम जकड़ जाते हैं, और समाज द्वारा यंत्रवत् चलाई हुई कठपुतलियों की तरह बन जाते हैं। अपने अधिकांश काम हम संस्कारों के अधीन होकर अन्धभाव से करते हैं। निजत्व किसे कहते हैं हम नहीं जानते और न जानने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। हमारे अन्दर जो वास्तविक मनुष्य है वह जन्म से मृत्यु तक अधिकांश समय सुप्तावस्था में ही व्यतीत करता है, और उसके बदले काम करता है एक नियमबद्ध यन्त्र। लेकिन जिनमें मनुष्यत्व का परिणाम अधिक होता है उनकी प्रबल शक्ति को प्रथा और अभ्यास का जड़ आच्छादन अवरुद्ध नहीं कर सकता। ऐसे लोग अपनी चरित्र-नगरी में स्वायत्त शासन का अधिकार प्राप्त करते हैं। आंतरिक मनुष्यत्व की इसी स्वाधीनता का नाम है निजत्व। यह निजत्व व्यक्त रूप में चाहे किसी विशेष मनुष्य का हो लेकिन निगूढ़ रूप से वह सारी मानव-जाति का होता है। इस निजत्व के प्रभाव से महापुरुष एक ओर स्वतंत्र और एकाकी होते हैं, दूसरी ओर मानव-मात्र के सहोदर। हमारे देश में राममोहन राय और विद्यासागर दोनों के जीवन में इस बात का परिचय मिलता है। एक ओर वे भारतीय थे, दूसरी ओर योरोपीय प्रकृति के साथ उनके चरित्र का निकट सादृश्य देखने में आता है। लेकिन सादृश्य अनुकरण का परिणाम नहीं था। वेश-भूषा और आचार-व्यवहार में वे पूरी तरह बंगाली थे। देश के शास्त्रों का ज्ञान उनके जैसा और किसी को नहीं था। देश को मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा-दान उनका ही आरम्भ कराया हुआ है। फिर भी निर्भीकता, सत्यचारिता, लोक-हित-प्रेम, दृढ़ प्रतिज्ञता और आत्म-निर्भरता की दृष्टि से उनकी तुलना योरोप के महान्-से-महान् लोगों के साथ की जा सकती है। योरोप के बाह्य अनुकरण की उन्होंने निन्दा की और इसीसे उनके आत्म-सम्मान बोध का परिचय मिलता है। योरोपीय लोगों की बात ही अलग है, सीधे-सादे, सत्य-प्रिय-सन्थालियों को भी विद्यासागर ने एक अंश तक मनुष्यत्व से भूषित पाया; और उस अंश तक स्वाजातीय बंगालियों की अपेक्षा इन सन्थालियों के साथ उन्होंने अधिक आंतरिक ऐक्य अनुभव किया।

विधाता का नियम भी बीच-बीच में विचित्र रूप से काम करता है। चार करोड़ बंगालियों का निर्माण करते-करते विश्वकर्मा यकायक दो-एक 'मनुष्यों'

का निर्माण कैसे कर बैठे, यह कहना कठिन है। महान् लोगों का अभ्युत्थान किस नियम से होता है यह बात सभी देशों में रहस्यमय मानी जाती है। हमारे इस क्षुद्रकर्मा भीरुहृदय देश में यह रहस्य और भी दुर्भेद्य लगता है। विद्यासागर की चरित्र-सृष्टि भी एक रहस्यमय बात है। लेकिन इतना अवश्य देखा जाता है कि जिस साँचे में उनका चरित्र ढला, वह उत्तम था। ईश्वरचन्द्र के पूर्वजों में भी महत्ता के उपकरण प्रचुर मात्रा में संचित थे। विद्यासागर के जीवन-वृत्तान्त की यदि हम समीक्षा करें तो सबसे पहले उनके पितामह रामजय तर्कभूषण की ओर ध्यान आकर्षित होता है। इससे सन्देह नहीं कि वह एक असाधारण मनुष्य थे।

मिदनापुर जिले के वनमालीपुर गाँव में उनका पैतक निवास-स्थान था। पिता की मृत्यु के बाद जायदाद का बटवारा हुआ। और इस सम्बन्ध में भाइयों से मनमुटाव होने के कारण वे घर-बार छोड़कर चले गए। बहुत दिनों बाद वापस लौटने पर तर्कभूषण ने देखा कि उनकी पत्नी दुर्गादेवी वहाँ नहीं थीं। जेठ और देवर लोगों से अपमानित होकर पहले ससुराल छोड़कर वह वीरसिंग ग्राम में अपने मायके चली गई थीं; और फिर वहाँ से भी, भाई-भावज के ताने सुनकर, अपने वृद्ध पिता के साथ पास ही एक झोंपड़ी में रहने लगी थीं। चरखा कातकर बड़ी मुश्किल से उनका और उनके दो पुत्रों तथा चार कन्याओं का निर्वाह होता था। भाइयों का आचरण सुनते ही तर्कभूषण ने पैतृक संपत्ति पर अपना अधिकार त्यागकर एक-दूसरे गाँव में शरण ली और दारिद्रय का जीवन बिताने लगे। लेकिन जिनके स्वभाव में महत्ता हैं उन्हें दारिद्रय दीन नहीं बना सकता। विद्यासागर ने स्वयं अपने पितामह के चरित्र का वर्णन किया है, जिसमें से कुछ अंश बीच-बीच में उद्धृत करने की मेरी इच्छा होती है—

"वे अत्यन्त तेजस्वी थे। किसी के सामने ज़रा भी झुककर चलना या किसी प्रकार का अनादर अथवा अपमान सहना उनके लिए सम्भव नहीं था। प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक विषय में वे अपने मतानुसार चलते थे। दूसरों की इच्छा का अनुवर्तन करना उनके स्वभाव और अभ्यास के बिल्कुल विपरीत था। उपकार की आशा से या अन्य किसी कारण से वे कभी दूसरों की खुशामद नहीं करते थे और न दूसरों के पीछे-पीछे चलना उनके लिए सम्भव था।" [१]

इन वाक्यों से श्रोतागण[२] समझ सकेंगे कि एक संयुक्त कुटुम्ब में ऐसे उत्तप्त स्वभाव के व्यक्ति के लिए स्थान नहीं था। वे लोग पाँच भाई थे, लेकिन

१. स्वरचित 'विद्यासागर चरित्र'।

२. यह निबन्ध रवीन्द्रनाथ ने एक भाषण के रूप में प्रस्तुत किया था।

केवल वही, नीहारिका से अलग होने वाले नक्षत्र की तरह, अपने ही वेग से बाहर निकल पड़े। संयुक्त कुटुम्ब का अत्यन्त भारी यंत्र भी उनके चरित्र-स्वातन्त्र्य को कुचल नहीं सका—

"उनके श्यालक रामसुन्दर विद्याभूषण गाँव के प्रमुख लोगों में गिने जाते थे। उनका स्वभाव अत्यन्त गर्विष्ठ और उद्धत था। वह सोचते थे कि बहनोई रामजय उन्हींकी इच्छा पर चलेंगे। लेकिन बहनोई महोदय किस प्रकृति के मनुष्य थे, यह यदि वह जानते तो ऐसा कभी न सोचते। रामजय को बहुतों ने यह भय दिखाया कि यदि वह दबकर नहीं चले तो रामसुन्दर उन्हें तरह-तरह से नीचा दिखायँगे। लेकिन रामजय किसी भी कारण से डरने वाले लोगों में से नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि चाहे घर छोड़कर जाना पड़े, श्यालक का अनुगत होकर चलना उन्हें मंजूर नहीं था। रामसुन्दर के आक्रोश से उन्हें समय-समय पर समाज का बहिष्कार सहना पड़ा और नाना प्रकार के उपद्रवों का सामना करना पड़ा। लेकिन वे क्षुब्ध या विचलित नहीं हुए।"[१]

उनके तेजस्वी व्यक्तित्व का एक और उदाहरण दिया जा सकता है, "जब वीरसिंग ग्राम के ज़मींदार ने यह इच्छा प्रकट की कि रामजय के मकान और जमीन पर जो कर लगता था उसे छोड़ दिया जाय, तो रामजय ने यह दान ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। गाँव के अनेक लोगों ने उन्हें उपदेश दिया कि लगान माफ़ करवा लें, लेकिन उन्होंने किसी के अनुरोध पर ध्यान नहीं दिया। ऐसे लोगों के लिए दारिद्रय भी महान ऐश्वर्य होता है। उनकी स्वाभाविक सम्पदा को दारिद्रय और भी वृद्धिगत करता है।"[२]

लेकिन तर्कभूषण अपने स्वातन्त्र्य-गर्व के कारण सर्वसाधारण की उपेक्षा करते हों, या लोगों से दूर रहते हों, ऐसी बात नहीं थी। विद्यासागर कहते हैं—

"तर्कभूषण महाशय बहुत ही नम्र और निरहंकार थे। छोटे-बड़े सभी लोगों से एक भाव से मिलते थे और आदरपूर्ण तथा सद्व्यवहार करते थे। जिन लोगों को वह कपटी समझते थे उनके साथ, जहाँ तक सम्भव था, बातचीत ही नहीं करते थे। वे स्पष्टवादी थे। किसी के अप्रसन्न या असन्तुष्ट होने के डर से स्पष्ट बात कहने में संकोच नहीं करते थे; और वे जितने स्पष्टवादी थे उतने ही यथार्थवादी भी थे। किसी के भय या अनुरोध से या अन्य किसी कारण से, किसी विषय पर निराधार बातें नहीं करते थे। जिनके प्रत्यक्ष आचरण में भद्रता देखते थे, उन्हींको भद्र लोगों में गिनते थे, और जिनका आचरण

१. स्वरचित 'विद्यासागर चरित्र'।
२. स्वरचित 'विद्यासागर चरित्र'।

सुसंस्कृत नहीं था, उनको कभी प्रतिष्ठा का पात्र नहीं समझते थे, चाहे ऐसे लोग कितने ही विद्वान्, धनवान् या प्रभावशाली क्यों न हों।"[१]

तर्कभूषण महाशय का बल और साहस आश्चर्यजनक था। वे हाथ में एक लौहदण्ड लेकर चला करते थे। उन दिनों डाकुओं के डर से अधिकतर लोग अकेले यात्रा करने में डरते थे, लेकिन तर्कभूषण महाशय डण्डा लिये हुए निडर होकर घूमते थे। दो-एक बार उन्होंने हमला करने वाले डाकुओं को उचित शिक्षा भी दी थी। जब उनकी आयु इक्कीस वर्ष की थी, एक दिन एक भालू से मुठभेड़ हुई—

"भालू अपने नखों के प्रहार से उनके सारे शरीर को क्षत-विक्षत करने लगा और वह भी अपने लोहे के डण्डे से वार करते रहे। कुछ देर बाद भालू अपनी शक्ति खो बैठा और तर्कभूषण ने उसके उदर पर पदाघात करके उसका संहार किया।"[२] खून से लथपथ, सारे शरीर पर घाव—इस दशा में चार कोस पैदल चलकर मिदनापुर पहुँचे और एक आदमी के घर में शय्या का आश्रय लिया। दो मास बाद स्वस्थ होकर घर लौटे।

केवल एक और घटना का उल्लेख करके तर्कभूषण का चरित्र-चित्रण समाप्त करता हूँ। शक सम्वत् १८४२ के आश्विन महीने में, मंगलवार तारीख १२ को, विद्यासागर के पिता ठाकुरदास वन्द्योपाध्याय पास ही कोमरगंज बाज़ार में गये थे। रामजय तर्कभूषण घर का एक शुभ संवाद पुत्र तक पहुँचाने के लिए निकल पड़े। रास्ते में दोनों की भेंट हुई। रामजय ने कहा, "घर में एक बछवा हुआ हैं।" जब घर पहुँचे तो ठाकुरदास गोशाला की ओर जाने लगे। तर्कभूषण हँसकर बोले, "उधर नहीं, इधर आओ।" यह कहकर ठाकुरदास को सूतिका-गृह ले गए और नवजात शिशु ईश्वरचन्द्र की ओर संकेत किया।

विनोद-प्रियता की इस रश्मि से रामजय का बलिष्ठ, उन्नत चरित्र प्रभात-किरणों से आलोकित गिरि-शिखर की तरह रमणीय लगता है। ऐसे हास्यमय, तेजोमय, निर्भीक और ऋजु स्वभाव के पुरुष का आदर्श यदि बंगाल देश में इतना विरला न होता तो बंगालियों में पौरुष का ऐसा अभाव हम न देखते। रामजय तर्कभूषण के चरित्र का इतना विस्तृत वर्णन मैंने एक विशेष कारण से किया है। यह दरिद्र ब्राह्मण अपने पौत्र को सम्पत्ति-दान नहीं कर सका। लेकिन एक अमिट सम्पदा ऐसी है जिसका उत्तराधिकार केवल भगवान् के हाथ से निर्धारित होता है—अर्थात् चरित्र-माहात्म्य। और इस सम्पदा में तर्कभूषण अपने ज्येष्ठ पौत्र को अखण्ड रूप से हिस्सेदार बनाकर गये।

---

१ और २. स्वरचित 'विद्यासागर चरित्र'।

विद्यासागर के पिता ठाकुरदास वंद्योपाध्याय भी मामूली आदमी नहीं थे। चौदह या पंद्रह वर्ष की आयु में ही, जब उनकी माता दुर्गादेवी चर्खा कातकर अपने दो पुत्रों और चार कन्याओं का भरण-पोषण करती थीं, ठाकुरदास जीविकोपार्जन के लिए कलकत्ता चले गए।

कलकत्ता पहुँचकर पहले उन्होंने अपने आत्मीय जगन्मोहन तर्कालंकार के घर का सहारा लिया। उन्हें आशा थी कि अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान से सौदागर साहब लोगों के यहाँ काम मिल सकेगा। इसलिए रोज़ शाम को एक जहाज़ के 'कॅशिअर' के घर अंग्रेज़ी पढ़ने जाते थे। उनके लौटने तक तर्कालंकार महोदय के घर में खाना-पीना समाप्त हो चुकता, इसलिए ठाकुरदास रात को भोजन से वंचित रह जाते। बाद में वह अपने शिक्षक के एक आत्मीय के पास रहने लगे, लेकिन अपने नये आश्रयदाता के दारिद्र्य के कारण उन्हें कभी-कभी दिन-भर उपवास करना पड़ता था। एक दिन अपना सर्वस्व—अर्थात् पीतल की थाली और एक छोटा-सा लोटा—लेकर एक कसेरे की दूकान में पहुँचे। दूकानदार ने थाली-लोटे का सवा रुपया दाम लगाया, लेकिन खरीदने के लिए राज़ी नहीं हुआ। कहने लगा, किसी अजनबी से पुराने बरतन ख़रीदना फ़िसाद की जड़ है।[1] एक दिन दोपहर को क्षुधा-यंत्रणा भूलने के लिए ठाकुरदास घर से बाहर निकलकर सड़क पर चक्कर लगाने लगे—

"बड़ा-बाज़ार[2] से ठनठनिया[3] तक पहुँचते-पहुँचते बिलकुल क्लान्त हो गए और आगे चलने की शक्ति न रही। कुछ देर बाद एक दूकान के सामने आकर रुक और खड़े हो गए। उन्होंने देखा कि एक मध्यवयस्का विधवा स्त्री दूकान में बैठी लावा और गुड़ बेच रही है। उन्हें खड़ा देखकर स्त्री ने पूछा, 'खड़े क्यों हो, बाबा?' ठाकुरदास ने अपनी प्यास का उल्लेख किया और पीने के लिए पानी माँगा। अत्यन्त स्नेह और आदर के साथ उस स्त्री ने बैठने के लिए कहा। 'ब्राह्मण के लड़के को केवल जल नहीं दिया जाता'—यह कहकर जल के साथ गुड़ की मिठाइयाँ भी रख दीं। जिस व्यग्रता से ठाकुरदास ने उन्हें खाया उसे देखकर स्त्री ने पूछा: 'बेटा, क्या आज तुमने खाना नहीं खाया?' उन्होंने कहा: 'नहीं माँ,

---

१. शंभुचंद्र विद्यारत्न-लिखित 'विद्यासागर जीवन चरित्र'।

२. कलकत्ता का एक व्यापारिक अंचल, जहाँ मुख्यतः मारवाड़ी और उत्तरप्रदेशीय व्यापारी बसते हैं।

३. मध्य कलकत्ता का एक अंचल, जहाँ कभी ठठेरों की बस्ती थी। उनके हथौड़ों की अनवरत ठन-ठन के कारण ही इस स्थान का नाम 'ठनठनिया' पड़ा। यहाँ काली देवी का एक मन्दिर भी है।

आज अभी तक मैंने कुछ नहीं खाया।' उस पर स्त्री ने ठाकुरदास को अधिक पानी पीने से रोका। पास ग्वाले की दूकान थी, जल्दी से दही खरीद लाई। दही के साथ कुछ और मिठाइयाँ देकर ठाकुरदास को पेट-भर खिलाया। बाद में उनकी पूरी कहानी सुनकर जब परिस्थिति से अवगत हुई तो उसने कहा—'जब कभी तुम्हारी ऐसी परिस्थिति हो, यहीं आकर खा लिया करो'!"[1]

इस तरह बड़ी मुश्किल से थोड़ी-बहुत अँग्रेज़ी सीखकर पहले दो रुपया महीने और दो-तीन वर्ष बाद पाँच रुपये महीना कमाने लगे। अन्त में जब उनकी माता दुर्गादेवी ने यह सुना कि ठाकुरदास का मासिक वेतन ८ रुपये तक पहुँच गया है तो उनके आनन्द की सीमा न रही। २३ या २४ वर्ष की आयु में ठाकुरदास का विवाह गोघाट-निवासी रामकान्त तर्कवागीश की द्वितीया कन्या भगवती देवी के साथ कर दिया गया।

बंग देश के सौभाग्य से भगवती देवी एक असामान्य स्त्री थी। श्रीयुत चंडीचरण वंद्योपाध्याय महाशय द्वारा रचित 'विद्यासागर-ग्रंथ' में भगवती देवी का एक लीथोग्राफ चित्र प्रकाशित हुआ है। अधिकतर चित्र ऐसे होते हैं जिनको ध्यानपूर्वक देखने की इच्छा ही नहीं होती; क्षण-भर में ही उनका आकर्षण समाप्त हो जाता है। ऐसे चित्र सुन्दर हो सकते हैं, उनसे कलाकार का नैपुण्य भी प्रकाशित हो सकता है, लेकिन उन पर हमारा चित्त केन्द्रित नहीं होता, दृष्टि ऊपरी सतह तक पहुँचकर ही छितर जाती है। किन्तु भगवती देवी का यह चित्र इस प्रकार का नहीं है। इस पवित्र मुखश्री में ऐसी गंभीरता और उदारता है कि बहुत देर तक देखने पर भी दृष्टि हटाने की इच्छा नहीं होती। उन्नत ललाट से बुद्धिमत्ता टपकती है, बड़ी-बड़ी सुदूरदर्शित आँखों से स्नेह बरसता है। नाक सीधी और सुगठित है। होंठों से दया और चिबुक से दृढ़ता व्यक्त होती है। चेहरे का महिमामय, सुसंयत सौन्दर्य दर्शक के हृदय को आकर्षित करता है और ऊँचा उठाता है। इस चित्र को देखकर हम यह भी जान सकते हैं कि विद्यासागर ने अपनी भक्ति-साधना के लिए इस मातृदेवी के अतिरिक्त किसी अन्य पौराणिक देवी के मन्दिर में प्रवेश करना आवश्यक क्यों नहीं समझा।

भगवती देवी की अकुंठित दया की वर्षा से गाँव, मोहल्ला और पड़ोसी सिंचित रहते थे। रोगियों की सेवा, क्षुधा-पीड़ितों को अन्न-दान और शोकमग्न लोगों के साथ सहानुभूति-प्रकाश उनके नियमित कार्यों में से थे। एक बार वीरसिंग ग्राम का उनका निवास-स्थान जलकर ख़ाक हो गया। विद्यासागर से अपनी माता को कलकत्ता ले चलने का प्रयत्न किया, लेकिन उन्होंने कहा: 'कितने

---

१. स्वरचित 'विद्यासागर चरित्र'।

ही निर्धन लोगों के बच्चे यहाँ भोजन करके वीरसिंग विद्यालय में अध्ययन कर रहे हैं। यदि मैं गाँव छोड़कर चली जाऊँगी तो इन बेचारों के खाने का क्या प्रबन्ध होगा ?'

दयावृत्ति तो बहुत-सी स्त्रियों में देखी जाती है, लेकिन भगवती देवी की दयाशीलता में एक असाधारणता थी। किसी प्रकार के संकीर्ण संस्कार से उनकी दया आबद्ध नहीं थी। साधारण लोगों की दया दियासलाई की तीलियों की तरह एक विशेष रूप से घर्षण करने पर ही प्रज्वलित होती है, और लोकाचार की छोटी-सी डिबिया में बन्द रहती है। किन्तु भगवती देवी का हृदय सूर्य की तरह अपनी दया-रश्मियों को स्वाभाविक रूप से ही चारों दिशाओं में प्रसारित करता था। उसे शास्त्र या प्रथा के घर्षण की आवश्यकता नहीं थी। विद्यासागर के तृतीय सहोदर शंभुचंद्र विद्यारत्न महाशय अपने भाई के जीवन-चरित्र में लिखते हैं, कि एक दिन विद्यासागर ने माता से पूछा : 'साल में एक बार छः-सौ रुपये पूजा के आयोजन में व्यय करना ठीक होगा, या गाँव के निःसहाय अनाथ लोगों की महीने-महीने मदद करने में उसे खर्च करना श्रेयस्कर होगा ?' यह सुनकर भगवती देवी ने कहा : 'गाँव के दारिद्र्य-ग्रस्त लोगों को यदि नियमित रूप से भोजन मिले तो पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।'

यह कोई मामूली बात नहीं थी। उनकी निर्मल बुद्धि और उज्ज्वल दया प्राचीन संस्कार के मोहावरण को अनायास ही दूर हटा सकी, यह देखकर हमें विस्मय होता हैं। लौकिक प्रथाओं का बन्धन स्त्रियों को विशेष दृढ़ता से साथ जकड़ता है। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि अपनी स्वाभाविक चित्तशक्ति से उन्होंने जड़ प्रथाओं की दीवार तोड़कर नित्य-ज्योतिर्मय अनंत विश्वधर्म के आकाश में पदार्पण किया। इस बात को उन्होंने कठिन नहीं समझा, क्योंकि उनके लिए मनुष्य की सेवा ही यथार्थ पूजा थी। समस्त संहिताओं से प्राचीन एक संहिता उनके हृदय-पट पर स्पष्ट अक्षरों में अंकित थी।

सिविलियन हॅरिसन साहब जब दौरे पर मिदनापुर जिले में गये, भगवती देवी ने उन्हें अपने नाम से पत्र लिखा और घर पर आमंत्रित किया। उनके तृतीय पुत्र शंभुचंद्र ने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

"माताजी ने स्वयं उपस्थित रहकर हॅरिसन साहब को भोजन कराया। एक वृद्धा हिन्दू स्त्री का भोजन के समय कुर्सी पर बैठकर साहब के साथ वार्तालाप करना ऐसी बात थी जिससे हॅरिसन साहब को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। साहब ने हिन्दुओं की तरह झुककर माताजी का अभिवादन किया। उसके बाद विविध विषयों पर बातचीत हुई। माताजी गृह-कार्य में निपुण हिन्दू स्त्री थीं। लेकिन

मन में किसी प्रकार का कुसंस्कार नहीं था, उनका स्वभाव अति उदार और मन अत्यन्त उन्नत था। धनवान् और दरिद्र, विद्वान् और अनपढ़, पुरुष और स्त्री, हिन्दू धर्मावलम्बी और अन्य धर्मावलम्बी—सभी उनकी दृष्टि में समान थे।"[१]

शंभुचंद्र ने एक और जगह लिखा है—"सन् १२६६ से १२७२ तक विधवा-विवाह-आन्दोलन चला। उस समय विधवाओं को कठिनाइयों से बचाने के लिए मेरे बड़े भाई विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। उनमें से बहुतों को समय-समय पर वे अपने घर पर भी बुलाते थे। इन स्त्रियों को तिरस्कार की दृष्टि से कोई न देखे, इस विचार से माताजी उनके साथ एक थाल में भोजन करती थीं।"[२]

उस समय विधवा-विवाह-आन्दोलन के विरोधियों में से कुछ लोग विद्या-सागर की हत्या के लिए गुप्त रूप से प्रयत्न कर रहे थे। देश का पण्डित वर्ग शास्त्र-मंथन करके कुयुक्तियों का और भाषा-मंथन करके कटु शब्दों का संग्रह कर रहा था, और विद्यासागर के सिर पर उन्हें बरसा रहा था। लेकिन उनकी वृद्धा माता को किसी शास्त्र में से कोई श्लोक ढूंढ़ना नहीं पड़ा। विधाता का स्वहस्त-लिखित शास्त्र उनके हृदय में दिन-रात उद्घाटित था। अभिमन्यु ने जिस तरह जननी के गर्भ में ही युद्ध-विद्या सम्पादित कर ली थी उसी तरह विद्यासागर ने भी उस विधिलिखित महाशास्त्र का अध्ययन मातृ-गर्भ में ही कर लिया था।

मुझे आशंका है कि समालोचक महोदय सोचते होंगे, विद्यासागर के सम्बन्ध में लिखे गए एक छोटे-से निबन्ध में उनकी माता के विषय में इतनी विस्तृत चर्चा करना कहाँ तक परिमाण-संगत है। लेकिन उन्हें यह बात निश्चयपूर्वक जाननी चाहिए कि महापुरुषों का इतिहास बाह्य कार्यों में और जीवन-वृतान्त में स्थायी रूप प्राप्त करता है, लेकिन किसी महान् स्त्री का इतिहास पुत्र के चरित्र और स्वामी के कार्य में ही रचित होता है। उसके नाम का बहुधा उल्लेख भी नहीं किया जाता। विद्यासागर के जीवन में उनकी माता का जीवन-चरित्र किस प्रकार से अंकित है इसे यदि हम ठीक से न देखें तो दोनों ही जीवन-वृत्तान्त असम्पूर्ण रह जाएँगे। जिस महात्मा की स्मृति-प्रतिमा-पूजन के लिए आज हम यहाँ एकत्रित हुए हैं, वह यदि सूक्ष्म चिन्मय देह धारण करके इस सभा में आसन ग्रहण करे, और इस अयोग्य भक्त द्वारा किया गया चरित्र-कीर्तन सुन सके, तो इस रचना के जिस अंश में उसकी जीवनी का सहारा लेकर उसकी

---

१. शंभुचंद्र विद्यारत्न-लिखित 'विद्यासागर जीवन चरित्र'।

२. वही।

माता का महात्म्य वर्णित हुआ है, उस अंश के प्रभाव से ही उसके दिव्य नेत्रों से पुण्य आँसुओं की वर्षा होगी, इसमें सन्देह नहीं।

विद्यासागर ने अपनी 'वर्ण परिचय'[1] पुस्तक के प्रथम भाग में गोपाल[2] नाम के एक सुबोध बालक का दृष्टान्त दिया है जो सर्वदा माँ-बाप के कहने पर चलता है। लेकिन ईश्वरचन्द्र स्वयं जब गोपाल की आयु के थे तो कहीं-कहीं गोपाल की अपेक्षा राखाल के साथ ही उनका सादृश्य अधिक था। पिता की आज्ञा का पालन करना तो दूर रहा, पिता जो कहते उसका ठीक उल्टा ईश्वरचन्द्र कर बैठते। शंभुचंद्र ने लिखा है—

"ईश्वरचन्द्र के पिता उनके स्वभाव को पहचानते थे। जिस दिन साफ कपड़ा न होता उस दिन कहते, 'देखो, आज अच्छे कपड़े पहनकर कॉलेज जाना होगा।' ईश्वरचन्द्र कहते, 'नहीं, आज मैले कपड़े पहनकर जाऊँगा।' जिस दिन पिता कहते, 'आज स्नान करना होगा,' दादा इस बात पर अड़ जाते कि आज स्नान नहीं करेंगे। और पिटाई करके भी पिता उन्हें स्नान करने पर राज़ी न कर पाते। साथ ले जाकर घाट के नीचे तक पहुँचाते, फिर भी दादा वहीं खड़े रहते। पिता बड़ी मुश्किल से ज़बरदस्ती उन्हें नहलाते।"[3]

पाँच-छः वर्ष की अवस्था में जब गाँव की पाठशाला में पढ़ने जाते तब पड़ोसी मथुरमंडल की पत्नी को चिढ़ाने के लिए तरह-तरह के उपद्रव करते। 'वर्ण परिचय' पुस्तक के सर्वजननिंदित राखाल ने भी ऐसे दुष्ट कार्य कभी नहीं किये।

हमारे सीधे-सादे बंगाल में गोपाल-जैसे सुबोध लड़कों की कमी नहीं है। इस तेजहीन देश में यदि राखाल और उसके निर्माता ईश्वरचन्द्र की तरह हठीले लड़कों का प्रादुर्भाव हो तो बंगाली जाति पर जो दुर्बलता का अभियोग लगाया जाता है वह दूर होगा। इसमें सन्देह नहीं कि सुबोध लड़के इम्तहान पास करके अच्छी नौकरियाँ प्राप्त कर सकते हैं और विवाह के दिन उन्हें प्रचुर धन-लाभ भी हो सकता है। लेकिन दुष्ट और चंचल बालकों से भी स्वदेश को बड़ी आशा होती है। बहुत दिन पहले नवद्वीप की शचीमाता के चंचल लड़के ने स्वदेश की आशा

---

१. बँगला शिक्षा की पहली पोथी, जिसकी रचना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने की। इसका पहला भाग अप्रैल, सन् १८५५ और दूसरा भाग जुलाई, १८५५ में प्रकाशित हुआ था।

२. 'वर्ण परिचय' पाठ्य पुस्तक में उल्लिखित दो बालक; जो भलाई और बुराई के प्रतीक हैं। गोपाल भला लड़का है, और राखाल बुरा।

३. शंभुचंद्र विद्यारत्न द्वारा लिखित 'विद्यासागर चरित्र'।

पूर्ण की थी।[1]

लेकिन एक विषय में राखाल के साथ उसके जीवनी-लेखक का कोई सादृश्य नहीं था। राखाल जब पढ़ने जाता तो रास्ते में खेलने लगता, व्यर्थ समय नष्ट करके सब लड़कों के बाद पाठशाला पहुँचता। पर बालक ईश्वरचन्द्र पढ़ने-लिखने के मामले में शिथिल नहीं था। जिस प्रबल हठ के साथ ईश्वरचन्द्र पिता के आदेश और निषेध के विपरीत काम करने में प्रवृत्त होते उसी हठ के साथ पढ़ने जाते। यह भी प्रतिकूल अवस्था में अपनी ही बात रखने का एक तरीक़ा था। एक बड़ा-सा छाता लगाकर जब ईश्वरचन्द्र बड़ा बाज़ार के अपने घर से पटल-डांगा के संस्कृत कॉलेज की ओर जाते तो लोग समझते कि एक छाता अपने-आप चला जा रहा है! इस अजेय बालक का शरीर दुबला-पतला और सिर बहुत बड़ा था। स्कूल के लड़के 'जशुरे कई'[2] और 'कशुरे जई'[3] कहकर चिढ़ाते। ईश्वरचन्द्र उन दिनों कुछ तुतलाते थे। लड़कों के चिढ़ाने पर नाराज़ होते, लेकिन कुछ कह भी न पाते थे।

बालक रात को दस बजे सो जाता। सोने से पहले पिता से कहता कि उसे दो ही बजे जगा दिया जाय। लेकिन गिरजा-घर की घड़ी जैसे ही बारह बजाती वैसे ही पिता ईश्वरचन्द्र को जगा देते और बालक शेष रात्रि-भर अध्ययन करता। यह भी अपने शरीर के प्रति उसकी ज़िद थी। अक्सर शरीर भी इस व्यवहार का बदला चुकाता; बीच-बीच में बालक को कठिन दर्द सहना पड़ता लेकिन उस पीड़ा के शासन से वह कभी पराजित नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त घर का काम भी यथेष्ट था। घर में पिता और मझले भाई थे। नौकर-चाकर नहीं थे। ईश्वरचन्द्र दोनों समय रसोई का पूरा काम करते। सहोदर शंभुचंद्र ने इसका वर्णन किया है। तड़के आँख खुलते ही ईश्वरचन्द्र कुछ देर पुस्तक लेकर बैठ जाते, फिर गंगा-घाट जाकर स्नान करते। वहाँ से काशीनाथ बाबू के बाज़ार में जाते और 'बाटा' मछली तथा आलू, परवल इत्यादि सब्जी खरीदकर घर लौटते। आग जलाकर, सिल पर मसाला पीसकर, खाना पकाते। घर के चारों लोग जब खा-पी चुकते तो ईश्वरचन्द्र बरतन माँजते। तब जाकर

---

१. शचीमाता—श्री चैतन्य देव की माता का नाम।

२. 'कई' एक प्रकार की मछली होती है जो जैसोर जिले से आती थी। यह जिला अब पूर्वी पाकिस्तान में है। इस मछली का सिर बहुत बड़ा होता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का सिर भी बहुत बड़ा था, इसलिए उन्हें लोग 'जशुरे कई' (जैसोर की कई) कहा करते थे।

३. 'जशुरे कई' का गड़बड़ रूप।

कहीं पढ़ने का अवसर मिलता। भोजन बनाते-बनाते और स्कूल जाते समय रास्ते पर चलते-चलते पाठ दोहराते रहते।

ऐसी थी उनकी अवस्था। स्कूल में जब कुछ देर के लिए छुट्टी होती तब जल-पान करने जाते और अपने साथियों को मिठाई खिलाते। स्कूल से जो छात्रवृत्ति मिलती वह इसी तरह खर्च हो जाती। चौकीदार से रुपया उधार लेकर गरीब लड़कों के लिए नये कपड़े खरीदते। पूजा की छुट्टियों में गाँव जाकर—

"गाँव के जिन लोगों का निर्वाह कठिनाई से होता था उनकी यथासाध्य सहायता करने में जुट जाते थे। जब कभी यह देखते कि दूसरों के पास कपड़े नहीं हैं, स्वयं अँगोछा लपेटकर अपने कपड़े बाँट देते थे।"[१]

जिस अवस्था में साधारणतः मनुष्य स्वयं दया का पात्र होता है, उस अवस्था में ईश्वरचन्द्र दूसरों के प्रति दया प्रदर्शित करते थे। उनके जीवन में आरम्भ से ही यह बात देखी जाती है कि उनके चरित्र ने सारी प्रतिकूल परिस्थितियों के विरुद्ध क्रमशः युद्ध करते-करते विजय प्राप्त की। जिस परिस्थिति में उनकी शिक्षा हुई उसमें किसी भी छात्र के लिए विद्या-लाभ अत्यन्त कठिन सिद्ध होता है। लेकिन इस ग्रामीण बालक ने, अपने कृश शरीर और प्रकांड मस्तक को लेकर, बहुत ही थोड़े समय में 'विद्यासागर' की उपाधि प्राप्त की। उनके जैसे निर्धन व्यक्ति के लिए दान करना या दूसरों पर दया करना आसान नहीं था। लेकिन जिस अवस्था में भी उन्होंने अपने-आपको पाया, निजी कठिनाइयों के बावजूद परोपकार से विमुख नहीं हुए। कितने ही ऐश्वर्यशाली राजा और रायबहादुर, प्रचुर क्षमता रखते हुए भी, जिस उपाधि को प्राप्त न कर सके उस 'दयासागर' नाम से दरिद्र पिता का यह दरिद्र पुत्र बंगदेश में सदा के लिए विख्यात हुआ। कॉलेज से उत्तीर्ण होकर विद्यासागर पहले फोर्टविलियम कॉलेज[१] में मुख्य पंडित और फिर संस्कृत कॉलेज में असिस्टेंट-सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त हुए। इस कार्य के उपलक्ष में जिन अँग्रेज़ अफ़सरों के साथ उनका सम्पर्क हुआ उन सबकी श्रद्धा और प्रीति उन्हें प्राप्त थी। उस समय हमारे देश में बहुत-से लोग अपनी और अपने देश की मर्यादा नष्ट करके भी अँग्रेज़ों का अनुग्रह-लाभ करने का यत्न करते थे। लेकिन विद्यासागर ने पारितोषिक-प्राप्ति के लिए साहबों के सामने कभी सिर नहीं झुकाया। अँग्रेज़ों के प्रसाद पर गर्व करने वाले आश्रितों की तरह उन्होंने अपमान का मूल्य चुकाकर सम्मान खरीदने की कभी चेष्टा नहीं की। एक ही उदाहरण से यह बात

१. शंभुचंद्र विद्यारत्न-लिखित 'विद्यासागर-चरित्र'।

प्रमाणित हो सकती है ! एक बार किसी काम के लिए विद्यासागर हिन्दू कॉलेज के प्रिन्सिपल कार साहब से मिलने गए। 'सभ्यताभिमानी' साहब अपने बूट चढ़ाये हुए दोनों पाँव मेज़ के ऊपर रखकर बैठे थे। उन्होंने एक बंगाली सज्जन के सामने भद्रता की रक्षा करना आवश्यक नहीं समझा। कुछ दिन बाद कार साहब को कार्यवश संस्कृत कॉलेज में आकार विद्यासागर से मिलना पड़ा। विद्यासागर ने चप्पलों समेत अपने वन्दनीय चरणों को मेज़ के ऊपर रखा, और उस अभिमानी अँग्रेज़ के साथ वार्तालाप करते रहे। यह सुनकर कोई विस्मित नहीं होगा कि साहब अपने व्यवहार का यह अविकल अनुकरण देखकर प्रसन्न नहीं हुए !

इन्हीं दिनों कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में कॉलेज के व्यवस्थापकों से मतभेद हो जाने के कारण ईश्वरचन्द ने त्याग-पत्र दे दिया। संपादक रसमय दत्त और शिक्षा समाज के अध्यक्ष मोयेट साहब ने उन्हें बहुतेरा रोका; लेकिन वे अपनी बात पर डटे रहे। जब आत्मीयों और मित्रों ने पूछा कि गुज़ारा कैसे होगा तो उन्होंने कहा, 'आलू-परवल बेचकर या बनिये की दूकान करके काम चला लूँगा।' उस समय घर में लगभग बीस लड़के थे जिनके अन्न-वस्त्र और अध्ययन का भार ईश्वरचन्द्र के ऊपर था। उनमें से किसी को भी उन्होंने दूर नहीं किया। उनके पिता पहले नौकरी किया करते थे। विद्यासागर के बार-बार कहने पर उन्होंने काम छोड़ दिया था, और उनके खर्च के लिए भी विद्यासागर ही पैसे भेजते थे। जब नौकरी न रही तो प्रतिमास पचास रुपये कर्ज़ लेकर भेजने लगे। मोयेट साहब के अनुरोध पर विद्यासागर कैप्टन बैंक नामक एक अंग्रेज़ को कई महीनों से बंगला और हिन्दी पढ़ाते थे। साहब पचास रुपये महीने के हिसाब से वेतन देने लगे, लेकिन विद्यासागर ने कहा, 'आप मोयेट साहब के मित्र हैं और मोयेट साहब मेरे मित्र हैं। मैं आपसे वेतन नहीं ले सकता।'

सन् १८५० में विद्यासागर संस्कृत कॉलेज में साहित्य के अध्यापक और सन् १८५१ में प्रिन्सिपल के पद पर नियुक्त हुए। आठ वर्ष तक बड़ी दक्षता से उन्होंने काम किया। फिर शिक्षा-विभाग के एक तरुण कर्मचारी के साथ अनबन हो जाने से सन् १८५८ में उन्होंने पद-त्याग किया। विद्यासागर स्वभावतः स्वाधीनता-प्रेमी थे। अव्याहत रूप से अपनी इच्छानुसार जब तक चल सकता तभी तक किसी काम को सँभालते। ऊपर के अधिकारियों द्वारा किसी तरह का दबाव पड़ने पर अपने

---

१. ब्रिटिश शासन के समय भारतवर्ष के गवर्नर जनरल लॉर्ड वैलेज़ली ने सन् १८०० में कलकत्ता में इस कॉलेज की स्थापना की थी जहाँ तरुण ब्रिटिश प्रशासकों को शिक्षण दिया जाता था। इनके शिक्षण के लिए बँगला पुस्तकों की रचना की जाती थी।

संकल्प-प्रवाह में तिल-मात्र भी परिवर्तन करना उनके लिए संभव नहीं था। कार्य-नीति के नियमों की दृष्टि से यह बात प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती। लेकिन विधाता ने उन्हें एकाधिपत्य के लिए भेजा था, किसी के अधीन रहकर काम करने का गुण उन्हें नहीं दिया था। बंगाल में उपयुक्त अधीनस्थ कर्मचारियों की कोई कमी नहीं थी; विद्यासागर जैसे व्यक्ति को भेजकर उनकी संख्या बढ़ाना विधाता ने अनावश्यक और असंगत समझा।

जिन दिनों विद्यासागर संस्कृत कॉलेज में नियुक्त थे, कॉलेज के काम में व्यस्त रहते हुए भी एक प्रचंड सामाजिक संघर्ष में उन्होंने पदार्पण किया। एक दिन वीरसिंग गाँव के अपने घर में चंडी मंडप[1] में बैठकर ईश्वरचन्द्र वीरसिंग स्कूल के सम्बन्ध में अपने पिता के साथ बातें कर रहे थे। उसी समय उनकी माता रोते-रोते चंडी मंडप में पहुँची। एक बालिका के वैधव्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, 'इतने दिनों तक तुम शास्त्र पढ़ते रहे हो। क्या शास्त्रों में विधवा के दुःख का कोई उपाय नहीं है?'[2] माता का प्रश्न सुनकर पुत्र उपाय ढूँढ़ने के लिए प्रवृत्त हुआ।

स्त्री-जाति के प्रति विद्यासागर को विशेष स्नेह और भक्ति थी। यह भी उनके महान् पौरुष का एक प्रधान लक्षण था। साधारणतः स्त्रियों के सुख, स्वास्थ्य और स्वच्छन्दता को हम परिहास का विषय मानते हैं। हमारे लिए यह विनोद का एक उपकरण हो जाता है। यह भी हमारी क्षुद्रता और कापुरुषता के लक्षणों में से एक है।

विद्यासागर बचपन में जगदुर्लभ बाबू के घर में कुछ दिन रहे थे। जगदुर्लभ की छोटी बहन रायमणि के सम्बन्ध में उन्होंने अपने जीवन-वृत्तान्त में जो लिखा है उसे उद्धृत करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा--

"रायमणि का अद्भुत स्नेह और अध्यवसाय मैं कभी नहीं भूल सकता। उनका इकलौता पुत्र गोपालचन्द घोष मेरा समवयस्क था। पुत्र के प्रति माता का स्नेह और अनुराग होना आवश्यक है उससे कहीं अधिक स्नेह गोपालचन्द्र पर रायमणि का था, इसमें संदेह नहीं है। लेकिन मेरा आन्तरिक दृढ़ विश्वास है कि अनुराग की दृष्टि से रायमणि के हृदय में मेरे और गोपाल के प्रति अणु-मात्र भी विभिन्न भाव नहीं था। स्नेह, दया, सौजन्य, सरलता, सद्विवेचना इत्यादि गुण

---

१. वह स्थान, जहाँ दुर्गा के चण्डी-रूप की पूजा होती है। बंगाल के गाँवों में 'चण्डी मण्डप' सार्वजनिक समारोहों और सम्मेलनों के केन्द्र-स्थल होते हैं।

२. शंभुचंद्र विद्यारत्न-लिखित 'विद्यासागर जीवन-चरित्र'।

जिस मात्रा में रायमणि में थे वैसे मैंने किसी अन्य स्त्री में नहीं देखे। उस दयामयी की सौम्य मूर्ति मेरे हृदय-मंदिर में देवी की तरह प्रतिष्ठित होकर विराजमान है। यदि प्रसंगवश उनका उल्लेख किया गया तो उनका गुण-गान करते-करते आँसू बहाये बग़ैर मैं नहीं रह सकता। बहुत-से लोग कहते हैं कि मैं स्त्री-जाति का पक्षपाती हूँ। मैं सोचता हूँ, उनका यह कहना असंगत नहीं है। जिस व्यक्ति ने रायमणि के स्नेह, दया और सौजन्य का अनुभव किया है, और जिसने इन सब सद्‌गुणों के फल उपभोग किये हैं, वह यदि स्त्री-जाति का पक्षपाती न हो तो उसके समान कृतघ्न पामर पृथ्वी पर दूसरा न होगा।"

हमारे बीच बहुत से ऐसे भाग्यहीन लोग हैं जो स्त्री-जाति के स्नेह, दया और सौजन्य से वंचित रहे हैं। परन्तु स्वभाव की क्षुद्र-हृदयता उन्हीं पर आरोपित की जायगी जो अयाचित उपकार प्राप्त करने पर उसी परिमाण में अकृतज्ञ हो जाते हैं। जो उन्हें अनायास ही मिल जाता है उसे वह अपनी प्राप्य वस्तु समझते हैं; उनकी ओर से भी कुछ देय है, इस बात को भूल जाते हैं। संसार में कभी-कभी हम रायमणि-जैसी स्त्रियाँ देखते हैं। जब वे सेवा करने आती हैं उनके समस्त स्नेह को हम बड़ी शान से ग्रहण करते हैं, मानो उन पर परम अनुग्रह कर रहे हों। वे जब चरण-पूजा के लिए उद्यत होती हैं तो हम निर्लज्ज होकर अहंकारपूर्वक अपने कलंकित पाँव उनके सामने फैला देते हैं। हम अपने-आपको नरदेवता के रूप में देखते हैं और नारी की पूजा का अधिकारी समझते हैं। लेकिन सेवा-पूजा करने वाली इन स्त्रियों के दुःख-मोचन और सुख-स्वास्थ्य के विषय में हम 'देवताओं' का औदासीन्य दूर नहीं होता। इसका कारण यह है कि नारी-कृत सेवा को हम अपने सांसारिक स्वार्थ-सुख से संलग्न देखते हैं। हम उस सेवा को यह अवसर नहीं देते कि वह हमारे हृदय में प्रविष्ट होकर कृतज्ञता उत्पन्न करे।

विद्यासागर ने पहले-पहल बेथ्यून साहब की सहायता करते हुए बंगाल में स्त्री-शिक्षा का प्रारम्भ कराया और उसके विस्तार के लिए यत्न किया। बाद में जब उन्होंने बाल-विधवाओं के दुःख से व्यथित होकर विधवा-विवाह को प्रचलित करने का प्रयास किया तब देश-भर में कोलाहल मच गया। इस कोलाहल में संस्कृत के श्लोक और बँगला की गालियाँ, दोनों ही मिश्रित थे। शास्त्र और अपशब्द की इस मूसलाधार वर्षा का सामना करते हुए यह ब्राह्मण-वीर विजयी हुआ। विधवा-विवाह शास्त्र-सम्मत प्रमाणित हुआ और वैध ठहराया गया।

इन्हीं दिनों विद्यासागर एक और छोटे-से सामाजिक संघर्ष में सफल हुए जिसका संक्षेप में उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। उस समय संस्कृत कॉलेज में केवल ब्राह्मणों को प्रवेश मिलता था, शूद्र वहाँ जाकर संस्कृत का अध्ययन नहीं

कर सकते थे। समस्त बाधाओं को दूर हटाकर विद्यासागर ने शूद्रों को संस्कृत कॉलेज में पढ़ने का अधिकार दिलाया।

संस्कृत कॉलेज का काम छोड़ देने के बाद विद्यासागर की कीर्ति का प्रधान क्षेत्र मेट्रोपॉलिटन इन्स्टीट्यूशन[1] था। यह पहला कॉलेज था जिसे बंगालियों ने अपनी चेष्टा से स्थापित किया था, और जहाँ उनके अपने निर्देशन में उच्चतम शिक्षा प्रदान की जाती थी। हमारे देश में अँग्रेज़ी शिक्षा को स्वाधीनतापूर्वक स्थायी कराने का यह पहला प्रयास था। विद्यासागर ने ही इस संस्था की नींव डाली थी। इस तरह निर्धन विद्यासागर देश के सबसे बड़े दाता सिद्ध हुए। उन्होंने लोकाचार-रक्षक ब्राह्मण पंडित के वंश में जन्म ग्रहण किया था, लेकिन वह स्वयं लोकाचार के एक दृढ़ बन्धन से समाज को मुक्त कराने के लिए कठिन संग्राम करते रहे। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी उन्होंने विशुद्ध अँग्रेज़ी विद्या को स्वदेश की भूमि में बद्धमूल किया।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में विद्यासार ने इस स्कूल और कॉलेज का एकाग्र चित्त से और अत्यधिक यत्न से पालन किया; दीन-दुखियों और रोगियों की सेवा करते रहे; अकृतज्ञ लोगों को क्षमा करते रहे; बन्धु-बान्धवों को अपरिमित स्नेह से अभिषिक्त करते रहे। अन्त में अपने पुष्प-जैसे कोमल और वज्र-जैसे कठिन वक्ष पर कठोर वेदना की चोट सहते हुए, और अपने उन्नत, बलिष्ठ, आत्म-निर्भर चरित्र का महान आदर्श बंगाली जाति के मन पर सदा के लिए अंकित करते हुए, १३ श्रावण संवत् १२९४ को रात के समय इहलोक से सिधारे।

बंगदेश में विद्यासागर अपनी अक्षय दया के लिए विख्यात हैं। हमारे अश्रुपात निपुण बंगाली हृदय को जो चीज़ सबसे शीघ्र विचलित करती है, और प्रशंसा पर बाध्य करती है, वह है दया-वृत्ति। लेकिन विद्यासागर की दया केवल बंगाली हृदय की कोमलता को ही प्रकाशित नहीं करती। उससे चारित्र्य-बल का भी परिचय मिलता है, जो बंगालियों में दुर्लभ है। उनकी दया किसी विशेष प्रवृत्ति की उत्तेजना-मात्र नहीं थी। उस दया में एक सचेष्ट आत्म-शक्ति का अचल कर्तृत्व सर्वदा विद्यमान था, और यही उसकी महिमा का आधार था। दूसरों के कष्ट-निवारण के लिए स्वयं कष्ट झेलने में विद्यासागर क्षण-भर भी नहीं हिचकते थे। संस्कृत कॉलेज में काम करते समय एक बार व्याकरण-अध्यापक की जगह खाली

१. इस कॉलेज की स्थापना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने की थी। अब यह कॉलेज 'विद्यासागर कॉलेज' कहलाता है।

हुई। विद्यासगर ने मार्शल साहब से अनुरोध किया कि तारानाथ तर्कवाचस्पति को उस पद पर नियुक्त किया जाय। साहब ने कहा, पहले यह मालूम करना आवश्यक है कि वाचस्पति महोदय नौकरी स्वीकार करना चाहते हैं या नहीं। यह सुनकर विद्यासागर उसी दिन चल पड़े। तीस कोस पैदल चलकर कालना में तर्क-वाचस्पति के विद्यालय में पहुँचे। दूसरे दिन तर्कवाचस्पति की सम्मति और उनके प्रशंसा-पत्र इत्यादि लेकर फिर पैदल चलकर यथासमय साहब के पास उपस्थित हुए।[1] दूसरों के उपकार के लिए वह समस्त बल और उत्साह का प्रयोग करते थे। इसमें भी उनका जन्म-जात ज़िद्दीपन व्यक्त होता था। यदि हमारी दया में इस तरह की ज़िद न हो तो वह संकीर्ण हो जाती है, स्वल्प फल उत्पादन करके ही सूख जाती है। ऐसी दया को पौरुष-महत्त्व प्राप्त नहीं होता।

दया विशेष रूप से स्त्री-जाति का गुण नहीं है। विशुद्ध दया वास्तव में पुरुष का ही धर्म है। दया का विधान यदि पूर्ण रूप से पालन करना हो तो दृढ़ वीर्य और कठिन अध्यवसाय आवश्यक है। उसमें अनेक बार सुदीर्घ कर्म-प्रणाली पर चलना होता है। वास्तविक दया वह नहीं है जिसमें हम क्षणिक आत्म-त्याग द्वारा हृदय का भार हल्का करते हैं या किसी प्रवृत्ति के आवेग से छुटकारा पाते हैं। उसकी माँग यह होती है कि हम दीर्घकाल तक, विविध उपायों से, बाधाओं का अतिक्रमण करें और दुरूह उद्देश्य की सिद्धि में लगे रहें।

एक बार सरकार का एक अति-उत्साही अफ़सर जहानाबाद परगने में इन्कम-टैक्स निर्धारित करने पहुँचा। बहुत-से ऐसे मामूली व्यवसायी थे जिनकी आमदनी इतनी अल्प थी कि उन पर आय-कर नहीं लगता था। सरकार के इस चतुर शिकारी ने ऐसे लोगों को भी, दो-तीन नामों को एकत्र करके, टैक्स के जाल में आबद्ध किया। यह सुनकर विद्यासागर फौरन असेसर बाबू के पास पहुँचे और उस अफ़सर के व्यवहार पर उन्होंने आपत्ति व्यक्त की। बाबू ने उनकी बात पर ध्यान देने के बदले शिकायत करने वालों को धमकाया और उन पर दबाव डाला। विद्यासागर ने अविलंब कलकत्ता पहुँचकर लैफ़्टिनेंट गवर्नर तक शिकायत पहुँचाई। लैफ़्टिनेंट गवर्नर ने बर्दवान के कलक्टर हॅरिसन साहब को जाँच के लिए भेजा। विद्यासगर हॅरिसन साहब के साथ व्यवसायियों के बही-खाते जाँचने के लिए गाँव-गाँव घूमने लगे। इस तरह दो मास तक दूसरे सब काम छोड़कर उन्होंने केवल इस मामले पर ध्यान दिया और आखिर अन्याय का निवारण करने में सफल हुए।[2]

१. शंभुचन्द्र विद्यारत्न लिखित 'विद्यासागर चरित्र'।
२. वही।

विद्यासागर के जीवन में इस तरह के और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। बंगाल में अन्यत्र कहीं ऐसे दृष्टान्त मिलना दुष्कर है। हम अपनी कोमल-हृदयता का प्रचार तो बहुत करते हैं, लेकिन किसी तरह के झंझट में नहीं पड़ना चाहते। यह आलस्यमय शांतिप्रियता हमें अक्सर स्वार्थमय निष्ठुरता तक पहुँचा देती है। एक गोरा जहाज़ी डूबते हुए व्यक्ति को बचाने के लिए निश्चिन्त होकर जल में कूद सकता है। लेकिन यदि हमारी कोई नौका विपत्ति में हो तो अन्य नौकाएँ उसकी सहायता के लिए कोई प्रयत्न नहीं करतीं और दूर से निकल जाती हैं। इस तरह की घटनाएँ हमारे देश में अनेक बार सुनने में आती हैं। दया के साथ यदि साहस का योग न हो तो दया बेकार हो जाती है।

केवल यही नहीं कि हमारी अन्तःपुरवासिनी दया संकट और प्रयास के क्षेत्रों से दूर रहती है। समाज की कृत्रिम पवित्रता की रक्षा के लिए जो नियम बने हैं उनका उल्लंघन करना भी उनके लिए दुःसाध्य होता है। एक बार किसी गाँव के मेले में एक बाहर से आए हुए ब्राह्मण की मृत्यु हो गई। उस बेचारे की अन्त्येष्टि-क्रिया की व्यवस्था किसी ने नहीं की। अन्त में मृत देह को डोम ने श्मशान में ले जाकर गीदड़ों और कुत्तों के हवाले किया। अनुपस्थित आत्मीयजनों के हृदय को इससे गहरी चोट लगी। हम ज़रा-ज़रा-सी बात पर 'आहाउहु' करके आँसू बहाते हैं, लेकिन कर्म-क्षेत्र में परोपकार के पथ पर चलना हमारे लिए कठिन होता है। सहस्रों स्वाभाविक और कृत्रिम बाधाएँ पग-पग पर हमें रोकती हैं। विद्यासागर का कारुण्य बलिष्ठ था, पुरुषोचित था। इसीलिए वह सरल और निर्विकार था। वह कारुण्य न तो सूक्ष्म तर्क प्रस्तुत करता था, न नाक सिकोड़ता था, न दामन बचाता था। उसकी दया निःशंक, निःसंकोच होकर, सीधे रास्ते पर द्रुत पग से चलकर, अपना काम करती थी। रोग की वीभत्स मलिनता के कारण विद्यासागर कभी रोगी से दूर नहीं हटे। चंडीचरण बाबू के ग्रंथ में इस बात का उल्लेख है कि एक बार किसी मेहतर स्त्री को जब हैज़ा हो गया था तब विद्यासागर स्वयं उसकी कुटिया में पहुँचे और सेवा में लग गए। जब वे बर्दवान में रहते थे, बिना अपने-पराये का भेद किये पड़ोस के निर्धन मुसलमानों के साथ अत्यन्त स्नेहपूर्वक व्यवहार करते थे। श्री शंभुचन्द्र विद्यारत्न महाशय अपने भाई के जीवन-चरित्र में लिखते हैं—

"अन्न-क्षेत्र में भोजन करने वाली स्त्रियों के बाल तेल के अभाव से सूखे और उलझे हुए लगते। इसे देखकर मेरे बड़े भाई दुखी होते और तेल का प्रबन्ध करते। प्रत्येक स्त्री के लिए दो कटोरी तेल की व्यवस्था की जाती थी। तेल बाँटने वालों को यह आशंका थी कि मोची, डोम इत्यादि अस्पृश्य जातियों की स्त्रियों

का उन्हें कहीं स्पर्श न हो जाय, इसलिए दूर से ही तेल उँड़ेलते। यह देखकर भाई इन अस्पृश्यजातीय स्त्रियों के सिर पर स्वयं तेल मलते।"

इस घटना को सुनकर हमारा हृदय भक्ति से गद्गद् हो जाता है—विद्यासागर की दया के अनुभव से नहीं, बल्कि उस दया के बीच जो निःसंकोच बलिष्ठ मनुष्यत्व प्रस्फुटित है उसे देखकर। नीच जातियों के प्रति घृणा करने का संस्कार होते हुए भी हमारा मन अपनी निगूढ़ मानवता से प्रेरित होकर विद्यासागर की ओर आकृष्ट हुए बग़ैर नहीं रह सकता।

उनकी दया में जो पौरुष था उसके अनेक उदाहरण देखे जाते हैं। हमारे देश में जिन लोगों की भलमनसाहत और सरलता के लिए प्रशंसा की जाती है उनमें प्रायः संकोच बहुत होता है। कर्तव्य-स्थल में भी ये लोग किसी को वेदना नहीं पहुँचा सकते। विद्यासागर की दया में इस प्रकार की दुर्बलता नहीं थी। जब वे कॉलेज में पढ़ते थे, वेदांत-अध्यापक शंभुचंद्र वाचस्पति के साथ उनके सम्बन्ध विशेष रूप से स्नेहमय थे। वाचस्पति महाशय को वृद्धावस्था में फिर से विवाह करने की इच्छा हुई। उन्होंने अपने प्रिय छात्र की राय जाननी चाही। ईश्वरचंद ने विवाह के विचार का तीव्र विरोध किया। गुरु के बार-बार अनुनय करने पर भी उन्होंने अपना मत नहीं बदला। वाचस्पति महाशय ने ईश्वरचंद्र के विरोध की उपेक्षा करते हुए एक सुंदरी बालिका के साथ विवाह किया और उसे वैधव्य के तट पर पहुँचा दिया। श्रीयुत चंडीचरण बंद्योपाध्याय महाशय ने विद्यासागर-विषयक अपने ग्रंथ में इस मामले के परिणाम का वर्णन यों किया है—

"वाचस्पति महाशय ने ईश्वरचंद्र का हाथ पकड़कर कहा, 'चलो, अपनी माँ को देख आओ'। उन्होंने दासी से नववधू का अवगुंठन हटाने के लिए कहा। वाचस्पति महाशय की नव-विवाहिता स्त्री को देखकर ईश्वरचंद्र अपने आँसू नहीं रोक सके। जननी के स्थान पर उस बालिका को देखकर और भविष्य को सोचकर छोटे बच्चों की तरह रोने लगे। वाचस्पति महोदय ने कहा, 'अशुभ काम न करो,' और उन्हें बाहर के कमरे में ले गए। शास्त्रों का हवाला देकर उपदेश करते रहे। ईश्वरचंद्र के मन की उत्तेजना और हृदय के आवेग को दूर करने का और उन्हें शांत करने का उनका प्रयास था। इस तरह बहुत देर तक समझाने के बाद उन्होंने ईश्वरचंद्र से जल-पान करने का अनुरोध किया। लेकिन पाषाणतुल्य प्रतिज्ञा-परायण ईश्वरचंद्र राज़ी न हुए। उन्होंने कहा, 'इस घर में अब कभी जल स्पर्श नहीं करूँगा'।"

विद्यासागर के हृदय में जो बलिष्ठता थी उसका परिपूर्ण प्रभाव उनकी बुद्धि

में भी देखा जा सकता है। बंगालियों की बुद्धि स्वभावतः अति सूक्ष्म है। उसके लिए बाल की खाल निकालना संभव है; लेकिन बड़ी-बड़ी गाँठों को वह सुलझा नहीं सकती। वह निपुण है, पर सबल नहीं। हमारी बुद्धि रेस के घोड़े की तरह है—तर्क की बारीकियों में वह तेज भागती है, लेकिन कर्मपथ पर गाड़ी खींच नहीं सकती। विद्यासागर ब्राह्मण थे और न्याय-शास्त्र का भी उन्होंने काफी अध्ययन किया था। लेकिन साथ-ही-साथ उनके पास 'कॉमनसेन्स' या व्यवहार-बुद्धि यथेष्ट मात्रा में थी। यदि व्यवहार-बुद्धि न होती तो एक ऐसा व्यक्ति जिसने किसी समय छोले-बताशे खाकर विद्यार्जन किया था, निर्भयता से अपनी नौकरी न छोड़ सकता, आधी ज़िन्दगी बीत जाने पर स्वाधीन जीविका का अवलंबन न करता। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसने दया से प्रेरित होकर भूरि-भूरि स्वार्थ-त्याग किया, जिसने आत्म-सम्मान को स्वार्थवश क्षण-भर के लिए भी झुकने नहीं दिया, जो न्याय-संकल्प के मार्ग पर चलता रहा और किसी यंत्रणा या प्रलोभन से तिल-मात्र विचलित नहीं हुआ, वही अपनी प्रशस्त बुद्धि तथा दृढ़ प्रतिज्ञा की शक्ति से काफी धन कमाकर सहस्रों को आश्रय दे सका। देवदारु का वृक्ष गिरि-शिखर पर शुष्क पाषाण में अंकुरित होता है, घातक हिम-पात को शिरोधार्य करता है, और अपनी कठिन आंतरिक शक्ति से सरस-शाखा-पल्लव-संपन्न होकर आकाश की ओर उठता है। उसी तरह यह ब्राह्मण-पुत्र दारिद्रय तथा प्रतिकूलता के बीच केवल अपने मज्जागत बल और बुद्धि द्वारा अनायास ही प्रबल, समुन्नत और सर्वसम्पन्न हो सका।

मैट्रोपालिटन विद्यालय को उन्होंने केवल अपने प्रयास से सभी तरह की विपत्तियों से बचाया और उसे सगौरव विश्वविद्यालय से संयुक्त कराया। इससे विद्यासागर का लोक-हित-प्रेम और अध्यवसाय ही नहीं, उनकी सजग और सहज कर्मबुद्धि का भी परिचय मिलता है। यह बुद्धि यथार्थ पुरुष की बुद्धि थी। यह बुद्धि सुदूर भविष्य की काल्पनिक बाधाओं के सूक्ष्म विचार-जाल में उलझकर निरुपाय और अकर्मण्य नहीं हुई। यह बुद्धि केवल सूक्ष्म रूप में नहीं वरन् प्रशस्त रूप से और समग्र भाव से कर्म तथा कर्मक्षेत्र का आद्योपान्त निरीक्षण करके, द्विधा त्यागकर, उपस्थित बाधाओं के मर्मस्थल पर आक्रमण करके, वीरता से काम में जुट जाती थी। ऐसी सबल कर्मबुद्धि बंगालियों में विरली ही मिलती है।

कर्मबुद्धि की तरह धर्मबुद्धि में भी यदि व्यावहारिकता हो तभी उसके द्वारा कार्य सम्पन्न हो सकता है। कवि ने कहा है: 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः।' लेकिन धर्म की गति चाहे सूक्ष्म हो किन्तु उसकी नीति सरल और प्रशस्त होती है; क्योंकि

वह पंडितों और तर्कशास्त्रज्ञों के लिए नहीं होती। वह नित्य काल के लिए और विश्व के सभी लोगों के लिए होती है। लेकिन दुर्भाग्य तो यह है कि मनुष्य जिस चीज़ के भी सम्पर्क में आता है उसे अनजाने कृत्रिम और जटिल बना डालता है। जो कुछ सरल है, स्वाभाविक है, उन्मुक्त और उदार है, जिसकी क़ीमत देकर खरीदना नहीं पड़ता, विधाता ने जिसे प्रकाश और वायु की तरह सर्व-साधारण को भी बिना माँगे दान किया है, उसे भी मनुष्य दुर्गम बना देता है। इसीलिए सरल विचार और सरल भाव व्यक्त करने के लिए असाधारण महत्ता जरूरी होती है।

विद्यासागर ने बाल-विधवाओं के विवाह के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव रखे, वे भी अत्यन्त सरल थे। उसमें कोई असामान्य नवीनता या मौलिकता नहीं थी। प्रत्यक्ष परिस्थिति की उपेक्षा करते हुए किसी कल्पना-जगत के निर्माण में उन्होंने अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं किया। विधवा-विवाह से सम्बन्धित अपनी पुस्तक में उन्होंने विधवाओं की दशा पर शोक प्रकट किया है। उनमें से कुछ अंश उद्धृत करने से यह बात स्पष्ट होगी—

"हाय रे भारतवर्ष के मानव-गण !...तुम्हारी बुद्धि और धर्म-प्रवृत्ति दोनों अभ्यासवश इतनी कलुषित और अभिभूत हो गई हैं कि अभागी विधवाओं की दुरवस्था देखकर भी तुम्हारे चिरशुष्क हृदय में कारुण्य-रस का संचार नहीं होता। व्यभिचार-दोष और भ्रूण-हत्या पाप की लहरों में देश को डूबते हुए देखकर भी तुम्हारे मन में घृणा उत्पन्न नहीं होती। प्राण-तुल्य कन्याओं को तुम वैधव्य के असह्य यंत्रणानल में जलने देते हो। अदम्य प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर जब वे व्यभिचार-दूषित हो जाती हैं तब उनका पोषण करना तुम्हें मंजूर है; धर्मलोप-भय छोड़कर केवल लोकलज्जाभय से, विधवाओं की भ्रूण-हत्या में सहायता करते हुए, सपरिवार पाप से कलंकित होना तुम्हें स्वीकार है; पर वाह रे आश्चर्य ! शास्त्र-विधि के अनुसार उनका पुनर्विवाह करना, दुःसह वैधव्य-यंत्रणा से उनकी रक्षा करना, और इस तरह सबको विपत्ति से मुक्ति दिलाना तुम्हें मंजूर नहीं। तुम समझते हो पति की मृत्यु होते ही स्त्रियों का शरीर पाषाणमय हो जाता है, दुःख और यंत्रणा का उन्हें बोध नहीं होता, उनकी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ निर्मूल हो जाती हैं। तुम्हारा यह विचार नितान्त भ्रांतिपूर्ण है—पग-पग पर इसके उदाहरण तुम्हें मिलते हैं। ज़रा सोचो, तुम्हारी इस असावधानी से संसार-तरु के कैसे विषैले फल तुम उपभोग कर रहे हो !"

स्त्रियों के 'देवीत्व' और बालिकाओं के 'सतीत्व' को लेकर विद्यासागर ने

भावुकता का आकाशगामी वाष्प निर्माण नहीं किया। उन्होंने अपनी निर्मल और सबल बुद्धि तथा सरल सहृदयता से प्रेरित होकर समाज की यथार्थ वेदनामय अवस्था में हस्तक्षेप किया। जिनके पास दही नहीं होता उन्हींको मीठी बातों से चावल भिगोना पड़ता है। लेकिन विद्यासागर के पास यथेष्ट दही था इसलिए वाक्पटुता की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं थी। दया स्वयं दुःख की ओर आकृष्ट होती है। विद्यासागर के सामने यह बात स्पष्ट थी कि वास्तविक जगत् में विधवा होते ही बालिका यकायक 'देवी' नहीं बनती, और न हम उसके चारों ओर निष्कलंक देवलोक की सृष्टि करते हैं। ऐसी अवस्था में वह भी दुःखी होती है और समाज का भी अमंगल होता है। यह प्रत्यक्ष सत्य है जिसे हम प्रतिदिन देखते हैं। इस दुःख ओर अकल्याण के निवारण के लिए विद्यासागर ने उपयुक्त उपाय ढूंढ़े जबकि हम निपुण काव्य-कला के प्रयोग से अवास्तविक जगत में 'आदर्श वैधव्य' की कल्पना करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। अपनी सरल धर्मबुद्धि से विद्यासागर ने जिस वेदना का अनुभव किया उसका हमारे हृदय को यथार्थ रूप से बोध नहीं होता। इसलिए इस सम्बन्ध में हम जो कुछ लिखते या करते हैं उनमें नैपुण्य का प्रतिबिम्ब होता है, सरलता का नहीं। यथार्थ सबलता वही है जिसमें एक विशाल सरलता भी हो।

यह सरलता केवल विचारों में नहीं, व्यवहार में भी प्रदर्शित होती है। विद्यासागर जब एक बार अपने पिता से मिलने काशी गये, वहाँ के अनेक अर्थलोलुप ब्राह्मणों ने उन्हें रुपयों के लिए घेरा। उनकी अवस्था और स्वभाव को देखकर विद्यासागर ने उन्हें दया या भक्ति का पात्र नहीं समझा, और कहा, "आप यहाँ हैं इसलिए यदि मैं आपको श्रद्धापूर्वक विश्वेश्वर मान लूं तो मेरे-जैसा नराधम और कोई न होगा।" यह सुनकर काशी के ब्राह्मण अत्यन्त क्रोधित हुए और कहने लगे, "तब आप क्या मानते हैं ?" ईश्वरचन्द्र ने उत्तर दिया, "मेरे लिए विश्वेश्वर और अन्नपूर्णा के स्थान पर मेरे पितृदेव और जननीदेवी विद्यमान हैं।"

जो विद्यासागर छोटी-से-छोटी श्रेणी के लोगों का दुःखमोचन करने के लिए प्रसन्नता से रुपये खर्च करते थे, वही कृत्रिम भक्ति दिखाकर काशी के ब्राह्मणों की आशा पूर्ण नहीं कर सके। यही है बलिष्ठ सरलता। इसी को यथार्थ पौरुष कहते हैं।

अपने भोजन और कपड़ों के सम्बन्ध में भी विद्यासागर का व्यवहार सरलतापूर्ण था और इसी सरलता में दृढ़ शक्ति का परिचय मिलता है। हम पहले इस बात के दृष्टांत देख चुके हैं कि अपने सम्मान की रक्षा के प्रति वे कभी

उदासीन नहीं रहते थे। बहुत-से लोग साहबियत या नवाबी दिखाकर सम्मान-लाभ करने का प्रयत्न करते हैं। पर विद्यासागर के उन्नत, कठोर आत्म-सम्मान को आडम्बर कभी स्पर्श न कर सका। भूषण-हीन सरलता ही उनके लिए राज-भूषण था। ईश्वरचन्द्र जब कलकत्ता में अध्ययन करते थे उनकी दरिद्रा जननी चरखे पर सूत कातकर अपने दोनों बेटों के लिए कपड़े तैयार करके कलकत्ता भेजती थीं।[1] वही मोटा कपड़ा, वही मातृस्नेहमंडित दारिद्रय, उन्होंने सदा अपने शरीर पर सगौरव धारण किया। उनके मित्र हॅलीडे साहब, जो उस समय लेफ़्टिनेंट गवर्नर थे, अनुरोध करते कि उच्च राजकीय अधिकारियों से मिलने के लिए उचित कपड़े पहनकर आया करें। मित्र के अनुरोध से विद्यासागर दो-एक दिन चोगा-चपकन पहनकर साहब से मिलने गये। लेकिन उसके बाद बहुत लज्जित हुए और कहने लगे, "मुझे यदि ऐसे कपड़े पहनने पड़े तो मैं यहाँ नहीं आ सकूँगा।" हॅलीडे साहब ने अनुमति दे दी कि जिन कपड़ों के आदी हों उन्हींको पहनकर आएँ।[2] चप्पल और मोटे कपड़े की धोती-चादर पहनकर ही पंडित सर्वत्र सम्मान पाते आए हैं। विद्यासागर ने राज-द्वार पर भी इस वेश का त्याग करना आवश्यक नहीं समझा। उनके समाज में जो पोशाक उचित समझी जाती थी, उसे बदलकर अन्य समाज के लिए कुछ और पहनना उनके लिए सम्भव नहीं था, क्योंकि ऐसा करना उनके लिए और समाज के लिए अपमानास्पद होता। ईश्वरचन्द्र ने सीधी-सादी धोती और चादर को जो गौरव प्रदान किया वह हम स्वयं वर्तमान शासकों का छद्मवेश धारण करके नहीं प्राप्त कर सकते—बल्कि ऐसा करके हम अपने कृष्ण-चर्म पर एक और कृष्ण कलंक लगाते हैं। हमारे इस अपमानित देश में ईश्वरचन्द्र की तरह अखंड पौरुष-युक्त आदर्श व्यक्ति ने कैसे जन्म लिया यह कहना कठिन है। कौए के घोंसले में कोयल अंडे दे जाती है। उसी तरह मानव-इतिहास के विधाता ने बड़े चातुर्य से बंग-भूमि पर चुपचाप यह भार सौंप दिया कि वह विद्यासागर का पालन-पोषण करे।

इस दृष्टि से विद्यासागर बंगाल में बिलकुल अकेले थे। कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसे वे अपना स्वजातीय सहोदर कह सकते हों। वास्तविक अर्थ में उनका कोई सहयोगी नहीं था और इसलिए उन्हें आजीवन निर्वासित-सा रहना

---

१. शंभुचन्द्र विद्यारत्न लिखित 'विद्यासागर चरित्र'।

२. वही।

पड़ा। वह सुखी नहीं थे। अपने अन्दर वह एक अकृत्रिम मनुष्यत्व का अनुभव करते थे, लेकिन उनके चारों ओर जो लोग थे उनमें वे इस मनुष्यत्व का आभास प्राप्त न कर सके। उपकार का बदला उन्हें कृतघ्नता से मिला। प्रत्यक्ष कार्य में लोगों ने उनकी सहायता नहीं की। उन्होंने प्रतिदिन देखा कि हम बंगवासी यदि कुछ आरम्भ करते हैं तो उसे पूर्ण नहीं करते; आडम्बर दिखाते हैं, काम नहीं करते। जिस उद्योग में हाथ लगाते हैं उस पर हमारा विश्वास नहीं होता; और जिस पर विश्वास होता है उसे हम कार्यान्वित नहीं करते। बड़े-बड़े वाक्यों की रचना करना हम खूब जानते हैं, लेकिन तिल-मात्र आत्म-त्याग करने में असमर्थ हैं। अहंकार दिखाकर हम सन्तुष्ट हो जाते हैं, योग्यता-लाभ की चेष्टा नहीं करते। प्रत्येक काम में हम दूसरों पर निर्भर रहते हैं, फिर भी दूसरों की त्रुटियाँ उच्च स्वर से घोषित करते रहते हैं। दूसरों के अनुकरण से हमें गर्व होता है, दूसरों के अनुग्रह को हम सम्मान समझते हैं, दूसरों की आँखों में धूल झोंकना हमारी 'पॉलिटिक्स' है और अपने ही वाक्चातुर्य से अपने प्रति भक्ति-विह्वल होना हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इस दुर्बल, क्षुद्र, हृदयहीन, कर्महीन, दाम्भिक और शुष्क तर्क में मग्न जाति के लिए विद्यासागर के मन में तिरस्कार था। सभी विषयों में वह इन लोगों के विपरीत थे। जिस तरह एक बड़ा वृक्ष, जंगली पौधों के वेष्टन से ऊपर उठकर, शून्य आकाश में अपना मस्तक ऊँचा करता है, उसी तरह विद्यासागर बंग-समाज के अस्वास्थ्यकर क्षुद्रता-जाल से ऊपर उठकर एक शांत, सुदूर, निर्जन स्थान में पहुँचे। वहाँ से उन्होंने गर्मी से पीड़ित लोगों को छाया दी और क्षुधितों को फल दिये; लेकिन वह स्वयं हमारी असंख्य क्षणभंगुर सभा-समितियों के झिल्ली-स्वर से दूर रहे। क्षुधित, पीड़ित, अनाथ, असहाय लोगों के लिए वे आज विद्यमान नहीं हैं, लेकिन अपने महान् चरित्र का जो अक्षयवट बंग देश में उन्होंने बोया उसके नीचे की भूमि सारी बंगाली-जाति के लिए तीर्थ स्थान बन गई है। यहीं आकर हम अपनी तुच्छता, क्षुद्रता और निष्फल आडम्बर को भूलकर, सूक्ष्म तर्क-जाल और स्थूल जड़त्व को विच्छिन्न करके, सरल शक्तिशाली और अटल माहात्म्य की शिक्षा प्राप्त करेंगे। आज हम विद्यासागर को केवल विद्या और दया का आधार समझते हैं। लेकिन इस विशाल पृथ्वी के सम्पर्क में आकर जब हमारा विकास होगा, जब हम दुर्गम विस्तीर्ण कर्म-क्षेत्र में अग्रसर होंगे, और जब शौर्य और महत्ता से हमारा निकट परिचय होगा, तब हमारा हृदय यह अनुभव करेगा कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के चरित्र का मुख्य गौरव उनकी विद्या या दयाशीलता नहीं, बल्कि उनका अजेय पौरुष तथा अक्षय मनुष्यत्व है। इस

अनुभव के साथ हमारी शिक्षा पूरी होगी, विधाता का उद्देश्य सफल होगा, और विद्यासागर का चरित्र बंगाल के राष्ट्रीय जीवन में सदा के लिए प्रतिष्ठित होगा।

[२८ जुलाई, १८९५ को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-स्मृति-सभा के उपलक्ष्य में एमैरल्ड थियेटर में पठित।
'साधना' में अगस्त सन् १८९५ (भाद्र-आश्विन, १३०२ बंगला संवत्) में प्रकाशित।
'चरित्र-पूजा' में प्रकाशित (मई, १९०७)।]

महात्मा गांधी

भारतवर्ष की अपनी एक सम्पूर्ण भौगोलिक प्रतिमा है। पूर्व-प्रान्त से लेकर पश्चिम प्रान्त तक, उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक भारत की जो एक विशिष्ट पूर्णता है उसका चित्र हृदय में ग्रहण करने की इच्छा देश में प्राचीन काल से रही है। विभिन्न युगों और स्थानों में जो विच्छिन्न है, उसे एक करके देखने का प्रयत्न 'महाभारत' में स्पष्ट और जागृत रूप में दिखाई पड़ता है।

भारत के भौगोलिक स्वरूप को हृदय में उपलब्ध करने का किसी समय एक अच्छा साधन था। वह साधन था तीर्थ-यात्राओं की परम्परा। देश के पूर्वी अंचल से लेकर पश्चिमी किनारे तक, और हिमालय से लेकर समुद्र तक, पवित्र पीठ-स्थान थे। यहाँ तीर्थ स्थापित हुए जिनके द्वारा शक्ति के ऐक्यजाल में समस्त भारतवर्ष को लाने का एक सहज उपाय निर्मित हुआ।

भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। इस बात को सम्पूर्ण रूप से समझना प्राचीन काल में संभव नहीं था। आज हम 'सर्वे-रिपोर्टों', मानचित्रों और भौगोलिक विवरणों द्वारा भारत के वास्तविक विस्तार को अच्छी तरह देख सकते हैं। प्राचीन काल में ये साधन नहीं थे, और एक तरह से उनका न होना अच्छा ही था। जो चीज़ बहुत आसानी से मिलती है उसका मन पर गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। तरह-तरह के कष्ट सहकर भारत-परिक्रमा करते हुए जो अभिज्ञता प्राप्त की जाती थी वह गम्भीर होती थी और मन से उनका दूर होना कठिन था।

प्राचीन काल के इस समन्वय-तत्त्व का उज्ज्वल स्वरूप 'गीता' में मिलता है। कुरुक्षेत्र की भूमि में यह जो अचानक दार्शनिक चर्चा की जाती है वह काव्य की दृष्टि से असंगत-सी लगती है। यह भी कहा जा सकता है कि मूल 'महाभारत' में यह विवेचन नहीं था। जिन्होंने बाद में इसकी रचना की वे जानते थे कि काव्य-परिधि के बीच—भारत की चित्त-भूमि में—इस तात्त्विक चर्चा का प्रवेश आवश्यक था। उस समय भारत को अन्दर-बाहर से पूरी तरह उपलब्ध करने का प्रयास धार्मिक अनुष्ठान द्वारा ही सम्भव था। महाभारत-पाठ हमारे देश में धार्मिक कर्मों में गिना जाता था—केवल तात्त्विक दृष्टि से नहीं, वरन् देश की सम्पूर्ण उपलब्धि करने की दृष्टि से भी। और तीर्थयात्री भी दूर-दूर तक घूमते हुए, देश

के विभिन्न भागों को स्पर्श करते-करते, भारत के ऐक्यरूप को आंतरिक भाव से ग्रहण करते थे।

यह तो हुई प्राचीन काल की बात। लेकिन अब युग बदल गया है। आज देश के लोग अपने-अपने अलग कोनों में बैठकर प्रादेशिक संकीर्णता में आबद्ध हो गए हैं। संस्कार और लोकाचार के जाल में हम जकड़ गए हैं। लेकिन 'महाभारत' के विस्तृत क्षेत्र में हम मुक्ति की वायु का अनुभव करते हैं। इस महाकाव्य के विराट् प्रांगण में मानव-मन की तरह-तरह से परीक्षाएँ हुई हैं। जिसे हम प्रायः निन्दनीय कहते हैं उसे भी वहाँ स्थान मिला है। यदि हमारा मन इस बात के लिए प्रस्तुत हो तो हम अपराध और दोष का अतिक्रमण करते हुए 'महाभारत' की वाणी को ग्रहण कर सकते हैं। 'महाभारत' में एक उदात्त शिक्षा है। वह शिक्षा निषेधात्मक नहीं, सकारात्मक है; उसमें 'हाँ' का स्वर सुनाई पड़ता है। दोष और त्रुटियाँ तो उन बड़े-बड़े वीर पुरुषों में भी रही हैं जो अपने माहात्म्य से उन्नतमस्तक हैं। उन त्रुटियों को आत्मसात् करके ही वे बड़े हुए हैं। मनुष्य का यथार्थ रूप से मूल्यांकन करने की यही महान् शिक्षा हमें 'महाभारत' में मिलती है, पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने से कुछ और चिन्तनीय विषय हमारे सामने आये हैं जो पहले नहीं थे। प्राचीन भारत में जो लोग स्वभाव या कार्य की दृष्टि से पृथक् थे उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित किया गया था। लेकिन इस तरह खण्डित होने पर भी लोगों में ऐक्य साधना का प्रयास था। सहसा पश्चिम के दरवाजे से शत्रु आ पहुँचा। एक दिन आर्यों ने भी इसी पथ से आकर पाँच नदियों के प्रदेश में उप-निवेश स्थापित किये थे, और फिर विन्ध्याचल पार करके धीरे-धीरे वे सारे भारत में फैल गए थे। उस समय भारत, गांधार और समीपवर्ती प्रदेशों के साथ, एक समग्र संस्कृति से परिवेष्टित था; इसलिए बाहर के आघात से उसकी क्षति नहीं हुई। उसके बाद एक दिन फिर हमारे ऊपर बाहर से आघात हुआ। लेकिन यह आघात विदेशियों द्वारा हुआ, जिनकी संस्कृति बिलकुल भिन्न थी। जब वे आये तब हमने देखा कि हम एक साथ रहने पर भी एक नहीं हुए थे। इसलिए सारा भारतवर्ष विदेशी आक्रमण की बाढ़ में निमग्न हुआ। तब से हमारे दिन दुःख और अपमान में कटे हैं।

विदेशी आक्रमण का अवसर पाकर कुछ लोग तो अलग-अलग दल बनाकर देश में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न करने लगे, और अन्य लोग अपने निजी स्वातन्त्र्य की रक्षा करने के लिए अलग-अलग स्थानों पर विदेशियों का विरोध करने लगे। इनमें से किसी को भी सफलता नहीं मिली। राजपूताना, महाराष्ट्र और बंगाल में आपसी लड़ाई बहुत दिनों तक चलती रही। जितना बड़ा हमारा

देश था उस परिमाण में हमारी एकता नहीं थी। दुर्भाग्य झेलकर हमने सबक़ सीखे, लेकिन सदियों बाद। हमारी आपसी फूट से ही विदेशी आक्रमणकारियों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। पहले तो हमारे निकटवर्ती शत्रुओं ने हमला किया, और फिर दूर समुद्र पार से विदेशी शत्रु अपनी वाणिज्य-नौका के साथ हमारे ऊपर टूट पड़े। पुर्तगाली आए, डच आए, फ्रांसीसी और अँग्रेज़ आए। सबने ज़ोर से धक्के लगाए और सबने देखा कि उनके रास्ते में कोई दुर्जेय बाधा नहीं थी। हम अपनी समस्त शक्ति-सम्पदा विदेशियों को देने लगे, हमारी विद्या-बुद्धि क्षीण हुई, हमारा चित्त दुर्बल और खोखला हो गया। बाहर की दीनता अपने साथ आन्तरिक दीनता भी लाती है।

ऐसे दुर्दिन में हमारे साधकों के मन में जिस विचार का उदय हुआ वह यह था कि परमार्थ का लक्ष्य सामने रखकर भारत को स्वातंत्र्य की ओर ले जाने की आध्यात्मिक चेष्टा करना आवश्यक है। तब से हमारा मन पूर्ण रूप से पारमार्थिक पुण्य की ओर झुका है। हमारी जो पार्थिव सम्पदा है उसका प्रयोग दैन्य और अज्ञान के दूर करने में नहीं होता। पारमार्थिक वैभव के लोभ से हम अपनी पार्थिव सम्पदा खर्च करते हैं, और वह जा पहुँचती है महन्तों और पंडों के गर्व से फूले हुए पेट में। इससे भारत की क्षति ही हो सकती है, उसका लाभ नहीं हो सकता। भारतवर्ष के विशाल जन-समाज में एक और भी श्रेणी के लोग हैं। ये लोग जप-तप और ध्यान करने के लिए मनुष्य-मात्र का परित्याग करते हैं, और संसार को दैन्य तथा दुःख हवाले करके चल देते हैं। संसार के प्रति उदासीन मोक्षकामी हमारे देश में असंख्य हैं, और उनके लिए जो लोग अन्न जुटाते हैं, उन्हें वे मोह-ग्रस्त तथा संसारासक्त कहते हैं। एक बार किसी गाँव में ऐसे ही एक संन्यासी के साथ मेरी भेंट हुई थी। मैंने उनसे पूछा था, 'गाँव में जो दुराचारी, दुखी और कष्ट-ग्रस्त लोग हैं, उनके लिए आप कुछ क्यों नहीं करते?' मेरा प्रश्न सुनकर संन्यासी महोदय विस्मित भी हुए और अप्रसन्न भी। उन्होंने कहा, 'क्या जो लोग सांसारिक मोह में जकड़े हुए हैं उनके विषय में मुझे सोचना होगा? मैं साधक हूँ। विशुद्ध आनन्द प्राप्त करने के लिए जिस संसार को छोड़ आया हूँ फिर उसीमें जाकर आबद्ध हो जाऊँ!' ऐसी बातें करने वाले संसार के प्रति उदासीन लोगों को बुलाकर यह पूछने की इच्छा होती है कि उनके शरीर को चिकना बनाये रखने के लिए सामग्री कौन जुटाता है? ये संन्यासी जिन्हें पापी और हेय समझकर ठुकराते हैं वे 'संसारी' लोग ही उनके लिए अन्न का प्रबन्ध करते हैं। परलोक की ओर दृष्टि जमाकर हम अपनी शक्ति का जो अपव्यय करते हैं उसकी कोई सीमा नहीं है। सदियों से भारत ने इस दुर्बलता को स्थान दिया है। और विधाता ने हमें

इसके लिए दण्ड भी दिया है। ईश्वर ने हमें आदेश दिया है कि हम सेवा और त्याग द्वारा संसार के लिए उपयुक्त सिद्ध हों। इस आदेश की हमने उपेक्षा की है, इसलिए हमें दण्ड भोगना ही होगा।

पिछले दिनों योरोप में स्वातन्त्र्य-प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न किये गए हैं। इटली किसी दिन विदेशियों के पंजे में था और अपमानित होकर जीवन व्यतीत करता था। लेकिन मेज़िनी-गैरीबाल्डी-जैसे वीर और त्यागी इटली में हुए। उन्होंने पराधीनता के जाल से मुक्ति दिलाकर अपने देश को स्वातन्त्र्य-दान दिया। अमेरिका के युक्त-राष्ट्र में लोगों ने कितने दुःख सहे, उन्हें कितना प्रयत्न और संघर्ष करना पड़ा, यह भी हम इतिहास में देखते हैं। मनुष्य को मानवोचित अधिकार दिलाने के लिए पाश्चात्य देशों में कितने ही लोगों ने अपना बलिदान दिया है। आदमी-आदमी में भेद निर्माण करके एक-दूसरे का जो अपमान किया जाता है उसके विरुद्ध पश्चिम में आज भी विद्रोह चल रहा है। उन दोनों में जन-साधारण को मानवीय गौरव का अधिकारी माना गया है, इसलिए राष्ट्रीय प्रशासन के सभी अधिकार सर्वसाधारण तक पहुँच गए हैं। वहाँ विधान के सामने धनी और निर्धन में, या ब्राह्मण और शूद्र में, कोई भेद नहीं है। पाश्चात्य जगत् के इतिहास से हमें यह शिक्षा मिलती है कि एकताबद्ध होकर स्वतन्त्रता को कैसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है। आज सभी भारतवासी यह चाहते हैं कि अपने देश को नियंत्रित करने का अधिकार उन्हें मिले। यह इच्छा हमने पश्चिम से ही प्राप्त की है। इतने दिनों तक हम अपने गाँव और पड़ोसियों को छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित करते आए हैं। अत्यन्त क्षुद्र परिधि के भीतर हम सोचते और काम करते रहे हैं। गाँव में तालाब और मन्दिर बनवाकर ही हमने अपना जीवन सार्थक समझा है, और गाँव ही हमारे लिए जन्मभूमि या मातृभूमि रही है। भारत को मातृभूमि के रूप में स्वीकार करने का हमें अवकाश ही नहीं मिला। प्रादेशिकता के जाल में फँसकर और दुर्बलता से पराजित होकर जब हमारा पतन हुआ था, उस समय रानाडे, गोखले, और सुरेन्द्रनाथ-जैसे लोग जनसाधारण को गौरव प्रदान करने के लिए, महान् उद्देश्यों को लेकर आए। उनके द्वारा आरम्भ की गई साधना को आज एक महापुरुष ने अपनी प्रबल शक्ति से, बड़ी तेज़ी के साथ, सफलता के मार्ग पर बढ़ाया है। उसी महापुरुष की—अर्थात् महात्मा गांधी की—बातों को स्मरण करने के लिए हम आज यहाँ एकत्रित हुए हैं।

बहुत-से लोग पूछ सकते हैं, क्या यही पहले-पहल आए हैं? इसके पहले भी क्या कांग्रेस के अन्दर अनेक लोगों ने काम नहीं किया? काम तो बहुत-से लोगों ने किया, लेकिन उनके नाम गिनाते ही हम देख पाते हैं कि उनका साहस बहुत ही

सीमित था और उनकी आवाज़ धीमी थी।

इसके पहले कांग्रेस के लोग या तो शासकों के सामने आवेदन-पत्रों की डाली ले जाते थे, या अपनी आँखें लाल करके कृत्रिम रूप से अपना क्रोध व्यक्त करते थे। उनका विचार था कि कभी कठोर और कभी कोमल वाक्य-बाणों का प्रयोग करके ही वे मेज़िनी-गैरीबाल्डी के समगोत्रीय बन सकेंगे। उस क्षीण, अवास्तविक 'वीरता' में ऐसा कुछ भी नहीं था जिस पर आज हम गर्व कर सकें। आज जो हमारे सामने आए हैं वे राष्ट्रीय स्वार्थ के कलंक से मुक्त हैं। राजनीति में अनेक पाप और दोष होते हैं लेकिन उनमें से सबसे बड़ा दोष है स्वार्थपरता। हो सकता है कि राष्ट्रीय स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ से बहुत बड़ा हो, फिर भी है तो वह भी स्वार्थ। इसलिए वह भी कीचड़ से अलिप्त नहीं है। पॉलिटिशियन लोगों की एक अलग जाति होती है। उनका आदर्श मानव के महान् आदर्श से मेल नहीं खाता। वे बड़े-से-बड़ा झूठ बोल सकते हैं। वे इतने निष्ठुर होते हैं कि अपने देश को स्वातन्त्र्य दिलाने के बहाने से दूसरे देशों पर अधिकार जमाने का लोभ उनसे छोड़ा नहीं जाता। पाश्चात्य देशों में हम देखते हैं कि जो लोग देश के लिए प्राण तक दे सकते हैं वही लोग देश के नाम पर घोर अन्याय को प्रश्रय भी दे सकते हैं।

पाश्चात्य देशों ने एक दिन जिस मूसल का निर्माण किया था वही आज योरोप का सिर कुचलने के लिए प्रस्तुत है। आज दशा यह है कि हमें संदेह होता है, योरोपीय सभ्यता कल तक टिकेगी या नहीं। जिसे वे लोग पेट्रिऑटिज़्म कहते हैं उसी पेट्रिऑटिज़्म से उनका विनाश होगा। लेकिन जब उनकी अन्तिम घड़ी आयगी तब वे हमारी तरह निर्जीव होकर नहीं मरेंगे। भयानक आग भड़काकर भीषण प्रलय में प्राण त्यागेंगे।

हमारे बीच भी असत्य का पदार्पण हुआ है। पॉलिटिशियन लोगों ने गुटबन्दी का विष फैलाया है। इस पॉलिटिक्स से निकला हुआ दलबन्दी का विष छात्रों में भी प्रवेश कर चुका है। पॉलिटिशियन लोग अत्यन्त व्यावहारिक होते हैं। वे सोचते हैं कि अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए मिथ्या का अवलंबन करना ज़रूरी है। किन्तु विधाता का विधान ऐसा है कि इस छल-चातुर्य का परिणाम एक दिन उन्हें भोगना पड़ेगा। पॉलिटिशियन लोगों की चतुराई के लिए हम उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, लेकिन भक्ति नहीं कर सकते। भक्ति तो हम कर सकते हैं महात्मा गांधी की, जिनकी साधना सत्य की साधना है। मिथ्या के साथ समझौता करके उन्होंने सत्य की सार्वभौम धर्मनीति को अस्वीकार नहीं किया। भारत की युग-साधना के लिए यह परम सौभाग्य का विषय है। महात्मा गांधी ही एक ऐसे पुरुष

हैं जिन्होंने प्रत्येक अवस्था में सत्य को माना है, चाहे वह सुविधाजनक हो या न हो। उनका जीवन हमारे लिए एक महान् उदाहरण है। दुनिया में स्वाधीनता-लाभ का इतिहास रक्त की धारा से पंकिल है, अपहरण और दस्यु-वृत्ति से कलंकित है। लेकिन महात्मा गांधी ने यह दिखाया है कि हत्याकांड को आश्रय दिये बग़ैर भी स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। देश के नाम पर लोग लूट-मार कर सकते हैं, विज्ञान डाका डाल सकता है। लेकिन देश के नाम पर किये गए कामों पर आज लोगों को जो गर्व है वह टिक नहीं सकता। हमारे बीच ऐसे लोग बहुत कम हैं जो हिंसा को अपने मन से दूर हटाकर किसी बात को देख सकें। क्या वास्तव में हमारा यह विश्वास है कि बिना हिंसा-प्रवृत्ति को स्वीकार किये भी हमारी विजय हो सकती है?

महात्मा गांधी यदि केवल एक वीर योद्धा होते तो हम उन्हें इस तरह स्मरण न करते जैसे आज कर रहे हैं। रणभूमि में वीरता दिखाने वाले बड़े-बड़े सेनापति दुनिया में बहुत हुए हैं। मनुष्य का युद्ध धर्मयुद्ध है, नैतिक युद्ध है। धर्मयुद्ध में भी निष्ठुरता सम्भव है, जैसा कि हम 'गीता' और 'महाभारत' में देखते हैं। उसमें बाहु-बल के लिए स्थान है या नहीं, इस विषय पर मैं शास्त्रार्थ नहीं करूँगा। लेकिन वह अनुशासन बहुत बड़ी चीज़ है जिससे प्रेरित होकर हम कह सकें : 'चाहे जान चली जाय हम आघात नहीं करेंगे, और इसी तरह विजयी होंगे।' यह गम्भीर वाणी है। इसमें चातुर्य नहीं है, कार्यसिद्धि के लिए व्यावहारिक परामर्श नहीं है। धर्मयुद्ध बाहर से जीतने के लिए नहीं होता, हारकर भी विजय प्राप्त करने के लिए होता है। अधर्म-युद्ध में जो मरता है उसका वास्तविक अंत होता है, लेकिन धर्मयुद्ध में मरने के बाद भी कुछ शेष रहता है—यहाँ पराजय के अन्दर विजय और मृत्यु के अन्दर अमरत्व होता है। इस सत्य को जिन्होंने अपने जीवन में उपलब्ध करके स्वीकार किया है उनका उपदेश हमें सुनना ही होगा।

इसकी जड़ में एक शिक्षा-धारा है। स्वाधीनता का कलुषित रूप और स्वादेशिकता का विषैला पक्ष हमने योरोप में देखा है। यह मानना पड़ेगा कि इससे वहाँ के लोगों को काफी लाभ हुआ और ऐश्वर्य मिला। पाश्चात्य देशों में ईसाई-धर्म को केवल मौखिक भाव से ग्रहण किया गया। उस धर्म में मानव-प्रेम का एक महान् उदाहरण है। उसके अनुसार भगवान् ने मनुष्य होकर, मानवीय देह का दुःख-पाप अपनाकर, मनुष्य की रक्षा की—और वह भी इहलोक में, परलोक में नहीं। जो अत्यन्त दीन हैं उन्हें वस्त्र देना चाहिए, जो क्षुधित हैं उनको अन्न देना चाहिए—यह बात ईसाई धर्म में जिस स्पष्टता से कही गई है वैसी और किसी धर्म में नहीं कही गई।

महात्माजी ऐसे ही एक ईसाई-साधक से मिले थे। इस साधक की नित्य यही चेष्टा थी कि मानव को न्याय अधिकार प्राप्त करने में बाधाओं से मुक्ति मिले। सौभाग्य-क्रम से इसी योरोपीय ऋषि--टॉलस्टाय—से महात्मा गांधी ने ईसाई धर्म की अहिंसा-वाणी को यथार्थ रूप में उपलब्ध किया। और यह भी सौभाग्य का विषय है कि यह एक ऐसे मनुष्य की वाणी थी जिसने संसार की विविध अभिज्ञताओं के फलस्वरूप अहिंसा-नीति के तत्त्व को अपने चरित्र में ढाला था। मिशनरी अथवा व्यवसायी प्रचारकों से उन्हें मानव-प्रेम के सम्बन्ध में रूढ़िगत उपदेश नहीं सुनने पड़े थे। ईसा की वाणी का यह महान् दान भारत के लिए आवश्यक था। मध्य युग में मुसलमानों से भी हमने इसी तरह का दान प्राप्त किया था। दादू, कबीर, रज्जब और अन्य साधु-संतों ने इस सत्य का प्रचार किया था कि जो निर्मल और मुक्त है, जो आत्मा की श्रेष्ठ सामग्री है, वह समस्त मानव-जाति की सम्पदा है; वह ऐसी चीज़ नहीं है जिसे मन्दिर के रुद्ध द्वार के पीछे किसी विशेष अधिकारी के लिए सुरक्षित रखा जाय। युग-युग में यही होता आया है। महापुरुष समस्त पृथ्वी के दान को अपने माहात्म्य द्वारा ग्रहण करते हैं, और ग्रहण करने की क्रिया में ही उस दान को सत्य में परिणत करते हैं। अपने माहात्म्य से ही राजा पृथु ने पृथ्वी का दोहन किया था, रत्न-संचय करने के लिए। श्रेष्ठ महापुरुष वही होते हैं जो सारे धर्म, इतिहास और नीति से पृथ्वी के श्रेष्ठ दान को ग्रहण करते हैं।

ईसा का श्रेष्ठ संदेश है कि जो विनम्र है उसीकी विजय होती है। लेकिन ईसाई देश कहते हैं कि निष्ठुर धृष्टता द्वारा विजय प्राप्त होती है। इन दोनों प्रवृत्तियों में कौन-सी सफल होगी, यह कहना कठिन है। लेकिन धृष्टता का परिणाम हम योरोप में देख सकते हैं, जहाँ आज जीवन रोग-ग्रस्त हो गया है। महात्माजी ने नम्र अहिंसा-नीति ग्रहण की है, और चारों ओर उसकी विजय हो रही है। उन्होंने अपने समस्त जीवन द्वारा जिस नीति को प्रमाणित किया है उसे हमें स्वीकार करना ही होगा, चाहे हम उस पर पूरी तरह न चल सकें। हमारे अन्तःकरण और आचरण में रिपु[1] और पाप का संग्राम चल रहा है, फिर भी हमें सत्यव्रत महात्मा से पुण्य-तपस्या की दीक्षा लेनी होगी। आज का दिन स्मरणीय है क्योंकि राष्ट्रीय मुक्ति की दीक्षा और सत्य की दीक्षा जनसाधारण के हृदय में एक हो गई है।

[सितम्बर, १९३७ में आरोग्य-लाभ करने के उपरान्त गुरुदेव

१. काम-क्रोध-लोभादिक छः विकार, जो मानव के शत्रु कहलाते हैं।

ने शान्तिनिकेतन मन्दिर में २ अक्तूबर, १९३७ को गांधी-जयन्ती मनाई। यह लेख उसी अवसर के लिए लिखा गया था।
नवम्बर-दिसम्बर, १९३७ (अग्रहायण, १३४४ बँगला संवत्) में 'प्रवासी' में प्रकाशित।]

द्वितीय खण्ड

इतिहास

तपोवन

आधुनिक सभ्यता-लक्ष्मी का आसन जिस कमल पर विद्यमान है वह ईंट और लकड़ी का बना है—वह है नगर! उन्नति का सूर्य जैसे-जैसे आकाश में ऊपर उठता है, इस विशाल कमल की पंखुड़ियाँ खिल-खिलकर चारों ओर व्याप्त हो जाती हैं। इस चूने-गारे के विस्तार को रोकना पृथ्वी के लिए असम्भव-सा हुआ जा रहा है।

आज का मानव नगर में ही विद्यार्जन करता है और विद्या का प्रयोग करता है; धन कमाता है और धन का व्यय करता है; तरह-तरह से अपनी शक्ति-सम्पदा बढ़ाने का यत्न करता है। आज की सभ्यता के पास जो कुछ भी श्रेष्ठ पदार्थ है, सब नगर की सामग्री है।

वास्तव में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। जहाँ बहुत-से लोग एक-दूसरे से मिलते हैं वहाँ बुद्धि की विविध प्रवृत्तियों के संघात से चित्त जागरित होता है। चारों ओर से धक्के खाकर प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति गतिशील हो जाती है। इस तरह चित्त-समुद्र के मन्थन से मानव-जीवन का सार-पदार्थ अपने-आप ऊपर उठकर बह निकलता है।

फिर जब मनुष्य की शक्ति जाग उठती है तो वह एक ऐसा क्षेत्र ढूंढ़ती है जहाँ अपने-आपको व्यक्त करने में सफल हो सके। ऐसा क्षेत्र कहाँ है? वहीं, जहाँ बहुत-से लोग, विविध प्रयासों में लीन, अनेक दिशाओं में सृष्टिशील और सचेष्ट हों—अर्थात् नगर में।

जब लोग पहले-पहल एक स्थान पर जमा होकर नगर बसाते हैं तो उनकी यह रचना सभ्यता के आकर्षण से नहीं होती। होता यह है कि शत्रु के आक्रमण से बचने के लिए लोग किसी सुरक्षित स्थान पर एकत्रित होना आवश्यक समझते हैं। पर कारण जो कुछ भी हो, जहाँ भी अनेक मनुष्य एक स्थान पर साथ-साथ रहने लगते हैं वहाँ उनके प्रयोजन और बुद्धि को एक विशिष्ट रूप मिल जाता है और सभ्यता की अभिव्यक्ति होने लगती है। लेकिन भारतवर्ष में आश्चर्यजनक बात देखी गई। यहाँ सभ्यता का मूल स्रोत नगर में नहीं, बल्कि वन में था। सर्वप्रथम जब भारतीय सभ्यता का विकास हुआ, लोग एक-दूसरे से बिलकुल सटकर नहीं बैठे। उन्होंने भीड़ नहीं जमाई। यहाँ वृक्ष-नदी-सरोवर का मनुष्य के साथ योग बना रहा। यहाँ मनुष्य भी था, निर्जन स्थान भी था, निर्जनता से

भारत का चित्त जड़ नहीं हुआ, वरन् उसकी चेतना और भी उज्ज्वल हो उठी। हम कह सकते हैं कि शायद दुनिया में और कहीं ऐसा न हुआ होगा।

हम देखते हैं कि जो लोग परिस्थितिवश जंगलों में आबद्ध हो जाते हैं उनकी प्रवृत्तियाँ वन्य हो जाती हैं। या तो वे शेर की तरह हिंस्र हो जाते हैं, या हिरन की तरह भोले-भाले। लेकिन प्राचीन भारत में वन की विजनता ने मानवीय बुद्धि को पराजित नहीं किया, वरन् एक ऐसी शक्ति प्रदान की जिससे उस वनवास-जन्य सभ्यता की धारा ने सारे भारत को अभिषिक्त किया। आज भी उस धारा का प्रवाह रुका नहीं है।

इस तरह उन अरण्य-वासियों की साधना से भारत को वह सामर्थ्य मिला—वह 'एनर्जी' मिली—जिसका स्रोत न तो बाह्य संघात में था, न इच्छाओं की प्रतियोगिता में। इसलिए वह शक्ति मुख्यत: बहिर्मुखी नहीं है। विश्व की गम्भीर सत्ता में उसका प्रवेश ध्यान के द्वारा हुआ है। उसने विश्व के साथ अपनी आत्मा का योग स्थापित किया है। भारत ने अपनी सभ्यता का परिचय मुख्य रूप से ऐश्वर्य के उपकरणों द्वारा नहीं दिया। इस सभ्यता के कर्णधार अरण्य-निवासी, अल्पवसन तपस्वी थे।

समुद्र-तट ने जिस देश का पालन किया उसे वाणिज्य-सम्पदा प्रदान की। मरुभूमि ने जिन लोगों को क्षुधित रखा वे दिग्विजयी हुए। इसी तरह विशेष परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की शक्ति को विभिन्न पथ मिले। समतल आर्यावर्त की अरण्यभूमि ने भारत को भी एक विशेष सुयोग दिया। भारत की बुद्धि को उसने यह प्रेरणा दी कि जगत् के अंतरतम रहस्य का आविष्कार करे। सुदूर द्वीप-द्वीपान्तर से जिस सम्पदा को उस बुद्धि ने संचित किया उसे सारी मानव जाति को स्वीकार करना होगा। औषधि-वनस्पति के बीच प्रकृति की प्राण-शक्ति ऋतु-ऋतु में दिन-रात व्यक्त होती है। यह प्राण-लीला अद्भुत भंगिभा में, ध्वनि और रूप-वैचित्र्य में, निरंतर नये-नये भाव से प्रकाशित होती है। इसी प्राण-लीला के बीच ध्यान-परायण रहने वाले लोगों ने अपने चारों ओर एक आनन्दमय रहस्य को उपलब्ध किया था। इसीलिए वे इतनी सरलता से कह सके : 'यदिदं किंच सर्वं प्राण एजति नि:सृतम्' जो कुछ भी है परम-प्राण से निसृत होकर प्राण के बीच कंपनशील है। वे लोग ईंट, लकड़ी और लोहे का कठोर पिंजरा बनाकर उसमें आबद्ध नहीं हुए थे। वे जहाँ रहते थे वहाँ विश्व-व्यापी विराट् जीवन के साथ उनके जीवन का अबाधित योग था। वन ने उन्हें छाया दी, फल-फूल दिये, कुश और यज्ञ-सामग्री दी। उनके दैनंदिन कर्म, अवकाश और प्रयोजन के साथ वन का आदान-प्रदान था, जीवित सम्बन्ध था। इसी साधन से वे

अपने जीवन को चारों ओर के महान् जीवन के साथ युक्त करके जान सके। परिवेश को उन्होंने शून्य, निर्जीव या पृथक् नहीं समझा। अपने सहज अनुभव से उन्होंने जाना कि विश्व-प्रकृति से वे जो कुछ भी ग्रहण करते थे—आलोक, वायु, अन्न, जल इत्यादि—वह दान मिट्टी का नहीं था, वृक्ष का नहीं था, शून्य आकाश का नहीं था, वरन् एक चेतनामय अनंत आनन्द के बीच उस दान का मूल स्रोत था। इसीलिए उन्होंने उस प्रकाश और अन्न-जल को श्रद्धा और भक्ति के साथ स्वीकार किया। और इसीलिए विश्व चराचर को अपने प्राण, चेतना, हृदय और बोध द्वारा अपनी आत्मा के साथ संयुक्त करना ही भारत की उपलब्धि रही है।

इससे हम देख सकते हैं कि अरण्य ने भारत के चित्त का अपनी निभृत छाया में, अपने निगूढ़ प्राण में, किस तरह पालन किया है। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के दो बड़े युग हैं—वैदिक युग और बौद्ध युग। इन दोनों युगों में वन ने भारत के लिए 'धात्री रूप' धारण किया था। वैदिक ऋषियों ने ही नहीं, भगवान् बुद्ध ने भी कितने ही आम्रवनों और वेणुवनों में उपदेश किया। राजप्रासाद उनके लिए यथेष्ट नहीं था, वन भूमि ने ही उन्हें अपनी गोद में जगह दी।

क्रमश: भारत में राज्य-साम्राज्य और नगर-नगरी की स्थापना हुई। देश-विदेश के साथ उसका वाणिज्य आरम्भ हुआ। अन्न-लोलुप खेतों ने धीरे-धीरे छायादार जंगलों को दूर हटा दिया। परन्तु प्रतापशाली, ऐश्वर्यपूर्ण, यौवनोद्धत भारतवर्ष वन के प्रति अपना ऋण स्वीकार करने में कभी लज्जित नहीं हुआ। भारत में तपस्या को अन्य सभी प्रयासों से अधिक सम्मान मिला है। यहाँ के राजा-महाराजाओं ने भी प्राचीन काल के वनवासी तपस्वियों को आदि पुरुष मानकर गौरव का अनुभव किया है। पौराणिक कथाओं में जो कुछ आश्चर्यजनक है, पवित्र है, जो कुछ श्रेष्ठ और पूजनीय है वह प्राचीन तपोवनों की स्मृति से विजड़ित है। बड़े-बड़े राजाओं के वैभव की बातें स्मरण रखने की चेष्टा भारत ने नहीं की। लेकिन वन की सामग्री को अपने प्राण की सामग्री मानकर विविध संघर्षों के बीच आज तक उसने वहन किया है। मानवीय इतिहास में यही भारत की विशेषता है।

भारत में जब विक्रमादित्य सम्राट् थे, उज्जयिनी महानगरी थी, कालिदास महाकवि थे, उस समय तपोवन का युग समाप्त हो चुका था। मानवजाति के विशाल मेले में हम खड़े थे। चीनी, हूण, ईरानी, ग्रीक ओर रोमक—सभी ने आकर हमारे चारों ओर भीड़ लगाई थी। किसी समय जनक-जैसे राजा एक ओर अपने हाथ से हल चलाकर खेती करते थे और दूसरी ओर देश-देशांतर से आये

हुए ज्ञान-पिपासु लोगों को ब्रह्मविद्या सिखाते थे। लेकिन कालिदास के युग में ऐसे दृश्य नहीं दिखाई पड़ते थे। फिर भी उस ऐश्वर्यगर्वित युग में उस समय के श्रेष्ठ कवि ने तपोवन का जैसा वर्णन किया है उसे देखने से हम समझ सकते हैं कि तपोवन हमारी दृष्टि से बाहर होने पर भी हमारे हृदय में विद्यमान था।

कालिदास विशेष रूप से भारतवर्ष के कवि हैं, यह बात उनके तपोवन-चित्रण से प्रमाणित होती है। ऐसे परिपूर्ण आनन्द के साथ तपोवन के ध्यान को क्या और भी कोई कवि मूर्त्त कर सका है?

'रघुवंश' काव्य में पर्दा उठते ही तपोवन का शान्त, सुन्दर, पवित्र दृश्य हमारी आँखों के सामने आता है। जंगल से तृण, काष्ठ, फल एकत्रित करके तपस्वीगण आते हैं, और एक अदृश्य अग्नि मानो उनकी अगवानी करती है। तपोवन के हिरन ऋषि-पत्नियों को संतान की तरह प्रिय हैं, 'नीवार' धान्य के दाने पाकर वे कुटिया के दरवाजे के सामने निःसंकोच पड़े रहते हैं। मुनि-कन्याएँ वृक्षों को पानी देती हैं और जब थाले भर जाते हैं वहाँ से अलग हो जाती हैं, जिससे पक्षीगण निःशंक होकर पानी पीने के लिए आ सकें। धान्य के ढेर कुटीर के आँगन में धूप में रखे हैं, और पास ही हिरन लेटे-लेटे घास चबा रहे हैं। आहुति-कुंड से सुगंधित धुआँ उठ रहा है और हवा से बहकर वह अतिथियों के शरीर को पवित्र कर रहा है।

तरु-लता, पशु-पक्षी सबके साथ मनुष्य का पूर्ण मिलन—यही है इस वर्णन का आन्तरिक भाव।

समस्त 'अभिज्ञान-शाकुंतल' नाटक में तपोवन मानो राजप्रासाद की निष्ठुर भोग-लालसा का धिक्कार करता है। यहाँ भी मूल स्वर वही है—चेतन-अचेतन सबके साथ मनुष्य के आत्मीय सम्बन्ध का पावित्र माधुर्य।

'कादम्बरी' के कवि ने तपोवन का वर्णन यों किया है—जब हवा बहती है लताएँ सिर झुकाकर प्रणाम करती हैं; वृक्ष फूल बरसाकर पूजा करते हैं; कुटीर के आँगन में हरा धान सुखाने के लिए फैला दिया गया है; आँवले, कदली, लवंग इत्यादि फल एकत्रित किये गए हैं; वटुकों के अध्ययन से वन-भूमि मुखरित है; वाचाल तोते उन आहुति-मंत्रों का उच्चारण कर रहे हैं जो बार-बार सुनते-सुनते उन्हें याद हो गए हैं; वन-कुक्कुट वैश्वदेव-बलिपिंड भक्षण कर रहे हैं; निकटवर्ती सरोवर से कलहंस-शावक आकर नीवार-बलि खाते हैं; हरिणियाँ अपनी जिह्वाओं से मुनि-बालकों का शरीर प्रेम से चाटती हैं।

इस वर्णन के अन्तर्गत भी वही बात है। तरु-लता और जीव-जंतुओं के साथ मनुष्य का विच्छेद दूर करके तपोवन प्रकाशित होता है, यही प्राचीन विचार हमारे

देश में बराबर व्यक्त हुआ है।

लेकिन यह भाव केवल तपोवन के चित्रों में ही प्रकाशित हुआ हो ऐसी बात नहीं। हमारे देश में निर्मित सभी प्रसिद्ध काव्यों में मनुष्य और विश्व-प्रकृति का मिलन परिस्फुट हुआ है। जो घटनाएँ मानव-चरित्र का आश्रय लेकर व्यक्त होती हैं उन्हींको नाटक का प्रधान उपादान माना जाता है। इसलिए अन्य देशों के साहित्य में हम देखते हैं कि नाटकों में विश्व-प्रकृति का आभास मात्र मिलता है, उसे महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जाता। लेकिन हमारे देश के प्राचीन नाटकों में, जिनकी ख्याति आज तक सुरक्षित है, प्रकृति अपने अधिकार से वंचित नहीं होती।

मनुष्य जिस जगत्-प्रकृति से घिरा हुआ है उसका मनुष्य के चिंतन के साथ और उसके कार्य के साथ, आंतरिक योग है। यदि मनुष्य का संसार नितान्त 'मानवमय' हो उठे, यदि मनुष्य के पीछे-पीछे प्रकृति भी उसमें प्रवेश न कर सके, तो हमारे विचार और कर्म कलुषित तथा व्याधिग्रस्त होंगे, अपनी मलिनता के अथाह सागर में वे आत्महत्या कर बैठेंगे। प्रकृति हमारे बीच नित्य काम करते हुए भी यह दिखाती है कि वह चुपचाप खड़ी है, जैसे हम ही काम-काज में व्यस्त हों और वह बेचारी केवल अलंकार की वस्तु हो। लेकिन हमारे देश के कवियों ने प्रकृति को अच्छी तरह पहचाना है। प्रकृति मानव के समस्त सुख-दुःख में 'अनंत' का स्वर मिलाये रखती है। यह स्वर हमारे देश के प्राचीन काव्य में लगातार ध्वनित हुआ है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि 'ऋतु संहार' की रचना कालिदास ने अपरिपक्व आयु में की थी। इसमें तरुण-तरुणियों का जो मिलन-संगीत है वह वासना के निम्न-सप्तक से शुरू होता है, लेकिन 'शाकुंतल' और 'कुमारसंभव' की तरह तपस्या के तार-सप्तक तक नहीं पहुँचता।

फिर भी कवि ने नव यौवन की लालसा को प्रकृति के विचित्र और विराट् संगीत के साथ मिलाकर उसे उन्मुक्त आकाश में झंकृत किया है। ग्रीष्म की धारायंत्र-मुखरित संध्या में चंद्रकिरण अपना स्वर मिलाती हैं। वर्षा ऋतु में, नवजल-सिंचित शीतल वनांत में, हवा में झूमती हुई कदम्ब-शाखाएँ भी इसी छंद से आंदोलित हैं। इसीके ताल पर शारद लक्ष्मी अपने हंसरव-नूपुर की ध्वनि को मंद्रित करती है; वसंत की दक्षिण वायु से चंचल, कुसुमों से लदी हुई, आम्र-शाखाओं का कलमर्मर इसी की तान-तान में प्रसारित होता है।

विराट् प्रकृति में जिसका जो स्वाभाविक स्थान है उसे वहीं स्थापित करके देखा जाय तो प्रकृति की उग्रता नहीं रहती, लेकिन यदि प्रत्येक वस्तु को

विच्छिन्न करके केवल मनुष्य की सीमा में संकीर्ण रूप से देखा जाय तो प्रकृति व्याधि की तरह लगती है, उसका उत्तप्त और रक्तिम रूप दिखाई पड़ता है। शेक्सपियर के दो-एक खण्डकाव्य हैं जिनमें नर-नारी की आसक्ति का वर्णन है। यहाँ आसक्ति ही आसक्ति है, उसके चारों ओर किसी अन्य वस्तु के लिए स्थान नहीं है। यहाँ न आकाश है, न पवन। प्रकृति ने गीत-गंध-वर्ण के जिस विशाल आवरण से विश्व की समस्त लज्जा ढकी है उससे इस आसक्ति का कोई सम्पर्क नहीं है। इसीलिए इस तरह के काव्य में प्रवृत्तियों की उन्मत्तता अत्यन्त दुःसह रूप धारण करती है।

'कुमारसंभव' के तृतीय सर्ग में कामदेव के आकस्मिक आविर्भाव से चंचल यौवन का उद्दीपन वर्णित हुआ है। यहाँ कालिदास ने उन्मत्तता को संकीर्ण सीमा के बीच नहीं देखा, और न यह दिखाने का प्रयास किया है कि उन्मत्तता ही सब-कुछ है। एक विशेष तरह का शीशा होता है जिसमें से यदि सूर्य-किरणें किसी बिन्दु पर पड़ें तो वहाँ आग जल उठती है। लेकिन वही सूर्य-किरणें जब आकाश में सर्वत्र स्वाभाविक रूप से प्रसारित होती हैं तो ताप देती हैं, जलाती नहीं। वसंत-प्रकृति की सर्वव्यापी यौवन-लीला के बीच हर-पार्वती के मिलन-चांचल्य को विन्यस्त करके कालिदास ने उसकी मर्यादा सुरक्षित रखी है। कालिदास ने पुष्पधनु की प्रत्यंचा-ध्वनि को विश्व-संगीत के स्वर से विच्छिन्न नहीं होने दिया। जिस पृष्ठभूमि पर उन्होंने अपना चित्र खींचा है वह तरु-लताओं और पशु-पक्षियों को साथ लेकर समस्त आकाश में विचित्र रंगों में फैली है।

केवल तृतीय सर्ग ही नहीं, पूरा 'कुमारसम्भव' काव्य एक विश्व-व्यापी पट-भूमि पर अंकित है। इस काव्य का जो मूल विचार है वह गम्भीर और चिरंतन है। पाप-दैत्य प्रबल होकर स्वर्ग लोक को छिन्न-विच्छिन्न कर देता है। समस्या यह है कि उस दैत्य को पराजित करने के लिए जिस वीरता की आवश्यकता है वह कैसे उत्पन्न हो ?

यह मनुष्य की चिरकालीन समस्या है। प्रत्येक जाति के जीवन की भी यही समस्या है, जो सारे देश में नये-नये रूप से सामने आती है।

कालिदास के युग में भी भारत के सामने एक अत्यन्त उत्कट समस्या थी, जैसा कि हम उनके काव्यों को पढ़कर स्पष्ट देख सकते हैं। प्राचीन काल में हिन्दू-समाज की जीवन-यात्रा में जो सरलता [और संयम था वह नष्ट हो चुका था। राजा अपने राजधर्म को भूलकर सुखपरायण तथा भोगी हो गए थे। उधर शकों के आक्रमण से भारत की बार-बार दुर्गति हो रही थी।

किन्तु इस आमोद भवन के स्वर्णिम अंतःपुर में बैठकर काव्य-लक्ष्मी विकल

चित्त से किसके ध्यान में निमग्न थी ? उसका हृदय तो वहाँ था नहीं। वह इस विचित्र शिल्प-मंडित, हीरे-जैसे कठिन कारागार से मुक्ति की कामना कर रही थी।

कालिदास के काव्यों में 'बाहर' के साथ 'भीतर' का, 'अवस्था' के साथ 'आकांक्षा' का द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। भारतवर्ष में तपस्या का युग बीत चुका था; और ऐश्वर्यशाली राज-सिंहासन के पास बैठकर कवि उसी निर्मल, सुदूर अतीत काल की ओर वेदना-भरी दृष्टि से देख रहा था।

'रघुवंश' में भारतवर्ष के प्राचीन सूर्यवंशी राजाओं का जो चरित्र-गान है उसमें भी कवि की यही वेदना निहित है। इस बात का प्रमाण दिया जा सकता है।

हमारे देश के काव्य में अशुभ अन्त की प्रथा नहीं है। वास्तव में जहाँ श्री रामचन्द्र के जीवन में रघु का वंश गौरव के उच्चतम शिखिर पर पहुँचता है वहीं यदि काव्य का अन्त होता तो कवि ने भूमिका में जो कहा है वह सार्थक होता।

भूमिका के शब्द ये हैं—"जो राजा आजीवन शुद्ध रहते थे, जो फल-प्राप्ति के लिए कार्य करते थे, जिनका समुद्र-तट तक राज्य था और और स्वर्ग तक रथ-मार्ग था; जो अग्नि में यथा-विधि आहुति दिया करते थे और प्रार्थियों की इच्छा-पूर्ति करते थे; जो अपराध के अनुसार दण्ड देते थे और उचित समय जाग उठते थे; जो त्याग के लिए अर्थ-संचय करते थे, सत्य के लिए मितभाषी थे, यश के लिए विजयोन्मुख थे और सन्तान-प्राप्ति के लिए विवाह करते थे; जिनका बचपन विद्यार्जन में बीतता था, जो यौवन में विषय-पूर्ति करते थे, वार्धक्य में मुनि-वृत्ति ग्रहण करते थे और योग-साधना के बाद जिनका देहान्त होता था—'रघुवंश' के उन्हीं राजाओं का मैं गुण-गान करूँगा, क्योंकि यद्यपि मेरी वाक्सम्पदा अत्यन्त अल्प है, उनके गुणों की ख्याति सुनकर मेरा चित्त विचलित हो गया है।"

परन्तु गुण-कीर्तन में ही यह काव्य समाप्त नहीं होता। कवि किस बात से इतने विचलित हुए थे यह हम 'रघुवंश' के परिणाम को देखकर समझ सकते हैं।

'रघुवंश' को जिसके नाम से गौरव मिला उसकी जन्म-कथा क्या है ? उसका आरम्भ कहाँ है ?

तपोवन में दिलीप-दम्पति की तपस्या से ही ऐसे राजा का जन्म हुआ था। कालिदास ने विभिन्न काव्यों द्वारा अपने राजप्रभु को बड़ी कुशलता से यह दिखाया है कि बिना कठिन तपस्या के किसी महान् फल को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। जिस रघु ने उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम के सारे राजाओं को अपने तेज से पराजित

किया, और समस्त पृथ्वी पर एकछत्र राजत्व स्थापित किया, वह अपने माता-पिता की तप-साधना का ही धन था। और जिस भरत ने अपने वीर्य-बल से चक्रवर्ती सम्राट् होकर भारत को अपने नाम से धन्य किया, उसके जन्म पर प्रवृत्ति-समाधान का जो कलंक पड़ा था उसे कवि ने तपस्या की अग्नि में जलाया है, दुःख के अश्रु-जल से धोया है।

'रघुवंश' का आरम्भ राजोचित ऐश्वर्य के गौरवमय वर्णन से नहीं होता। सुदक्षिणा को साथ लेकर राजा दिलीप तपोवन में प्रवेश करते हैं। चारों समुद्रों तक जिनके शासन का विस्तार था ऐसे राजा अविकल निष्ठा और कठिन संयम से तपोवन की धेनु की सेवा में लग जाते हैं। 'रघुवंश' का आरम्भ है संयम और तपस्या में; और उसका उपसंहार है, आमोद-प्रमोद में, सुरा-पान और इंद्रिय-भोग में। इस अन्तिम सर्ग में जो चित्र है, उसमें काफ़ी चमक-दमक है, लेकिन जो अग्नि नगर को जलाकर सर्वनाश लाती है वह भी कम उज्ज्वल नहीं है। एक पत्नी के साथ दिलीप का तपोवन-निवास सौम्य और हल्के रंगों में चित्रित है; अनेक नायिकाओं के साथ अग्नि-वर्ण का आत्म-विनाश-प्रवृत्त-जीवन अत्यन्त स्पष्ट रूप से, विविध रंगों से, और ज्वलन्त रेखाओं से अंकित किया गया है।

प्रभात शांतिपूर्ण होता है, पिंगल जटाधारी ऋषि-बालकों की तरह पवित्र होता है। मोती की तरह स्वच्छ, सौम्य आलोक लेकर वह शिशिर-स्निग्धा पृथ्वी पर धीरे-धीरे उतरता है और नवजीवन की अभ्युदय-वार्ता से वसुधा को उद्बोधित करता है। उसी तरह कवि के काव्य में तपस्या द्वारा प्रस्थापित राज-महात्म्य ने स्निग्ध तेज और संयत वाणी से महान् 'रघुवंश' के उदय की सूचना दी। विचित्र वर्णों के मेघ-जाल से आविष्ट सन्ध्या अपनी अद्भुत रश्मियों से पश्चिमी आकाश को क्षण-भर के लिए ज्योतिर्मय बना देती है; लेकिन देखते-ही देखते विनाश का दूत आकर उसकी सारी महिमा का अपहरण करता है, और अन्त में शब्दहीन, कर्महीन, अचेतन अन्धकार में सब-कुछ विलीन हो जाता है। उसी तरह काव्य के अन्तिम सर्ग में भोग-वैचित्र्य के भीषण समारोह में 'रघुवंश' का नक्षत्र ज्योतिहीन हो जाता है।

काव्य के इस आरम्भ और अन्त में कवि के हृदय की बात प्रच्छन्न है। ऐसा लगता है कि वह नीरव, दीर्घ निश्वास के साथ कह रहा है : 'क्या था, और क्या हो गया! जब अभ्युदय का युग आने वाला था उस समय तपस्या को ही हम प्रधान ऐश्वर्य समझते थे। और आज, जब कि हमारा विनाश समीप है, भोग-विलास के उपकरणों का अन्त नहीं। भोग की अतृप्त अग्नि सहस्र दिशाओं में भड़क रही है और आँखों को चकाचौंध कर रही है।'

कालिदास की अधिकांश कविताओं में यह द्वन्द्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'कुमारसम्भव' में यह भी दिखाया गया है कि इस द्वन्द्व का समाधान कैसे हो। इस काव्य में कवि ने कहा है कि त्याग के साथ ऐश्वर्य का, तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही उस शौर्य का जन्म हो सकता है, जिसके द्वारा मनुष्य का सर्व प्रकार की पराजय से उद्धार हो।

अर्थात्, त्याग और भोग के सामंजस्य में ही पूर्ण शक्ति है। त्यागी शिव जब एकाकी समाधि-मग्न बैठे थे, स्वर्गलोक असहाय था; और सती जब अपने पिता के घर ऐश्वर्य में अकेली ही आबद्ध थी, उस समय भी दैत्यों का उपद्रव प्रबल हो उठा था।

प्रवृत्ति के प्रबल हो जाने से ही त्याग और भोग का सामंजस्य टूट जाता है। किसी एक संकीर्ण स्थान पर जब हम अपने अहंकार और वासना को केन्द्रित करते हैं, तब हम समग्र को क्षति पहुँचाते हैं और अंश को बढ़ा-चढ़ाकर देखने का प्रयत्न करते हैं। यही अमंगल की जड़ है। अंश के प्रति आसक्ति हमें समग्र के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित करती है, और यही पाप है।

इसीलिए त्याग आवश्वक है। यह त्याग अपने को रिक्त करने के लिए नहीं, अपने को पूर्ण करने के लिए होता है। हमें समग्र के लिए अंश का त्याग करना है, नित्य के लिए क्षणिक का, प्रेम के लिए अहंकार का, आनन्द के लिए सुख का त्याग करना है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है: 'त्यक्तेन भुंजीथाः'—त्याग के द्वारा भोग करो, आसक्ति के द्वारा नहीं।

पार्वती ने पहले कामदेव की सहायता से शिव को पाना चाहा। उसकी चेष्टा व्यर्थ हुई। अन्त में त्याग और तपस्या के द्वारा ही वह शिव को प्राप्त कर सकी।

कामना अंश के प्रति आसक्त होती है और समग्र के प्रति अन्ध। लेकिन शिव देश-काल की सीमाओं से परे है; कामना का त्याग किये बिना उससे मिलन नहीं हो सकता।

'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'। त्याग द्वारा ही भोग करो। उपनिषद् के इसी अनुशासन में 'कुमारसम्भव' काव्य का मर्म है, और इसीमें हमारे तपोवन की साधना है। लाभ के लिए त्याग करना होगा।

Sacrifice and Resignation—आत्म-त्याग और दुःख स्वीकार—इन दोनों का माहात्म्य कुछ धर्मशास्त्रों में विशेष रूप से वर्णित हुआ है। जगत् के सृष्टि-कार्यों में जैसे उत्ताप महत्त्वपूर्ण है वैसे ही मानव-जीवन के गठन में दुःख भी एक बहुत बड़ी रासायनिक शक्ति है। उसके द्वारा चित्त की कठिनता गल जाती

है और दुर्भेद्य हृदय-ग्रंथि को छेदा जा सकता है। इसलिए संसार में जो लोग दुःख को दु.ख के ही रूप में नम्र भाव से स्वीकार कर सकते हैं वे ही यथार्थ तपस्वी हैं।

लेकिन किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि इस दुःख-स्वीकार को ही उपनिषदों ने अपना लक्ष्य बनाया है। उपनिषद् का अनुशासन त्याग का दुःख-रूप में अंगीकार करना नहीं है, बल्कि त्याग को भोग-रूप में वरण करना है। जिस त्याग की चर्चा उपनिषद् में है वही पूर्णतर 'ग्रहण' है, गम्भीरतर आनन्द है। वह त्याग है विश्व के साथ योग, भूमा के साथ मिलन। भारतवर्ष का आदर्श तपोवन वह अखाड़ा नहीं है, जहाँ शरीर और आत्मा का, संसार और संन्यास का मल्लयुद्ध होता रहे। 'यत्किंच जगत्यां जगत्' जो कुछ भी है सबके साथ त्याग द्वारा बाधाहीन मिलन, यही है तपोवन की साधना। इसीलिए तरु-लता-पशु-पक्षियों के साथ भारतवर्ष का ऐसा घनिष्ठ-आत्मीय सम्बन्ध रहा है जो अन्य देशों के लोगों को अद्‌भुत प्रतीत होता है।

और इसीलिए हमारे देश की कविता में प्रकृति-प्रेम का जो परिचय मिलता है, वह उसे अन्य देशों की कविता से अलग करता है, उसे विशिष्टता प्रदान करता है। यह प्रकृति पर प्रभुत्व नहीं, प्रकृति का उपभोग नहीं, प्रकृति के साथ मिलन है।

लेकिन यह मिलन अरण्यवासियों की बर्बरता भी नहीं है। हमारा तपोवन यदि अफ्रीका का जंगल होता तो हम कह सकते कि प्रकृति के साथ जुड़े रहना एक तरह की तामसिकता है। लेकिन जिसमें मनुष्य का चित्त साधना द्वारा जागरित होता है वह मिलन केवल अभ्यासगत जड़त्व का परिणाम नहीं हो सकता। संस्कारों की बाधाएँ टूटकर जो मिलन स्वाभाविक हो उठता है वही तपोवन का मिलन है।

हमारे सभी कवियों ने यह माना है कि तपोवन शान्तरसास्पद है। तपोवन का जो एक विशेष रस है, वह है शान्त रस। शान्त रस है परिपूर्णता का रस। जिस तरह सात रंगों की किरणें मिलकर श्वेत वर्ण बनता है उसी तरह चित्त का प्रवाह जब विभिन्न भागों में खण्डित न होकर विश्व के साथ अपने अविच्छिन्न सामंजस्य से परिपूर्ण हो जाता है, तब शान्तरस का जन्म होता है।

ऐसा ही शान्तरस तपोवन में है। यहाँ सूर्य, अग्नि, वायु, जल-स्थल, आकाश, तरु-लता, मृग-पक्षी—सबके साथ चेतना का परिपूर्ण योग है। यहाँ मनुष्य का चारों ओर की चीज़ों के साथ विच्छेद नहीं है, विरोध नहीं है।

भारत के तपोवन में यह जो शान्त रस का संगीत है, उसीके आदर्श से हमारे देश में अनेक मिश्र राग-रागनियों की सृष्टि हुई है। इसीलिए हमारे काव्य में

मानवीय व्यवहार के बीच प्रकृति को इतना बड़ा स्थान दिया गया है। हमारे मन में सम्पूर्णता के लिए जो स्वाभाविक आकांक्षा है, उसकी पूर्ति के उद्देश्य से ही ऐसा किया गया है।

'अभिज्ञान-शाकुंतल' नाटक में जो दो तपोवन हैं, उन्होंने शकुंतला के सुख-दु:ख को विशालता और सम्पूर्णता दी है। उनमें से एक तपोवन पृथ्वी पर है और दूसरा स्वर्गलोक की सीमा पर। एक तपोवन में नवयौवना ऋषि-कन्याएँ सहकार-वृक्ष और नवमल्लिका-लता के मिलनोत्सव से पुलकित होती हैं; मातृहीन मृग-शिशुओं को मूठ-मूठ धान खिलाकर उनका पालन करती हैं, और काँटों से उनका मुँह कट जाने पर इंगुदी का तेल लगाकर शुश्रूषा करती हैं। इस तपोवन में दुष्यन्त-शकुंतला के प्रेम को सरलता, सौन्दर्य और स्वाभाविकता प्रदान करके कवि ने उस प्रेम का स्वर विश्व-संगीत के साथ मिला दिया है।

और अब दूसरा तपोवन देखिये। सन्ध्या के मेघ की तरह किंपुरुष पर्वत पर हेमकूट है, जहाँ देवता-दानवों के गुरु मरीचि, अपनी पत्नी के साथ तपस्या कर रहे हैं। लता-जाल-जड़ित वह हेमकूट पक्षी-नीड़ों से शोभित अरण्य-जटाओं को वहन करता है; योगासन में अचल शिव जैसे सूर्य की ओर देखते हुए ध्यान-मग्न हैं। उपद्रवी तपस्वी-बालक सिंह-शिशु के बाल खींचता है और उसे माता के स्तन से अलग करता है। पशु का यह दु:ख ऋषि-पत्नी के लिए असह्य हो जाता है। इस तपोवन में शकुंतला के अपमान और विरह-दु:ख को कवि ने एक महान् शांति और पवित्रता प्रदान की है।

यह मानना होगा कि पहला तपोवन मर्त्यलोक का है और दूसरा अमृतलोक का। अर्थात्, पहला वह है जैसा 'होता है', दूसरा वह है जैसा 'होना चाहिए'। इसी 'होना चाहिए' का अनुसरण 'होता है' करता रहता है। इसी दिशा में चलकर वह अपने-आप को संशोधित करता है, पूर्ण करता है। 'होता है' ही सती है, अर्थात् सत्य है; और 'होना चाहिए' शिव है, अर्थात् मंगल है। कामना का क्षय करके, तपस्या के बीच, सती और शिव का मिलन होता है। शकुंतला के जीवन में भी 'होता है' तपस्या द्वारा 'होना चाहिए' तक पहुँचता है। दु:ख के भीतर होकर मर्त्य अन्त में स्वर्ग की सीमा तक पहुँचता है।

यह जो दूसरा काल्पनिक तपोवन है वहाँ भी मनुष्य प्रकृति का त्याग करके स्वतन्त्र नहीं हुआ है। स्वर्ग जाते समय युधिष्ठिर अपने श्वान को साथ ले गए थे। प्राचीन भारतीय काव्य में मनुष्य प्रकृति को साथ लेकर स्वर्ग पहुँचता है, प्रकृति से विच्छिन्न होकर अपने-आप बड़ा नहीं बन जाता। मरीचि के तपोवन में मनुष्य की तरह हेमकूट भी तपस्वी है, वहाँ सिंह भी हिंसा-त्याग करता है, पेड़-पौधे भी

इच्छापूर्वक प्रार्थियों की कमी पूरी करते हैं। मनुष्य अकेला नहीं है, सारे निखिल को साथ लेकर वह सम्पूर्ण है, इसलिए कल्याण का आविर्भाव तभी होता है जब सबका परस्पर योग हो।

'रामायण' में राम को वनवास के लिए जाना पड़ता है। राक्षसों के उपद्रव के अतिरिक्त उन्हें इस वनवास में कोई दु:ख नहीं है। वे एक के बाद एक अरण्य, नदी और पर्वत पार करते हैं, पर्णकुटी में रहते हैं, भूमि पर सोकर रात काटते हैं। लेकिन इन सब बातों से उन्हें कोई क्लेश नहीं होता। इन सब नदियों, पर्वतों और अरण्यों के साथ उनके हृदय का मिलन है। यहाँ वे प्रवासी नहीं हैं।

अन्य देशों के कवि राम-लक्ष्मण-सीता के माहात्म्य को उज्ज्वल रूप में दिखाने के लिए वनवास के कठोर दु:खों का चित्रण करते। लेकिन वाल्मीकि ने ऐसा बिलकुल नहीं किया। उन्होंने वन के आनन्द को ही बार-बार दोहराकर उसका गुणगान किया है। जिनके अन्त:करण को राजैश्वर्य ने अभिभूत कर रखा है उनके लिए विश्व-प्रकृति के साथ मिलन कभी स्वाभाविक नहीं हो सकता। समाज-गत संस्कार और जीवन-भर का कृत्रिम अभ्यास पग-पग पर इस मिलन में बाधा देते हैं। इन बाधाओं के बीच ऐसे लोग प्रकृति को अपने प्रतिकूल ही देख सकते हैं।

हमारे देश के राजपुत्रों का ऐश्वर्य में पालन-पोषण हुआ, लेकिन ऐश्वर्य की आसक्ति ने उनके अन्त:करण को पराजित नहीं किया। धर्म के अनुरोध पर उनका वनवास स्वीकार करना इस बात का प्रथम प्रमाण है। उनका चित्त स्वाधीन था, शांत था, इसीलिए अरण्य में उन्होंने यात्रा का कष्ट नहीं अनुभव किया। और इसीलिए तरुओं और लता, पशु-पक्षियों से उनके हृदय को केवल आनन्द ही मिला। यह आनन्द प्रभुत्व का आनन्द नहीं, भोग का आनन्द नहीं, बल्कि मिलन का आनन्द है। इस आनन्द का आधार तपस्या है, आत्म-संयम है। इसमें उपनिषद् की वही वाणी है—'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'।

कौशल्या की राजगृह-वधू सीता वन की ओर जा रही है—

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम्
अदृष्टरूपां पश्यंती रामं पप्रच्छ साबला।
रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान्
सीतावचनसंबद्ध आनयामास लक्ष्मण:।
विचित्रबालुकाजलां हंससारसनादिताम्
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम्।

जिन वृक्षों और पुष्प-शालिनी लताओं को सीता ने पहले कभी नहीं देखा

था उनके विषय में वह राम से पूछने लगी। उसके अनुरोध पर लक्ष्मण विविध वृक्ष-लताओं की पुष्प-मंजरी से भरी हुई डालें लाकर उसे देने लगे। विचित्र सिकता-जलयुक्त और हंस-सारसों से मुखरित नदियों को देखकर जानकी ने आनन्द का अनुभव किया।

पहले-पहल वन में जाकर राम ने जब चित्रकूट पर्वत पर आश्रय लिया तब उन्होंने

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटम्
नदीञ्च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्
ननन्द हृष्टो मृगपक्षिजुष्टाम्
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात्।

सुरम्य चित्रकूट पर्वत, सुतीर्था माल्यवती नदी और मृग-पक्षी-सेविता वन-भूमि के सान्निध्य में राम पुर-विप्रवास के दुःख को भूलकर संतुष्ट तथा आनन्दित हुए।

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवन प्रियः।

राम को पर्वत और अरण्य बहुत प्रिय थे। दीर्घ काल तक उस पर्वत पर रहने के बाद एक दिन उन्होंने सीता को चित्रकूट का शिखर दिखाकर कहा—

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम्।

इस रमणीय पर्वत को देखकर राज्य-त्याग भी मुझे दुखदायी नहीं लगता, सुहृदों का वियोग भी मुझे पीड़ा नहीं देता। वहाँ से जब दंडकारण्य पहुँचे, राम ने आकाश में सूर्य-मंडल की तरह प्रदीप्त तापस-आश्रम देखा। वह आश्रम 'शरण्यं सर्वभूतानां' था, ब्राह्मी-लक्ष्मी द्वारा समावृत्त था। वहाँ प्रत्येक कुटीर सुमार्जित थी, चारों ओर मृग-पक्षी थे।

राम का वनवास इसी तरह बीता--कभी रमणीय वन में, कभी पवित्र तपोवन में।

राम और सीता के पारस्परिक प्रेम ने प्रतिफलित होकर चारों ओर मृग-पक्षियों को भी आच्छन्न किया। उनका प्रेम ऐसा था, जिससे उनका एक-दूसरे के साथ ही नहीं बल्कि विश्व-लोक के साथ भी मिलन हुआ। इसीलिए सीता-हरण के बाद राम ने समस्त अरण्य को अपनी विरह-वेदना का सहभागी पाया। सीता का वियोग केवल राम के लिए ही नहीं था, सारी वनभूमि के लिए था, क्योंकि राम और सीता के वनवास से अरण्य को एक नई सम्पदा मिली थी। वह सम्पदा थी मनुष्य का प्रेम। उस प्रेम से अरण्य के लता-पल्लव में, उसकी घनी, रहस्यमयी

छाया में एक नई चेतना का संचार हुआ था।

शेक्सपियर के 'As You Like It' नाटक में वनवास-कथा है; 'Tempest' में भी वही है। 'A Midsummer Night's Dream' भी अरण्य-काव्य है। परन्तु इन सब रचनाओं में मनुष्य के प्रभुत्व को और प्रवृत्तियों की लीला को ही मुख्य स्थान प्राप्त है। मानव का अरण्य के साथ सौहार्द हम यहाँ नहीं देखते। अरण्य-वास में मानव-चित्त की सामंजस्य-साधना नहीं है। या तो वन के ऊपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा है, या उसे त्याग करने की इच्छा है। वन के प्रति या तो विरोध है या वैराग्य और औदासीन्य। मानव-प्रकृति विश्व-प्रकृति को अलग हटाकर स्वतन्त्र हो रही है और अपना ही गौरव प्रकाशित करती है।

मिल्टन के 'Paradise Lost' में आदि मानव-दम्पति के स्वर्गारण्य-वास का वर्णन है। यह विषय ऐसा है कि इस काव्य में मानव और प्रकृति का मिलन सरल प्रेम द्वारा मधुर और विराट् रूप में व्यक्त किया जा सकता था। कवि ने प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन अवश्य किया है; यह भी दिखाया है कि यहाँ जीव-जन्तु हिंसा का परित्याग करके साथ-साथ रहते हैं। लेकिन मनुष्य के साथ उनका कोई सात्विक सम्बन्ध नहीं है। उनकी सृष्टि विशेष रूप से मनुष्य के उपभोग के लिए हुई है। मनुष्य उनका स्वामी है। यह आभास कहीं नहीं मिलता कि आदि-दम्पति अपने प्रेम के आनन्द-प्राचुर्य से तरु-लताओं और पशु-पक्षियों की सेवा करते हैं, या अपनी भावना और कल्पना को नदी-पर्वत-अरण्य के साथ विविध लीलाओं से संयुक्त करते हैं। इस स्वर्गारण्य के जिस निभृत निकुंज में मानव-जाति के प्रथम पिता-माता विश्राम करते हैं वहाँ—

> 'Beast, bird, insect or worm, durst enter none!
> Such was their awe of man.'

अर्थात्, पशु-पक्षी, कीट-पतंग कोई वहाँ प्रवेश करने का साहस नहीं कर सकता था; मानव के भय से वे सभी सहमे हुए थे।

विश्व के साथ मनुष्य का यह जो विच्छेद है उसकी जड़ में एक गम्भीरतर विच्छेद निहित है। इसमें इस वाणी का अभाव है जो कहती है 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्याम् जगत्—जगत् में जो कुछ भी है उसे ईश्वर के द्वारा समावृत जानो। इस पाश्चात्य काव्य में ईश्वर की सृष्टि ईश्वर का ही यश-गान करने के लिए है। ईश्वर स्वयं दूर से अपनी विश्व-रचना की वेदना ग्रहण करता है। आंशिक रूप से यही सम्बन्ध मनुष्य के साथ प्रकृति का है, अर्थात् इस काव्य में प्रकृति मानवीय श्रेष्ठता के प्रचार के लिए बनी है।

मैं यह नहीं कहता कि भारत ने मनुष्य की श्रेष्ठता को अस्वीकार किया है।

लेकिन यहाँ प्रभुत्व या भोग को ही श्रेष्ठता का मुख्य लक्षण नहीं माना गया। मानवीय श्रेष्ठता का प्रधान परिचय यह है कि मनुष्य सबके साथ संयुक्त हो सकता है। यह संयोग मूढ़ता का मिलन नहीं है, यह चित्त का मिलन है, और इसलिए आनन्द का मिलन है। इसी आनन्द का कीर्ति-गान हमारे काव्य में है।

'उत्तररामचरित' में राम और सीता का प्रेम आनन्द के प्राचुर्य-वेग से चारों ओर जल-स्थल-आकाश में प्रवेश करता है। राम जब द्वितीय बार गोदावरी का गिरि-तट देखते हैं तो कहते हैं : 'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवो में'। जब सीता से वियोग हुआ, रामचन्द्र ने उन सभी स्थानों को देखकर शोक किया जहाँ वे सीता के साथ रहे थे—"मैथिली ने अपने कोमल हाथों से जल, धान और तृण देकर जिन पक्षियों और हिरनों का पालन किया था उन्हें देखकर मेरा हृदय पिघला जा रहा है।"

'मेघदूत' का विरही यक्ष अपने दुःख को लेकर एक कोने में अलग बैठा विलाप नहीं करता। विरह-दुःख से उसका चित्त नव-वर्षा प्रफुल्लित पृथ्वी के समस्त नग-नदी-अरण्य, नगरी में परिव्याप्त हो जाता है। मानव-हृदय की वेदना को कवि ने संकीर्ण रूप में नहीं दिखाया; उसे विराट् क्षेत्र में फैला हुआ दिखाया है। इसीलिए शापग्रस्त यक्ष की दुःख-वार्ता ने सदा के लिए वर्षा ऋतु के मर्म स्थान पर अधिकार कर लिया है और प्रणयी हृदय के भाव को विश्व-संगीत के ध्रुपद में बाँध दिया है। भारत की यही विशेषता है। इसे हम तपस्या के क्षेत्र में भी देखते हैं, और उस क्षेत्र में भी जहाँ हृदय-प्रवृत्तियों की लीला है।

मनुष्य दो तरह से अपने महत्त्व की उपलब्धि करता है-- स्वातन्त्र्य के बीच और मिलन के बीच। भारत ने स्वभावतः इनमें से दूसरा मार्ग अपनाया है। इसीलिए हम देखते हैं कि भारत के तीर्थ-स्थान वहीं हैं जहाँ प्रकृति में किसी विशेष सौन्दर्य या महिमा का आविर्भाव हुआ है। मानव-चित्त के साथ विश्व-प्रकृति का मिलन जहाँ स्वाभाविक रूप से हो सकता है ऐसे ही स्थानों को भारत ने पवित्र माना है।

इन स्थानों पर मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन नहीं है; ये स्थान न खेती के लिए उपयुक्त हैं, न रहने के लिए; यहाँ वाणिज्य-सामग्री का आयोजन नहीं है और न यहाँ राजा की राजधानी है। यहाँ इन सब बातों को मुख्य नहीं समझा जाता। यहाँ मनुष्य निखिल प्रकृति के साथ अपना योग अनुभव करके आत्मा को सर्वत्रगामी और वृहत् जानता है। यहाँ वह प्रकृति को अपने प्रयोजन पूर्ण करने का क्षेत्र नहीं समझता, वरन् उसे आत्मा की उपलब्धि-साधना का क्षेत्र जानता है। इसीलिए ये स्थान पुण्य माने गए हैं।

भारत के लिए हिमालय पवित्र है, विन्ध्याचल पवित्र है। भारत के लिए वे नदियाँ पुण्य-सलिला हैं, जिन्होंने अपने तट पर बसे हुए नगरों को अपनी अक्षय धाराओं का दान दिया है। हरिद्वार पवित्र है, ऋषिकेश पवित्र है और केदारनाथ-वद्रिकाश्रम पवित्र हैं। कैलास पर्वत और मानसरोवर पवित्र है, गंगा से यमुना का मिलन पवित्र है, और समुद्र में गंगा का अवसान भी पवित्र है। जिस विराट् प्रकृति से मनुष्य परिवेष्टित है; जिसके आलोक से उसके चक्षु सार्थक हुए हैं और जिसके उत्ताप से उसका सर्वांग-प्राण स्पंदित है; जिसके जल से उसका अभिषेक और जिसके अन्न से उसका जीवन संभव है; जिस प्रकृति के गगन-भेदी रहस्य-प्रासाद के दरवाज़ों से बाहर निकलकर शब्द-गंध-वर्ण-भाव के दूत मानव-चेतना को सर्वदा जागृत करते रहते हैं—उसी प्रकृति के बीच भारतवर्ष ने अपनी ओत-प्रोत भक्ति-वृत्ति को प्रसारित कर रखा है। भारत ने जगत् को पूजा द्वारा ग्रहण किया है, उसे उपभोग द्वारा छोटा नहीं बनाया, और न उसे औदासीन्य द्वारा अपने दैनंदिन कर्मक्षेत्र से बाहर हटाया। विश्व-प्रकृति के साथ योग में ही भारत ने अपने-आपको बृहत् और सत्य रूप में जाना है। इसी बात की घोषणा भारत के तीर्थ-स्थान करते हैं।

विद्या-लाभ विद्यालय के ऊपर नहीं, बल्कि मुख्यत: छात्र के ऊपर निर्भर करता है। बहुत-से छात्र विद्यालय में जाते हैं और उपाधि भी प्राप्त करते हैं, लेकिन उन्हें विद्या-लाभ नहीं होता। इसी तरह तीर्थ-स्थानों में बहुतेरे जाते हैं, लेकिन तीर्थों का यथार्थ फल सबको नहीं मिलता। जो लोग देखने योग्य वस्तु को नहीं देखते, और प्राप्त करने योग्य वस्तु को ग्रहण नहीं करते, उनकी विद्या आखिर तक किताबी रहती है और उनका धर्म बाह्य आचार में आबद्ध रहता है। ये लोग तीर्थों में जाते अवश्य हैं, लेकिन जाने को ही पुण्य मानते हैं, पाने को नहीं। ये समझते हैं कि किसी विशेष जल या मिट्टी में विशेष गुण होते हैं। ऐसे विश्वास से मनुष्य का लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है; जो चित्त की सामग्री है वह वस्तु में निर्वासित होकर नष्ट हो जाती है। यह स्वीकार करना ही होगा कि हमारे देश में साधना-परिष्कृत चित्त-शक्ति जिस मात्रा में मलिन हुई है उसी मात्रा में निरर्थक बाह्यिकता का विकास हुआ है। किन्तु हमारे इस दुर्दिन के जड़त्व को हम किसी हालत में भारतवर्ष का चिरन्तन अभिप्राय नहीं मान सकते।

किसी विशेष नदी के जल में स्नान करने से अपनी या अपने तीन करोड़ पूर्व-पुरुषों की पारलौकिक सद्गति संभव है, इस विश्वास को मैं साधार मानने के लिए तैयार नहीं हूँ, और न मैं उसे कोई बड़ी वस्तु मानकर उसके प्रति श्रद्धा दिखा सकता हूँ। लेकिन स्नान के समय नदी के जल को जो व्यक्ति यथार्थ भक्ति के साथ

अपने समस्त शरीर और मन से ग्रहण कर सकता है उसे मैं अवश्य भक्ति का पात्र समझता हूँ। क्योंकि, नदी के जल को सामान्य तरल पदार्थ समझना मनुष्य का स्थूल संस्कार है। इसमें एक तरह की तामसिक अवज्ञा है। जो व्यक्ति जल को भक्तिपूर्वक ग्रहण करता है वह अपनी सात्विकता और चैतन्य ममता द्वारा इस जड़ संस्कार के ऊपर उठता है। इसलिए जल के साथ उसका, शारीरिक व्यवहार द्वारा, केवल बाह्य सम्पर्क नहीं होता; जल के साथ उसके चित्त की योग सिद्धि होती है। नदी के भीतर परम चैतन्य उसकी चेतना को स्पर्श करता है। इस स्पर्श के द्वारा स्नान का जल केवल शरीर की मलिनता ही नहीं धोता, बल्कि उसके चित्त का मोह प्रलेप भी धोता है।

अग्नि, जल, मिट्टी, अन्न — इन सब चीज़ों में एक अनन्त रहस्य है। अभ्यासक्रम से वह रहस्य हमारी दृष्टि में फीका हो जाता है। इसीलिए तरह-तरह के कर्म और अनुष्ठान विधिवत् स्थिर किये गए हैं, जिससे इन चीज़ों की पवित्रता हमें बार-बार स्मरण हो उठे। जो लोग चेतन भाव से इस पवित्रता को स्मरण कर सकते हैं, और जिनकी बोध-शक्ति यह स्वीकार कर सकती है कि अग्नि, जल इत्यादि वस्तुओं के साथ योग ही 'भूमा' के साथ योग है, वे महान् सिद्धि-लाभ करते हैं। स्नान के जल को और आहार के अन्न को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने की जो शिक्षा है वह मूढ़ता की शिक्षा नहीं; और न उससे जड़त्व को प्रश्रय मिलता है। इन सब अभ्यस्त सामग्रियों को तुच्छ समझना ही जड़ता है, उनके बीच चित्त का उद्बोधन तभी सम्भव है जब चैतन्य का विशेष विकास हो। जो व्यक्ति मूढ़ है, जिसकी स्थूल प्रकृति सत्य ग्रहण करने में बाधा देती है, वह तो सभी तरह की साधना को विकृत करता है और लक्ष्य को अनुचित स्थान पर स्थापित करता है।

कोट्यावधि लोगों ने, यहाँ तक कि समस्त देश ने, मत्स्य-मांस का आहार बिलकुल छोड़ दिया है—पृथ्वी पर ऐसा कहीं और नहीं देखा जाता; ऐसा और कोई देश नहीं है जिसके भोजन में मांस बिलकुल ही वर्जित हो। भारत ने यह जो मांस का परित्याग किया है वह किसी कठिन व्रत की साधना के लिए नहीं, अपने शरीर को पीड़ा देने के लिए नहीं, किसी शास्त्र में बताये हुए पुण्य-लाभ के लिए नहीं। उसका एकमात्र उद्देश्य है जीवितों के प्रति हिंसा-त्याग करना।

हिंसा-त्याग न करने से जीव के साथ जीव का सामंजस्य नष्ट हो जाता है। प्राणी को यदि हम खाने की वस्तु समझें, पेट भरने की वस्तु समझें, तो उसका सत्य रूप हम नहीं देख पाते। प्राण को तुच्छ समझने की हमारी आदत-सी हो जाती है, और फिर हम आहार के लिए ही हत्या नहीं करते; प्राणी-हत्या हमारे जीवन

का एक अंग बन जाती है। अहेतुक, दारुण हिंसा को मनुष्य जल-स्थल-आकाश में, गुहा-गह्वर में, देश-विदेश में व्याप्त कर देता है। इस योग-भ्रष्टता से, अनुभूति-हीनता से, मनुष्य की रक्षा करने का भारत ने यत्न किया है।

मनुष्य का ज्ञान बर्बरता की अवस्था से बहुत आगे निकल गया है। इस बात का मुख्य लक्षण क्या है ? यही कि विज्ञान की मदद से मनुष्य जगत् में सर्वत्र नियम को देख पाता है। जब तक वह नियमबद्धता नहीं देख पाता था तब तक उसका ज्ञान पूर्ण रूप से सार्थक नहीं हुआ था। विश्व चराचर से वह विच्छिन्न होकर रहता था, उसकी धारणा थी कि केवल उसी के जीवन में ज्ञान का नियम है, विराट् विश्व-व्यवस्था में नहीं। केवल अपने को ही ज्ञानी समझकर वह दुनिया में एक अलग कोने में रहता था। लेकिन आज उसका ज्ञान सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और बृहत्-से-बृहत् प्रत्येक वस्तु के साथ योग स्थापित करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। यही है विज्ञान की साधना।

भारतवर्ष ने जिस साधना को ग्रहण किया है वह है विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ चित्त का योग, आत्मा का योग—अर्थात् सम्पूर्ण योग, केवल ज्ञान का नहीं, बोध का योग। गीता में कहा गया है :

> इन्द्रियाणि पराण्याहुर्रिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः।

इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहा गया है, लेकिन इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, और बुद्धि से 'वह' श्रेष्ठ है।

इन्द्रियाँ इसलिए श्रेष्ठ हैं कि उनके द्वारा विश्व के साथ हमारा योग-साधन हो सकता है। लेकिन यह योग आंशिक है। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मन के द्वारा ज्ञानमय योग होता है, जो कि अधिक व्यापक है। लेकिन ज्ञान के योग से भी विच्छेद पूरी तरह दूर नहीं होता। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, क्योंकि बोध के द्वारा जो चैतन्यमय योग होता है वह बिलकुल परिपूर्ण है। इसी योग से हम सारे जगत् के बीच 'उसकी' उपलब्धि कर सकते हैं जो सर्वश्रेष्ठ है। जो सबसे अधिक श्रेष्ठ है उसको सबके बीच बोध द्वारा अनुभव करना—यही है भारत की साधना।

यदि हम चाहते हैं कि भारतवर्ष की इस साधना से छात्रों को दीक्षित करना हमारी शिक्षा का प्रधान लक्ष्य हो तो हमें यह ध्यान में रखना होगा कि हमारे विद्यालयों में केवल इन्द्रियों की शिक्षा नहीं, केवल ज्ञान की शिक्षा नहीं, वरन् बोध-शक्ति की शिक्षा को प्रधान स्थान देना होगा। अर्थात्, हमारी यथार्थ शिक्षा कारखानों की दक्षता-शिक्षा नहीं, स्कूल-कॉलेजों की परीक्षाएँ पास करने

की शिक्षा नहीं। हमारी यथार्थ शिक्षा तपोवन में है जो प्रकृति के साथ मिलित होकर, पवित्र होकर, तपस्या द्वारा प्राप्त की जाती है।

तपस्या तो हमारे स्कूल-कॉलेजों में भी है—परन्तु वह मन की तपस्या है, ज्ञान की तपस्या है, बोध की तपस्या नहीं। ज्ञान की तपस्या से हम मन को बाधा-मुक्त कर सकते हैं। जो पूर्व संस्कार हमारी धारणाओं को एकांगी बनाते हैं, उन्हें हमें क्रमशः परिष्कृत करना होगा। जो निकट होने से बृहत्, दूर होने से छोटा है; जो बाह्य होने से प्रत्यक्ष, और आन्तरिक होने से प्रच्छन है; जो विच्छिन्न रूप में निरर्थक, और संयुक्त रूप में सार्थक है; उसकी यथार्थता सुरक्षित रखते हुए उसे देखना-—यही हमारी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

बोध की तपस्या में प्रवृत्तियाँ बाधा डालती हैं। जब प्रवृत्तियाँ असंयत हो जाती हैं तो चित्त का सन्तुलन नहीं रहता और बोध विकृत हो जाता है। कामना की बस्तु को हम श्रेय समझते हैं—इसलिए नहीं कि वह सचमुच श्रेय है। लेकिन इसलिए कि उसके प्रति हमारा लोभ है।

इसीलिए ब्रह्मचर्य के संयम द्वारा बोध-शक्ति को बाधामुक्त करने की शिक्षा देना आवश्यक है। हमें अपने अभ्यास को भोग-विलास के आकर्षण से मुक्ति दिलाना है। जो सामयिक उत्तेजनाएँ चित्त को क्षुब्द करती हैं और विचारों का सामंजस्य नष्ट करती हैं, उनके दबाव से बुद्धि को बचाना है, जिससे वह सरलता के साथ विकसित हो सके।

जहाँ साधना निरन्तर चलती रहती है, जहाँ जीवन-यात्रा सरल और निर्मल है, जहाँ सामाजिक संस्कार की संकीर्णता नहीं है, जहाँ व्यक्तिगत और जातिगत विरोध को दमन करने का प्रयास है वहीं हम उस विद्या को प्राप्त कर सकते हैं जिसे भारतवर्ष ने विशेष रूप से 'विद्या' का नाम दिया है।

मैं जानता हूँ, बहुत-से लोग कहेंगे कि यह केवल भावुकता का उच्छ्वास-मात्र है, व्यवहार-बुद्धिहीन दुराशा है। लेकिन मैं इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। जो सत्य है यदि वह बिलकुल ही असाध्य हो तो वह सत्य ही नहीं है। हाँ, यह मानना होगा कि जो सबसे अधिक श्रेय है वह सबसे अधिक सहज नहीं होता। इसलिए तो उसकी साधना करनी होती है। वास्तव में पहली कठिनाई है सत्य के प्रति श्रद्धा रखना; रुपयों की बहुत आवश्यकता है, यह बात जब हमारे मन में बैठ जाती है तो फिर हम यह आपत्ति नहीं करते कि रुपया कमाना कठिन है। इसी तरह भारत की जब विद्या के प्रति वास्तविक श्रद्धा थी तब उसने विद्या-लाभ को असाध्य कहकर उसका उपहास नहीं किया। उस समय तपस्या अपने-आप सत्य हो उठी थी। इसलिए पहले देश के लोगों को देश के विशेष सत्य के

प्रति श्रद्धा रखनी होगी। तब दुर्गम बाधाओं के बीच अपने-आप मार्ग तैयार हो उठेगा।

वर्तमान युग में हमारे देश में ऐसी तपस्या के लिए एक स्थान है। मैं यह आशा नहीं करता कि इस तरह के बहुत-से विद्यालय स्थापित होंगे। लेकिन आजकल हम विशेष रूप से राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना करना चाहते हैं; इसलिए भारतवर्ष के विद्यालय कैसे होने चाहिए इस बात का आदर्श हमें सामने रखना होगा; और इस आदर्श को देश की अस्थिरता से, देश में चल रहे विरोधी भावों के आन्दोलन से ऊपर उठना होगा।

राष्ट्रीय 'विद्या' या राष्ट्रीय 'शिक्षा' का जो अर्थ योरोप लगाता है वही अगर हम भी लगाएँ तो यह हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। हमारे देश के कितने ही विशेष संस्कार हैं और कितने ही लोकाचार हैं। इन्हींकी संकीर्ण सीमाओं में राष्ट्रीय अभिमान जगाने के उपायों को मैं कदापि 'नेशनल' शिक्षा नहीं मान सकता। हमारी राष्ट्रीयता इसीमें है कि हम राष्ट्रीयता को परम पदार्थ समझकर उसकी पूजा नहीं करते। 'भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य:'—यही है हमारी राष्ट्रीयता का मंत्र।

प्राचीन भारत के तपोवन में जिस महासाधना के वटवृक्ष ने एक दिन अपना सिर ऊँचा उठाया था, और जिसकी शाखाओं ने फैलकर समाज पर चारों दिशाओं से अधिकार कर लिया था, वही है हमारी 'नेशनल' साधना। यह साधना योग-साधना है। योग-साधना का अर्थ उत्कट मानसिक या शारीरिक व्यायाम नहीं। उसका अर्थ है जीवन को इस तरह संचालित करना जिससे स्वातन्त्र्य द्वारा विक्रम-शाली होना ही हमारा लक्ष्य न बने, मिलन द्वारा परिपूर्ण होने को ही हम चरम परिणाम मानें; जिससे ऐश्वर्य-संचय को नहीं, बल्कि आत्मा की सत्य उपलब्धि को हम अपनी सफलता समझें।

अत्यन्त प्राचीन काल में एक दिन हमारे आर्य पितामहों ने अरण्याछादित भारतवर्ष में प्रवेश किया था। उसी तरह आधुनिक इतिहास में योरोपीय जातियों ने नव-आविष्कृत महाद्वीपों के अरण्यों में पथ उद्घाटित किया। उनमें जो साहसी अग्रगामी थे उन्होंने अपरिचित भूखंडों को अपने अनुवर्तियों के लिए अनुकूल बनाया। हमारे देश में भी अगस्त्य और अन्य ऋषिगण अग्रगामी थे। उन्होंने भी दुर्गम बाधाओं का अतिक्रमण करके अपरिचित अरण्य को निवासोपयोगी बनाया। वहाँ के आदिम निवासियों के साथ जिस तरह उस समय संघर्ष हुआ था वैसे ही आधुनिक युग में हुआ है। लेकिन इतिहास की ये दो धाराएँ समान अवस्थाओं में प्रवाहित होते हुए भी एक ही समुद्र तक नहीं पहुँचतीं।

अमेरिका के अरण्य में जो तपस्या हुई उसके प्रभाव से वन में बड़े-बड़े नगरों का इंद्रजाल की तरह निर्माण हुआ। यह बात नहीं कि भारत में बड़े नगरों की सृष्टि न हुई हो; लेकिन उनके साथ-साथ अरण्य को भी भारत ने अंगीकार किया। भारत के द्वारा अरण्य विलुप्त नहीं हुआ, वरन् सार्थक हुआ। जो स्थान बर्बरता का आवास था वहीं ऋषियों का तपोवन हुआ। अमेरिका में जो कुछ अरण्य आज बचा है वह प्रयोजन की सामग्री है या भोग्य वस्तु है, योगाश्रम नहीं है। भूमा की उपलब्धि द्वारा यह अरण्य पुण्य स्थान नहीं बना। मनुष्य की श्रेष्ठतर आन्तरिक प्रकृति के साथ अरण्य की प्रकृति का पवित्र मिलन नहीं हुआ। नूतन अमेरिका ने अरण्य को अपनी कोई बड़ी वस्तु नहीं दी, और अरण्य ने भी उसे अपने महान् परिचय से वंचित रखा। जिस तरह नूतन अमेरिका ने वहाँ के प्राचीन निवासियों का विनाश किया, उन्हें अपने से संयुक्त नहीं किया, उसी तरह अरण्यों का भी उसने अपने साथ मिलन नहीं होने दिया; बल्कि उन्हें अपनी सभ्यता के बाहर निर्वासित किया। अमेरिका की सभ्यता का निदर्शन नगरों में ही होता है। इन नगरों की स्थापना से मनुष्य ने अपने स्वातन्त्र्य के प्रताप का गगनभेदी प्रचार किया। लेकिन भारतीय सभ्यता का चरम निदर्शन तपोवन में था। वन में ही मनुष्य ने निखिल प्रकृति के साथ आतमा का मिलन शान्त, समाहित भाव से अनुभव किया।

कोई यह न समझ बैठे कि भारत की इस साधना को मैं एक-मात्र साधना मानता हूँ और उसका प्रचार करना चाहता हूँ। बल्कि मैं तो विशेष रूप से यही दिखाना चाहता हूँ कि मानव-जीवन में वैचित्र्य की सीमा नहीं। वह ताड़ की तरह एक ही सीधी रेखा में आकाश की ओर नहीं उठता; वह बरगद की तरह असंख्य शाखाओं और पत्तियों से चारों दिशाओं में व्याप्त होता है। प्रत्येक शाखा जिस दिशा में स्वाभाविक रूप से जा सकती है उसे यदि उसी दिशा में सम्पूर्ण रूप से बढ़ने दिया जाय तभी पूरा वृक्ष परिपूर्णता लाभ करता है। इसलिए वृक्ष की सभी शाखाओं में उसका मंगल है।

मनुष्य का इतिहास जीव-धर्मी है। एक निगूढ़ प्राण-शक्ति उसे आगे बढ़ाती है। वह लोहे-पीतल की तरह साँचे में ढालने की चीज़ नहीं है। हो सकता है कि किसी विशेष समय पर बाज़ार में किसी विशेष सभ्यता का भाव बहुत तेज़ हो जाय; लेकिन सारे मानव-समाज को ही कारखाने में ढालकर फैशन से प्रभावित मूढ़ खरीदारों को खुश करने की आशा बिलकुल वृथा है।

छोटे पैरों को सौन्दर्य का अभिजात लक्षण मानकर चीन की स्त्रियों ने कृत्रिम उपायों से अपने पैरों को संकुचित बनाना चाहा। लेकिन इस प्रयत्न से उन्हें छोटे

पैर नहीं, बल्कि विकृत पैर मिले। भारत भी यदि ज़बरदस्ती अपने-आपको योरोपीय आदर्शों पर ढाले तो वह प्रकृत योरोप नहीं बन सकता, विकृत भारत ही बन सकता है।

यह बात अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिए कि एक देश का दूसरे देश के साथ यथार्थ सम्बन्ध अनुकरण पर नहीं, आदान-प्रदान पर आधारित होता है। जो चीज़ मेरे पास यथेष्ट मात्रा में है वही अगर तुम्हारे पास भी हो, तो हम दोनों में लेन-देन नहीं चल सकता। भारत यदि विशुद्ध रूप से भारत न हो तो विदेशियों के बाज़ार में मज़दूरी करने के अतिरिक्त दुनिया में उसका और कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। ऐसी दशा में वह आत्म-सम्मान बोध खो देगा और अपने-आपमें उसे आनन्द प्राप्त नहीं होगा।

इसलिए आज हमें बड़ी सतर्कता से यह सोचना है कि भारतवर्ष ने जिस सत्य को अपने निश्चित भाव से उपलब्ध किया है वह सत्य क्या है? वह सत्य प्रधानतः वणिक्-वृत्ति नहीं है, स्वादेशिकता नहीं है, स्वराज्य नहीं है—वह है विश्व-बोध। इस सत्य की भारत के तपोवन में साधना हुई है। इसका उपनिषद् में उच्चारण हुआ है और 'गीता' में इसकी व्याख्या हुई है। इसी सत्य को पृथ्वी के प्रत्येक मनुष्य के लिए नित्य-व्यवहार में सफल बनाने के लिए बुद्धदेव ने तपस्या की। तरह-तरह की दुर्गति और विकृति के बीच नानक और उनके परिवर्ती महापुरुषों ने इसी सत्य का प्रचार किया है। भारत का सत्य है ज्ञान में अद्वैत-तत्त्व, भाव में विश्व-मैत्री, और कर्म में योग-साधना। भारत के अन्तःकरण में जो उदार तपस्या गम्भीर रूप से संचित हुई है वह आज प्रतीक्षा करती है कि हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और अँग्रेज़ सब उस तपस्या के बीच एक हो जायँ—दास-भाव से नहीं, जड़-भाव से नहीं, वरन् सात्विक भाव से, साधक भाव से। जब तक यह नहीं होगा हमें दुःख और अपमान सहना होगा, सभी दिशाओं में हमारे प्रयास व्यर्थ होंगे। ब्रह्मचर्य, ब्रह्मज्ञान, सभी जीवों के प्रति दया, सभी वस्तुओं में आत्मोपलब्धि—ये सब बातें किसी दिन भारत में वास्तविक थीं, केवल काव्य या मतवाद की बातें नहीं थीं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में इन बातों को सत्य करने का अनुशासन था। आज यदि उसी अनुशासन को हम स्मरण करें, और अपनी समस्त शिक्षा-दीक्षा को उसके अनुगत करें तभी हमारी आत्मा 'विराट्' के बीच अपनी स्वाधीनता लाभ करेगी और किसी सामयिक बाह्य अवस्था से यह स्वाधीनता विलुप्त नहीं होगी।

सम्पूर्णता का आदर्श प्रबलता में नहीं है। समग्र के सामंजस्य को नष्ट करके प्रबलता अपना स्वातन्त्र्य जताती है, इसीलिए वह बड़ी लगती है; पर वास्तव में वह क्षुद्र है। भारत ने इस प्रबलता को नहीं, परिपूर्णता को चाहा था। इस

परिपूर्णता का अर्थ है निखिल के साथ योग, और यह योग विनम्र होकर, अहंकार को दूर करके ही स्थापित हो सकता है। इस तरह की विनम्रता एक आध्यात्मिक शक्ति है। दुर्बल स्वभाव के लिए वह कठिन है। वायु का जो नित्य प्रवाह है उसमें शान्ति है और इसीलिए उसमें आँधी से अधिक शक्ति है। आँधी बहुत समय तक नहीं टिकती, एक संकीर्ण स्थान को कुछ देर के लिए क्षुब्ध अवश्य कर सकती है। लेकिन शान्त वायु-प्रवाह समस्त पृथ्वी में सदा के लिए व्याप्त है। यथार्थ नम्रता सात्विकता के तेज से उज्ज्वल होती है, त्याग और संयम की कठोर शक्ति से दृढ़-प्रतिष्ठित होती है। उसका 'समस्त' के साथ अबाध मिलन होता है और इसलिए वह सत्यभाव से, नित्यरूप से 'समस्त' को प्राप्त करती है। वह किसी को दूर नहीं करती; विच्छिन्न नहीं करती; वह आत्म-त्याग करती है और दूसरों को अपनाती है। इसीलिए ईसा मसीह ने कहा है कि जो विनम्र है वही जगद्विजयी है, श्रेष्ठ धन का एक-मात्र अधिकारी है।

[ओवर्टून हॉल, वाई० एम० सी० ए० कलकत्ता में १ दिसम्बर, १९०९ को दिया गया भाषण। 'प्रवासी' (पौष, १३१६) दिसम्बर, १९०९ में प्रकाशित। 'शान्तिनिकेतन' नवम खण्ड में प्रथम बार प्रकाशित। 'शिक्षा' (विश्व-भारती संस्करण) में सम्मिलित।]

भारतवर्ष में इतिहास की धारा

समस्त विश्व की व्यवस्था में निःश्वास और उच्छ्वास, निमेष और उन्मेष, निद्रा और जागरण का क्रम बँधा हुआ है। एक बार भीतर की ओर, तो दूसरी बार बाहर की ओर झुकने-उठने की क्रिका निरंतर चलती रहती है। रुकने और चलने के अविरत योग से ही विश्व की गतिक्रिया सम्पन्न होती है। विज्ञान कहता है, वस्तु-मात्र छिद्रयुक्त है—अर्थात् 'है' और 'नहीं' की समष्टि में ही उसका अस्तित्व है। आलोक और अंधकार, प्रकाशन और आच्छादन, छन्द की रक्षा करते हुए चलते हैं, वे सृष्टि को विच्छिन्न वहीं करते; बलिक उसे ताल के अनुसार आगे वढ़ाते हैं।

जब हम घड़ी की ओर देखते हैं तब यदि मिनट और घंटों की सुइयों पर विशेष ध्यान दें तो ऐसा लगता है कि वे या तो अविराम चलती जा रही हैं या बिलकुल ही नहीं चल रही हैं। लेकिन सेकंड की सुई पर ध्यान दें तो हम देखते हैं कि वह टिक-टिक करती हुई रुक-रुककर आगे बढ़ती है।

दोलक, जो एक बार बाईं ओर रुककर दाहिनी ओर जाता है और फिर दाहिनी ओर रुकरकर बाईं ओर पलटता है, वह भी सेकंड-सुई के ताल और लय के अधीन होता है। विश्व की कार्य-प्रणाली में हम केवल मिनट का काँटा देखते हैं। यदि सेकंड का काँटा देख पाते तो हम अनुभव करते कि विश्व प्रति निमिष रुकता है और चलता है; उसकी अविराम तान में क्षण-प्रतिक्षण लय का उतार-चढ़ाव है। सृष्टि के द्वंद्व-दोलक की एक ओर 'हाँ' है, दूसरी ओर 'नहीं'; एक ओर 'ऐक्य' है दूसरी ओर 'द्वैत'; एक ओर 'केन्द्राभिमुख' शक्ति है दूसरी ओर 'केन्द्रविमुख' शक्ति। इस विरोध का समन्वय करने के लिए हम तर्कशास्त्र में कितने ही असाध्य मतवाद गढ़ते हैं। लेकिन सृष्टि शास्त्र में ये विरोधी शक्तियाँ अपने-आप मिल जाती हैं और विश्व-रहस्य को अनिर्वचनीय बना देती हैं।

शक्ति यदि अकेली हो तो वह अपने एकाकी बल से लम्बी रेखा बनाती हुई उद्धत वेग से सीधी चलती रहे; दाएँ-बाएँ मुड़कर भी न देखे। लेकिन शक्ति को जगत् में एकाधिपत्य नहीं दिया गया, उसका एक जोड़ा है जिसके साथ वह बँधी हुई है। और उन दोनों के विरोध से विश्व की प्रत्येक वस्तु नम्र हो जाती है, वर्तुलाकार और सुसंपूर्ण हो जाती है। सीधी लाइन की समाप्ति हीनता,

उसकी तीव्र तीक्ष्ण, कृशता विश्व-प्रकृति में नहीं है; वर्तुल की सुन्दर पुष्ट परिसमाप्ति ही विश्व के लिए स्वाभाविक है। एकाग्र शक्ति की सीधी रेखा से सृष्टि नहीं हो सकती। वह केवल भेद सकती है। किसी चीज़ को धारण नहीं कर सकती, घेर नहीं सकती। वह बिलकुल रिक्त है, प्रलय की रेखा है। उसमें रुद्र के प्रलय-पिनाक की तरह एक ही सुर है, संगीत नहीं है। इसीलिए शक्ति जब एकांगी होती है तो वह विनाश का कारण हो जाती है। दो शक्तियों के योग से ही विश्व का छन्द जीवित रहता है। हमारा यह जगत्-काव्य मित्राक्षर है—उसके पदों में जोड़ियों का मिलन है।

विश्व-प्रकृति में यह छंद जैसा स्पष्ट और बाधाहीन है वैसा मानव-प्रकृति में नहीं। आकुंचन और प्रसारण के तत्त्व उसमें भी हैं, लेकिन उनके सामंजस्य की रक्षा हम आसानी से नहीं कर पाते। विश्व के गान में ताल सहज है, मनुष्य के गान में ताल दीर्घ साधना की सामग्री है। हम कई बार द्वंद्व के एक पक्ष की ओर इतना अधिक झुक जाते हैं कि दूसरे पक्ष की ओर लौटने में देर हो जाती है। इससे ताल टूट जाता है, और प्राणपण से भूल सुधारने का प्रयत्न करते-करते पसीने में चूर होकर हमें उठना पड़ता है। एक ओर 'आत्म' दूसरी ओर 'पर', एक ओर 'अर्जन' दूसरी ओर 'वर्जन', एक ओर 'संयम' दूसरी ओर 'स्वाधीनता', एक ओर 'आचार' दूसरी ओर 'विचार' मनुष्य को खींचते रहते हैं। इन दो विरोधी शक्तियों का ताल बचाकर सम पर पहुँचने की शिक्षा ही मनुष्यत्व की शिक्षा है। इस ताल-अभ्यास का इतिहास ही मनुष्य का इतिहास है। भारत के इतिहास में यह ताल-साधना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

ग्रीस, रोम, बॅबिलन इत्यादि सभी प्राचीन सभ्यताओं में शुरू से ही जाति-संघात था। इस जाति-संघात के वेग से मनुष्य दूसरों के बीच से गुज़रकर फिर अपने-आपमें पूरी तरह जागृत हो उठता है। इस तरह के संघात से ही मनुष्य रूढ़ि से ऊपर उठकर यौगिक विकास-लाभ करता है, और इसी को सभ्यता कहते हैं।

भारतीय इतिहास का पर्दा उठते ही पहले अंक में हम आर्य-अनार्य का प्रचंड जाति-संघात देख पाते हैं। इस संघात के प्रथम, प्रबल वेग से अनार्यों के प्रति आर्यों में जो विद्वेष उत्पन्न हुआ उसी के प्रभाव से आर्यजाति के लोग आपस में संहत हो सके, एक हो सके।

इस तरह से एक होना आवश्यक भी था। भारत में आर्यों का प्रवेश एकदम से नहीं हुआ—समय-समय पर छोटे-छोटे दलों में वे आते रहे। उन सबके गोत्र, देवता, मंत्र एक नहीं थे। बाहर से यदि कोई प्रबल आघात उन पर न होता तो

आर्य-उपनिवेशों का देखते-ही-देखते शाखा-प्रतिशाखाओं में विभाजन हो जाता। वे अपने-आपको एक न समझते, अपने बाह्य भेदों पर ही अधिक ध्यान देते। उन्हें दूसरों के साथ संघर्ष करना पड़ता, तभी आर्य अपने-आपको उपलब्ध कर सके।

विश्व के सभी पदार्थों की तरह संघात के भी दो पक्ष हैं—उसके एक पक्ष में विच्छेद है, दूसरे पक्ष में मिलन। इस संघात की प्रथम अवस्था में अपने वर्ण की रक्षा के लिए आर्यों में आत्म-संकोचन की प्रवृत्ति थी। लेकिन यह असंभव था कि इतिहास की धारा वहीं रुक जाती। विश्व-छंद के नियमानुसार एक दिन इतिहास को आत्म-प्रसारण के पथ पर चलकर मिलन की ओर अग्रसर होना पड़ा।

अनार्यों के साथ जब उनका संघर्ष चल रहा था उस समय आर्य-समाज में कौन-से वीर थे, यह हम नहीं जानते। भारत के महाकाव्यों में उनके चरित्र का कोई विशेष वर्णन नहीं है। हो सकता है कि जनमेजय के सर्पयज्ञ की कथा में प्राचीन युग के किसी प्रचंड युद्ध का इतिहास छिपा हो। वंशपरंपरागत शत्रुता की प्रतिहिंसा के लिए सर्प-उपासक अनार्य नागजाति का सदा के लिए ध्वंस करने का दारुण उद्योग जनमेजय ने किया था। इस पौराणिक कथा में आर्यों और अनार्यों का संघर्ष व्यक्त हुआ है। लेकिन राजा जनमेजय को इतिहास में कोई विशेष गौरव प्राप्त नहीं हुआ। इसके विपरीत जिन्होंने अनार्यों के साथ आर्यों का मिलन कराने का सफल प्रयत्न किया उनकी हमारे देश में आज तक अवतार के रूप में पूजा की गई है। प्राचीन काल में आर्य-अनार्य का योग बन्धन एक महान् उद्योग का अंग था। रामायण में इस उद्योग के कर्णधारों के रूप में हम तीन क्षत्रियों को देखते हैं—जनक, विश्वामित्र और रामचन्द्र। इन तीनों में केवल व्यक्तिगत योग नहीं था, एक गम्भीर अभिप्रायजन्य योग भी था। हम देखते हैं कि रामचन्द्र के जीवन में विश्वामित्र दीक्षादाता थे; और विश्वामित्र ने रामचन्द्र के सामने जो लक्ष्य स्थापित किया था वह उन्होंने राजा जनक से प्राप्त किया था।

हो सकता है कि कालगत इतिहास की दृष्टि से जनक, विश्वामित्र और रामचन्द्र को समसामयिक कहना ठीक न हो, पर भागवत इतिहास की दृष्टि से ये तीनों व्यक्ति परस्पर के निकटवर्ती थे। आकाश के युग्म नक्षत्र को यदि पास से देखा जाय तो बीच के व्यवधान उन्हें अलग कर देते हैं; लेकिन नक्षत्रों का जोड़ा दूर से स्पष्ट दिखाई देता है। राष्ट्रीय इतिहास के आकाश में भी इस तरह के अनेक युग्म नक्षत्र हैं। काल-व्यवधान की दृष्टि से देखने पर उनका ऐक्य ओझल हो जाता है, लेकिन एक आंतरिक योग का आकर्षण उन्हें मिलाए रखता है। इसलिए जनक-

विश्वामित्र-रामचन्द्र में काल का योग न होते हुए भी भाव का योग हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

इस तरह भागवत इतिहास में व्यक्ति धीरे-धीरे भाव का स्थान ग्रहण करता है। ब्रिटिश पुराण-कथा में राजा आर्थर इसी तरह के व्यक्ति हैं। राष्ट्रीय चित्त में उन्होंने व्यक्ति-रूप त्यागकर भाव-रूप धारण किया है। वैसे ही जनक और विश्वामित्र आर्य इतिहास से उत्पन्न एक विशेष भाव के प्रतीक बन गए हैं। मध्ययुगीन योरोप में क्षत्रियों के सामने जो एक विशेष 'क्रिश्चन' आदर्श था उसी से प्रेरित होकर राजा आर्थर प्रतिपक्ष के विरुद्ध लड़ते हैं। उसी तरह भारतीय इतिहास में दीर्घकाल तक किये गए उस घोर संग्राम का आभास मिलता है जिसके लिए क्षत्रियों को धर्म और आचरण के एक विशेष आदर्श ने प्रोत्साहित किया था। इस संग्राम में ब्राह्मण ही उनके मुख्य विरोधी थे, इस बात का प्रमाण है।

उस समय के नवक्षत्रियों का क्या दृष्टिकोण था, इसको पूरी तरह से समझना आज हमारे लिए असंभव है। संघर्ष और जय-पराजय के बाद जब सभी पक्षों में समझौता हो गया तब समाज के बीच विरोध के विषय पृथक् नहीं रहे। संघर्ष के घाव शीघ्रातिशीघ्र भर जायँ, यही चेष्टा सब लोग करने लगे। उस समय नये दल के आदर्श को स्वीकार करते हुए ब्राह्मणों ने देश में फिर अपना स्थान ग्रहण किया। फिर भी ब्राह्मण-क्षत्रिय के आदर्श में जो प्रभेद था उसका थोड़ा-बहुत आभास हमें मिलता है। यज्ञ-विधियों की विद्या कुल-केन्द्रित थी। आर्यों के प्रत्येक कुल में, एक कुलपति का आश्रय लेकर, विशेष स्तवन-मंत्र निर्धारित हुए और देवताओं को सन्तुष्ट करने का विशेष विधि-विधान निर्मित और रक्षित हुआ। जिन लोगों को इन सब बातों की जानकारी थी, उनके लिए यह सम्भव हुआ कि पुरोहित का काम करते हुए विशेष रूप से यश और धन प्राप्त कर सकें। इस तरह धर्म-कार्य एक पेशा बन गया—जो कृपण के धन की तरह—साधारण लोगों की पहुँच के बाहर था। यह सब मंत्र और विद्यानुष्ठान विशेष विधियों में बँधे हुए थे, और उनका प्रयोग करने का भार स्वभावतः एक विशेष श्रेणी के लोगों पर था। जो लोग आत्म-रक्षा, युद्ध और देश-विजय के कार्य में व्यस्त रहते थे वे इस भार को ग्रहण न कर सके, क्योंकि इसमें दीर्घ अध्ययन और अभ्यास की आवश्यकता थी। यदि इन सब विधियों की रक्षा करने का भार एक विशेष श्रेणी के लोग अपने ऊपर न लेते तो कुल-परम्परा विच्छिन्न हो जाती और पुरखों के साथ योग-धारा नष्ट होकर समाज की श्रृंखला टूट जाती। इसीलिए जहाँ समाज का एक वर्ग युद्ध और शासन के अध्यवसायों में लगा था, वहाँ दूसरा एक वर्ग वंश के प्राचीन धर्म और अन्य

स्मरणीय मूल्यों को विशुद्ध तथा अविच्छिन्न रखने के लिए विशेष रूप से प्रवृत्त हुआ।

लेकिन जब किसी विशेष वर्ग के ऊपर इस तरह के कार्य का भार पड़ता है, तब समस्त देश के चित्त-विकास और धर्म-विकास की एकतानता में बाधा पड़ती है। वह विशेष वर्ग धर्म-विधियों को संकीर्ण स्थान में अवरुद्ध कर देता है, सारे देश के मन की अग्रगामिनी गति के साथ उसका सामंजस्य नहीं रहता। क्रमशः अचेतन रूप से यह सामंजस्य-विनाश इस सीमा तक पहुँच जाता है कि अन्त में क्रान्ति के अतिरिक्त समन्वय-साधना का कोई उपाय नहीं रह जाता। इस तरह एक समय जब ब्राह्मण आर्यों की परम्परागत प्रथाओं और पूजा-पद्धतियों पर अधिकार जमा रहे थे, और समस्त क्रिया-कांड को क्रमशः जटिल बना रहे थे, उस समय दूसरी ओर क्षत्रिय सर्व प्रकार की प्राकृतिक और मानवीय बाधाओं से संग्राम करते-करते विजयोल्लास के साथ अग्रसर हो रहे थे।

उस समय क्षत्रिय समाज ही आर्यों के लिए प्रधान मिलन-क्षेत्र था। शत्रुओं से युद्ध करते हुए जो लोग रणभूमि में साथ-साथ प्राण देने के लिए प्रस्तुत थे, उनमें जैसा मिलन संभव था वैसा किसी और वर्ग में नहीं था। मृत्यु के सम्मुख जो लोग एकत्र होते है वे पारस्परिक भेदों को महत्त्व नहीं देते। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से मंत्रों, देवताओं और यज्ञ-कार्यों की अलग-अलग रक्षा करना क्षत्रियों का व्यवसाय नहीं था। वे मानव-जीवन के कठिन और असमतल क्षेत्र में नये-नये घात-प्रतिघात के बीच पले थे। इसलिए प्रथामूलक, बाह्यानुष्ठानगत प्रभेद क्षत्रिय हृदय में सुदृढ़ नहीं हुए। आत्मरक्षा और उपनिवेश-विस्तार के सन्दर्भ में आर्यों का ऐक्यसूत्र क्षत्रियों के ही हाथ में था। इस तरह किसी समय क्षत्रियों ने समस्त अनैक्य के अन्तर्गत जो सत्य पदार्थ है, उसका अनुभव किया। इसलिए ब्रह्मविद्या विशेष रूप से क्षत्रियों की विद्या हो उठी। ऋक्, यजु, साम प्रभृति को अपरा विद्या घोषित किया गया, और होम, यज्ञ प्रभृति जिस कार्मकांड की ब्राह्मणों ने यत्नपूर्वक रक्षा की थी उसे निष्फल और त्याज्य बताया गया। इससे स्पष्ट देखा जा सकता है कि पुरातन-नूतन का विरोध उन दिनों चल रहा था।

समाज में जब कोई प्रबल, संक्रामक भावना जाग उठती है तो वह किसी वेष्टन को नहीं मानती। आर्य-जाति का ऐक्यबोध जब परिस्फुट हो उठा तो समाज में सर्वत्र इस अनुभूति का संचार होने लगा कि देवताओं के नाम चाहे अलग-अलग हों, सत्य एक है। अतएव विशेष देवता को किसी विशेष स्तवन या विधि से सन्तुष्ट करके कोई विशेष फल प्राप्त किया जा सकता है, यह धारणा समाज से दूर होने लगी। अलग-अलग दलों में जो उपासना-भेद था वह भी स्वा-

भाविक रूप से कम होने लगा। फिर भी क्षत्रियों से ही ब्रह्मविद्या को विशेष रूप से अनुकूल आश्रय मिला, और इसीलिए ब्रह्मविद्या को राजविद्या कहा गया। ब्राह्मण-क्षत्रिय का यह प्रभेद सामान्य नहीं है; यह बाह्य-पक्ष और आन्तरिक-पक्ष का प्रभेद है। जब हमारी दृष्टि बाहर की ओर मुड़ती है, हम केवल बहुत्व और विचित्रता को देख पाते हैं; जब दृष्टि अन्तर्मुखी होती है हम 'एक' को देख सकते हैं। जब हम बाह्यशक्ति को देवता मानते हैं, तब तरह-तरह के मंत्र-तंत्र और बाह्य प्रक्रियाओं द्वारा उस देवता को अपना पक्षपाती बनाने की चेष्टा करते हैं। इसलिए बाहर की विविध शक्तियों को जब देवताओं का स्थान मिलता है तब बाह्य अनुष्ठान हमारे लिए धर्म-कार्य बन जाता है। और अनुष्ठानों के प्रभेद तथा उनकी गूढ़ शक्ति के अनुसार हम फल के तारतम्य की कल्पना करते हैं।

इस तरह समाज और आदर्श दोनों में ही ब्राह्मण-क्षत्रिय में जो भेद उत्पन्न हुआ उसका मूर्त स्वरूप हम दो देवताओं में देख सकते हैं—प्राचीन, वैदिक मन्त्र-तन्त्र और क्रियाकांड का देवता है ब्रह्मा और नये वर्ग का देवता है विष्णु। ब्रह्मा के चार मुख चार वेद हैं। वह सदा के लिए ध्यानरत है, स्थिर है। विष्णु के चार हाथ क्रियाशील हैं, नये-नये क्षेत्रों में मंगल की घोषणा करते हैं, ऐक्यचक्र को प्रतिष्ठित करते हैं, विश्व-शासन को प्रचारित और सौन्दर्य को विकसित करते हैं।

देवताओं का जब बाह्य वास्तव्य होता है तब मनुष्य के साथ उनके आत्मीय सम्बन्ध की अनुभूति नहीं होती; उनके साथ हमारा सम्बन्ध केवल कामना और भय पर आधारित होता है। स्तवन द्वारा देवताओं को अपने वश में करके हम उनसे धन माँगते हैं, धेनुएँ माँगते हैं, दीर्घ आयु और शत्रु-पराभव माँगते हैं। हम इस आशंका से अभिभूत रहते हैं कि यदि हमारे यज्ञ-अनुष्ठान में कोई त्रुटि हुई तो देवतागण अप्रसन्न होंगे और हमारा अनिष्ट होगा। कामना और भय से प्रेरित यह पूजा बाह्य पूजा है, परकीय पूजा है। देवता जब हमारे हृदय की सम्पदा हो जाते हैं, तभी आन्तरिक पूजा आरम्भ होती है। और यही भक्तिमय पूजा है।

भारतवर्ष की ब्रह्मविद्या में हम दो धाराएँ देखते हैं—निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म, अभेद और भेदाभेद। यह ब्रह्मविद्या कभी सम्पूर्ण रूप से एक की ओर झुकती है, कभी वह द्वैत को मानकर उसी द्वैत के बीच एक को देखती है। बिना 'दो' को माने पूजा नहीं होती, और बिना 'दो' के बीच 'एक' को माने भक्ति नहीं होती। द्वैतवादी यहूदियों का दूरवर्ती देवता भय का देवता था, शासन और नियम का देवता था। 'नये टेस्टामेंट' में जब उसने मानव के साथ एक होकर आत्मीयता स्वीकार कर ली, तब वह प्रेम और भक्ति का देवता हो गया। वैदिक देवता जब मनुष्य से पृथक् थे तब उनकी पूजा अवश्य चलती थी। लेकिन परमात्मा और

जीवात्मा जब आनन्द की अचिंत्य रहस्य-लीला में 'एक' होते हुए भी 'दो', और 'दो' होते हुए भी 'एक' होते हैं, तभी अन्तरतम देवता की भक्ति की जाती है। इसलिए ब्रह्मविद्या के आनुषंगिक रूप से ही भारतवर्ष में प्रेम और भक्ति का धर्म आरम्भ हुआ। इस भक्ति-धर्म का देवता विष्णु है।

संघर्ष के बाद वैष्णव धर्म को ब्राह्मणों ने अपना लिया। लेकिन आरम्भ में उन्होंने वैसा नहीं किया। इस बात के कुछ प्रमाण अभी अवशिष्ट हैं। ब्राह्मण भृगु ने विष्णु के वक्ष पर पदाघात किया था—इस कहानी में विरोध का इतिहास निहित है। वेदों में भृगु को यज्ञकर्ताओं और यज्ञ-फलभागियों का आदर्श माना गया है। पूजा के आसन पर जब ब्रह्मा का स्थान विष्णु को मिला तब यज्ञ-क्रिया-कांड के युग को पीछे छोड़कर भक्ति-धर्म के युग ने पदार्पण किया। इस संधि-काल में एक बहुत बड़ा तूफ़ान आया। और ऐसे तूफ़ान का आना अपेक्षित भी था। जिनके हाथ में क्रियाकांड का अधिकार था, और जिन्होंने इस अधिकार द्वारा समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त किया था, वे आसानी से पीछे हटने के लिए तैयार नहीं थे।

यह भक्ति-धर्म या वैष्णव-धर्म विशेष रूप से क्षत्रिय-प्रवर्तित था। इस बात का एक प्रमाण यह है कि क्षत्रिय श्रीकृष्ण को हम इस धर्म के गुरु के रूप में देखते हैं, और श्रीकृष्ण के उपदेशों में वैदिक मंत्र और आचार के विरुद्ध आघात का परिचय मिलता है। इसी का दूसरा प्रमाण यह है कि प्राचीन भारत के पुराणों में जिन दो व्यक्तियों को विष्णु का अवतार मानकर स्वीकार किया गया है वे दोनों क्षत्रिय हैं—श्रीकृष्ण और श्रीरामचन्द्र। इससे स्पष्ट देखा जाता है कि क्षत्रिय-वर्ग का यह भक्ति-धन श्रीकृष्ण के उपदेश की तरह रामचन्द्र के जीवन द्वारा भी प्रचारित हुआ है। वृत्तिगत भेद से आरम्भ होकर ब्राह्मण-क्षत्रिय में जो चित्तगत भेद निर्माण हुआ था वह यहाँ तक बढ़ गया कि वह सामाजिक विप्लव की आग उगलने लगा। वशिष्ठ-विश्वामित्र की कहानी में इस क्रान्ति का इतिहास निबद्ध है।

इस इतिहास में ब्राह्मण-पक्ष ने वशिष्ठ का और क्षत्रिय-पक्ष ने विश्वामित्र का आश्रय लिया। मैं पहले कह चुका हूँ कि सभी ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर विरोधी दल में हों ऐसी बात नहीं थी। ऐसे भी अनेक राजा थे जो ब्राह्मणों के पक्षपाती थे। कहा जाता है कि ब्राह्मणों की विद्या विश्वामित्र से पीड़ित होकर रो रही थी; हरिश्चन्द्र उसकी रक्षा करने के लिए उद्यत हुए, लेकिन अन्त में राज्य, सम्पदा सब-कुछ खोकर विश्वामित्र के सामने उन्हें हार माननी पड़ी।

इस तरह के दृष्टान्त और भी हैं। प्राचीन काल की इस महाक्रान्ति के एक

प्रधान नेता श्रीकृष्ण थे; जिन्होंने कर्मकांड की निरर्थकता से समाज को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया। एक दिन उन्होंने पांडवों की सहायता से जरासंध का वध किया। यह राजा जरासंध तत्कालीन क्षत्रियों का शत्रु था; उसने अनेक क्षत्रिय राजाओं को बन्दी बनाया था और कष्ट दिया था। भीम और अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण ने जब जरासंध के घर में प्रवेश किया तब उन्हें ब्राह्मणों का छद्मवेश धारण करना पड़ा। इस ब्राह्मण-पक्षपाती और क्षत्रिय-विरोधी राजा का श्रीकृष्ण ने जो पाण्डवों द्वारा वध कराया वह केवल एक आकस्मिक घटना नहीं है। उस समय श्रीकृष्ण को लेकर दो दलों का निर्माण हुआ था। इन दो दलों को समाज में एक करने की इच्छा से युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ किया उस समय विरोधी दल के प्रतिनिधि शिशुपाल ने श्रीकृष्ण का अपमान किया। इस यज्ञ में सारे ब्राह्मण और क्षत्रियों, आचार्यों और राजाओं के बीच श्रीकृष्ण को ही सर्वप्रधान मानकर अर्घ्य दिया गया था। इस यज्ञ में वे ब्राह्मणों के पदक्षालन के लिए नियुक्त थे। इस बात का बाद में जिस तरह बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया उससे ब्राह्मण-क्षत्रियों का विरोध स्पष्ट देखा जाता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में शुरू से ही यह सामाजिक संघर्ष देखा जा सकता है। यहाँ एक ओर श्रीकृष्ण का पक्ष था, दूसरी ओर श्रीकृष्ण का विरोधी पक्ष। विरुद्ध पक्ष के सेनापतियों में ब्राह्मण द्रोणाचार्य अग्रगण्य थे। कृप और अश्वत्थामा भी मामूली लोग नहीं थे।

इसलिए हम देख सकते हैं कि आरम्भ में ही भारतवर्ष के दोनों महाकाव्यों का मूल विषय था यही प्राचीन सामाजिक संघर्ष—अर्थात् समाज के भीतर नूतन और पुरातन का विरोध। यह स्पष्ट है कि रामायण के युग में रामचन्द्र ने नये वर्ग का समर्थन किया। वशिष्ठ का सनातन धर्म रामचन्द्र का कुलधर्म था। वशिष्ठ-वंश ही उनका चिरपुरातन पुरोहित वंश था। फिर भी रामचन्द्र ने अल्प अवस्था में ही वशिष्ठ के विरुद्ध विश्वामित्र का अनुसरण किया। वास्तव में वशिष्ठ के बदले स्वयं राम के गुरु बनकर विश्वामित्र ने रामचन्द्र को उनके पैतृक अधिकार से वंचित किया था। राम ने जो पथ अपनाया उसके विषय में दशरथ की सम्मति नहीं थी, लेकिन विश्वामित्र के प्रबल प्रभाव के सामने उनकी आपत्ति टिक न सकी। आगे चलकर इस काव्य में राष्ट्रीय समाज के बृहत् इतिहास की स्मृति एक विशेष राजवंश की पारिवारिक घटनाओं में व्यक्त हुई। उस समय दुर्बल चित्त, वृद्ध राजा के स्त्रैण भाव को ही राम के वनवास का कारण बताया गया।

रामचन्द्र ने एक नया मार्ग अपनाया था, इस बात का एक और प्रमाण है। जिस भृगु ब्राह्मण ने विष्णु के वक्ष पर पदाघात किया था उसी के वंश में परशुराम का जन्म हुआ था। परशुराम ने क्षत्रिय-विनाश का व्रत लिया था। रामचन्द्र ने

क्षत्रियों के इस कट्टर शत्रु को निरस्त्र कर दिया। निष्ठुर ब्राह्मण वीर का वध न करके राम ने उसे अपने वश में किया, इसी से हम समझ सकते हैं कि उन्होंने ऐक्य-साधन का व्रत ग्रहण किया था और वीर्य तथा क्षमाशीलता से ब्राह्मण-क्षत्रियों का विरोध दूर करने का यत्न किया था। राम के जीवन में सभी कार्यों में इस उदार, वीर्यशाली सहिष्णुता का परिचय मिलता है।

विश्वामित्र ही राम को जनक के घर ले गए थे, और विश्वामित्र के निर्देशन में ही उन्होंने जनक की भू-कर्षण-जात कन्या को धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार किया था। इस इतिहास को घटनामूलक समझने की आवश्यकता नहीं है; इसे हम भाव-मूलक ही समझते हैं। इसके बीच यदि हम तथ्य ढूँढें तो शायद हमें निराशा होगी, लेकिन सत्य इसमें अवश्य मिलेगा।

मूल कथा यह है कि जनक क्षत्रिय राजा थे। उन्हीं के आश्रय से ब्रह्मविद्या विकसित हो रही थी। यह विद्या केवल उनके ज्ञान का विषय नहीं थी बल्कि उनके समस्त जीवन से उसे रूप मिला था। अपने राज्य-संसार में विविध कर्मों के केन्द्र-स्थल पर उन्होंने इसी ब्रह्मज्ञान की अविचलित रूप से रक्षा की थी, साथ ही यह बात भी इतिहास में विख्यात है। चरम ज्ञान और भक्ति के प्रात्यहिक जीवन के छोटे-बड़े सभी कर्मों का आश्चर्यजनक योगसाधन—इसी से भारत में क्षत्रियों ने सर्वोच्च कीर्ति-लाभ किया। जो लोग क्षत्रियों के अग्रणी थे उन्होंने त्याग को ही भोग का लक्ष्य और कर्म को ही मुक्ति-लाभ का श्रेष्ठ उपाय माना था।

जनक एक ओर ब्रह्मज्ञान का अनुशीलन करते थे और दूसरी ओर अपने हाथ से हल चलाते थे। इसी से हम जान सकते हैं कि कृषि-विस्तार द्वारा आर्य सभ्यता का विकास क्षत्रियों के व्रतों में से एक था। किसी दिन पशु-पालन ही आर्यों की उपजीविका का विशेष साधन था। धेनुएँ अरण्याश्रमवासी ब्राह्मणों की प्रधान सम्पदा मानी जाती थीं। वनभूमि में गोपालन आसान होता है। तपोवन में जो लोग शिष्य बनकर आते थे उनका एक मुख्य काम यह था कि वे गुरु की धेनुओं का पालन करते। लेकिन बाद में एक दिन रणविजयी क्षत्रियों ने आर्यावर्त से अरण्य-बाधा को दूर किया, और तब से पशु-संपद् के बदले कृषि-सम्पद् महत्त्वपूर्ण हो गई। अमेरिका में योरोपीय उपनिवेशकारों ने जब अरण्य का उच्छेद किया और कृषि-विस्तार के लिए क्षेत्र प्रशस्त किया उस समय मृगयाजीवी अरण्यवासियों ने पग-पग पर उनका विरोध किया। उसी तरह भारत में भी अरण्यवासियों और कृषकों में विरोध था, और इससे कृषि का काम विपद्‌जनक हो उठा था। जो लोग ख़ेती के लिए ज़मीन तैयार करने जंगल में जाते थे उनका काम आसान नहीं था।

जनक मिथिला के राजा थे, इसी से हम जान सकते हैं कि आर्य उपनिवेशों की

सीमा आर्यावर्त के पूर्वप्रान्त तक जा पहुँची थी। उस समय दुर्गम विंध्याचल के दक्षिण की ओर अरण्य ज्यों-का-त्यों था, और वहीं द्राविड़ सभ्यता प्रबल होकर आर्यों की प्रतिद्वन्द्वी हो गई। रावण ने अपने पराक्रम से इन्द्र और अन्य वैदिक देवताओं को परास्त करके, आर्यों के यज्ञों में विघ्न डालकर अपने देवता शिव को विजय दिलाई थी। पृथ्वी के सभी समाजों में एक विशेष अवस्था में यह विश्वास देखने में आता है कि युद्ध में विजय अपने विशेष देवता के प्रभाव से ही होती है। किसी पक्ष का पराभव उस पक्ष के देवता का पराभव माना जाता है। रावण ने आर्य देवताओं को परास्त किया, यह लोकश्रुति हमारे देश में प्रचलित है। और इसका अर्थ यह है कि रावण ने अपने राजत्वकाल में वैदिक देवताओं के उपासकों का बार-बार पराभव किया था।

इस अवस्था में आर्य समाज के सामने यह प्रश्न उठा था कि शिव का 'हर-धनु' कौन तोड़ेगा। शिवोपासकों के प्रभाव का सामना करते हुए जो वीर दक्षिण खण्ड में आर्यों की कृषिविद्या और ब्रह्मविद्या को पहुँचा सके उसी को इस योग्य माना गया कि क्षत्रियों के आदर्श राजा जनक की मानस-कन्या के साथ विवाह करे। विश्वामित्र रामचन्द्र को 'हरधनु'-भंजन की उसी दुःसाध्य परीक्षा में ले गए थे। राम जब वन में जाकर अनेक प्रबल शैव वीरों को निहत कर सके तभी वे 'हरधनु' तोड़ने की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सीता के साथ पाणिग्रहण करने के अधिकारी हुए। उस समय के अनेक वीर राजा सीता को ग्रहण करने के लिए उद्यत थे; लेकिन वे हरधनु न तोड़ सके और इसलिए राजर्षि जनक की कन्या को प्राप्त करने के गौरव से वंचित होकर उन्हें लौट जाना पड़ा। लेकिन इस दुःसाध्य व्रत का अधिकारी कौन होगा, इस बात के संधान में क्षत्रिय तपस्वीगण लगे रहे। एक दिन विश्वामित्र का यह संधान रामचन्द्र में सार्थक हुआ।

रामचन्द्र जब विश्वामित्र के साथ चले तब वे तरुण अवस्था में ही तीन बड़ी परीक्षाओं से उत्तीर्ण हो चुके थे। प्रथम, उन्होंने शैव राक्षसों को परास्त करके हरधनु तोड़ा था। द्वितीय, जो भूमि खेती के लिए अयोग्य होकर अहिल्या अर्थात् पाषाण—बनकर पड़ी थी, और इसी कारण दक्षिणापथ के प्रथम अग्रगामियों में अन्यतम ऋषि गौतम ने जिस भूमि को पहले ग्रहण करके फिर अभिशप्त समझकर छोड़ दिया था, उसी पत्थर को सजीव करके रामचन्द्र ने अपने कृषि-नैपुण्य का परिचय दिया था।[1] तृतीय, क्षत्रियों के विरुद्ध ब्राह्मणों का जो विद्वेष प्रबल हो उठा

१. कुछ दिन पहले 'राक्षस-रहस्य' शीर्षक एक स्वाधीन चिन्तनपूर्ण निबन्ध की पाण्डुलिपि मैंने देखी। उसी में 'अहिल्या' शब्द की यह व्याख्या मुझे मिली। लेखक ने अपना नाम प्रकाशित नहीं किया है। उसके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

था उसे भी क्षत्रिय-ऋषि विश्वामित्र के शिष्य ने अपने बाहुबल से परास्त किया था।

अकस्मात् युवराज के अभिषेक में जो बाधा पड़ी और रामचन्द्र निर्वासित हुए,इसमें भी सम्भवतः उस समय की दो प्रबल शक्तियों का विरोध सूचित होता है। राम के विरुद्ध एक ऐसा दल था जो निःसन्देह अत्यन्त प्रबल था और जिसका अन्तःपुर की रानियों पर विशेष प्रभाव था। वृद्ध दशरथ इस दल की उपेक्षा न कर सके। इसलिए अत्यन्त अनिच्छापूर्वक उन्हें अपने प्रियतम वीर पुत्र को निर्वासित करना पड़ा। इस निर्वासन में राम के वीरत्व में लक्ष्मण सहायक थे, और उनकी जीवन-संगिनी थी सीता। सीता को भी उन्होंने नाना विपत्तियों से और शत्रुओं के आक्रमणों से बचाया, और उसे वन-वनान्तर में, ऋषियों के आश्रमों और राक्षसों के आवासों के बीच ले गए।

आर्य-अनार्य के विरोध को विद्वेष के बीच जागृत रखकर युद्ध के द्वारा उसका समाधान करने का प्रयास अन्ततः बेकार था। प्रेम और मिलन के द्वारा, आन्तरिक रूप से मीमांसा करने पर, इतनी बड़ी समस्या भी आसान हो जाती है। लेकिन आन्तरिक मिलन इच्छा करने से ही नहीं होता। धर्म जब बाहर की वस्तु बन जाती है, अपने देवता को जब लोग विषय-सम्पत्ति की तरह नितान्त स्वकीय समझते हैं, तब मनुष्य-मनुष्य के मन का,भेद किसी तरह दूर नहीं होता। ज्यू लोगों के साथ जेन्टाइल लोगों के मिलन का कोई रास्ता नहीं था, क्योंकि ज्यू 'जिहोवा' को विशेष भाव से अपनी जातीय सम्पत्ति मानते थे; उनकी यह धारणा थी कि 'जिहोवा' का समस्त अनुशासन, उनके द्वारा आदिष्ट समस्त विधि-निषेध 'ज्यू' जाति के ही लिए है। उसी तरह जब आर्य देवता और आर्य विधि-विधान विशेष जातिगत भाव से संकीर्ण हो गए तब आर्य-अनार्य के संघर्ष को मिटाने का एक ही मार्ग रह गया—अर्थात् दो पक्षों में से एक का संपूर्ण विनाश। लेकिन क्षत्रियों के मन में देवता की धारणा जब विश्वजनीन हो गई, जब बाहर के भेद-विभेद ही एक-मात्र सत्य नहीं हैं, इस ज्ञान से मनुष्य की कल्पना को दैवी विभीषिकाओं से मुक्ति मिली, तभी आर्य-अनार्य के बीच वास्तविक मिलन-सेतु स्थापित होने की सम्भावना उत्पन्न हुई। बाह्य क्रिया-कर्म के देवतागण आन्तरिक भक्ति के देवता हो गए और वे किसी विशेष शास्त्र, शिक्षा या जाति के बीच आबद्ध नहीं रहे।

क्षत्रिय रामचन्द्र ने एक दिन गुहक चाण्डाल को अपने मित्र के रूप में स्वीकार किया था, यह जनश्रुति आज तक उनकी आश्चर्यजनक उदारता का परिचय देती आ रही है। परवर्ती युग के समाज ने 'उत्तर काण्ड' में उनके इस चरित्र-माहात्म्य से ध्यान हटाना चाहा। शूद्र तपस्वी को रामचन्द्र ने वधदण्ड दिया, इस अपवाद

पर ही बल देकर परवर्ती समाज-रक्षकों ने राम-चरित्र को अपने विचारपक्ष के अनुकूल बनाना चाहा। जिस सीता की राम ने सुख-दुःख में रक्षा की थी, जिसे प्राण की बाज़ी लगाकर शत्रु के हाथों से छुड़ाया था, उस सीता का केवल सामाजिक कर्तव्य के अनुरोध से, निर्दोष होने पर भी उन्हें परित्याग करना पड़ा—'उत्तर काण्ड' में इस कहानी की सृष्टि की गई। इससे स्पष्ट देखा जा सकता है कि आर्य-जाति के वीर-श्रेष्ठ, आदर्श चरित्र, पूज्य रामचन्द्र की जीवनी को सामाजिक आचार के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किसी दिन किया गया था। राम-चरित्र में सामाजिक संघर्ष का जो इतिहास था उसके चिह्न यथासम्भव मिटाकर उसे परवर्ती काल में नये युग के सामाजिक आदर्श के अनुगत बनाया गया। उसी समय राम-चरित्र को गृह-धर्म और ससाज-धर्म का आश्रय मानकर उस रूप में उसका प्रचार करने का प्रयत्न किया गया। किसी दिन रामचन्द्र स्वजाति को विद्वेष की संकीर्णता से प्रेम की व्यापकता की ओर ले गए थे, और इसी नीति के द्वारा एक विषम समस्या का समाधान करके देश में चिरकाल के लिए वरणीय हो गए थे। लेकिन उनका यह कार्य विस्मृत होकर क्रमशः यही बात सामने आई कि वे शास्त्रानुमोदित गार्हस्थ्य के आश्रय और लोकानुमोदित आचार के रक्षक थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक दिन जिस रामचन्द्र ने धर्मनीति और कृषिविद्या को नये पथ पर बढ़ाया था, परवर्ती काल में उन्हीं के चरित्र का पुराने विधि-बन्धनों के पक्ष में उपयोग किया गया। एक दिन जिन्होंने समाज के गति-पक्ष के लिए वीरता-प्रदर्शन किया था उन्हीं को स्थिति-पक्ष का वीर बताया गया। वस्तुतः रामचन्द्र के जीवन-काव्य में गति और स्थिति का सामंजस्य था, इसीलिए यह बात सम्भव हुई। फिर भी भारतवर्ष यह बात नहीं भूल सकता कि राम एक चाण्डाल के सुहृद, वानरों के देवता और विभीषण के मित्र थे। उनका गौरव इसमें नहीं है कि उन्होंने शत्रु का संहार किया, बल्कि इसमें कि उन्होंने शत्रु को अपना बनाया। आचार-जन्य निषेध और सामाजिक विद्वेष की बाधाओं का उन्होंने अतिक्रमण किया। आर्य-अनार्य के बीच उन्होंने प्रीति का सेतु निर्माण किया।

मानव-विज्ञान का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि अनेक बर्बर जातियों में किसी विशेष जन्तु को पवित्र मानकर उसकी पूजा की जाती है। अक्सर ये लोग अपने-आपको इसी विशेष जन्तु का वंशधर समझते हैं, और इस जन्तु का नाम जाति के नाम से जुड़ जाता है। भारतवर्ष में इसी तरह नाग वंश का परिचय मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि रामचन्द्र ने किष्किधा में जिस अनार्य जाति को अपने वश में किया था वह भी ऐसे ही किसी कारण से 'वानर' के नाम से परिचित हुई होगी। केवल वानर ही नहीं, रामचन्द्र के दल में 'भालू जाति' भी थी। वानर

यदि अवज्ञा-सूचक उपाधि होती तो 'भालू' उपाधि और भी निरर्थक हो जाती।

रामचन्द्र ने वानरों को राजनीति के द्वारा नहीं, वरन् भक्ति-धर्म से अपने वश में किया था। इस तरह हनुमान की भक्ति प्राप्त करके राम को देवता का स्थान मिला। पृथ्वी पर सर्वत्र यही देखा जाता है कि जो भी महात्मा बाह्य-धर्म के स्थान पर भक्ति-धर्म जागरित करता है वह स्वयं पूजा का विषय बन जाता है। श्रीकृष्ण, ईसा, मुहम्मद, चैतन्य इत्यादि महापुरुष इसी बात के दृष्टान्त हैं। सिख, सूफी, कबीरपंथी—इन सभी लोगों में हम देखते हैं कि जिनके आश्रय से भक्ति प्रकाशित होती है वे अनुवर्तियों की दृष्टि में देवत्वलाभ करते हैं। वे भगवान के साथ भक्त का अन्तरतम योग प्रस्थापित करते हैं और इसी क्रिया में देवत्व तथा मनुष्यत्व के बीच जो रेखा है उसका अतिक्रमण करते हैं। इसी तरह हनुमान और विभीषण रामचन्द्र के उपासक और भक्त वैष्णव के रूप में विख्यात हुए हैं।

रामचन्द्र धर्म के द्वारा अनार्यों पर विजय पाकर उनकी भक्ति के अधिकारी हुए। उन्होंने बाहु-बल से उन लोगों को परास्त करके राज्य-विस्तार नहीं किया। दक्षिण में उन्होंने कृषि-प्रधान सभ्यता और भक्ति-मूलक एकेश्वरवाद का प्रचार किया। उनके बोये हुए इस बीज का फल अनेक शताब्दियों तक भारतवर्ष उपभोग करता रहा। क्रमशः दाक्षिणात्य में दारुण शैवधर्म ने भी भक्ति-धर्म का रूप ग्रहण किया। एक दिन दक्षिण से ही ब्रह्मविद्या की दो धाराएँ निकलीं—भक्ति-स्रोत और अद्वैत ज्ञान का स्रोत—जिन्होंने सारे भारतवर्ष को प्लावित किया।

आर्यों के इतिहास में हमने संकोचन और प्रसारण के रूप देखे। मनुष्य का एक ओर उसका 'विशेषत्व' होता है और दूसरी ओर उसका 'विश्वत्व'। इन दोनों दिशाओं के आकर्षण ने भारत को किस तरह प्रभावित किया है इस बात का यदि हम निरीक्षण न करें तो हम भारतवर्ष को समझ नहीं सकेंगे। किसी समय उसकी आत्म-रक्षण-शक्ति ब्राह्मणों के हाथ में थी और आत्म-प्रसारण-शक्ति क्षत्रियों के हाथ में। क्षत्रिय जब आगे बढ़े तो ब्राह्मणों ने उन्हें रोका। लेकिन बाधाओं को पार करते हुए जब क्षत्रिय समाज को विस्तार की दिशा में ले गए तब ब्राह्मणों ने फिर से नूतन को पुरातन के साथ बाँधकर समस्त को आत्मसात् कर लिया और उसकी सीमाएँ निर्धारित कीं। भारतवर्ष में ब्राह्मणों के इस काम की योरोपीय लोगों ने सर्वदा आलोचना की है। वे समझते हैं कि 'ब्राह्मण' नाम के एक विशेष व्यवसायी दल ने यह सब कराया है, अर्थात् समाज को आगे बढ़ने से रोका है। वे भूल जाते हैं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय में जातिगत भेद नहीं है, दोनों एक ही जाति की स्वाभाविक शक्तियाँ हैं। इंग्लैण्ड में समस्त ब्रिटिश जाति लिबरल और कंज़रवेटिव इन दो शाखाओं में विभक्त होकर

राजनीति का निर्देशन करती है। इन दो शाखाओं की प्रतियोगिता में विवाद भी है, कौशल भी है, शायद भ्रष्टाचार और अन्याय भी है। लेकिन इन दोनों सम्प्रदायों को एक-दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र रूप में देखना ठीक नहीं होगा। आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति की तरह ये दोनों बाहर से देखने पर विरोधी लगते हैं, लेकिन अन्दर से एक ही सृजनशक्ति के दो रूप हैं। इसी तरह भारतीय समाज में स्थिति और गति की स्वाभाविक शक्तियों ने दो अलग श्रेणियों का अवलम्बन करके इतिहास का सृजन किया है। इनमें से कोई पक्ष कृत्रिम नहीं है।

लेकिन यह अवश्य देखा जाता है कि भारतवर्ष में स्थिति और गति के सम्पूर्ण सामंजस्य कीं रक्षा नहीं हुई। समस्त विरोध के वाद ब्राह्मणों ने ही समाज में प्राधान्य लाभ किया। इसे ब्राह्मणों के विशेष चातुर्य का परिणाम कहना इतिहास के विरुद्ध होगा। इसका वास्तविक कारण भारत की विशेष अवस्था में ही मिल सकता है। भारत में जिन जातियों का संघात हुआ, उनका आपस में आत्यन्तिक विरोध था। उनके बीच वर्ण और आदर्श के भेद इतने तीव्र थे कि इस प्रबल विरुद्धता के आघात से भारत में आत्मरक्षण-शक्ति ही अधिक बलवती हो उठी। आत्म-प्रसारण की दिशा में जाने से अपने-आपको खो देने की सम्भावना थी। इसीलिए पग-पग पर समाज की सतर्कता-वृत्ति जागृत होती रही।

जो साहसी पर्वतारोही हिमाच्छादित आल्प्स के शिखरों पर चढ़ने की कोशिश करते हैं वे अपने-आपको रस्सी से बाँधकर अग्रसर होते हैं। चलते-चलते वे अपने को बाँधते हैं और बाँधते-बाँधते चलते हैं। वहाँ आगे बढ़ने का यही स्वाभाविक उपाय है, उसमें चालकों का कौशल नहीं है। जो बंधन कारागृह में मनुष्य को जकड़कर रखता है वही बंधन दुर्गम पर्वत-पथ पर आगे बढ़ने में उसकी मदद करता है। भारतवर्ष में भी समाज अपने-आपको रस्सी से बाँध-बाँधकर आगे बढ़ा है, क्योंकि अपने पथ पर अग्रसर होने के बदले पैर फिसलकर दूसरों का पथ नष्ट होने की आशंका उसके सामने थी। इसीलिए स्वाभाविक नियम से भारतवर्ष में आत्म-प्रसारण-शक्ति की अपेक्षा आत्म-रक्षण-शक्ति का अधिक विकास हुआ है।

रामचन्द्र के जीवन की चर्चा करते हुए हमने देखा कि एक दिन क्षत्रियों ने धर्म को ऐसे ऐक्य में उपलब्ध किया जिससे अनार्यों के विरोध का वे मिलन-नीति द्वारा अतिक्रमण कर सके। दो पक्षों का चिरन्तन संग्राम किसी भी समाज के लिए हितकर नहीं हो सकता — या तो एक पक्ष को मरना होगा, या दोनों पक्षों को मिलना होगा। भारत में धर्म का आश्रय लेकर इसी मिलन-कार्य का आरम्भ किया गया। पहले तो इस धर्म और इस मिलन-नीति को रुकावटों का सामना

करना पड़ा, लेकिन अन्त में ब्राह्मणों ने उसे स्वीकार किया और आत्मसात् कर लिया।

आर्यों और अनार्यों में जब थोड़ा-बहुत योग स्थापित हुआ तब अनार्यों के साथ धर्म के विषय में विचार-विनिमय करना भी आवश्यक हुआ। उस समय अनार्यों के देवता शिव के प्रति आर्य उपासकों का विरोध चल रहा था। इस संघर्ष में कभी आर्य विजयी होते थे तो कभी अनार्य। श्रीकृष्ण के अनुवर्ती अर्जुन को एक दिन किरातों के देवता शिव के सामने हार माननी पड़ी थी। शिवभक्त बाणासुर की कन्या उषा का कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध ने हरण किया था, और इस संग्राम में कृष्ण विजयी हुए थे। वैदिक यज्ञ में अनार्य शिव को देवता का स्थान नहीं दिया गया, इसीलिए शिव के अनार्य उपासकों ने यज्ञ में बाधा डाली। अन्त में वैदिक देवता रुद्र के साथ शिव को मिलाकर, और इस तरह उसे अपनाकर आर्यों-अनार्यों का यह धर्म-विरोध मिटाने का प्रयत्न किया गया। फिर भी जब अनेक देवताओं को माना जाता है तब उनमें से कौन बड़ा है और कौन छोटा, यह विवाद आसानी से नहीं मिटता। 'महाभारत' में रुद्र के साथ विष्णु के संग्राम का उल्लेख है। इस संग्राम में रुद्र ने विष्णु को श्रेष्ठ माना था।

'महाभारत' की समीक्षा करने से स्पष्ट देखा जा सकता है कि विरोध के बावजूद अनार्यों का रक्त-मिलन और धर्म-मिलन हो रहा था। इस तरह जब वर्णशंकर और धर्मशंकर होने लगा, समाज की आत्म-रक्षण-शक्ति ने सीमा-निर्णय करके बार-बार अपने-आपको बचाने का प्रयत्न किया। जिसका त्याग करना सम्भव नहीं था उसको ग्रहण करके एक वेष्टन में बाँध दिया गया। 'मनुस्मृति' में वर्णशंकर के विरुद्ध जो प्रयास है और मूर्ति-पूजा-व्यवसायी ब्राह्मणों के प्रति जो घृणा व्यक्त की गई है उससे पता चलता है कि अनार्यों के साथ रक्त-मिश्रण और धर्म-मिश्रण स्वीकृत होने पर भी उसका विरोध बन्द नहीं हुआ था। इस तरह प्रसारण के दूसरे ही क्षण संकोचन की प्रवृत्ति से समाज ने बार-बार अपने-आपको कठोर बनाया है।

एक दिन इसीके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई जो दो क्षत्रिय राज-संन्यासियों के आश्रय से व्यक्त हुई। धर्म-नीति एक सत्य पदार्थ है, सामाजिक नियम-मात्र नहीं है। इध धर्म-नीति के आश्रय से ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है, सामाजिक बाह्य प्रथाओं के पालन से नहीं; यह धर्म-नीति मानव-मानव में किसी भेद को चिरन्तन सत्य नहीं मान सकती—इसी मुक्ति-वार्ता का प्रचार भारत में दो क्षत्रिय तपस्वियों ने—बुद्ध और महावीर ने—किया। आश्चर्य की बात तो

यह है कि देखते-ही-देखते प्राचीन संस्कारों और बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए इस मुक्ति-वार्ता ने सारे देश पर अधिकार कर लिया। और फिर दीर्घ काल तक भारत में क्षत्रिय आचार्यों के प्रभाव से ब्राह्मणों की शक्ति को अभिभूत किया।

यह बात सम्पूर्ण रूप से हितकर थी, ऐसा मैं बिलकुल नहीं कह रहा हूँ। इस तरह की एक पक्ष की एकान्तिकता से देश की प्राकृतिक अवस्था विचलित होती है और उसका स्वास्थ्य नष्ट होता है। इसलिए बौद्ध युग ने भारत को समस्त संस्कार-जाल से मुक्त कराने के प्रयास में एक ऐसे दूसरे संस्कार-जाल में आबद्ध कर दिया जैसा कहीं और देखने में नहीं आता। इतने दिनों तक भारत में आर्यों-अनार्यों के मिलन में पग-पग पर संयम था। बीच-बीच में बाँध बनाकर प्रलय स्रोत को रोक दिया जाता था। आर्य-जाति अनार्यों से जो कुछ ग्रहण करती थी उसे आर्य बनाकर अपनी प्रकृति के अनुगत कर लेती थी। इस तरह धीरे-धीरे एक प्राणवान राष्ट्रीय कलेवर का निर्माण हुआ जिससे आर्यों-अनार्यों के आन्तरिक मिलन की सम्भावना उत्पन्न हुई। निश्चय ही इस मिलन के बीच किसी समय बाह्यिकता की मात्रा बहुत बढ़ गई थी, अन्यथा इतना बड़ा संघर्ष उत्पन्न न होता, और यह संघर्ष बिना सैन्यबल का आश्रय लिये केवल धर्म की शक्ति से सारे देश को आच्छन्न न कर पाता। समाज की श्रेणी-श्रेणी में, और मनुष्य के अन्दर-बाहर, एक बहुत बड़े विच्छेद ने स्वास्थ्यकर सामंजस्य को नष्ट किया था। लेकिन इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी उतनी ही प्रबल हुई और उसने समाज की नींव को ही हिला दिया। रोग का आक्रमण जितना दारुण था, चिकित्सा का आक्रमण उतना ही सांघातिक सिद्ध हुआ।

अन्त में एक दिन जब बौद्ध-प्रभाव की आँधी शान्त हुई तो यह देखा गया कि समाज के सारे वेष्टन टूट चुके थे। जिस व्यवस्था के भीतर भारत का जाति-वैचित्र्य ऐक्यलाभ की चेष्टा कर रहा था वह व्यवस्था ही भूमिसात् हो गई थी। बौद्ध धर्म ने ऐक्य के प्रयास से ही ऐक्य का नाश किया। भारत में अनैक्य की सारी प्रवृत्तियों ने निडर होकर सिर उठाया। जो बगीचा था वह जंगल हो गया।

किसी दिन भारतीय समाज में कभी ब्राह्मणों को और कभी क्षत्रियों को प्राधान्य मिलता था। फिर भी दोनों में एक जातिगत ऐक्य था, इसलिए उस समय जाति-रचना का कार्य आर्यों के ही हाथ में था। लेकिन बौद्ध-प्रभाव के समय भारत के भीतर जो अनार्य थे उनके अतिरिक्त बाहर से भी अनार्यों ने पदार्पण किया और वे इतने प्रबल हो उठे कि आर्यों के साथ उनके सामंजस्य की रक्षा

करना कठिन हो गया। जब तक बौद्ध धर्म शक्तिशाली था तब तक यह असामंजस्य अस्वास्थ्यकर रूप से व्यक्त नहीं हुआ। लेकिन बौद्ध-धर्म के दुर्बल होते ही यह असामंजस्य विचित्र और असंगत रूप से, आज़ाद होकर, देश पर छा गया।

अनार्य सारी बाधाओं को पार करके भारतीय समाज में आकर जम गए। उनके साथ भेद या मिलन बाहर की बात न रहकर समाज के बिलकुल अन्दर की समस्या हो उठी।

बौद्ध-प्रभाव की इस बाढ़ में आर्य-समाज में केवल ब्राह्मण सम्प्रदाय ही अपने को स्वतन्त्र रख सका, क्योंकि आर्य जाति की स्वातन्त्र्य-रक्षा का भार चिरकाल से ब्राह्मणों के ही हाथ में था। बौद्ध-युग के मध्याह्नकाल में भी ब्राह्मण और श्रमण का भेद दूर नहीं हुआ। लेकिन अन्य सभी भेद समाज से लुप्तप्राय हो गए। उस समय क्षत्रिय जन-साधारण के साथ बड़े परिमाण में मिल-जुल गए।

अनार्यों के साथ विवाह-सम्बन्ध करने में क्षत्रियों में कोई रोक-टोक नहीं थी, यह बात उस समय के पुराणों से स्पष्ट हो जाती है। और इसलिए हम देखते हैं कि बौद्ध-युग के परवर्ती काल में अधिकतर राजवंश क्षत्रिय वंश नहीं थे।

उधर शक, हूण प्रभृति विदेशी अनार्यों के दल भारत में प्रविष्ट होकर समाज में अबाधित रूप से विलीन होने लगे। बौद्ध-धर्म की लहर से बाढ़ का पानी अन्दर आया, और अलग-अलग शाखाओं में विभक्त होकर समाज के मर्मस्थल तक पहुँचने लगा। उस समय की समाज-प्रकृति में प्रतिरोध की शक्ति बहुत कम थी, इस तरह जब धर्म-कर्म में अनार्य-सम्मिश्रण अत्यन्त प्रबल हो गया, और सब प्रकार की उच्छृंखलता के बीच संगति का कोई सूत्र नहीं रहा, तब समाज में अंतर-स्थित आर्य प्रकृति ने पीड़ित होकर अपने-आपको अभिव्यक्त करने के लिए समस्त शक्ति का प्रयोग किया। आर्य प्रकृति अपने-आपको खो चुकी थी, इसलिए अपने को स्पष्ट रूप से फिर से आविष्कृत करने के लिए वह उद्यत हुई।

हम कौन हैं, कौन-सी वस्तु हमारी है, इस सत्य को विश्लिष्टता के बीच ढूंढ़ने का महान् युग आ गया था। इसी युग में भारतवर्ष ने अपने-आपको पहचाना और अपनी सीमाओं को निर्धारित किया। अब तक बौद्ध-समाज के योग से भारतवर्ष पृथ्वी के दूर-दूर के प्रदेशों तक फैल गया था, इसलिए अपने कलेवर को स्पष्ट रूप से देख नहीं पाया था। आर्य-जनश्रुति में प्रचलित किसी प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट् के राज्य में भारत अपनी भौगोलिक सत्ता को निर्दिष्ट कर रहा था। उसके बाद सामाजिक अशान्ति से छिन्न-विच्छिन्न और बिखरे हुए सूत्रों को ढूंढ़कर उन्हें फ़िर से जोड़ने का प्रयत्न किया जाने लगा। संग्रहकर्त्ताओं का कार्य ही देश में

प्रधान कार्य समझा जाने लगा। उस समय का व्यास नूतन की रचना में नहीं, बल्कि पुरातन के संग्रह में नियुक्त था। सम्भव है कि व्यास कोई विशेष व्यक्ति न रहा हो; वह समाज की एक शक्ति का प्रतीक है। आर्य-समाज की स्थिर प्रतिष्ठा कहाँ है, इसीका अन्वेषण वह करने लगा।

इसी प्रयास के अन्तर्गत व्यास ने वेदों का संग्रह किया। वैदिक काल में मंत्र और यज्ञानुष्ठान की प्रणाली को समाज ने यत्नपूर्वक सीखा था और सुरक्षित रखा था। फिर भी वह शिक्षणीय विद्या मात्र थी, और उस विद्या को भी सब लोग पराविद्या नहीं मानते थे। लेकिन एक दिन विश्लिष्ट समाज को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए ऐसे पुरातन शास्त्र को प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा गया, जिसके विषय में लोग अलग-अलग ढंग से तर्क न कर सकें, जिसमें आर्य-समाज की प्राचीनतम वाणी हो, दृढ़ भाव से जिसका अवलम्बन करने पर विरोधी सम्प्रदाय एक हो सकें। इसीलिए वेद यद्यपि प्रात्यहिक व्यवहार से दूर हो गए थे, फिर भी सभी लोग उसे सहज ही स्वीकार कर सके—बल्कि हम यहाँ तक कह सकते हैं कि उनके दूरत्व ने ही एक तरह से उन्हें सर्वस्वीकृत बनाया। जो जाति विच्छिन्न हो गई थी उसकी परिधि निर्णय करने के लिए एक दृढ़ केन्द्र को स्वीकार करना आवश्यक था। उसके बाद आर्य-समाज में जितनी भी जनश्रुतियाँ खण्डित रूप से चारों ओर बिखरी हुई थीं उन्हें एकत्रित करके 'महाभारत' के नाम से संकलित किया गया।

जिस तरह एक निश्चित केन्द्र आवश्यक था उसी तरह एक धारावाहिक परिधिसूत्र की भी ज़रूरत थी। यह परिधि-सूत्र ही इतिहास था। इसलिए व्यास के सामने एक और कार्य था। आर्य-समाज में बिखरी हुई जनश्रुतियों को उन्होंने एक किया। केवल जनश्रुति ही नहीं, आर्य-समाज में प्रचलित समस्त विश्वास, तर्क-वितर्क और नैतिक मूल्यों को एकत्रित करके जातीय समग्रता की एक विराट् मूर्ति को उन्होंने स्थापित किया। इसीका उन्होंने नाम दिया 'महाभारत'; इस नाम में ही तत्कालीन आर्य जाति की ऐक्य-उपलब्धि का प्रयास विशेष रूप से प्रकाशित है। आधुनिक पाश्चात्य संज्ञा के अनुसार 'महाभारत' को हम इतिहास न कहें। यह किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा रचित इतिहास नहीं है; यह एक जाति का स्व-रचित, स्वाभाविक, इति-वृत्तान्त है। यदि कोई बुद्धिमान व्यक्ति इन सब जन-श्रुतियों को आग में गला कर, उन्हें विश्लिष्ट करके, उनमें से एक तथ्यमूलक इतिहास की रचना करता तो आर्य-समाज के इतिहास का सत्य स्वरूप हम न देख पाते। उस समय आर्य-जाति का इतिहास आर्यों के स्मृति-पट पर जिन रेखाओं से अंकित था उनमें से कुछ स्पष्ट थीं, कुछ लुप्त, कुछ सुसंगत थीं, कुछ परस्पर-

विरोधी। 'महाभारत' में इन सभी की प्रतिलिपियाँ एकत्रित और सुरक्षित हैं। लेकिन 'महाभारत' में केवल जनश्रुतियों का ही बिना सोचे-समझे संकलन किया गया हो ऐसी बात नहीं है। 'आतशी' काँच[1] के एक ओर व्याप्त सूर्यालोक होता है और दूसरी ओर केन्द्रित किरणें। इसी तरह 'महाभारत' की ओर व्यापक जन-श्रुति-राशि है और दूसरी ओर उन सबकी केन्द्रित ज्योति। यह ज्योति है 'भगवद्गीता'। ज्ञान, कर्म और भक्ति का इसमें जो योग है वही भारत-इतिहास का चरम तत्त्व है। पृथ्वी के सभी देश अपने इतिहास के बीच किसी समस्या की मीमांसा करते हैं, किसी तत्त्व का निर्णय करते हैं। इतिहास में मनुष्य का चित्त किसी एक चरम तत्त्व का अनुसंधान और उसकी उपलब्धि करता है। लेकिन इस संधान को और इस सत्य को सभी देश स्पष्ट रूप से जान नहीं पाते। बहुत-से लोग सोचते हैं कि पथ का इतिहास ही इतिहास है—मूल अभिप्राय और चरम गम्यस्थान कुछ भी नहीं। लेकिन भारत ने एक दिन अपने समस्त इतिहास में एक चरम तत्त्व को देखा था। मनुष्य के इतिहास में ज्ञान, भक्ति और कर्म अक्सर स्वतन्त्र भाव से अपने-अपने पथ पर चलते हैं—यहाँ तक कि वे कभी-कभी परस्पर-विरोधी भी हो जाते हैं। ऐसा विरोध भारत में भी यथेष्ट था और शायद इसी-लिए उन तीनों का समन्वय वह स्पष्ट रूप से देख सका। मनुष्य के सभी प्रयास जहाँ आकर मिल जाते हैं, उसी चौराहे पर महाभारत ने चरम लक्ष्य का दीप जलाया। वही 'गीता' है। 'लॉजिक' की दृष्टि से योरोपीय पण्डितों को गीता में असंगतियाँ मिली हैं। इसमें सांख्य, वेदान्त और योग को एक स्थान पर लाया गया है जिससे इन पण्डितों के अनुसार यह जोड़ लगाई हुई चीज़ बन गई है। उन-का कहना है कि सांख्य और योग में ही 'गीता' का मूल तत्त्व है और उसके साथ वेदान्त को बाद में किसी सम्प्रदाय ने जोड़ दिया है। हो भी सकता है कि मूल 'भगवद्गीता' का उपदेश सांख्य और योग के आधार पर किया गया हो। लेकिन महाभारत-संकलन के युग में इस मूल तत्त्व की विशुद्धता को सुरक्षित रखना प्रधान उद्देश्य नहीं था। सारे देश के चित्त को एक करके देखना ही उस समय की साधना थी। इसलिए जिस ग्रन्थ में तत्त्व के साथ जीवन को मिलाकर मनुष्य का कर्तव्य-पथ निर्दिष्ट किया गया है उसमें से वेदान्त को अलग रखना असम्भव था। सांख्य, योग और वेदान्त इन सभी तत्त्वों के केन्द्र-स्थल पर एक ही सत्ता है। वह केवल ज्ञान, भक्ति या कर्म का आधार नहीं है, वह परिपूर्ण मानव-जीवन की परम गति

---

१. वह शीशा जिसमें से पार होकर जब सूर्य की किरणें एक स्थान पर केन्द्रित होती हैं तब उस स्थान पर आग जल उठती है।

है। वहाँ तक पहुँचे बिना कोई भी वस्तु सत्य तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए भारत के चित्त के समस्त प्रयास को उसी एक मूल सत्य में देखना ही 'महाभारत' को वास्तव में समझना है। गीता में 'लॉजिक' का ऐक्य-तत्त्व सम्पूर्ण रूप से न हो, लेकिन उसमें एक वृहत् जातीय जीवन का अनिर्वचनीय ऐक्य-तत्त्व है। उसकी स्पष्टता और अस्पष्टता, संगति और असंगति के बीच यह गम्भीरतम उपलब्धि हम देख सकते हैं कि समस्त को ग्रहण करके ही सत्य बनता है। इस तरह एक स्थान पर गीता के सभी पक्ष मिल जाते हैं। यहाँ तक कि गीता ने यज्ञ को भी साधना-क्षेत्र में स्थान दिया है। लेकिन गीता में यज्ञ-कार्य ने एक ऐसी वड़ी भावना प्राप्त की है कि उसकी संकीर्णता दूर होकर वह विश्व की सामग्री बन गया है। जिस क्रिया-कलाप से मनुष्य आत्मशक्ति के द्वारा विश्वशक्ति को उद्बोधित करता है वही यज्ञ है। गीता की रचना यदि आजकल के किसी व्यक्ति ने की होती तो वह आधुनिक वैज्ञानिक अध्यवसाय में मनुष्य के उसी यज्ञ को देख पाता। जिस तरह ज्ञान के द्वारा अनन्त ज्ञान के साथ, कर्म के द्वारा अनन्त मंगल के साथ, और भक्ति के द्वारा अनन्त इच्छा के साथ योग होता है उसी तरह यज्ञ के द्वारा अनन्त शक्ति के साथ हमारा योग सम्भव है। इस तरह गीता में भूमा के साथ मनुष्य का योग सम्पूर्ण रूप से दिखाया गया है। जिस यज्ञ-काण्ड के द्वारा किसी दिन मनुष्य के प्रयास ने विश्वशक्ति के सिंहद्वार पर आघात किया था, उसे भी गीता ने किसी हद तक सत्य माना है। इतिहास की असंलग्नता में जिस तरह उस युग की प्रतिभा ने एक मूल सूत्र ढूँढ़ लिया उसी तरह वेदों में से भी उसने एक सूत्र का निर्वाचन किया। यही है ब्रह्मसूत्र। इसमें भी व्यास की सफलता और कीर्ति दिखाई पड़ती है। उन्होंने जिस तरह एक ओर पार्थक्य को सुरक्षित रखा उसी तरह दूसरी ओर समष्टि को प्रत्यक्ष कराया। उनका संकलन केवल आयोजन ही नहीं, संयोजन भी है; केवल संचय नहीं परिचय भी है। वेदों के विविध मार्गों में मानव-चित्त का एक संधान और एक लक्ष्य देखा जा सकता है, वही वेदान्त है। उसमें द्वैत का पक्ष भी है, अद्वैत का भी। यदि दोनों न हों तो एक भी पक्ष सत्य नहीं हो सकता। 'लॉजिक' को इसमें कोई समन्वय नहीं मिलता, इसलिए जहाँ इसमें समन्वय है वहाँ इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। व्यास के ब्रह्मसूत्र में द्वैत-अद्वैत दोनों पक्षों की रक्षा की गई है। इसलिए परवर्ती युगों में 'लॉजिक' एक ही ब्रह्मसूत्र को विविध वाद-विवादों में विभक्त कर सका। ब्रह्मसूत्र में आर्य-धर्म के मूल तत्त्व द्वारा समस्त आर्य-धर्म-शास्त्र को एक प्रदीप से आलोकित करने का प्रयास है। केवल आर्य-धर्म ही नहीं, समस्त मानव-धर्म का यही एक प्रदीप है।

इस तरह हम इस बात के लक्षण स्पष्ट देख सकते हैं कि तरह-तरह के विरोधों

द्वारा पीड़ित आर्य-प्रकृति ने एक दिन अपनी सीमा निर्दिष्ट करके अपने मूल ऐक्य को उपलब्ध करने का उत्कट यत्न किया। आर्यजाति के विधि-निषेध, जो केवल स्मृतियों के रूप में बिखरे हुए थे, संगृहीत और लिपिबद्ध किये जाने लगे।

हमने यहाँ जिस महाभारत-युग का विवेचन किया है उसे कालगत युग समझना ठीक नहीं होगा। उसे भावगत युग के रूप में देखना होगा। अर्थात् उसे हम किसी संकीर्ण काल में विशेष रूप से निर्दिष्ट नहीं कर सकते। बौद्धयुग वास्तव में कब आरम्भ हुआ, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि शाक्यमुनि के बहुत पहले से इसका आयोजन चल रहा था और उससे पहले भी दूसरे अनेक 'बुद्ध' हुए थे। यह एक भाव की परम्परा थी जो गौतमबुद्ध में पूर्णतया परिणत हुई। इसी तरह महाभारत का युग कब आरम्भ हुआ, इसे निश्चित रूप से स्थिर नहीं किया जा सकता। पहले ही कह चुका हूँ कि समाज में बिखरने और एकत्रित होने की क्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं—जैसे पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा। निश्चय ही इनमें पुरातन और नूतन पक्ष का विवाद प्रतिबिम्बित है। एक पक्ष कहता है, परम्परागत मन्त्र और कर्मकाण्ड अनादि हैं, और उनके विशेष गुणों द्वारा ही चरम-सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। दूसरा पक्ष कहता है, ज्ञान के अलावा मुक्ति का उपाय नहीं है। जिन ग्रन्थों के आश्रय से ये दो मत आज प्रचलित हैं उनकी रचना जब भी हुई हो, मतभेद अत्यन्य पुरातन हैं इसमें सन्देह नहीं। इसलिए अपनी सामग्री को संगृहीत और श्रेणीबद्ध करने की प्रवृत्ति, और दीर्घ-काल तक विभिन्न पुराणों के संकलन से देश के प्राचीन पथ को निर्दिष्ट करने का प्रयास, किसी विशेष काल-सीमा में आबद्ध नहीं है। आर्य-अनार्यों के चिरन्तन संमिश्रण के साथ-साथ ही ये दो विरोधी शक्तियाँ भारत में चिरकाल से काम करती आ रही हैं।

किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि अनार्यों ने हमें कुछ नहीं दिया। वास्तव में प्राचीन द्राविड़ लोग सभ्यता की दृष्टि से हीन नहीं थे। उनके सहयोग से हिन्दू सभ्यता को रूप-वैचित्र्य और रस-गाम्भीर्य मिला। द्राविड़ तत्त्व-ज्ञानी नहीं थे। पर उनके पास कल्पना-शक्ति थी, वे संगीत और वास्तुकला में कुशल थे। सभी कलाविद्याओं में वे निपुण थे। उनके गणेश-देवता की वधू कला-वधू थी। आर्यों के विशुद्ध तत्त्वज्ञान के साथ द्राविड़ों की रस-प्रवणता और रूपोद्भाविनी शक्ति के मिलन से एक विचित्र सामग्री का निर्माण हुआ। यह सामग्री न पूरी तरह आर्य थी, न पूरी तरह अनार्य—यह हिन्दू थी। दो विरोधी प्रवृत्तियों के निरन्तर समन्वय-प्रयास से भारतवर्ष को एक आश्चर्यजनक सम्पदा मिली है। उसने अनन्त

को अन्त के बीच उपलब्ध करना सीखा है, और भूमा को प्रात्यहिक जीवन की तुच्छता के बीच प्रत्यक्ष करने का अधिकार प्राप्त किया है। इसलिए भारत में जहाँ भी ये दो विरोधी शक्तियाँ नहीं मिल सकीं वहाँ मूढ़ता और अन्धसंस्कार की सीमा न रही; लेकिन जहाँ भी उनका मिलन हुआ वहाँ अनन्त के रसमय रूप की अबाधित अभिव्यक्ति हुई। भारत को एक ऐसी चीज़ मिली है जिसका ठीक से व्यवहार करना सबके वश का नहीं है, और जिसका दुर्व्यवहार करने से देश का जीवन गूढ़ता के भार से धूल में मिल जाता है। आर्य और द्राविड़, ये दो विरोधी चित्तवृतियाँ जहाँ सम्मिलित हो सकी हैं वहाँ सौन्दर्य जगा है; जहाँ ऐसा मिलन सम्भव नहीं हुआ, वहाँ हम कृपणता और छोटापन देखते हैं। यह बात भी स्मरण रखनी होगी कि बर्बर अनार्यों की सामग्री ने भी एक दिन द्वार को खुला देखकर निःसंकोच आर्य-समाज में प्रवेश किया था। इस अनधिकृत प्रवेश का वेदनाबोध हमारे समाज ने दीर्घ काल तक अनुभव किया।

युद्ध बाहर का नहीं, शरीर के भीतर का था। अस्त्र ने शरीर के भीतर प्रवेश कर लिया; शत्रु घर के अन्दर पहुँच गया। आर्य-सभ्यता के लिए ब्राह्मण अब सब-कुछ हो गए। जिस तरह वेद अभ्रान्त धर्म-शास्त्र के रूप में समाज-स्थिति का सेतु बन गया, उसी तरह ब्राह्मण भी समाज में सर्वोच्च पूज्य पद ग्रहण करने की चेष्टा करने लगे। तत्कालीन पुराणों, इतिहासों और काव्यों में सर्वत्र यह चेष्टा प्रबल रूप से बार-बार व्यक्त हुई है जिससे हम समझ सकते हैं कि यह प्रतिकूलता के विरुद्ध प्रयास था, धारा के विपरीत दिशा में यात्रा थी। यदि हम ब्राह्मणों के इस प्रयास को किसी विशेष सम्प्रदाय का स्वार्थ-साधन और क्षमता-लाभ का प्रयत्न मानें, तो हम इतिहास को संकीर्ण और मिथ्या रूप में देखेंगे। यह प्रयास उस समय की संकट-ग्रस्त आर्य-जाति का आन्तरिक प्रयास था। आत्मरक्षा का उत्कट प्रयत्न था। उस समय समाज के सभी लोगों के मन में ब्राह्मणों का प्रभाव यदि अक्षुण्ण न होता तो चारों दिशाओं में टूटकर गिरने वाले मूल्यों को जोड़ने का कोई उपाय न रह जाता।

इस अवस्था में ब्राह्मणों के सामने दो काम थे—एक, पहले से चली आ रही धारा की रक्षा करना; और दूसरा, नूतन को उसके साथ मिलाना। जीवन-क्रम में ये दोनों काम अत्यन्त बाधाग्रस्त हो उठे थे, इसीलिए ब्राह्मणों की क्षमता और अधिकार को समाज ने इतना अधिक बढ़ाया। अनार्य देवता को वेद के प्राचीन मंच पर स्थान दिया गया। रुद्र की उपाधि ग्रहण करके शिव ने आर्य-देवताओं के समूह में पदार्पण किया। इस तरह भारतवर्ष में सामाजिक मिलन ने ब्रह्मा-विष्णु-महेश का रूप ग्रहण किया। ब्रह्मा में आर्य-समाज का आरम्भकाल था, विष्णु में

मध्याह्नकाल, और शिव में उसकी शेष परिणति।

यद्यपि शिव ने रुद्र के नाम से आर्य-समाज में प्रवेश किया, फिर भी उसमें आर्य और अनार्य दोनों मूर्तियाँ स्वतन्त्र हैं। आर्य के पक्ष से वह योगीश्वरी है—मदन को भस्म करके निर्वाण के आनन्द में मग्न। उसका दिग्वास संन्यासी के त्याग का लक्षण है। अनार्य के पक्ष से वह वीभत्स है—रक्तरंजित गजचर्मधारी, भाँग और धतूरे से उन्मत्त। आर्य के पक्ष से वह बुद्ध का प्रतिरूप है और इसलिए वह सर्वत्र बौद्ध मन्दिरों पर सहज ही अधिकार करता है। दूसरी ओर, वह भूत-प्रेत इत्यादि श्मशानचर विभीषिकाओं को, और सर्प-पूजा, वृषभ-पूजा, लिंग-पूजा और वृक्ष-पूजा को आत्मसात् करते हुए समाज के अन्तर्गत अनार्यों की सारी तामसिक उपासना को आश्रय देता है। एक ओर, प्रवृत्ति को शान्त करके निर्जन स्थान में ध्यान और जप द्वारा उसकी साधना की जाती है; दूसरी ओर, चड़क पूजा इत्यादि विधियों से अपने-आपको प्रमत्त करके, और शरीर को तरह-तरह के क्लेश में उत्तेजित करके, उसकी आराधना होती है। इस तरह आर्य-अनार्य की धाराएँ गंगा-जमुना की तरह एक हुईं; लेकिन उसके दो रंग एक-दूसरे के समीप होकर पृथक् रहे। वैष्णव धर्म में कृष्ण के नाम का आश्रय लेकर जो समस्त कथाएँ प्रविष्ट हुईं वे पाण्डव-सखा, भागवतधर्म-प्रवर्त्तक, वीर-श्रेष्ठ, द्वारकावासी श्रीकृष्ण की कथाएँ नहीं हैं। वैष्णव धर्म में एक ओर भगवद्गीता का विशुद्ध, उच्च धर्मतत्त्व है; दूसरी ओर, अनार्य ग्वालों में प्रचलित देवलीला की विचित्र कहानियाँ भी उसमें सम्मिलित हैं। शैव-धर्म का आश्रय लेकर जो चीज़ें इस धर्म में आईं वे निराभरण और दारुण हैं। उनकी शान्ति और महत्ता, उनकी अचल स्थिति और उनका उद्दाम नृत्य, दोनों ही विनाश के भावसूत्र में पिरोये हुए हैं। बाहर की ओर आसक्ति-बन्धनों का नाश; अन्दर की ओर 'एक' के बीच विलय—यही है आर्य सभ्यता का अद्वैत सूत्र, यही है 'नेति-नेति' का पक्ष। त्याग इसीका आभूषण है और श्मशान इसीका निवास-स्थान। वैष्णव धर्म का आश्रय लेकर जो लोक-प्रचलित पौराणिक कथाएँ आर्य-समाज में प्रतिष्ठित हुईं उनमें प्रेम, सौन्दर्य और यौवन की लीला है; प्रलय-पिनाक के स्थान पर बाँसुरी के स्वर हैं; भूत-प्रेत के स्थान पर वहाँ गोपियों का विलास है; वहाँ वृन्दावन का चिरवसन्त और स्वर्गलोक का चिरऐश्वर्य है। यही है आर्य सभ्यता का द्वैतसूत्र।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। आभीर-सम्प्रदाय-प्रचलित कृष्णकथा वैष्णव धर्म में जो घुल-मिल गई है उसका कारण यह है कि दोनों के परस्पर मिलन का एक सत्य-पथ था। नायक-नायिका सम्बन्ध को जीव और

भगवान् के सम्बन्ध का रूपक पृथ्वी के कई देशों में स्वीकार किया गया है। आर्य वैष्णव-भक्ति इस तत्त्व को अनार्य कथाओं के साथ मिलाकर उन समस्त कथाओं को एक उच्च सत्य के बीच परखा गया। अनार्यों के चित्त में जो केवल रस-मादकता के रूप में था उसे आर्यों ने सत्य के बीच प्रतिष्ठित करके देखा। वह विशेष जाति की एक विशेष पुराणकथा न रही। उसे सारे मानव-जाति के निरन्तन आध्यात्मिक सत्य का रूपक माना गया। आर्य और द्राविड़ के मिलन से हिन्दू सभ्यता में सत्य के साथ रूप का अद्‌भुत योग हुआ। यहाँ ज्ञान और रस, एकता और वैचित्र्य, आंतरिक रूप से संयुक्त हुए।

आर्य-समाज पितृशासनतन्त्र पर आधारित है, अनार्य समाज मातृ-शासनतन्त्र पर, इसीलिए वेदों में स्त्री देवताओं को प्राधान्य नहीं मिला है। अनार्यों के प्रभाव के साथ आर्य-समाज में स्त्री देवताओं का प्रादुर्भाव होने लगा। इस विषय में भी समाज में काफी विरोध उत्पन्न हुआ जैसा कि प्राकृत साहित्य में देखा जा सकता है। देवीतन्त्र में एक ओर हेमवती उमा की सुशोभना आर्य मूर्ति है, दूसरी ओर काली की विवसना, भीषण, कपालमंडित अनार्य मूर्ति है।

लेकिन अनार्यों के सभी आचारों, पूजा-पद्धतियों और कथाओं को आर्य-भाव के ऐक्यसूत्र में आद्योपान्त सम्मिलित करना किसी तरह सम्भव नहीं था। अनार्यों की सभी बातों को बचाते-बचाते बहुत-सी असंगतियाँ रह गईं। इन समस्त असंगतियों का समन्वय नहीं हुआ—केवल काल-क्रम से लोग उनके अभयस्त हो गए। इस अभ्यास के कारण असंगतियाँ साथ-साथ पड़ी रहीं और उनको मिलाने का प्रयोजन-बोध भी न रहा। धीरे-धीरे यह नीति समाज में प्रबल हुई कि जिसकी जैसी शक्ति और प्रवृत्ति हो वैसी ही पूजा और वैसे ही आचार वह ग्रहण करे। एक प्रकार से यह नीति पतवार को छोड़ देने की नीति थी। जब विरुद्ध चीज़ों को पास-पास रखना होता है, लेकिन उन्हें किसी तरह मिलाया नहीं जा सकता, तब ऐसी नीति के अलावा दूसरा उपाय नहीं रह जाता।

इस तरह बौद्ध-युग के अवसान के बाद समाज की नई-पुरानी सभी विच्छिन्न वस्तुओं को लेकर ब्राह्मण—जैसे भी उनसे बन पड़ा—उन्हें शृंखला-बद्ध करने लगे। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि शृंखला अत्यन्त कठोर बन जाती। जो चीज़ें वास्तव में स्वतन्त्र हैं, जो विविध जातियों और युगों की सामग्री हैं, उन्हें जब एक साथ बाँधा जाता है तब बन्धन को ज़ोर से कसना पड़ता है, क्योंकि जीव धर्म के नियमानुसार उन चीज़ों का अपने-आप योग-साधन नहीं होता।

भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक युग में जब आर्यों-अनार्यों का युद्ध हुआ तब दोनों पक्षों में प्रबल विरोध था। लेकिन इस प्रकार के विरोध में भी एक समकक्षता

होती है। मनुष्य जिसके साथ लड़ाई करता है उसके प्रति तीव्र द्वेष होने पर भी मन से उसकी अवज्ञा नहीं कर सकता। इसीलिए क्षत्रिय अनार्यों के साथ लड़ते रहे और उनकी ओर आकर्षित भी होते रहे। 'महाभारत' में क्षत्रियों के विवाहों की सूची देखने से यह बात स्पष्ट होती है।

लेकिन बाद में जब विरोध तीव्र हो उठा अनार्य बाहर के लोग नहीं रहे—वे घर के अन्दर आ गए थे। उनसे युद्ध करने के दिन बीत चुके थे। इस अवस्था में विद्वेष ने घृणा का रूप धारण किया। अब यही एक हथियार था। घृणा के द्वारा मनुष्य को केवल दूर हटाकर ही नहीं रखा जाता, बल्कि जिसके साथ घृणा की जाती है उसका मन भी छोटा हो जाता है। वह भी अपनी हीनता के संकोच से समाज में कुण्ठित होकर रहता है—जहाँ रहता है वहाँ कोई अधिकार नहीं जताता। इस तरह जब समाज का एक भाग अपना छोटापन स्वीकार करता है, और अन्य एक भाग अपने आधिपत्य के मार्ग में कोई बाधा नहीं पाता, तब नीचे के भाग की जितनी ही अवनति होती है उसी मात्रा में ऊपर का भाग भी गिर जाता है। भारतवर्ष में आत्म-प्रसारण के युग में जो अनार्य-विद्वेष था उसमें और आत्म-संकोचन के युग के विद्वेष में बहुत अन्तर था। पहले विद्वेष में मनुष्यत्व समतल भूमि पर खड़ा था, दूसरे विद्वेष में मनुष्यत्व नीचे गिरा। जिसको हम मारते हैं वह यदि पलटकर आघात करे तो इसमें मनुष्यत्व का मंगल है, लेकिन वह यदि चुपचाप आघात वहन करे तो इसमें दुर्गति है। वेदों में अनार्यों के प्रति जो विद्वेष व्यक्त हुआ है उसमें हम पौरुष देखते हैं; मनुसंहिता में शूद्रों के प्रति जो अन्याय और निष्ठुर अवज्ञा देखी जाती है उसमें कायरता के लक्षण हैं। मनुष्य के इतिहास में सर्वत्र यही होता आया है। जहाँ कोई एक पक्ष सम्पूर्ण रूप से प्रभुत्व प्राप्त करता है, जहाँ उसके समकक्ष या प्रतिपक्ष में कोई नहीं होता, वहाँ बन्धन तैयार होते हैं। वहाँ एकेश्वर प्रभु अपने प्रताप को चारों ओर सम्पूर्ण निर्बाध रूप से फैलाना चाहता है, और इसी क्रिया में वह प्रताप नीचे झुक जाता है। वास्तव में मनुष्य जहाँ मनुष्य को घृणा करने का अप्रतिहत अधिकार पाता है वहाँ घृणा का मादक विष उनकी प्रकृति में प्रवेश करता है। ऐसा निदारुण विष मनुष्य के लिए दूसरा कोई नहीं हो सकता। आर्य और अनार्य, ब्राह्मण और शूद्र, योरोपीय और एशियायी, अमरिकी और नीग्रो—जहाँ कहीं भी यह दुर्घटना घटी है वहाँ दोनों पक्षों की कापुरुषता ने राशिभूत होकर मनुष्य का सर्वनाश किया है। इस भयंकर घृणा से तो शत्रुता श्रेयस्कर है। ब्राह्मणों ने एक दिन सारे भारतीय समाज पर एकाधिपत्य प्राप्त किया और सबको समाज-विधि के कठिन बन्धन में बाँधा। इतिहास में स्वाभाविक रूप से ही आत्यन्तिक प्रसारण के युग के

बाद आत्यन्तिक संकोचन का युग आया।

पहले किसी दिन समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दो ही शक्तियाँ थीं। इन दो विरोधी शक्तियों के योग से समाज की गति मध्यम पथ पर नियन्त्रित होती थी। लेकिन अब समाज में क्षत्रिय शक्ति न रही। अनार्य शक्ति ब्राह्मण-शक्ति की प्रतियोगिता में खड़ी न हो सकी। ब्राह्मणों ने उसे उपेक्षापूर्वक स्वीकार किया और अपना जयस्तम्भ स्थापित किया।

इधर जिस वीर जाति ने बाहर से आकर 'राजपूत' के नाम से भारत के प्राय: सभी सिंहासनों पर अधिकार किया उन्हें भी ब्राह्मणों ने अन्य अनार्यों की तरह स्वीकार करके एक कृत्रिम क्षत्रिय जाति का निर्माण किया। ये क्षत्रिय बुद्धि प्रकृति में ब्राह्मणों के समकक्ष नहीं थे। प्राचीन आर्य क्षत्रियों की तरह वे समाज के सृष्टि-कार्य में अपनी प्रतिभा का प्रयोग न कर सके। केवल साहस और बाहु-बल से ब्राह्मण-शक्ति के सहायक और अनुवर्ती होकर बन्धनों को दृढ़ करने में ही उन्होंने योग दिया।

ऐसी अवस्था में समाज का सन्तुलन ठीक नहीं रह सकता। आत्म-प्रसार का पथ अवरुद्ध हो जाता है। आत्म-रक्षण-शक्ति समाज को जकड़कर संकुचन की दिशा में ले जाती है। देश की प्रतिभा को स्फूर्ति नहीं मिल सकती। समाज का यह बन्धन एक कृत्रिम पदार्थ होता है; इस तरह रस्सी से बाँधकर उसका कलेवर संघटित नहीं हो सकता। देश में केवल वंशानुक्रम से सामयिक धर्म जीवित रहता है और जीवन-धर्म का ह्रास होता है। ऐसा देश चिन्ता और कर्म के क्षेत्रों में अयोग्य होकर सभी तरह से पराधीनता के लिए प्रस्तुत होता है। आर्य इतिहास के प्रथम युगों में, जब सामाजिक अभ्यास-प्रवणता बाहर की चीजों को जमा करके पथ को अवरुद्ध कर रही थी, समाज की चित्त-वृत्ति ने ऐक्य-पथ का सन्धान किया और 'बहु' की बाधाओं से अपने-आपको मुक्त किया। आज फिर समाज में ऐसा ही दिन आ गया है। आज ब्राह्य वस्तुएँ और भी अधिक हैं, और भी असंगत हैं। वे हमारे देश के चित्त को भारग्रस्त कर रही हैं। समाज में बहुत दिनों से रक्षण-शक्ति का ही आधिपत्य रहा है। वह प्रत्येक वस्तु को बचाना चाहती है, जो टूट रहा है उसको जमा करती है, जो उड़ना चाहता है उसे पकड़कर रखती है। देश की जीवन-गति को अभ्यास का जड़ संचय रोकता है। वह मनुष्य के चिन्तन को संकीर्ण और कर्म को अवरुद्ध करता है। इस दुर्गति से हमें बचाने के लिए आज के दिन ऐसी चित्त-शक्ति की आवश्यकता है जो जटिलता के बीच से सरल को, बाह्यकता के बीच से आन्तरिकता को और विच्छिन्नता के बीच से एक को मुक्त करके बाहर निकाल सके। लेकिन हमारे दुर्भाग्य से समाज ने चित्त-

शक्ति को ही अपराधी ठहराकर हज़ारों जंजीरों से बाँधकर कारागृह में बन्द कर दिया।

फिर भी यह बद्ध चित्त बिलकुल ही चुपचाप नहीं रह सकता। समाज के आत्म-संकुचन और अचैतन्य के बीच उसके आत्मप्रसारण की उद्बोधन-चेष्टा बराबर जारी रहती है। भारत के मध्य युग में इस बात के दृष्टान्त देखे गए हैं। नानक, कबीर प्रभृति उपदेशकों ने इसी चेष्टा को रूप दिया है। कबीर की जीवनी और रचनाओं में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उन्होंने भारत की समस्त बाह्य आवर्जना का अतिक्रमण करते हुए उसके अंतःकरण की श्रेष्ठ सामग्री को ही सत्य-साधना समझकर उपलब्ध किया था। इसीलिए कबीर के अनुयायियों को विशेष रूप से 'भारतपंथी' कहा गया है। उन्होंने ध्यान योग से स्पष्ट देखा था कि बिखराव और असंलग्नता के बीच भारत किसी निभृत सत्य पर प्रतिष्ठित है। मध्ययुग में एक के वाद एक कबीर-जैसे आचार्यों का अभ्युदय हुआ। जो बोझ भारी हो उठा था उसे हल्का करना ही उनका एक-मात्र प्रयास था। लोकाचार, शास्त्र-विधि और अभ्यास के रुद्ध द्वार पर आघात करके उन्होंने भारत को जगाने का प्रयत्न किया।

उस युग का अभी अवसान नहीं हुआ है। वही प्रयास अब भी चल रहा है। उसे कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि भारत के इतिहास में प्राचीन काल से यही देखा गया है कि उसके चित्त ने जड़त्व के विरुद्ध लगातार युद्ध किया है। भारत की समस्त श्रेष्ठ सम्पदा—उसके उपनिषद्, उसकी गीता, उसका विश्व-प्रेम-मूलक बौद्ध धर्म—इसी महायुद्ध की जयलब्ध सामग्री हैं। उसके श्रीकृष्ण और रामचन्द्र इसी महायुद्ध के अधिनायक हैं। ऐसा मुक्तिप्रिय भारतवर्ष दीर्घकाल के जड़त्व का बोझ सिर पर लेकर एक ही स्थान पर शताब्दियों तक निश्चल पड़ा रहेगा, यह बात प्रकृतिगत नहीं है। जड़त्व का यह बोझ उसके शरीर का अंग नहीं है, इसमें उनके जीवन का आनन्द नहीं है—यह एक बाह्य वस्तु है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ, 'बहुत्व' के बीच अपने-आपको बिखराना भारतवर्ष का स्वभाव नहीं है। वह 'एक' को प्राप्त करना चाहता है; इसलिए बाहुल्य को एकत्र में संयत करना ही उसकी साधना है। भारत की अन्तरतम सत्य प्रकृति स्वयं उसे निरर्थक वाहुल्य के भीषण योग से बचाएगी। उसके इतिहास ने पथ को चाहे जितना बाधाग्रस्त कर रखा हो, उसकी प्रतिभा अपनी शक्ति से इस कठिन विघ्न-व्यूह को भेदकर बाहर निकलेगी। जितनी बड़ी समस्या है, उतनी ही बड़ी उसकी तपस्या होगी।

ज़ो युग-युग से जमा होता आया है उसीके बीच डूबना भारत की चिर-

साधना के विरुद्ध है—ऐसा करके भारत हार नहीं मानेगा। इस तरह हार मानना मृत्यु का पथ है। जो जहाँ आकर बैठे वहीं अगर डटा रहे तो उसके कारण असुविधा तो सहनी पड़ती है, ऊपर से उसे खिलाना-पिलाना भी पड़ता है। देश की शक्ति परिमित होती है। यदि वह कहे : 'जो कुछ भी है और जो कोई भी आता है सभी का मैं निर्विचार पालन-पोषण करूँगा,' तो इस तरह के रक्त-शोषण से उसकी शक्ति का क्षय होना अनिवार्य है। जो समाज निकृष्ट का भरण-पोषण करता है वह किसी सीमा तक उत्कृष्ट को उपवासी रखता है। मूढ़ के लिए मूढ़ता, दुर्बल के लिए दुर्बलता, अनार्य के लिए वीभत्सता, सभी की रक्षा करना समाज का कर्तव्य है—इस तरह की बातें सुनने में बुरी नहीं लगतीं, लेकिन देश के प्राण-भण्डार से जब उसके लिए निर्वाह की सामग्री देनी पड़ती है तो देश में जो कुछ श्रेष्ठ है उसका हिस्सा कम हो जाता है। इससे देश की बुद्धि दुर्बल और वीर्य मृतप्राय हो जाता है। नीच के प्रति प्रश्रय उच्च के प्रति वञ्चना है। इसे औदार्य कभी नहीं कहा जा सकता। यह तामसिकता है, और तामसिकता भारत की सत्य सामग्री नहीं है।

दुर्दिन के घोर अन्धकार में भी भारत ने तामसिकता के सामने आत्म-समर्पण नहीं किया। दुःस्वप्नों के भार ने जब कभी उसके सीने पर बैठकर उसकी साँस रोकनी चाही, तब उस भार को दूर हटाकर सरल सत्य के बीच जाग उठने का प्रयत्न उसके चैतन्य ने अभिभूत दिशा में भी सर्वदा किया है। आज हम जिस युग के बीच से गुज़र रहे हैं उसे बाह्य रूप से स्पष्ट नहीं देख सकते। फिर भी हम अनुभव करते हैं कि भारतवर्ष अपने सत्य को, अपने 'एक' को, अपने सामंजस्य को फिर से प्राप्त करने के लिए उद्यत है। नदी को कितने ही बाँधों से रोक दिया गया था, दीर्घ काल तक उसकी धारा रुक गयी थी—आज प्राचीर टूट चुकी है, स्थिर जल का महासमुद्र के साथ फिर से सम्पर्क हो रहा है, विश्व का ज्वारभाटा फिर से हमें स्पर्श कर रहा है। हम देखते हैं कि हमारे समस्त नये उद्योग सजीव, हृत्पिंड-चालित रक्त-स्रोत की तरह कभी विश्व की ओर झुकते हैं, कभी अपनी ओर वापस लौटते हैं। कभी अन्तर्राष्ट्रीयता हमारे प्रयास को घर छोड़कर बाहर निकलने को उद्यत करती है, तो कभी राष्ट्रीयता उसे वापस घर पहुँचाती है। कभी वह सर्वत्व के प्रति लोभ करके निजत्व का त्याग करना चाहता है; कभी वह देखता है कि ऐसा करने से निजत्व तो छूट जाता है लेकिन सर्वत्व प्राप्त नहीं होता। वास्तव में जीवन-कार्य आरम्भ होने के यही लक्षण हैं। इसी तरह दोनों ओर से धक्के खाकर बीच का सत्य-पथ हमारे राष्ट्रीय जीवन में स्पष्ट रूप से चिह्नित होगा और हम यह बात समझ सकेंगे कि अपने देश में सर्व देशों को और

सर्व देशों के बीच ही अपने देश को सत्य रूप से प्राप्त किया जा सकता है। और तभी हमें इस बात का निश्चित ज्ञान होगा कि अपने को त्याग करके दूसरों की चाहना जिस तरह निष्फल भिक्षुकता है उसी तरह दूसरों का त्याग करके अपने को संकुचित करना दारिद्र्य है, चरम दुर्गति है।

[वाई० एम० सी० ए० ओवर्टून हाल, कलकत्ता में १६ मार्च, १६१२ को पठित। 'प्रवासी' (वैशाख, १३१६ बँगला संवत्) अप्रैल, १६१२ में प्रकाशित। जुलाई, १६१६ में 'परिचय' पुस्तक में समाविष्ट।]

तृतीय खण्ड

धर्म और दर्शन

ततः किम् ?

पशु-पक्षियों की शिक्षा तभी पूरी हो जाती है जब वे खाद्य-सामग्री एकत्रित करना और अपने प्राणों की रक्षा करना सीख लेते हैं। बस, इन्हीं दो बातों से वे जीवन-लीला सम्पन्न करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। लेकिन मनुष्य केवल जीव नहीं, वह सामाजिक जीव है। जीवन-निर्वाह के साथ-ही-साथ उसे सामाजिक दायित्व पूर्ण करने के लिए भी तैयार रहना पड़ता है। पर 'सामाजिक जीव' कहने से भी मनुष्य की व्याख्या पूरी नहीं होती। उसे आत्मा के रूप में देखें तो केवल समाज में उसकी परिपूर्ति नहीं मिलती। जिन्होंने मनुष्य का यह रूप भी देखा है उन्होंने कहा है : 'आत्मानं विद्धि', आत्मा को जानो। आत्मानुभूति को ही उन्होंने मानव-जीवन की चरम सिद्धि माना है।

सोपान में नीचे की सीढ़ियाँ ऊपरी सीढ़ियों के अनुगत होती हैं। एक सामाजिक व्यक्ति का जीवन-क्रम उसके समाज-धर्म का अनुवर्ती होता है। भूख लगते ही खाना जैविक प्रवृत्ति है, लेकिन सामाजिक जीव के लिए ज़रूरी हो जाता है कि वह इस आदिम प्रवृत्ति को नियंत्रित करे। सामाजिक जीवन में भूख-प्यास की किसी हद तक उपेक्षा करना ही 'धर्म' है। यहाँ तक कि समाज के लिए प्राण त्याग देना—जो कि जीव-धर्म के विरुद्ध है—धर्म समझा जाता है। जीव-प्रकृति को संयत करके उसे समाज-प्रकृति के अनुकूल बनाना ही सामाजिक प्राणी की शिक्षा का प्रधान कार्य है।

लेकिन जिन्हें मानव-सत्य को इससे भी अधिक विस्तृत और परिपूर्ण रूप में अनुभव करना है वे जीव-धर्म और समाज धर्म दोनों को ही आत्मोपलब्धि के अधीन समझते हैं, और इसी साधना को शिक्षा का नाम देते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उनके लिए आत्मा की मुक्ति ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, जीव-निर्वाह और सामाजिक सुरक्षा के सभी लक्ष्य इसके अनुवर्ती हैं। निष्कर्ष यह निकला कि 'मनुष्य' का हम जैसा अर्थ लगाते हैं उसी के अनुसार शिक्षा प्रवर्त्तन करते हैं, क्योंकि वास्तव में मनुष्य को मनुष्य बनाने का काम ही शिक्षा है।

प्राचीन संहिताओं में शिक्षा का जो आदर्श सामने आता है वह कब से और किस सीमा तक प्रत्यक्ष रूप में प्रचलित हुआ, इस प्रश्न का ऐतिहासिक विवेचन

यहाँ सम्भव नहीं है। लेकिन हम यह अवश्य कह सकते हैं कि तत्कालीन समाज-निर्देशकों ने शिक्षा का कौन-सा उद्देश्य अपनाया था, वे 'मनुष्य' को क्या समझते थे और उसे योग्य बनाने के लिए किन उपायों को उचित मानते थे ?

मध्ययुगीन योरोप के सन्तों ने वैराग्यधर्म का प्रचार किया। इस धर्म का मूल सूत्र था : 'संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है, संमार असार है, अपवित्र है, उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।' आज योरोपीय विचारकों का दृष्टिकोण बिलकुल दूसरा है। अब वे कहते हैं कि 'संसार में कुछ नहीं' कहकर प्रवृत्ति-निवृत्ति में देव-दानव-जैसा विरोध स्थापित करना मनुष्य को छोटा बनाना है। संसार की भलाई सांसारिक जीवन का चरम लक्ष्य है। यही धर्मनीति है। इस धर्मनीति को सशक्त रूप से आश्रय देना हो तो दुनिया को माया कहकर उड़ाया नहीं जा सकता। संसार-क्षेत्र में ज़िन्दगी के आख़िरी दम तक पूरी ताक़त से काम करते रहना ही पुरुषार्थ है। काम करते-करते जीवन-लीला समाप्त करना—'जुते हुए घोड़े की अवस्था में मरना'—योरोपीय समाज में गौरव का विषय माना जाता है।

'मृत्यु अनिवार्य है', 'संसार अशाश्वत है' इस प्रकार की बातों को भुलाकर योरोपीय जातियों ने संसार के साथ स्थायी सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है, और निःसन्देह इन प्रयत्नों के बीच उन्होंने एक विशेष प्रकार की शक्ति प्राप्त की है। इसके विपरीत जो मनोवृत्ति है उसे वे 'मॉर्बिड' अर्थात् रुग्ण मन की अवस्था कहते हैं। उनकी शिक्षा का उद्देश्य छात्र को इस तरह से 'आदमी बनाना' है जिससे वह आजीवन संसार की कर्मभूमि में प्राणपण से संघर्ष कर सके। जीवन को वे संग्राम मानते हैं। विज्ञान भी उन्हें यही सिखाता है कि संसार में वही टिक सकते हैं जो जीविका की लड़ाई में विजयी होते हैं। उनकी मुट्ठियाँ मज़बूत और तनी हुई रहती हैं। खींच-तानकर, चारों ओर से सँभालकर, हर चीज़ को दसों उँगलियों से कसकर पकड़ रखना भी वे खूब जानते हैं। 'पृथ्वी को किसी भी हालत में हम छोड़ेंगे नहीं', इस बात को ज़ोर से घोषित करते हुए ज़मीन में दांत गाड़कर मर जाना ही उनके यहाँ वीरोचित मृत्यु कहलाती है। 'सब-कुछ जानेंगे, सब-कुछ रखेंगे'—यही उनका प्रण है, और इस प्रण को निभाने की शिक्षा ही उनकी शिक्षा है।

इसके विपरीत भारत कहता आया है : 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म-माचरेत्'—मौत ने चोटी से पकड़ रखा है यह ध्यान में रखते हुए धर्म पर चलो। हम यह नहीं कहते कि योरोपीय सन्तों ने ऐसा विचार कभी व्यक्त नहीं किया। संसार में लीन लोगों को डराने के लिए उन्होंने भी मृत्यु की विभीषिका खड़ी की थी। यहाँ तक कि योरोपीय साहित्य और चित्र-कला में भी यह विभीषिका हमारे

सामने आती है। फिर भी हमारी प्राचीन संहिताओं में जो भाव है उसमें एक विशेषता है, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे।

'संसार के साथ हमारा सम्बन्ध अमिट और स्थायी है', ऐसा समझकर काम करने से परिणाम अच्छा होता है या बुरा, यह सवाल तो बाद में उठता है। पहले तो यह देखना है कि यह कथन ही बिलकुल ग़लत है। सच तो यह है कि संसार में हमारे सभी सम्बन्धों का अवसान हो जाता है। काम निकालने के लिए ज़बरदस्ती सत्य को मिथ्या कहें—और वह भी कटु भाषा का प्रयोग करते हुए—तो कुछ दिन प्रयोग-सिद्धि हो सकती है। लेकिन सोने का राजदंड भी—जिसे राजा दुनिया की सबसे मूल्यवान वस्तु समझता है—एक दिन हाथ से गिरकर मिट्टी में मिल सकता है। जो व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठा-लाभ करने को ही अपना चरम लक्ष्य मानता है वह भी, सारी चेष्टाओं को शेष करके, आखिर समाज को छोड़कर अकेला ही जाता है। बड़ी-बड़ी कीर्तियाँ खाक में मिल जाती हैं। बड़े-बड़े राष्ट्र भी सहसा दीप बुझाकर उन्नति के रंगमंच से विदा लेते हैं। ये सब बातें जितनी पुरानी हैं उतनी ही सच हैं। सभी सम्बन्ध खत्म हो जाते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि ख़त्म होने से पहले भी उन्हें अस्वीकार किया जाय। अवसान के बाद जो मिथ्या है वह अवसान के पहले वास्तव है। जिस मात्रा में जो चीज़ सत्य है उस मात्रा में उसे हमें मानना होगा। हम न मानें तो वह चीज़ ज़बरदस्ती अपने-आपको मनवा लेगी और एक दिन व्याज सहित हमसे बदला लेगी।

विद्यार्थी हमेशा पढ़ते ही नहीं रहते। एक दिन पढ़ाई ख़त्म हो जाती है। लेकिन जब तक छात्र विद्यालय में है उसे पढ़ाई को यथार्थ रूप में स्वीकार करना है। तभी पढ़ाई की समाप्ति सार्थक होगी और विद्यालय से निष्कृति उसके लिए सम्पूर्ण होगी। यदि वह बीच में ही निकल पड़े तो सदा के लिए उसे अपनी अधूरी विद्या का फल भोगना होगा। यह सच है कि पथ गन्तव्य-स्थान नहीं है, पथ का अन्त ही हमारा लक्ष्य है। लेकिन पहले पथ को बिना भोगे उसकी समाप्ति तो असम्भव है। इस तरह हम देखते हैं कि जगत् के सम्बन्धों का नाश नहीं किया जा सकता। उसके बीच से निकलकर उनको पार अवश्य किया जा सकता है। सभी सम्बन्धों का जो मिलन-बिन्दु है वहाँ तक पहुँचा जा सकता है। ठीक तरह से सम्बन्धों के बीच निकलते हुए पार होना ही साधना है। किसी भी सम्बन्ध के विषय में 'इसकी क्या हस्ती है!' कहकर उससे विमुख होना साधना नहीं है। यदि हम वैराग्यवश पथ को त्याग दें तो बार-बार विपथ में चक्कर काटते फिरेंगे।

महाकवि गेटे ने 'फाउस्ट' में एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जो मानवीय

प्रकृति को असन्तुष्ट रखकर, दुनिया में क्रीड़ा-स्थल से ऊपर उठकर एकान्त में ज्ञानार्जन के लिए प्रवृत्त होता है। यह व्यक्ति आखिर संसार की धूल में पछाड़ खाकर गिर जाता है और कठोर अनुभव झेलता है। मुक्ति के लिए व्यर्थ का लोभ करके हम जितना ही अपनी प्रकृति को धोखा देंगे उतना ही हमें मूल्य चुकाना होगा, और धोखा देने के लिए दण्ड भोगना पड़ेगा सो अलग। अधिक जल्दबाज़ी करने से और भी अधिक विलम्ब हो जाता है!

वस्तु को अपनाना, और वस्तु को छोड़ देना, दोनों में ही सत्य है। ये दोनों सत्य एक-दूसरे पर निर्भर हैं, और दोनों को यथार्थ रूप से मिलाकर ही पूर्णता-लाभ सम्भव है। शंकर त्याग की मूर्ति है, अन्नपूर्णा भोग की—जब दोनों मिलकर एकांग हो जाते हैं तभी पूर्णता के आनन्द की सृष्टि होती है। जीवन में जहाँ भी शिव और दुर्गा का विच्छेद है, अनुराग और विराग में विरोध है, जहाँ भी बन्धन और मुक्ति की साथ-साथ प्रतिष्ठा नहीं हुई, वहीं तरह-तरह की अशान्ति है, निरानन्द है। वहीं हम केवल ग्रहण करना चाहते हैं, दान करना नहीं चाहते। वहीं हम प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर खींचते हैं, दूसरों की ओर देखते तक नहीं। वहीं हम भोग्य वस्तु का अवसान नहीं समझते, और यदि समझते भी हैं तो विधाता को धिक्कारते हैं, भोग्य वस्तु के लिए शोक करते हैं। वहीं हमारे कर्म में प्रतियोगिता और धर्म में विद्वेष होता है। वहीं ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी चीज़ स्वाभाविक ढंग से अपने परिणाम तक नहीं पहुँचती, बल्कि मृत्यु और अपघात में ही प्रत्येक वस्तु का अचानक विलोप होता है।

कुछ देर के लिए हम भी योरोपीयों की तरह मान लें कि 'जीवन युद्ध है।' लेकिन इस युद्ध में यदि हम केवल व्यूह-प्रवेश की कला सीखें, व्यूह से निकलने के कौशल से अनभिज्ञ रहें, तो सप्तरथी हमें घेरकर मार डालेंगे। इस तरह की मृत्यु बहादुरी की द्योतक हो सकती है, लेकिन उसे विजय तो नहीं कहा जायगा। दूसरी ओर वे लोग हैं जो व्यूह में प्रवेश करने से ही इन्कार करते हैं। उनके भाग्य में वीरगति नहीं है। वास्तव में व्यूह-प्रवेश और व्यूह से निष्क्रमण दोनों के द्वारा जीवन सार्थक बनाया जा सकता है।

प्राचीन संहिताकारों ने हर-गौरी को 'अभेदांग' रूप में दिखाने का यत्न किया था। उन्होंने समाज को शुरू से आखिर तक एक महान सामंजस्य के आधार पर गढ़ने की चेष्टा की थी—एक ऐसा सामंजस्य, जिसमें ग्रहण और वर्जन, आकर्षण और विमुखता, केन्द्रानुग प्रवृत्ति और केन्द्रातिग प्रवृत्ति, स्त्रीभाव और पुरुषभाव, इन सबके सन्तुलन से विश्वचराचर सत्य और सुन्दर हो उठे। शिव और शक्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति के मंगल में ही समाज का मंगल है। शिव और शक्ति

का विरोध ही समाज के समस्त अमंगल का कारण है यह भी उन्होंने समझा था।

यदि इस सामंजस्य का आश्रय लेना है तो सबसे पहले हमें देखना होगा मनुष्य का सच्चा रूप। किसी विशेष प्रयोजन के पक्ष से मनुष्य को देखने से काम नहीं चलेगा। यदि हम आम के फल को इस दृष्टिकोण से देखें कि उससे खटाई किस तरह मिल सकती है, तो आम का समग्र रूप हमारे सामने नहीं आता—बल्कि हम उसे कच्चा ही तोड़कर गुठली को नष्ट कर देते हैं। पेड़ को यदि हम केवल ईंधन के रूप में देखें तो उसके फल-फूल-पत्तों में हमें कोई तात्पर्य नहीं दीख पड़ेगा। इसी तरह यदि मनुष्य को हम राज्य-रक्षा का साधन समझेंगे तो उसे सैनिक बना देंगे। यदि व्यक्ति को जातीय समृद्धि का उपाय-मात्र समझें तो उसे वणिक बनाने का प्रयत्न करेंगे। अपने संस्कारों के अनुसार जिस गुण को हम सबसे अधिक मूल्य प्रदान करते हैं उसी के उपकरण के रूप में मनुष्य को देखकर उस गुण से सम्बन्धित प्रयोजन-साधना को ही हम मानव-जीवन की सार्थकता समझने लगते हैं। यह दृष्टिकोण बिलकुल ही बेकार हो, ऐसी बात नहीं। लेकिन अन्त में इससे सामंजस्य नष्ट होकर अहित ही हमारे पल्ले पड़ता है। जिसे हम तारा समझकर आकाश में उड़ाते हैं वह कुछ देर तक तारे की तरह चमकने के बाद जलकर खाक हो जाता है और ज़मीन पर आ गिरता है।

किसी समय हमारे देश में मनुष्य को सारे प्रयोजनों से बहुत ऊँचा समझा जाता था। चाणक्य के एक प्रसिद्ध श्लोक में इस भाव का परिचय मिलता है :

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्।।

आत्मा महान् है। कुल से, ग्राम से, देश से, सारी पृथ्वी से भी उसका मूल्य अधिक है। देश-काल पर निर्भर सारे प्रयोजनों से अलग करके मानव-आत्मा को विशुद्ध और विराट् रूप में देखना होगा। तभी संसार के समस्त तात्पर्यों के साथ उसका सत्य सम्बन्ध, और प्रत्यक्ष जीवन में उसका यथार्थ स्थान निर्धारित किया जा सकता है। भारतवर्ष में किसी समय ऐसा किया गया था। शास्त्रकारों ने मानव-आत्मा को अत्यन्त विशाल रूप में देखा था। मनुष्य-जीवन की संभावनाएँ अनन्त हैं, ब्रह्म में ही उनकी समाप्ति है। मनुष्य को हम नागरिक—'सिटिज़न'—के रूप में भी देख सकते हैं, पर कहाँ नगर और कहाँ 'वह!' मनुष्य देश-भक्त—'पैट्रियट'—की हैसियत से भी हमारे सामने आता है, लेकिन देश में भला मानव का कहीं अन्त मिलता है? देश तो जलबिम्ब है। और सारी दुनिया ही ऐसी कौन-सी बड़ी चीज़ है? राजा भर्तृहरि कहते हैं :

प्राप्त: श्रिय: सकलकामदुघास्तत: किम्,
न्यस्तं पदं शिरसिविद्विषतां तत: किम् ।
सम्पादिता: प्रणयिनो विभवैस्तत: किम्,
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्तत: किम् ।।

समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली लक्ष्मी को ही यदि प्राप्त कर लिया तो उससे क्या हुआ ? दुश्मनों का सिर पैरों तले कुचल भी दिया तो उससे क्या ? सम्पत्ति के ज़ोर से बहुत सारे दोस्त ज़ोड़ लिये तो क्या हुआ ? शरीर को कल्पकाल तक बनाये रखा तो उससे क्या ?

मतलब यह कि इन सब काम्य विषयों के बीच मनुष्य को छोटे रूप में देखा गया, पर मनुष्य इनसे कहीं बड़ा है। जीवन को पूर्णता के पथ पर चलने के लिए जो ज्ञान चाहिए वह तो तभी मिल सकता है जब हम मानव के सबसे बड़े सत्य को स्मरण रखें—उस सत्य को जो अनादि से अनन्त की ओर उन्मुख है। मनुष्य को यदि हम केवल सांसारिक जीव ही मान लें तो उसे दुनिया के प्रयोजनों में जकड़कर ही देखेंगे। उसके सत्य को काट-छाँटकर छोटा बना देंगे।

भारत में जीवन-यात्रा का आदर्श यदि योरोपीय आदर्श से बिलकुल स्वतन्त्र रहा है तो वह इसीलिए कि यहाँ के मनीषियों ने मानव-आत्मा को बहुत बड़े रूप में देखा। ज़िन्दगी की आखिरी घड़ी तक काम में पिसते रहने और उसी हालत में मर जाने को ही उन्होंने गौरव का विषय नहीं समझा। उनके लिए कर्म अन्तिम लक्ष्य नहीं था, वल्कि कर्म द्वारा कर्म-क्षय को ही वे साधना का विषय मानते थे।

योरोप में सर्वदा स्वाधीनता का स्तुति-गान गाया जाता है। योरोपवासियों के लिए इस स्वाधीनता का अर्थ है खाने-पीने की आज़ादी, उपभोग की आज़ादी, काम करने की आजादी। माना कि यह स्वाधीनता भी कोई उपेक्षणीय वस्तु नहीं है, इसकी रक्षा करने के लिए भी बड़ी शक्ति और काफ़ी सोच-विचार की आवश्यकता है। लेकिन प्राचीन भारत ने इसके प्रति औदासीन्य व्यक्त करते हुए कहा 'तत: किम् !' इस स्वाधीनता को भारतवर्ष ने वास्तविक स्वाधीनता नहीं माना। कामना से ऊपर उठकर—कर्म से भी ऊपर उठकर—स्वाधीन होने का आदर्श हमारे देश में था।

'हम स्वाधीन हो गए' कहने से ही तो स्वाधीन नहीं हुआ जा सकता। नियम या 'अधीनता' के बीच से गुज़रे बिना स्वाधीन होना सम्भव नहीं हैं। राष्ट्रीय आज़ादी को यदि हम बहुत बड़ी बात समझें, तो भी सैनिक की हैसियत से, या वणिक् की हैसियत से, हम अधीन रहेंगे। कुछ विदेशी राष्ट्रों के पास

लाखों सैनिक हैं। क्या वे सचमुच स्वाधीन हैं ? वे तो साँस लेने वाले तोप-बन्दूक मात्र हैं। मनुष्यत्व वहाँ मनुष्य के संहार की मशीन बन गया है। वहाँ के लक्षावधि मज़दूर अँधेरी खानों में, कारखानों की धधकती भट्टियों में, राज्यश्री के पैरों में अपने खून का महावर लगा रहे हैं। क्या उन्हें हम स्वाधीन कहेंगे ? वे तो एक बहुत बड़े निर्जीव यन्त्र के छोटे-छोटे सजीव पुर्ज़े हैं। योरोप और अमरीका में स्वाधीनता के वास्तविक फल का उपभोग कितने लोग कर पाते हैं ? ऐसा होते हुए स्वाधीनता कैसी ? व्यक्ति-स्वातन्त्र्य वहाँ साधना का विषय हो सकता है, लेकिन व्यक्ति जितना योरोप में परतंत्र है उतना और भी कहीं है ? यहाँ हमें एक ऐसी बात कहनी पड़ेगी जो स्वगत-विरोधी जान पड़ती है। परतंत्रता के भीतर ही वह मार्ग है जिस पर चलकर स्वाधीनता पदार्पण करती है। तिजारत में हम जितने बड़े मुनाफ़े की उम्मीद करते हैं उतनी ही बड़ी पूँजी भी हमें लगानी पड़ती है। रक़म कुछ न लगे और मुनाफ़ा मिलता रहे, यह नहीं हो सकता। स्वाधीनता भी कुछ ऐसी ही चीज़ है। परतंत्रता की विपुल पूँजी लगाकर ही इसे कमाया जा सकता है। शुरू से आखिर तक लाभ-ही-लाभ हो, आदि से अन्त तक स्वाधीनता-ही-स्वाधीनता हो, यह तो असम्भव बात है।

हमारे देश में भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य को साधना का विषय समझा गया था, लेकिन उस स्वातन्त्र्य को संकीर्ण अर्थ में नहीं लिया गया। हमारी परम्परा में स्वाधीनता का अर्थ सीधा आत्मा की मुक्ति से जा लगा है। भारत ने इस बात का यत्न किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को दैनंदिन जीवन के बीच, सामाजिक बन्धनों के होते हुए भी, मुक्ति का अधिकार मिले। योरोप में जिस तरह कठोर पराधीनता के भीतर से स्वाधीनता विकसित हो रही है, वैसे ही हमारे देश में भी नियम-संयम के कठिन सम्बन्धों के बीच मुक्ति के उपाय की ओर संकेत किया गया। यदि हम केवल संयम को ही देखें, और मुक्ति के परिणाम को मूल लक्ष्य से अलग कर दें, तब तो सचमुच हमें यह कहना होगा कि भारत में व्यक्ति स्वातंत्र्य को महत्त्व नहीं प्रदान किया गया।

सच तो यह है कि जब किसी देश की दुर्गति के दिन आ जाते हैं तब वह देश मुख्य वस्तु को खो देता है और गौण वस्तुओं के जंजाल में घिर जाता है। पक्षी उड़ जाता है, केवल पिंजरा पड़ा रह जाता है। हमारे देश में यही हुआ है। तरह-तरह के बन्धनों को तो हम आज भी पहले की तरह स्वीकार करते हैं, लेकिन उनके परिणाम की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। मुक्ति की साधना हमारे मन में है, लेकिन हृदय की इच्छाओं में नहीं है। फिर भी उसके बन्धनों को हम आपाद-मस्तक वहन करते हैं। इससे होता यह है कि हमारे देश का जो मुक्ति-आदर्श है

उसे भी हम खो देते हैं और योरोप का जो स्वाधीनता-आदर्श है उसे अपनाने में भी हमारे लिए पग-पग पर रुकावटें आने लगती हैं। सत्वगुण की पूर्णता हम भूल चले हैं और रजोगुण का ऐश्वर्य हमारे लिए दुर्लभ है। केवल तामसिकता के निरर्थक बोझ को अभ्यासवश सहते-सहते हम आकर्मण्य हो गए हैं इसीलिए आज यदि हमारी ओर देखकर कोई कहे कि 'भारतीय समाज में मनुष्य आचार-विचारों के कठिन पाश में जकड़ा है, तो हम मन-ही-मन अप्रसन्न भले ही हों, लेकिन इस अभियोग का खण्डन करना मुश्किल हो जाता है। तालाब सूख जाने पर उसे यदि कोई 'गड्ढा' कहे तो चुप हो जाना ही उचित है, चाहे वह तालाब हमारी पैतृक सम्पत्ति ही क्यों न हो। सरोवर की पूर्णता किसी समय कितनी ही गम्भीर क्यों न रही हो, खाली हो जाने पर गड्ढा भी उतना ही बड़ा कहलायगा।

किसी समय मुक्ति के लक्ष्य ने भारतवर्ष को सजग और सचेष्ट बनाया था, आपके निरर्थक बंधन और रूढ़ियाँ स्वयं इस बात का परिचय देते हैं। योरोप में भी जब कभी शक्ति का ह्रास होगा तो बंधनों के असह्य दबाव से वहाँ के लोग समझेंगे कि उनके पूर्वजों ने स्वतन्त्रता के लिए कैसी अथक चेष्टा की होगी। शायद अभी से किसी अंश तक इस तरह का अनुभव योरोप प्राप्त करने लगा है, और उद्देश्य के अतिक्रमण का प्रयास वहाँ दिखाई देता है। परन्तु इस बहस को यहीं छोड़ देना ठीक होगा। सच तो यह है कि यदि लक्ष्य के प्रति हम सजग रहें तो नियमों का बंधन मुक्ति का साधन बन जाता है। किसी समय भारत ने समाज को नियमों से कसकर बाँध रखा था। सवार घोड़े को लगाम से क्यों बाँधता है? और वह स्वयं भी रकाब के द्वारा घोड़े के साथ क्यों बँध जाता है? इसीलिए कि उसे घोड़ा दौड़ाना है, दूर किसी गन्तव्य स्थान तक पहुँचना है। भारत जानता था कि समाज मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, समाज पर सदा के लिए अवलंबित नहीं हुआ जा सकता। समाज बना है मनुष्य को मुक्ति-मार्ग पर अग्रसर कराने के लिए। संसार के बंधनों को भारत ने इसलिए स्वीकार किया कि उनके द्वारा संसार से निष्कृति मिले। बंधन और मुक्ति, साधन और साध्य, दोनों को ग्रहण करने का उपदेश उपनिषदों में मिलता है। 'ईशोपनिषद्' में कहा है :

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते
ततो भूय इव तमो य उ विद्यायां रताः।

जो लोग केवल अविद्या की, अर्थात् संसार की, उपासना करते हैं वे अंधकार में प्रवेश करते हैं। लेकिन जो केवल ब्रह्मविद्या में ही लीन हैं वे तो उससे भी घने

अँधेरे में जा पड़ते है।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

विद्या और अविद्या दोनों को जो एक मानते हैं वे अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करते हुए विद्या द्वारा अमरत्व-लाभ करते हैं।

पहले मृत्यु से पार होना है, तभी अमरत्व-लाभ होगा। और मृत्यु को पार किया जाता है संसार के बीच। प्रवृत्ति को कर्म में नियुक्त करके उन दोनों का पहले क्षय करना होता है, उसके अनन्तर ही ब्रह्म-प्राप्ति की बात सोची जा सकती है। संसार को ज़बरदस्ती अलग हटाकर अमरत्व का अधिकारी कोई नहीं हो सकता।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

कर्म करते हुए इहलोक में सौ वर्ष जीने की इच्छा करो। हे मानव, तुम्हारे लिए कोई ऐसा पथ नहीं है जहाँ कर्म से लिप्त न होना पड़े।

सर्वांगीण पूर्णता-लाभ के लिए ज़रूरी है भरा-पूरा जीवन और कर्म। जीवन सम्पूर्ण होते ही जीवन का प्रयोजन खत्म होता है। कर्म शेष होते ही कर्म-बंधन ढीला पड़ जाता है। जीवन को और जीवन की समाप्ति को, कर्म और उसके क्षय को, यदि हमें सहज ही ग्रहण करना है तो 'ईशोपनिषद्' के प्रथम श्लोक को स्मरण करना चाहिए :

'ईशावास्यं इदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।'

जगत् की प्रत्येक सत्ता को ईश्वर से आच्छन्न जानो और—

'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'

उसने जो त्याग किया है, जो दिया है, उसीका उपभोग करो। अन्य किसी के धन का लोभ न करो!

संसार का विषैलापन तभी दूर होता है जब हम संसार को ब्रह्म से आच्छन्न जानते हैं। उसकी संकीर्णता जाती रहती है, उसका बन्धन हमें जकड़ता नहीं। संसार की भोग्य वस्तुओं को ईश्वर का दिया हुआ दान समझने से प्रतियोगिता और संघर्ष से हम पीड़ित नहीं होते। इस तरह संसार के सुख, कर्म और जीवन को ब्रह्मोपलब्धि से संयोजित करके विशाल रूप में जानना ही समाज-रचना है।

भारत ने इस 'भूमा' के सुर में समाज का संगीत निबद्ध करने का प्रयत्न किया था, समाज को बाँधकर मानव-आत्मा को मुक्ति देने की चेष्टा की थी। भारतवर्ष ने शरीर को अपवित्र समझकर उसे पीड़ित करना नहीं चाहा, समाज

को कलुषित बताकर उसका त्याग करना नहीं चाहा, और न जीवन को अशाश्वत कहकर उसकी अवज्ञा करना सिखाया। हमारी मान्यता यही थी कि प्रत्येक सत्ता ब्रह्म से परिपूर्ण है।

योरोप में मानव-जीवन को दो भागों में बाँटा जाता है—पहली अवस्था सीखने की, और दूसरी काम करने की। लेकिन काम करने को तो किसी का 'शेष' नहीं कहा जा सकता। काम का फल ही 'शेष' है। शक्ति का प्रयोग शक्ति का परिणाम नहीं—उसकी सिद्धि ही परिणाम है। आग में लकड़ी डालते जाना लक्ष्य नहीं होता, खाना पकाने में ही उसकी सार्थकता होती है। लेकिन योरोपीय परम्परा में मनुष्य किसी ऐसे स्थान पर लक्ष्य स्थापित नहीं करता जहाँ कार्य-प्रवाह अपने स्वाभाविक परिणाम तक पहुँच सके। योरोप के लोग धन जुटाना जानते हैं, खुशी से जुटायें। पर धन-संग्रह का तो कहीं अन्त नहीं है। सभ्यता को वहाँ 'प्रोग्रेस' या 'प्रगति' कहा जाता है। लेकिन 'प्रोग्रेस' शब्द का अर्थ हो गया है निरन्तर चलते रहना और कभी घर न पहुँचना। इसीलिए जीवन को असमास अवस्था में खत्म कर देना, चलते-चलते सहसा रुक जाना, योरोप की जीवन-यात्रा बन गई है। 'नॉट दि गेम, बट् दि चेज़': शिकार पाना नहीं, शिकार के पीछे दौड़ते रहना, इसीमें योरोप को चरम आनन्द मिलता है।

जो हाथ में आता है उसमें तृप्ति नहीं—यह बात क्या हमारे देश में भी नहीं कही गई? हमने भी तो कहा था :

'निःस्वो व्यष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेषः क्षितिपालतां क्षितिपतिः चक्रेश्वरत्वं पुनः।
चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिः ब्रह्मं पदं वांछति
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं त्वाशावधिं को गतः।।'

सारांश यह कि जो मिलता है उससे आस नहीं मिटती। जितना भी अधिक हम प्राप्त करें, उससे भी अधिक पाने की लालसा मन में रहती है। तो फिर काम का अन्त कैसे होगा? प्राप्ति में इच्छा का अन्त नहीं, तो अंशपूर्ण आशा में अधूरे कार्य को छोड़कर मरना ही मानव की एक-मात्र गति जान पड़ती है।

किन्तु इस सम्बन्ध में भारतवर्ष का कहना है कि अन्य सब प्रकार के 'पाने' का भले ही यह लक्षण हो, एक ऐसा स्थान भी है जहाँ स्वयं 'पाने' की समाप्ति है। वहीं अगर लक्ष्य को स्थापित किया जाय तो कर्म का अन्त होगा और हमें छुट्टी मिलेगी। संसार इतना बड़ा पागलपन नहीं हो सकता, इतना बड़ा धोखा नहीं हो सकता, कि कहीं भी चाहने का अन्त न हो। मानव-जीवन की संगति में तानें ही तानें हों, कहीं विराम न हो, कहीं 'सम' न हो, यह बात

हम नहीं मानते। तान चाहे कितनी ही मनोरम क्यों न हो, यदि उसमें गान का अचानक अन्त हो जाय तो रसानुभूति को गहरी चोट लगेगी। जब गान 'सम' पर आकर खत्म होता है तभी तानों का वैचित्र्य गम्भीर आनन्द में परिपूर्ण हो जाता है।

इसीलिए भारतवर्ष ने यह उपदेश नहीं दिया कि जीवन की डोर का काम करते-करते अचानक मृत्यु से कट जाना गौरवास्पद है। पूरी तेज़ी से दौड़ते-दौड़ते टूटे हुए पुल से गिरकर पानी में डूब जाने का परामर्श नहीं दिया, बल्कि स्टेशन तक पहुँचने की सलाह दी। माना कि संसार कभी समाप्त नहीं होगा, जीव-सृष्टि के आरम्भ से संसार उन्नति-अवनति की लहरों में बहता जा रहा है, उसमें कहीं कोई विराम नहीं है। लेकिन प्रत्येक मनुष्य की जीवनलीला का तो अन्त है। उस अन्त के क्षण से पहले यदि मनुष्य ने पूर्णता की झलक बिना देखे ही प्रस्थान किया तो उसे जीवन से मिला क्या ?

बाह्य संसार का अन्त नहीं, वह निरंतर गतिमान है। हम इस चिरचंचल बहिर्जगत् के झूले में ही छोटे से बड़े हुए हैं। हमारे लिए किसी दिन वह निरुपयोगी होगा, लेकिन फिर भी झूला तो अपना काम करता ही रहेगा। प्रवाह को हमने अपनी सामर्थ्यानुसार आगे बढ़ाते रहना है। जहाँ तक हमारे लिए संभव है, जीवन के ज्ञान-भांडार में ज्ञान जोड़ना है और उसके कर्म-चक्र की रफ़्तार बढ़ानी है। इसका अर्थ यह नहीं कि बाह्य-संसार की अन्तहीन धारा में हम स्वयं बह जायँ। ऐसा करने में हमारा विनाश है। अन्तरात्मा में ही वास्तविक समाधान मिल सकता है। बाह्य उपकरण तो अनगिनत हैं, पर संतोष आत्मा में ही है। बाहर दुःख और ग्लानि का अन्त नहीं, आत्मा में धैर्य है। बाहर प्रतिकूलता है, आत्मा में क्षमा; बाहर लोगों के साथ तरह-तरह के संबंध हैं, अन्तरात्मा में प्रेम है। बाहर अन्तहीन संसार है, लेकिन आत्मा अपने-आपमें संपूर्ण है। एक ओर के अशेष से ही दूसरी ओर की अखंडता का परिपूर्ण अनुभव मिलता है। गति के द्वारा ही स्थिति को नापना होता है।

इसलिए भारत ने मानव-जीवन का विभाजन इस तरह से किया कि कर्म बीच में हो और मुक्ति अन्त में। दिन के चार स्वाभाविक भाग हैं—सवेरा, दोपहर, संध्या और रात। वैसे ही भारत ने किसी समय जीवन को चार 'आश्रमों' में बाँट दिया था। ये विभाग स्वाभाविक थे। जैसे दिन में रोशनी और गर्मी धीरे-धीरे बढ़ती है और धीरे-धीरे ही घटती है वैसे ही आदमी की इन्द्रिय-शक्ति बढ़ती और घटती है। इस स्वाभाविक क्रम का अवलंबन करके भारत ने जीवन का तात्पर्य आदि से अन्त तक अखंड रूप से वहन किया है। पहले शिक्षा, फिर दुनिया-

दारी, फिर बन्धनों का ढीला होना, और अन्त में मृत्यु के बीच मुक्ति—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और प्रव्रज्या।

आधुनिक युग में हमारी ऐसी भावना होती है कि जीवन और मृत्यु परस्पर विरोधी हैं—मानो मृत्यु जीवन का परिणाम नहीं बल्कि उसकी शत्रु है। जीवन की प्रत्येक मंज़िल में हम मृत्यु से लड़ते हुए आगे बढ़ते हैं! यौवन के दिन बीत जाने पर भी हम यौवन को खींच-तानकर बनाये रखना चाहते हैं। भोग की ज्वाला मंद होकर बुझना चाहती है, लेकिन तरह-तरह के ईंधन डालकर हम उसे धधकाए रखना चाहते हैं। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो चली, फिर भी जान तोड़कर काम करने का हमारा यत्न है। मुट्ठी अपने-आप ढीली पड़ रही है, लेकिन मुट्ठी में जो कुछ है उसके किसी भी अंश को छोड़ना नहीं चाहते। आखिर जब हम से भी अधिक बलवती शक्ति हमें अपनी कमज़ोरी स्वीकार करने पर बाध्य करती है, तो हम विद्रोह या विषाद को हृदय में स्थान देते हैं। पराभूत होकर हमें रणभूमि से पीठ दिखाकर भागना पड़ता है। जो परिणाम अनिवार्य है उसे सहज ही ग्रहण करना हमने नहीं सीखा। इसलिए हम अपने-आप कुछ छोड़ते नहीं, प्रत्येक वस्तु हमसे छीन ली जाती है। सत्य को हम अस्वीकार करते हैं, तभी सत्य के हाथों हमारी पराजय होती है।

कच्चा आम डंठल के ज़ोर से टहनी को पकड़े रहता है। उसकी अपरिणत गुठली से परिणत गूदा जुड़ा हुआ है। लेकिन दिन-दिन अमियाँ पक रही हैं और उसी मात्रा में डंठल ढीला पड़ रहा है, गुठली गूदे से अलग हो रही है, सारा फल पेड़ से अलग हो रहा है। एक दिन पेड़ के बन्धन से आम पूरी तरह आज़ाद होगा। इसी में उसकी सफलता है—पेड़ से चिपटे रहने में उसकी व्यर्थता है। फल की तरह हमारी शारीरिक शक्तियाँ भी, संसार की डाल से पूरा रस चूस लेने के बाद, एक दिन डाल छोड़कर धूल में मिलती हैं। यह संसार के नियमानुसार ही होता है। इस व्यवस्था में हमारा कोई हस्तक्षेप नहीं। लेकिन जहाँ हमारा आंतरिक मनुष्यत्व है, जहाँ हमारा संकल्प है, वहाँ की परिणति के लिए तो इच्छा-शक्ति ही सार्वभौम है। इंजन के बॉयलर के ऊपर टैम्परेचर नापने का जो यंत्र होता है उसका पारा प्राकृतिक नियमानुसार ही चढ़ता-उतरता है। लेकिन उसके इशारों को समझकर बॉयलर की आग को घटाना-बढ़ाना इंजीनियर पर निर्भर है। इसी तरह इन्द्रिय-शक्ति के विकास और ह्रास के अनुसार अपनी प्रवृत्तियों की तीव्रता और कर्म की व्यग्रता का नियन्त्रण करना हमारे ही हाथ में है। यथासमय घटाने-बढ़ाने की इस क्रिया पर ही हमारी सफलता निर्भर रहती है।

पके फल में ज़हाँ एक ओर डंठल कमज़ोर और गूदा मुलायम होता है वहाँ

दूसरी ओर गुठली सख्त होकर नये प्राण की पूँजी प्राप्त करती है। इसी तरह हमारे भीतर भी क्षय और अर्जन की क्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं। हमारे जीवन में भी बाहर के ह्रास के साथ आन्तरिक वृद्धि कर जाती है। किन्तु आंतरिक जीवन में मनुष्य की अपनी इच्छा का स्वतन्त्र सामर्थ्य हैं, इसलिए वृद्धि और परिणति साधना पर निर्भर है। तभी हम देखते हैं कि दाँत गिर रहे हैं, बाल सफ़ेद हो रहे हैं, शरीर फीका पड़ रहा है, मनुष्य अपनी यात्रा के अन्तिम पड़ाव तक पहुँच रहा है, फिर भी जी-जान से हर चीज़ को पकड़कर रखता है, क्षण-भर के लिए भी उँगलियाँ ढीली नहीं करता। यहाँ तक कि जीवन की आखिरी घड़ियाँ इसी चिन्ता में बीतती हैं कि मृत्यु के बाद भी उसकी इच्छा ही बलवती सिद्ध हो। आधुनिक युग को इस परिस्थिति पर गर्व है, पर वास्तव में यह गर्व का विषय नहीं है।

त्याग हमें करना ही होगा। त्याग द्वारा ही लाभ सम्भव है। यह संसार का मर्मगत सत्य है। पँखुड़ियाँ झरेंगी, तभी नये फूल खिलेंगे। फल गिरेंगे, तभी नये पेड़ होंगे। शिशु को गर्भ का आश्रय छोड़कर धरती पर आना पड़ता है। पृथ्वी पर आकर उसका शरीर और मस्तिष्क बढ़ता है—अपने-आप ही बढ़ता है, उसके लिए अन्य कोई 'कर्तव्य' नहीं है। इन्द्रिय-शक्ति और बुद्धि-ज्ञान का एक सीमा तक विकास हो जाने पर व्यक्ति को संसार में पदार्पण करना होता है। पुष्ट शरीर, शिक्षित मन और विकसित प्रवृत्तियों को लेकर वह परिवार तथा सामाजिक परिवेश के साथ सम्पर्क स्थापित करता है। यह उसका दूसरा शरीर है, उसका बृहत् कलेवर। जब शरीर जीर्ण होने लगता है और प्रवृत्ति की शक्ति घटने लगती है तो फिर वह अपनी अभिज्ञता, अनासक्ति और कौशल लेकर क्षुद्र जगत् से निकलता है, और एक दृहत्तर संसार में जन्म ग्रहण करता है। उसकी शिक्षा, ज्ञान और बुद्धि एक ओर मानव-जाति के लिए उपयोगी सिद्ध होती हैं, और दूसरी ओर वह अवसानोन्मुख जीवन के साथ नित्य-जीवन का सम्बन्ध जोड़ता है। अन्त में पृथ्वी के नाड़ी-बन्धन को तोड़कर वह मृत्यु के सम्मुख खड़ा होता है और अनन्त लोक में उसका नवीन जन्म होता है। इस तरह शरीर से समाज में, समाज से निखिल में और निखिल से आत्मा में मानव की परिणति होती है।

प्राचीन साहित्यकारों ने हमारी शिक्षा और गार्हस्थ्य को इस परिणति की ओर अभिमुख करना चाहा था और हमारे समस्त जीवन को इसके अनुकूल बनाना चाहा था, इसीलिए हमारी शिक्षा केवल पुस्तकों तक या वस्तुओं के ज्ञान तक सीमित नहीं थी। वह शिक्षा ब्रह्मचर्य पर आधारित थी। नियम-संयम के अभ्यास से ऐसा बल प्राप्त होता था जिससे त्याग और उपयोग दोनों व्यवहार के स्वाभाविक अंग बन जाते थे। सम्पूर्ण जीवन धर्माचरण था। उसका लक्ष्य था धर्म में

मुक्ति, और इसलिए जीवन-निर्वाह की शिक्षा भी एक प्रकार का धर्मव्रत था। इस व्रत को श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा के साथ बड़ी सावधानी से निभाना पड़ता था। मनुष्य के लिए जो एक-मात्र सत्य है उसको सामने रखकर बालक को जीवन-मार्ग पर अग्रसर कराया जाता था।

बाह्य शक्ति और आन्तरिक शक्ति के सामंजस्य को प्रत्येक जीवधारी का मुख्य लक्षण माना जाता है। लेकिन पेड़-पौधों में इस सामंजस्य का रूप यान्त्रिक होता है। रोशनी, हवा और खाद्य रस की उत्तेजना—इनके द्वारा प्राण-निर्वाह यथावत् चलता रहता है। हमारे शरीर में भी कुछ ऐसी ही व्यवस्था है। अन्न के संस्पर्श से जिह्वा में खाद्य रस का क्षरण और पेट के अन्दर पाक रस का उद्रेक अपने-आप होता है। हमारी प्राण-क्रियाएँ विश्व-शक्ति के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ हैं।

लेकिन हमारे भीतर 'मन' या 'इच्छा शक्ति' नाम की एक और वस्तु भी तो है। इसके योग से हमारे प्राणों पर एक और उपसर्ग बढ़ गया है। खाने की प्राकृतिक उत्तेजनाओं के साथ खाने का आनन्द भी आ मिला है। आहार-ग्रहण हमारे लिए केवल जैविक आवश्यकता न रहकर हमारी तबियत का काम हो गया है, प्राकृतिक कार्य के साथ एक मानसिक सम्बन्ध भी विकसित हुआ है। शरीर के साथ बाहरी शक्ति का सामंजस्य हमारे प्राण में हो रहा है, और उसके साथ ही इच्छा-शक्ति का सामंजस्य मन में चल रहा है। इससे मनुष्य के प्रकृति-यंत्र की साधना कठिन और जटिल हो उठी है।

विश्व-शक्ति के साथ प्राण-शक्ति का स्वर बहुत दिनों से मिल चुका है, उसके बारे में कुछ सोचने का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन इच्छा-शक्ति का स्वर मिलाने के लिए हमें प्रतिक्षण प्रयास करना होता है। खाद्य के मामले में प्राण-शक्ति की ज़रूरत पूरी हो भी जाय तो हमारी इच्छा-शक्ति का समाधान नहीं होता। शरीर जो माँगता था उसे मिला, लेकिन इस क्रिया में जो आनन्द है उसे हम आवश्यकता की सीमा से बाहर खींचकर ले गए। तरह-तरह के कृत्रिम उपायों से हम उदासीन जिह्वा को रससिक्त करने लगे। बाह्य जगत् के साथ प्राण की, और प्राण के साथ मन की, एकरूपता नष्ट करके हमने कितने ही अनावश्यक उपकरणों और चेष्टाओं की सृष्टि की। और इनके साथ नये-नये दुःख भी पल्लवित होते रहे। अनिवार्य आवश्यकताओं का पूरा करना ही दुष्कर था, तिस पर अनावश्यक चीज़ों का बोझ आ पड़ने से इच्छाओं की पूर्ति करना हमारे लिए और भी कष्टप्रद हो गया है। सच तो यह है कि इच्छा जब एक बार अपनी स्वाभाविक सीमाओं को पीछे छोड़ देती है तो फिर उसके रुकने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। तब वह केवल 'चाहिए,'

'चाहिए' की रट लगाते हुए आगे बढ़ती चली जाती है। 'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिर्धवते।'

संसार में अपने और पराये दुःख का कारण अधिकतर यही होता है। इच्छा-शक्ति का विश्व-शक्ति से सामंजस्य ही सर्वोच्च आनन्द का आधार है। यह एक गम्भीर सत्य है। इच्छा को नष्ट करना हमारी साधना का उद्देश्य नहीं है। इच्छा को विश्व-इच्छा के साथ एक सुर में बाँधना ही समस्त शिक्षा का चरम लक्ष्य है। प्रारम्भिक अवस्था में ही यदि इस दिशा में प्रयत्न न किया गया, तो हमारा चंचल मन पग-पग पर ठोकर खाता है। हमारा ज्ञान लक्ष्यहीन, प्रेम कलुषित, कर्म व्यर्थ और दिशाहीन हो जाता है। हमारे ज्ञान, प्रेम और कर्म का विश्व के साथ सहज मिलन नहीं होता। वे आत्मकेन्द्रित इच्छाओं की मरीचिका के पीछे दौड़ते हैं।

इसीलिए ब्रह्मचर्य-पालन से इच्छाओं को उचित सीमाओं में संयमित करने का अभ्यास जीवन के प्रथम भाग में आवश्यक है। ऐसे अभ्यास में विश्व-प्रकृति के साथ हमारी मनःप्रकृति का स्वर क्रमशः बँधता रहेगा। बाद में हम अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार उसी स्वर में कोई भी रागिनी गाएँ, सत्य, मंगल और आनन्द के मूल स्वरों को कोई आघात नहीं पहुँचेगा। इस तरह की शिक्षा पूरी होने के अनन्तर ही संसार-धर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। मनु कहते हैं :

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥

विषय का त्याग करके वैसा संयम नहीं किया जा सकता जैसा विषय में नियुक्त रहकर ज्ञान द्वारा किया जा सकता है। विषय में नियुक्त न होने से ज्ञान अपूर्ण रहता है। और जो संयम ज्ञान का परिणाम नहीं वह पूर्ण संयम ही नहीं। वह तो केवल जड़ अभ्यास है, अनभिज्ञता है। वह प्रकृति-गत नहीं, मूल नहीं, बाह्य संयम है।

कर्म—विशेषतः मंगल कर्म—तभी सहज और सुख-साध्य होता है जब प्रवृत्ति को संयम के साथ चलाने की शिक्षा हो, साधना हो। और उसी हालत में गृहस्थाश्रम जगत् के कल्याण का आधार बन जाता है। ऐसी अवस्था में गृहस्थ जो भी कर्म करता है उसे ब्रह्म को समर्पित करने का आनन्द वह उठा सकता है। गृहस्थ का कर्म जब मंगल होता है—जब वह धर्म-कर्म होता है—तब कर्म का बन्धन उसे नहीं जकड़ता। यथासमय वह बन्धन अनायास ही ढीला पड़ जाता है और कर्म अपनी स्वाभाविक परिसमाप्ति तक पहुँच जाता है।

इस तरह जीवन के दूसरे भाग को संसार-धर्म में लगाने के बाद, जब शारीरिक तेज की अवनति होने लगे तो हमें समझना चाहिए कि इस क्षेत्र का कार्य

समाप्त हो चला। लेकिन समाप्ति की सूचना मिलते ही हमें अपने-आपको नौकरी से बरखास्त किया हुआ दीन, अभागा मनुष्य नहीं समझना चाहिए। 'हमारा जो कुछ था सब गया' कहकर शोक करने से क्या होगा ? हमें तो यह सोचना चाहिए कि आगे चलकर एक बृहत्तर परिधि के क्षेत्र में प्रवेश करना है। आशा तथा शक्ति के साथ इस नये क्षेत्र की ओर अभिमुख होना चाहिए। हमें यह अनुभव करना होगा कि शारीरिक शक्ति का और प्रवृत्ति-संचालन का क्षेत्र पीछे छूट गया है। वहाँ उगाई हुई फ़सल हम काट चुके, खलिहान में भर चुके। काम खत्म हो चुका, संध्या हो गई, कर्म के खेत की दीवार लाँघकर अब बड़ी सड़क पर आना है। अब बिना घर पहुँचे शान्ति नहीं मिल सकती। खेत में जो कुछ झेला, जो कुछ सहा, जो मेहनत-मज़दूरी की, वह आखिर किसलिए ? घर ही के लिए तो ? वह घर ही 'भूमा' है, वह घर ही आनन्द है, जहाँ से हम आये और जहाँ हम जायेंगे। यही यदि न हुआ तो ततः किम् ? ततः किम् ? ततः किम् ?

गृहस्थाश्रम का कार्य पूरा करके, सन्तान के हाथ दुनियादारी का भार सौंप-कर, बड़ी सड़क पर चलने की तैयारी करना ही अब श्रेयस्कर है। अब हमें बाहर की खुली हवा में जाना है, उन्मुक्त आकाश के आलोक में अपनी दृष्टि को निमग्न करना है, शरीर की नस-नस को पुलकित करना है। जगत् में स्वाधीन होकर विचरण करने का अधिकार प्राप्त करना है।

शिशु माता के गर्भ को छोड़कर पृथ्वी पर आता है, लेकिन पूर्णतया स्वाधीन होने से पहले कुछ समय तक वह माँ के पास ही रहता है। वियुक्त होते हुए भी 'युक्त' रहता है, और पूरी तरह वियुक्त होने के लिए प्रस्तुत होता है। इसी तरह जीवन के तीसरे भाग में, वानप्रस्थ में, संसार-गर्भ से निष्क्रान्त होने पर भी मनुष्य का संसार के साथ योग रहता है। वह संसार से अलग अवश्य है, लेकिन अपने संचित ज्ञान और अनुभव का वह दान करता है, और किसी सीमा तक संसार की सहायता भी लेता है। परन्तु यह सहायता वह मुक्त होकर लेता है, 'संसारी' की हैसियत से नहीं।

अन्त में जीवन का चतुर्थ भाग आता है। यह वह समय है जब रहे-सहे बन्धन को भी छोड़कर उसे अकेले 'परम एक' के सम्मुख जाना होता है—मंगल-कर्म से सारे सांसारिक सम्बन्धों को पूर्ण करके 'आनन्दरूप' के साथ चिरंतन सम्बन्ध जोड़ने के लिए प्रस्तुत होता है।

पतिव्रता स्त्री दिन-भर समाज के और घर के कितने ही लोगों के साथ विविध सम्बन्धों का पालन करती है। दिन का काम-काज निबटाकर, चीजें उठा-कर, नहा-धोकर, कपड़े बदलकर, कर्म-क्षेत्र के चिह्नों को पोंछती है, और फिर

निर्मल वेश में, पति के साथ पूर्ण सम्वन्ध का अधिकार ग्रहण करने के लिए एकान्त कक्ष में प्रवेश करती है। उसी तरह समासकर्म पुरुष भी जीवन की सारी अपूर्णताओं को मिटाकर असीम के साथ मिलन के लिए प्रस्तुत होता है, अकेले ही उस 'एक' के सामने जा खड़ा होता है, अपने सम्पूर्ण जीवन को उस परिपूर्णता में, उस समाप्ति में, अखण्ड रूप से सार्थक करता है।

मानव-जीवन आद्योपान्त सत्य है। मृत्यु का अतिक्रमण करने की व्यर्थ चेष्टा जीवन नहीं करता। मृत्यु भी दुश्मन की तरह हमला करके जीवन को परास्त नहीं करती। जीवन को यदि हम खण्डित करें, किसी अन्य गन्तव्य को 'चरम' समझें, तो उसमें सम्पूर्णता नहीं रहती, चाहे हम अपने आदर्श को देशोद्धार, लोक-हित या और कैसा ही बड़ा नाम क्यों न दें। इस तरह के प्रयोजन हमें बीच रास्ते में छोड़ जाते हैं और उसमें से यही प्रश्न बराबर गूँजता रहता है : ततः किम्, ततः किम्, ततः किम् ? भारत में यह स्वीकार किया गया कि मानव-जीवन चार आश्रमों के मार्ग से—बाल्य, यौवन, प्रौढ़ावस्था और वार्धक्य के स्वाभाविक विभागों के अनुगत—समाप्ति की ओर जाता है। इस तरह महान् विश्व-संगीत के साथ मनुष्य के जीवन का अविरोध मिलन होता है। उसमें विद्रोह का स्थान नहीं। हमारी अपरिष्कृत प्रवृत्तियाँ बेचैनी और अशान्ति को जन्म देती हैं, फिर भी हम मार्ग-च्युत नहीं होते। निखिल के साथ हमारा सहज सत्य सम्बन्ध अटूट रहता है।

मैं जानता हूँ, यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या किसी देश के सम्पूर्ण समाज का निर्माण इस आदर्श के अनुसार किया जा सकता है ? इसका उत्तर मैं एक अन्य प्रश्न से ही दूँगा—जब घर में दीप जलाया जाता है तो क्या दीवट से बत्ती तक पूरा दिया जलता है ? जीवन-यापन के सम्बम्ध में, धर्म के सम्बन्ध में, किसी भी देश का आदर्श ऊपरी भाग में ही उज्ज्वल रूप से आलोकित होता है। बत्ती का केवल अग्रभाग ही जलता है, लेकिन हम तो यही कहते हैं कि दिया जल रहा है। समाज का एक हिस्सा जिस भावना को पूर्ण रूप से अंगीकृत करता है और जीवन की परिधि में लाता है उससे सारे देश का लाभ होता है। उस अंश को पूर्णता देने के लिए सारे देश को प्रस्तुत तथा अनुकूल होना पड़ता है, जिस तरह डालों पर फल लाने के लिए वृक्ष की जड़ों और तने को भी सचेष्ट होना पड़ता है।

यदि कभी भारत ने वह दिन देखा जब उसके मान्य और श्रेष्ठ लोग सर्वोच्च सत्य और मंगल को आंशिक प्रयोजनों के ऊपर उठाकर चिर-जीवन की साध्य-वस्तु बना दें, तो उनका सार्थक प्रयास सारे देश में एक विशेष शक्ति का संचार अवश्य

करेगा। किसी समय, जब भारत के ऋषिगण ब्रह्मसाधना में लीन थे, यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ब्रह्म का सुर बज उठा था—युद्ध में, वाणिज्य में, साहित्य में, शिल्प में, धर्मार्जन में। उस समय कर्म में भी मोक्ष का भाव था। समस्त भारतीय समाज मैत्रेयी की तरह कह रहा था :

'येनाहं नामृता स्यां किम्हं तेनु कुर्याम्।'

क्या हम समझ लें कि यह वाणी सदा के लिए मौन हो गई है ? यदि ऐसा है तो इस मृत समाज के लिए इतने उपकरण जुटाकर उसकी सेवा हम क्यों करते हैं ? इससे तो यही अच्छा हो कि हम आदि से अन्त तक विदेशी जाति का अनुकरण करें। व्यर्थता का भार सहते हुए निश्चेष्ट पड़े रहने से तो यही श्रेयस्कर है कि सजीव रूप से कुछ हो उठें, चाहे प्रेरणा बाहर ही की क्यों न हो।

लेकिन हम इस बात को कभी नहीं मानेंगे कि वह वाणी चिरकाल के लिए नीरव हो चुकी है। हमारी प्रकृति इसे कभी स्वीकार नहीं करेगी। आज हमारी चाहे जैसी दुर्गति हो गई हो भारत का अन्तरतम मन किसी असम्पूर्ण अधिकार को परम लाभ के रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। आज भी यदि कोई साधन अपनी जीवन-वीणा पर ऐसा सुर बजाये जो 'चाहने' और 'पाने' से उच्चतर सप्तक में हो, तो हमारे हृदय के तार कंपित हो उठेंगे। इसे हम रोक नहीं सकते। शक्ति और समृद्धि की प्रतियोगिता का आज हम चाहे जितने उच्च स्वर से और बड़े पैमाने पर प्रचार कर रहे हों, भारत का सम्पूर्ण मन और प्राण उसे स्वीकार नहीं कर रहा है। यह प्रतियोगिता केवल हमारे बहिर्द्वार पर खड़ी शोर मचा रही है, और कुछ नहीं।

आजकल हमारे समाज में विवाहादि आयोजनों में नौबत के साथ-साथ फौजी बैण्ड भी बजाया जाता है। संगीत छिन्न-विच्छिन्न हो जाता है और स्वर मनमानी करते हैं। इस झनझनाहट के बीच यदि हम शान्तिपूर्वक सोचें तो हमें मालूम होगा कि शहनाई के वैराग्य और गाम्भीर्य-भरे करुण स्वर उत्सव के हृदय से बज रहे हैं, लेकिन किले का मिलिटरी बाजा अपने प्रचण्ड कण्ठ से धन के अहंकार और फ़ैशन के आडम्बर को दसों दिशाओं में घोषित कर रहा है। हमारे अन्तरतम स्वर को, गम्भीर स्वर को, बैण्ड अपने डंके से आच्छन्न कर रहा है। मंगलमय अनुष्ठान में वह एक उद्धत असामञ्जस्य को अत्यन्त उत्कट रूप से व्यक्त कर रहा है। उत्सव की चिरकाल की वेदना से उसका सुर ज़रा भी नहीं मिल रहा।

जीवन के सभी क्षेत्रों में इसी तरह की असंगति और अराजकता हम देखते हैं। योरोपीय सभ्यता के ऐश्वर्य से हमारी आँखें मुग्ध हो गई हैं। उसका अनुकरण

करके हम अपनी आडम्बर-प्रियता व्यक्त करते हैं। हमारी ड्योढ़ी पर उसका विजय-डंका शोर मचा रहा है। लेकिन जिन्हें हमारे अन्तःपुर का ज्ञान है वे जानते हैं कि वहाँ का मंगल-शंख इस बाहरी दिखावे के दबाव से नीरव नहीं हुआ है। किराये पर आया हुआ मिलिटरी बैण्ड क़िले में लौट जायगा, लेकिन घर के शंख से उत्सव की मंगल-ध्वनि आकाश में गूँजती रहेगी। वैसे ही, अंग्रेज़ों की वाणिज्य-नीति और राष्ट्रनीति की उपयोगिता को चाहे हम स्वीकार करें, और चाहे उसका प्रचार भी करें, पर हमारे हृदय को वह पूर्ण रूप से आकृष्ट नहीं करती। हमारे चिर-पुरातन विराट् स्वर पर जो आघात हो रहा है उसे हमारी अन्तरात्मा बराबर अस्वीकार कर रही है।

आज हम बाज़ार की भीड़ और शोर-गुल में सम्मिलित हो रहे हैं, नीचे उतर आए हैं, ओछे हो गए हैं। कलह से हमारा सन्तुलन जाता रहा है। पदवियों-उपाधियों तक को लेकर हम आपस में झगड़ा कर रहे हैं। बड़े-बड़े अक्षरों के और ऊँचे स्वर के विज्ञापनों से अपने को औरों से बड़ा घोषित करने में हमें संकोच नहीं होता। और मज़े की बात तो यह है कि जो कुछ हम कर रहे हैं सब 'नक़ल' है। इसमें सत्य की मात्रा नहीं के बराबर है। इसमें शान्ति नहीं, संयम नहीं, गाम्भीर्य नहीं, शालीनता नहीं। इस 'नकल-युग' के आने से पहले हममें एक स्वाभाविक मर्यादा थी। इस मर्यादा से निर्धनता में भी हम सम्पन्न थे। उस समय मोटा खाने से या मोटा पहनने से हमारा गौरव नष्ट नहीं होता था। कर्ण ने जैसे कवच-कुण्डल के साथ जल ग्रहण किया था, वैसे ही हम इस स्वाभाविक मर्यादा को साथ लेकर दुनिया में आते थे। उस कवच ने हमें युग-युग की पराधीनता और दुःख-दारिद्र्य में जीवित रखा है, हमारे सम्मान की रक्षा की है। यह इसलिए सम्भव हुआ कि हमारा सम्मान बाहर से अपहरण किया हुआ धन नहीं, बल्कि अन्तरात्मा का धन था।

हमें धोखा देकर यह सहजात कवच किसने छीन लिया ? जिसने भी छीना हो, उस कवच के साथ ही आत्म-रक्षा का उपाय भी हमारे हाथ से जाता रहा। अब हम दुनिया के सम्मुख लज्जित हैं। अपनी वेश-भूषा में, आयोजनों के उपकरणों में, जहाँ ज़रा-सी कमी देखते हैं, सिर नहीं उठा सकते। प्रतिष्ठा अब हमारे लिए एक बाहरी चीज़ हो गई है। उपाधियों के लिए, ख्याति के लिए, हम बाहर की ओर दौड़ते हैं, बाहरी दिखावे को बढ़ाते जाते हैं। इस ऊपरी प्रतिष्ठा के अञ्चल में कहीं छिद्र का लक्षण दिखाई पड़ा तो फौरन हम उसे असत्य का जोड़ लगाकर ढाँकने का यत्न करते हैं। लेकिन इसका अन्त कहाँ है ? जो भद्रता हमारी आन्तरिक वस्तु थी उसे यदि हम कपड़ों और जूतों की दूकानों में ले चलें, उसे घोड़ों के बाज़ार

और गाड़ी के कारखाने में घुमाने लगें, तो कहाँ पहुँचकर हम उससे कहेंगे कि 'काफ़ी हुआ ! अब आराम करो ?' पहले हम सन्तोष को ही पूर्णता समझते थे, क्योंकि सन्तोष अन्तरात्मा की सामग्री थी। अब उस सुख को यदि हमें गली-गली, घाट-घाट ढूँढना पड़े तो हम यह कब कह सकेंगे कि 'हाँ, हमें सुख मिला ?' आज हमारी भद्रता सस्ते कपड़ों से अपमानित होती है, घर में विलायती ढंग की सजावट न हो तो उस पर आँच आती है। बैंक में हमारे नाम पर जो अंक लिखे हैं वे कम हों, तो हमारी भद्रता कलंकित होती है। हम यह भूल बैठे हैं कि ऐसी प्रतिष्ठा को सिर पर ढोकर उसका आदर करना वास्तव में अत्यन्त लज्जा का विषय है। जिन बेकार उत्तेजनाओं को और जिस उन्माद को हमने सुख मानकर चुना है उनसे हमारे समाज का अन्तःकरण दासता के पाश में जकड़ा जा रहा है।

लेकिन अब भी हम कह सकते हैं कि ये सब विकृतियाँ हमारी मज्जा तक नहीं पहुँची हैं। ये बाहर ही हैं, और इसीलिए इनका शोर भी इतना अधिक है। बाहरी चीज़ों को ही आतिशय्य की ज़रूरत होती है। हमारे गम्भीरतर स्वभाव ने इन विकारों को नहीं अपनाया। तभी तो इन्हें लेकर हमें अकुशल तैराक की तरह हाथ-पाँव पटकना पड़ता है। लेकिन यदि एक बार कोई हमारे बीच खड़ा होकर यह कहे : 'नहीं ! असम्पूर्ण प्रयास में, प्रतियोगिता के नशे में, श्रेय नहीं है; जीवन का परिपूर्ण प्रयोजन भी है, सारे कर्मों और साधनाओं की एक परिपूर्ण समाप्ति भी है, और उसीमें हमारी चरम सार्थकता है। उसके आगे और सब-कुछ तुच्छ है'—यदि कोई ज़ोरदार, अधिकारपूर्ण शब्दों में ऐसा कहे, तो आज भी बाज़ार की भीड़ और कोलाहल के बावजूद हमारा हृदय इन शब्दों को स्वीकार करेगा और बोल उठेगा ! 'हाँ, यही सत्य है—इससे बढ़कर और कोई सत्य नहीं।'

और उस समय इतिहास के जो अध्याय हमने स्कूल में पढ़े थे—लूट-मार और रक्त-पात के अध्याय—वे छोटे और तुच्छ जान पड़ेंगे। 'लालकुर्ती' की अक्षौहिणी सेना का दंभ और ऊँचे मस्तूल के जंगी जहाज़ों की शान हमारे चित्त को अभिभूत नहीं करेगी। जगत् के समस्त कोलाहल से ऊपर हमारे नित्य-जीवन का आदि-स्वर सुनाई पड़ेगा और हमारे मर्मस्थल को जागरित करेगा—वह स्वर जिसमें भारतवर्ष की युग-युग में निनादित ओंकार-ध्वनि है। उसे हम किसी तरह अस्वीकार नहीं कर सकते—यदि करें, तो उसके बदले हमें कोई ऐसी वस्तु नहीं मिलेगी जिसकी सहायता से हम सिर उठाकर खड़े हो सकें, अपनी रक्षा कर सकें। यदि हम उस स्वर को अस्वीकार करें, तो तलवारों की छटा, वाणिज्य के मँडराते

बादल, कल-कारखानों की रक्तिम आँखें और स्वर्ग से प्रतिस्पर्धा करने वाला ऐश्वर्य जो अपने उपकरण-स्तूप को बराबर ऊँचा उठाकर आकाश को ललकार रहा है—ये सब मूर्तियाँ हम देखेंगे, अपने प्राण-पण में पराभूत होंगे, संकुचित और सन्देह-मग्न होकर संसार के राजपथ पर दीन भिखारी की तरह घूमते फिरेंगे।

इस बात को भी हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे कि जिसे हमने 'श्रेय' कहा है वह केवल हमारे लिए ही श्रेय है। हमने यदि धर्म को चुना है तो इसलिए नहीं कि हम अपनी दरिद्रता छिपाना चाहते हैं या कि हमारी मजबूरी और कमज़ोरी ने धर्म के सिवा हमारे लिए दूसरा रास्ता ही नहीं छोड़ा। प्राचीन संहिताकारों ने हमारे सामने जो आदर्श रखा वह किसी जातिविशेष या अवस्थाविशेष के लिए ही सत्य नहीं है। वास्तव में वही एकमेव सत्य आदर्श है, और समस्त मानव-समाज के लिए वह कल्याणकारी है। जीवन के पहले भाग में श्रद्धा, संयम और ब्रह्मचर्य से इसके लिए प्रस्तुत होना है। द्वितीय भाग में गार्हस्थ्य के मंगल-कर्मों से आत्मा को परिपुष्ट करना है। तृतीय अवस्था में एक उदारतर क्षेत्र में उतारना है, बन्धनों को शिथिल करना है। और अन्त में हँसी-खुशी मृत्यु को ग्रहण करना है, मोक्ष के ही रूप में मृत्यु को स्वीकार करना है। यदि मनुष्य का जीवन इसी क्रम से व्यवस्थित किया जाय तो वह पूर्णतः सुसंगत होगा, तात्पर्यशील होगा।

जो बादल समुद्र में उत्पन्न होते हैं, और पर्वतों की रहस्यमयी गुफ़ाओं से नदी के रूप में प्रवाहित होते हैं, वे अपनी यात्रा पूरी करके उसी समुद्र में पूर्णतर रूप से विलीन होते हैं। इसे देखकर हमें तृप्ति मिलती है, क्योंकि हमारा वास्तविक जीवन-क्रम भी ऐसा ही है। राह में ही—किसी भी स्थान पर—अचानक अवसान होने में असंगति है, असमाप्ति है। यदि इस बात को हमारा अन्तःकरण समझ ले, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि इस सत्य की उपलब्धि के लिए सम्पूर्ण मानव-समाज को, संसार की सारी जातियों को, विविध मार्गों से पग-पग पर ठोकरें खाकर भी, अथक प्रयास करना है। इसकी तुलना में विलासियों की भोग-सामग्री राष्ट्रों की शक्ति, वणिकों की समृद्धि, सब-कुछ गौण है। मनुष्य की आत्मा को जयी होना है, मुक्त होना है। तभी मानव की इतने दीर्घ काल चेष्टा सार्थक होगी, नहीं तो यही सन्देह-ध्वनि बार-बार उठती रहेगी : 'ततः किम्, ततः किम्, ततः किम् ?'

[आलोचना समिति (क्लब) के तत्त्वाधान में वाई० एम० सी० ए० ओवर्टून हॉल, कलकत्ता में कांग्रेस-अधिवेशन के समय दिसम्बर, १९०६ को दिया गया सम्भाषण।

'बंग दर्शन' (अग्रहायण, १३१३ बँगला संवत्) नवम्बर, १९०६ में प्रकाशित। १९०७ में 'धर्म' (गद्य रचनाओं का १६वाँ खण्ड) में प्रकाशित।]

स्वातन्त्र्य का परिणाम

मानव-जीवन की धारा के दो विपरीत तट हैं। एक ओर मनुष्य की अपनी स्वतन्त्रता है, दूसरी ओर अन्य लोगों के साथ उसका मिलन। इसमें से किसी एक तट को अलग करके हमारा काम नहीं चल सकता, हमारा मंगल नहीं हो सकता। स्वाधीनता का मूल्य मनुष्य के लिए बहुत बड़ा है। यह बात उसके व्यवहार से ही स्पष्ट हो जाती है। स्वाधीनता की रक्षा के लिए मनुष्य क्या कुछ नहीं करता, कौन-कौन-से युद्ध नहीं छेड़ता ? अपनी सम्पत्ति देकर, अपने प्राण तक का बलिदान करके वह आज़ादी को बनाये रखना चाहता है। अपनी विशेषता को परिपूर्ण करने के लिए वह किसी भी बाधा को नहीं मानता। जब उसके रास्ते में बाधा आती है तो वह क्रोध और वेदना का अनुभव करता है। बाधाओं पर विजय पाने के लिए वह हत्या और अपहरण तक कर सकता है।

लेकिन स्वाधीनता के रास्ते में बाधाएँ तो अनिवार्य हैं। जिन उपादानों को लेकर मनुष्य अपने-आपको गढ़ता है, उनकी भी अपनी स्वाधीनता होती है। उन पर हमारी इच्छा या बाहु-बल का ज़ोर पूरी तरह नहीं चलता। इसलिए अपने स्वातन्त्र्य और उपादानों के स्वातन्त्र्य के बीच हम समझौता कर लेते हैं। इसमें हमें बुद्धि और विज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। यह समझौता तभी सफल हो सकता है जब दूसरों की स्वाधीनता के लिए अपनी स्वाधीनता का किसी सीमा तक त्याग करना हमें मंजूर हो। इस तरह स्वतन्त्रता के साथ-साथ नियम को भी मानकर हम बाधाओं पर विजय पाना चाहते हैं।

ऐसा लगता है कि इस समझौते में कोई सुख नहीं है, क्योंकि यह हमारी विवशता का परिणाम है। लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं है। समझौते में भी सुख है। बाधाओं को यथासम्भव अपने अनुगत करने की क्रिया में बुद्धि और शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है, और उसीमें हमें सुख मिलता है। यह केवल पाने का सुख नहीं है, वरन् अपनी क्षमता को काम में लगाने का सुख है। इसमें हम अपनी स्वाधीनता का अनुभव करते हैं और यह स्वाधीनता हमें गौरवमय प्रतीत होती है। बाधा न होती तो यह अनुभव हमें न मिलता। बाधाओं से हममें जो अहंकार उत्तेजित होता है, उससे प्रतियोगिता और विजय की इच्छा तीव्रतर हो जाती है। झरने के सामने पत्थर की रुकावट आती है तो उसमें से फेन निकलता है और वह उछलकर पत्थर को लाँघ जाता है। इसी तरह बाधाओं से हमारी स्वतन्त्रता और

भी विकसित हो जाती है।

कुछ भी हो, है यह लड़ाई ही। इसमें बुद्धि के साथ बुद्धि का संघर्ष है, शक्ति के साथ शक्ति का, प्रयास के साथ प्रयास का। एक ऐसा समय था जब इस संघर्ष में केवल बाहु-बल का प्रयोग होता था, विनाश के द्वारा ही कार्य सम्पन्न करने की चेष्टा की जाती थी। जिसके लिए संघर्ष होता था वह भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता था, और जो लड़ता था वह भी। इस संघर्ष में अपव्यय ही अपव्यय था। लेकिन बुद्धि के आगमन से परिस्थिति बदल गई। अब कौशल की अवतारणा हुई। जो मानव गाँठ को काटना नहीं चाहता था वह गाँठ को सुलझाने के लिए उद्यत हुआ। यह काम संयत होकर, शिक्षित होकर, शांतिपूर्वक करना होता है—अन्ध इच्छा या अधीरता से नहीं। इसमें विजय का प्रयत्न अपने बल को गुप्त रखता है और अपव्यय को यथासम्भव कम करता है। तभी यह प्रयत्न सफल होता है। झरना जब पहाड़ से घाटी में पहुँचता है तो उसका वेग कुछ कम हो जाता है और मार्ग प्रशस्त हो उठता है। इसी तरह हमारी स्वाधीनता का वेग जब विज्ञान के क्षेत्र में आता है तब किसी सीमा तक बाहु-बल का त्याग करता है। हमारी स्वाधीनता उग्रता को छोड़कर उदारता की ओर बढ़ती है। शक्ति केवल अपने-आपको ही जानती है, किसी दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करना चाहती। लेकिन बुद्धि केवल अपनी स्वतन्त्रता से काम नहीं चला सकती। उसे दूसरों में जाकर संधान करना पड़ता है। जिस मात्रा में वह दूसरों को जानती है उतनी ही मात्रा में उसका कार्य सम्पन्न होता है; और दूसरों को जानने-समझने के लिए, दूसरों के द्वार में प्रवेश करने के लिए, बुद्धि को दूसरों के नियम मानने पड़ते हैं। इस तरह स्वातन्त्र्य की चेष्टा बिना पराधीन हुए विजयी नहीं हो सकती।

प्रतियोगिता के संघर्ष-क्षेत्र में स्वतन्त्रता की जो विजय-चेष्टा होती है उस पर ही आजकल ध्यान दिया गया है। डार्विन का 'प्राकृतिक निर्वाचन सिद्धान्त' ऐसे ही युद्ध-क्षेत्र का सिद्धान्त है, जिसमें कोई किसी पर दया नहीं करता और सभी 'सबसे बड़ा' होना चाहते हैं। किन्तु क्रोपाटकिन आदि आधुनिक वैज्ञानिकों ने एक दूसरा दृष्टिकोण भी सामने रखा है। उनका कहना है कि एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा, अपने को बनाये रखने की चेष्टा, प्राणी-समाज का एक-मात्र प्रयास नहीं है। परस्पर सहयोग और सामूहिक जीवन की इच्छा दूसरों को धक्का देकर ऊपर उठने की इच्छा से कम प्रबल नहीं है। अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करके एक-दूसरे की सहायता करने की इच्छा ही प्राणी-जगत् में उन्नति का उपाय है। इस तरह हम देखते हैं कि एक ओर प्रत्येक की स्वातन्त्र्य-स्फूर्ति

और दूसरी ओर समग्र के साथ सामंजस्य; ये दोनों नीतियाँ साथ-साथ काम करती रही हैं। अहंकार और प्रेम, आकर्षण और विमुखता, दोनों मिलकर सृष्टि की रचना करते आए हैं।

जब मानव स्वातन्त्र्य में पूर्णता प्राप्त करने के साथ मिलन में अपना समर्पण भी करता रहे तभी उसका जीवन सार्थक होता है। अर्जन में हमारी परिपूर्ति है, वर्जन में हमारा आनन्द है। संसार में इन दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का मिलन प्रत्यक्ष देखने में आता है। यदि हम अपने को पूर्ण रूप से संचित न करें तो पूर्ण रूप से अपना दान कैसे कर सकेंगे ? जितना बड़ा अहंकार है उतना ही बड़ा त्याग हो, तभी प्रेम महान् हो सकता है।

इतने बड़े संसार में भी मैं स्वतन्त्र हूँ, यद्यपि अपने-आपमें मेरी सत्ता स्वल्प है। चारों ओर कितना तेज है, कितना वेग, कितने पदार्थ, कितने विविध दबाव ! फिर भी मेरे अहं को यह विश्व-ब्रह्माण्ड विदीर्ण नहीं कर सका है। इतना-सा होने पर पर भी मैं स्वाधीन हूँ। मेरे जिस अहंकार ने इन सब सत्ताओं से मेरी क्षुद्र सत्ता को अलग कर रखा है, वह अहंकार भी तो ईश्वर के भोग के लिए है। इसे निःशेष करके ईश्वर को अर्पित कर देने में ही चरम आनन्द है। इस अहंकार के साथ जो दुःसह दुःख है, उसका अवसान भी इसी समर्पण से सम्भव है। भगवान् की इस भोग-सामग्री को नष्ट कौन करेगा ?

हममें जो विरोध और द्वन्द्व है वह ईश्वर को अपनी स्वतन्त्रता समर्पित करने से पहले की अवस्था में है। इसी अवस्था में एक ओर स्वार्थ है तो दूसरी ओर प्रेम, एक ओर प्रवृत्ति है तो दूसरी ओर निवृत्ति। इस अस्थिरता में, इस द्वन्द्व में, जो सौन्दर्य प्रस्फुटित करता है, जो ऐक्य के आदर्श की रक्षा करता है, उसीके कार्य को मंगल कहते हैं। जो अपनी और दूसरों की स्वतन्त्रता को साथ-साथ स्वीकार करता है, परस्पर आघात का कटु स्वर ध्वनित नहीं होने देता, जो स्वाधीनता को समग्र की शान्ति प्रदान करता है, जो दो अहंकारों को एक सौन्दर्य-सूत्र में बाँध रखता है, वही मंगल है। शक्ति से स्वातन्त्र्य वृद्धिगत होता है, मंगल से वह सुन्दर बनता है, प्रेम से उसका विसर्जन होता है। शक्ति और प्रेम के बीच में रहकर जो अर्जन को एकान्त रूप से विसर्जन की ओर ले जाता है, वही मंगल है। इस द्वन्द्व की अवस्था में मंगल की किरणों से ही मानव-संसार का सौन्दर्य प्रातःकाल के या सन्ध्या के मेघों की तरह विचित्र हो जाता है। अपने साथ दूसरों का, स्वार्थ के साथ प्रेम का, जहाँ संधान है, वहाँ मंगल की रक्षा करना अत्यन्त सुन्दर भी है और अत्यन्त कठिन भी। जैसे—कवित्व जितना सुन्दर है उतना ही कठिन भी है।

कवि जिस भाषा का प्रयोग करता है वह तो उसकी अपनी बनाई हुई नहीं है। उसके जन्म से बहुत पहले ही भाषा ने अपनी एक विशिष्ट स्वतन्त्रता विकसित कर रखी है। कवि ने अपने भाव को जिस रूप में व्यक्त करता चाहना है भाषा ठीक उसी रूप में उसका आदेश नहीं मानती। तब कवि के भाव-स्वातन्द्र्य का भाषा के स्वातन्द्र्य से द्वन्द्व होता है। जब यह द्वन्द्व केवल द्वन्द्व के रूप में पाठक के सामने आता है, तो पाठक काव्य की निन्दा करता है। वह कहता है कि भाषा के साथ भाव का मेल नहीं है। ऐसी हालत से शब्द अर्थग्राही होने पर भी हृदय-ग्राही नहीं होते, अन्तःकरण को तृप्त नहीं करते। जो कवि भाव-स्वातन्द्र्य और भाषा-स्त्रातन्द्र्य के अनिवार्य द्वन्द्व को नियंत्रित करते हुए सौन्दर्य की रक्षा करता है वही धन्य है। जो कथ्य है उसे पूरी तरह कहना कठिन है। भाषा की ओर से बाधाएँ सामने आती हैं, और इसलिए कुछ कहा जाता है तो कुछ नहीं कहा जाता। फिर भी सौंदर्य प्रस्फुटित करना ही होगा। यही कवि का काम है। इसमें भावों की क्षति हो सकती है, लेकिन सौंदर्य उसकी पूर्ति कर देता है। वास्तव में द्वन्द्व की बाधा से ही मंगल को वह अवकाश मिलता है जिसमें वह अपना सौंदर्य व्यक्त कर सके। स्वार्थ की क्षति ही एक तरह से क्षति-पूर्ति का मुख्य साधन बन जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वाधीनता सफल होने के लिए स्वयं ही नीचे झुकती है। यदि ऐसा न करे तो वह विकृत हो जाय और अन्त में उसका विनाश हो। स्वाधीनता या तो मंगल का अनुसरण करके प्रेम की ओर बढ़ती है, या विनाश की ओर अग्रसर होती है। यदि स्वातन्द्र्य की विकृति अतिवृद्धि के कारण हो तो प्रकृति-विरोधी हो उठती है, और कुछ समय तक उपद्रव करने के बाद उसका अन्त हो जाता है। मानव का स्वातन्द्र्य जब मंगल के साथ मिलकर, समस्त संघर्षों का निवारण करते हुए, सुन्दर हो उठता है तभी वह आत्म-समर्पण के लिए प्रस्तुत होता है। इस आत्म-समर्पण का अर्थ है विश्वात्मा के साथ मिलन। हमारी अदमनीय स्वाधीनता जब मंगल-सोपान पर चढ़कर प्रेम तक जा पहुँचती है तभी वह सम्पूर्ण होती है, और वहीं उसकी स्वाभाविक समाप्ति है।

दुःख

संसार की व्यवस्था के विषय में जब भी हम सोचते हैं, एक प्रश्न हमें विचलित करता है और हमारे मन में सन्देह जागृत करता है : 'विश्व में दुःख क्यों है ?' इस प्रश्न के कितने ही उत्तर दिये गए हैं। कोई कहता है कि दुःख हमारे जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का फल है। कोई इसे 'प्रथम मानव' के 'आदि पाप' का दण्ड बताता है। लेकिन हम कुछ भी कहें, दुःख अपनी जगह पर दुःख ही बना रहता है।

दुःख तो दुःख ही रहेगा। वह और कुछ हो भी नहीं सकता, क्योंकि उसका अस्तित्व सृष्टि-तत्त्व के साथ बँधा हुआ है। सृष्टि अपूर्ण है, और अपूर्णता ही दुःख है। पर यह अपूर्णता भी आखिर क्यों हैं ? हम केवल यही कह सकते हैं कि अपूर्णता दुनिया के प्रारम्भ से ही चली आ रही है। सृष्टि अपूर्ण नहीं होगी, उसका देश-काल में विभाजन नहीं होगा, वह कार्य-कारण-शृंखला में आवद्ध नहीं होगा—इस तरह की विचित्र आशा के लिए मानव के मन में जगह नहीं है।

यदि सृष्टि ऐसी न हो तो फिर 'पूर्ण' की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है ? उपनिषद् में कहा गया है कि जो कुछ प्रकाशित है वह ब्रह्म का अमृत-आनन्द रूप है। ब्रह्म की अनन्त इच्छा ही संसार के सभी तथ्यों में व्यक्त हो रही है। ब्रह्म के इस प्रकाश को उपनिषदों में तीन अलग-अलग दिशाओं से देखा गया है—जगत् में प्रकाश, मानव-समाज में प्रकाश और मानव-आत्मा में प्रकाश। ब्रह्म शान्त है, शिव है, अद्वैत है।

शान्त यदि अपने-आपमें ही निश्चल रहे, तो वह प्रकट कैसे हो ? विश्व चंचल है, बराबर घूम रहा है। उसकी प्रचण्ड गति में ही ब्रह्म अपना शान्त रूप 'नियम' द्वारा व्यक्त करता है। जगत् के चांचल्य को 'शान्तं' धारण किये हुए है, इसीलिए वह 'शान्त' है। अन्यथा उसकी अभिव्यक्ति सम्भव न होती।

'अद्वैतम्' यदि पूर्णतया निश्चल रहे तो एकत्व का प्रकाश कैसे हो ? संसार में अपने-पराये का भेद है। वैचित्र्य और भेद में ही, प्रेम के द्वारा, ब्रह्म अपना अद्वैत रूप प्रकट करता है। यदि प्रेम के माध्यम से समस्त भेदों में सम्बन्ध प्रतिस्थापित न होता तो 'अद्वैतम्' के प्रकाश का कोई आधार ही नहीं रह जाता।

जगत् अपूर्ण है, इसीलिए गतिशील है। मानव-समाज अपूर्ण है, तभी तो वह प्रयासोन्मुख है। और हमारा आत्म-ज्ञान भी अपूर्ण है, इसीलिए हम आत्मा को

'समस्त' से अलग जानते हैं। वास्तव में दुनिया की गतिशीलता में ही शान्ति है। दुःख में, प्रयास में ही, सफलता है। भेद में ही प्रेम है।

इसीलिए हमें यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि अपूर्णता पूर्णता के विपरीत नहीं है, वरन् उसके विकास का ही एक रूप है। हाँ, शून्यता अवश्य पूर्णता के विपरीत है। गीत जब तक गाया जा रहा है, जब तक वह 'सम' पर आकर रुक नहीं गया, तब तक सम्पूर्ण न होते हुए भी पूर्णता का विरोधी नहीं है। उसके प्रत्येक टुकड़े में सारे गीत का आनन्द कल्लोलित है।

ऐसा न हो तो 'रस' कहाँ से हो ? 'रसो वै सः'। ब्रह्म रस-स्वरूप है। अपूर्ण को वह बराबर परिपूर्ण किए रहता है, इसीलिए वह 'रस' है। सब-कुछ उसीसे भरा-पूरा है। यही रस का रूप है, यही रस की प्रकृति है। इसीलिए जगत् की अभिव्यक्ति 'आनन्दरूपममृतम्' है, यही आनन्द का रूप है, यही आनन्द के अमरत्व का स्वभाव है। और इसीलिए यह अपूर्ण विश्व शून्य नहीं, मिथ्या नहीं। दुनिया की प्रत्येक शक्ति हमें अनिर्वचनीयता में डुबो रही है—यहाँ अतुलनीय रूप है, वेदना से ओत-प्रोत ध्वनि है, व्याकुल गन्ध है। आकाश से केवल हमारा शरीर ही घिरा हुआ नहीं है, हृदय भी विस्फारित है। सूर्य की किरणें दृष्टि को ही सार्थक नहीं करतीं, अन्तःकरण को भी उद्बोधित करती हैं। यहाँ किसी भी शक्ति या वस्तु का निरा अस्तित्व नहीं है। जो कुछ है मानव-मन को चैतन्य और मानव-आत्मा को सत्य प्रदान कर रहा है।

पद्मा नदी के नीरव, नील जल-स्रोत को हम जाड़े में देखते हैं। पीले, निर्जन तटों के बीच वह बहती चली जाती है—निःशब्द, निस्तरंग। यह क्या हो रहा है ? यदि हम कहें 'नदी की धारा बह रही है' तो इससे कुछ भी व्यक्त नहीं होता। पद्मा की अद्भुत शक्ति, उसके विचित्र सौन्दर्य के विषय में हमने क्या कहा ? कुछ भी नहीं। वचनातीत उस परम सत्ता को, उसके शब्दहीन संगीत और उसकी अपूर्व रूप-राशि को पद्मा की धारा किस गम्भीरता के साथ व्यक्त कर रही है ! 'मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः'। यह है तो केवल पानी और मिट्टी। लेकिन जिस सत्ता का प्रकाशन हो रहा है, वह क्या है ? वही आनन्दरूपममृतं, वही आनन्द का अमरत्व-रूप है।

उसी पद्मा नदी को हम वैशाख की आँधियों में ही देखते हैं। डूबते हुए सूरज की अरुणिमा बालू से धुँधली पड़ जाती है। आँधी नदी की धारा को बार-बार कँपाती है—काले घोड़े की मुलायम खाल-जैसी लगती है वह धारा। उस पार, वन श्रेणी के ऊपर, क्षितिज को विदीर्ण करती हुई आँधी स्वयं ही जल-स्थल-आकाश के ज़ाल में जकड़ जाती है। जिन बादलों को उसने विच्छिन्न किया था

उनमें आप ही आवर्तित हो जाती है। यह उन्मत्त, दिशाहीन आँधी आखिर क्या चीज़ है ? केवल हवा और बादल ? बालू और धूल ? जल और स्थल ? नहीं। इन सब नगण्य पदार्थों में यह आँधी ब्रह्म के अपूर्व रूप का दर्शन है। यही 'रस' है। वीणा की लकड़ी और तार नहीं, वीणा का संगीत है। इस आनन्द का परिचय है वही आनन्दरूपममृतम्।

मानव-जीवन में हम जो देखते हैं वह भी मनुष्य को कितना पीछे छोड़ गया है ! रहस्य का कोई अन्त ही नहीं है। कैसे अनोखे रूप धारण करके, कितनी जातियों और राष्ट्रों के इतिहास में, कैसी अचिंत्य घटनाओं और असाध्य साधनों के बीच, मानव-शक्ति और प्रेम ने सीमा-बन्धनों को तोड़कर 'भूमा' को प्रत्यक्ष किया है ! मानव में यही है आनन्दरूपममृतम्। ऐसा लगता है कि आकाश के आँगन में अनंत विश्व-महोत्सव का आयोजन है। कोई अपूर्णता के थाल सजा गया है और हम सब पूर्णता के प्रीतिभोज में बैठे हैं। उस पूर्णता के कितने विचित्र रूप और कैसे विविध स्वाद हैं जिनसे प्रतिक्षण हमारे हृदय में एक अजीब चेतना जागृत हो रही है। ऐसा न हो तो रस-स्वरूप रसदान कैसे कर सकता ? अपूर्णता के कठिन दर्द को लबालब भरते हुए यह रस उछला पड़ रहा है। दुःख का यह स्वर्ण-पात्र कठोर लगता है, पर क्या इसीलिए हम इसे तोड़ डालें और इतने बड़े रसभोज को व्यर्थ होने दें ? नहीं, हम ऐसा नहीं करेंगे। परोसने वाली लक्ष्मी को पुकारकर हम यही कहेंगे : 'पात्र कठिन ही सही, तुम इसे भर दो। दुःख की कठोरता को पार करके आनन्द गले तक भरकर छलकता रहे।'

जिस तरह जगत् की अपूर्णता पूर्णता-विरोधी नहीं, बल्कि पूर्णता की ही अभिव्यक्ति है; उसी तरह अपूर्णता का साथी दुःख भी केवल दुःख नहीं, आनन्द भी है। दुःख भी आनन्दममृतं है, हालाँकि यह एक ऐसी बात है जिसे हम आसानी से कह नहीं पाते और जिसे प्रमाणित करना तो बहुत ही कठिन है।

अनन्त ग्रह-नक्षत्र-मंडल को अमावस्या का अंधकार प्रकट करता है। उसी तरह दुःख के घने अँधेरे में प्रवेश करके क्या आत्मा ने कभी आनन्द जगत् का प्रकाश नहीं देखा ? क्या मानव अकस्मात् कभी नहीं बोल उठा : 'मैं जान गया। दुःख का रहस्य समझ गया, अब कभी सन्देह न करूँगा !' परम दुःख की सीमा-रेखा पर क्या हमारे हृदय ने किसी शुभ घड़ी में अपनी आँखें नहीं खोलीं ? क्या वहाँ मृत्यु और अमरत्व, दुःख और सुख एक नहीं हो जाते ? उसीकी ओर देखकर क्या ऋषियों ने नहीं कहा :

'यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।'

जिसकी छाया अमृत है उसीकी छाया मृत्यु है, अन्य किस देवता की हम अर्चना करें ?

वास्तव में यह विषय उपलब्धि का है, तर्क का नहीं। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह अनुभूति विद्यमान है, तभी मानव दुःख की पूजा करता आया है—निरे संतोष की पूजा मानव ने कभी नहीं की। संसार में जिन लोगों को अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है वे दुःख के अवतार रहे हैं—सुख-चैन में जीवन बिताने वाले लक्ष्मी के दास कभी पूजनीय नहीं हुए, और न भविष्य में होंगे। यदि हम दुःख को हीन समझें, उसे अस्वीकार करें, तो यह हमारी दुर्बलता होगी। दुःख के माध्यम से ही आनन्द की महत्ता को समझना चाहिए और मंगल को भी दुःख द्वारा ही सत्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

ध्यान रहे, अपूर्णता का गौरव ही दुःख है। दुःख ही मूलधन है, अपूर्णता की एकमेव सम्पदा है। दुःख के बीच हम सत्य की उपलब्धि करते हैं, और इसीमें हमारा मनुष्यत्व है। मानव की क्षमता बहुत स्वल्प है, फिर भी ईश्वर ने उसे भिखारी नहीं बनाया। दुःख का भार वहन करके हम कुछ पाते हैं, हाथ पसारकर नहीं। सम्पत्ति तो जो कुछ है परमेश्वर की है, मानव की नहीं। लेकिन दुःख मानव का अपना है, बिलकुल अपना। दुःख की दौलत ही ऐसी दौलत है जिसके आधार पर अपूर्ण मानव अपनी प्रतिष्ठा की सुरक्षा कर सकता है और पूर्ण ब्रह्म के साथ अपने सम्बन्ध पर गर्व कर सकता है। उसे कभी लज्जित नहीं होना पड़ता, जब तक दुःखनिधि उसके हाथ है। साधना हमें ईश्वर तक पहुँचाती है, तपस्या ब्रह्म तक। ईश्वर में पूर्णता है, पर हमारे पास भी कुछ है जिसका पूर्णता की ओर संकेत है—वही दुःख है। दुःख ही साधना है, तपस्या है। उसी की निष्पत्ति है आनन्द, मुक्ति-लाभ, ईश्वर-ज्ञान।

यदि मानव ईश्वर को कुछ भेंट देना चाहे तो वह क्या देगा, क्या दे सकता है ? ईश्वर का धन उसीको समर्पित करने में हमें तृप्ति नहीं मिल सकती। हम केवल दुःख-धन ही दे सकते हैं, जो कि हमारी निजी सम्पत्ति है। इस दुःख को ईश्वर पूर्ण करता है—आनन्द देकर, अपने-आपको देकर। मानव के घर का यह पात्र न होता तो ईश्वर अपनी सुधा का दान कैसे करता, अपना आनन्द उँडेलता कैसे ?

हम यदि गर्व के साथ कुछ कह सकते हैं तो यही—दान में ही ऐश्वर्य सार्थक होता है। हे ईश्वर, आनन्द को दान करने की—हर्ष बरसाने की—तुम्हारी शक्ति ही तुम्हारी पूर्णता है। आनन्द अपने-आपमें बन्दी होकर सम्पूर्ण नहीं होता, अपने त्याग से ही सम्पूर्ण होता है। तुम्हारे इस स्वतःदान की परिपूर्णता

को हम दुःख के द्वारा वहन कर रहे हैं, इसी पर हमें अभिमान है। यहीं तुम्हारा-हमारा मिलन है, तुम्हारे और हमारे ऐश्वर्य का संगम है। यहीं तुम अतीत न रहकर हमारे समीप आ जाते हो, अपने सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र-विजड़ित राज-सिंहासन से उतरकर हमारे दुःख के जीवन में आते हो—अपनी लीला सम्पूर्ण करने। हे सम्राट्, तुम हमारे दुःख के सम्राट् हो। हे दुःख के धनी, ऐसा उपाय करो कि जब अचानक आधी रात को तुम्हारे रथचक्र के निदान से समस्त पृथ्वी बलिपशु के हृदय की तरह काँप उठे, तो हम अपने जीवन में तुम्हारा जयजयकार कर सकें, तुम्हारे प्रचण्ड आविर्भाव का स्वागत कर सकें। उस महान् क्षण में भयभीत होकर यह न कहें 'नहीं, हम तुम्हें नहीं चाहते।' तुम्हें दरवाज़ा तोड़कर अन्दर न घुसना पड़े, बल्कि हम ही पूरी तहर सचेन होकर सिंह-द्वार खोल दें, तुम्हारे तेजोमय ललाट की ओर आँखें उठाकर देख सकें, और कह सकें, 'हे दारुण। तुम हमारे प्रिय हो।'

कभी-कभी दुःख के विरुद्ध विद्रोह करते हुए हम कहते हैं, 'दुःख-सुख को हम समान समझेंगे।' सम्भव है कोई विशेष व्यक्ति इस हद तक उदासीन हो सके। अपने चित्त को इस तरह निष्प्राण बना सके। लेकिन दुःख-सुख तो किसी व्यक्ति के नहीं, पृथ्वी के सभी जीवों के लिए हैं। मेरे दुःख के लोप से जगत् का दुःख चला नहीं जाता। इसलिए दुःख को अपने में ही नहीं, उस विराट् रंगभूमि में देखना होगा जहाँ वह अपने वज्राघात से—अपने ताप से राष्ट्रों और राज्यों को गढ़ता रहा है; जहाँ उसने मानव-जिज्ञासा को कठिन मार्गों पर अग्रसर कराया है, इच्छाओं को दुर्जेय बाधा-विपत्तियों के बीच जीवित रखा है; जहाँ उसने मानवीय प्रयास को क्षुद्र सफलता से सन्तुष्ट नहीं होने दिया; जहाँ युद्ध-संघर्ष-दुर्भिक्ष उसके सहचर रहे हैं; जहाँ वह रुधिर-सरोवर में शान्ति के श्वेत कमल विकसित कराता आया है; जहाँ वह दैन्य के निर्दय ताप से पानी को सुखाकर बरसात के बादलों का निर्माण करता है, हलधर का रूप धारण करके अपने तीक्ष्ण हल से मानव-हृदय को जोतता है, उसे शत-शत रेखाओं में विदीर्ण करता है और अन्त में फल-फूल से परिपूर्ण करता है। उस रंगमंच पर दुःख के अन्त को परित्राण नहीं कहा जाता, बल्कि मृत्यु कहा जाता है। वहाँ जो अपनी इच्छा से दुःखाञ्जलि का अर्घ्य नहीं देता वह विडम्बित होता है।

मानव के इस दुःख में केवल आँसुओं का मृदुल वाष्प ही नहीं, हृद् का प्रखर तेज भी है। विश्व में तेजः पदार्थ हैं। मानव-चित्त में दुःख है। वही प्रकाश है, गति है, ताप है। वही टेढ़े-मेढ़े रास्तों से घूम-फिरकर समाज में नित्य नूतन कर्म-लोक और सौन्दर्य-लोक का निर्माण करता है। कहीं खुलकर तो कहीं छिपकर,

दुःख के ताप ने ही मानव-संसार की वायु को धावमान रखा है।

इस दुःख को हम क्षुद्र नहीं समझेंगे। मस्तक उठाकर, सीना तानकर इसे स्वीकार करेंगे। इसकी शक्ति से हम भस्म नहीं होंगे, बल्कि अपने-आपको और कठिन रूप में गढ़ेंगे। दुःख की सहायता से अपने-आपको ऊपर उठाने के बदले यदि हम उसमें डूब जायँ तो यह दुःख का अपमान होगा। जिसका भार सहने से जीवन सार्थक होता है उसीको आत्म-हत्या का साधन समझना दुःख-देवता के सामने अपराधी होना है। अस्तित्व की प्रतिष्ठा को समझने का दुःख के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। दुःख ही जगत् के पदार्थों का मूल्य है, जो कुछ आदमी ने रचा है दुःख की सहायता से रचा है। जिसे हमने दुःख से नहीं पाया वह हमारा अपना नहीं है। त्याग के द्वारा, दान, तपस्या दुःख के द्वारा ही गम्भीर आत्म-बोध सम्भव है— सुख या आराम के द्वारा नहीं। दुःख के अतिरिक्त किसी उपाय से हम अपना आन्तरिक सामर्थ्य नहीं जान सकते। हम अपनी शक्ति को जितना ही कम लेखेंगे हमारी दृष्टि में आत्म को गौरव भी उतना ही कम होगा और उसी मात्रा में हमारा आनन्द भी उथला रह जायगा।

'रामायण' में कवि ने दुःख से ही राम, सीता, लक्ष्मण और भरत को गौरवान्वित किया है। 'रामायण' के काव्य-रस में मनुष्य ने आनन्द के मंगल-स्वरूप देखे हैं—ये स्वरूप दुःख ने ही धारण किये हैं। 'महाभारत' के सम्बन्ध में भी हम यही कह सकते हैं। इतिहास में जो कुछ भी महान् है, वीर्यशाली है, दुःखासन पर प्रतिष्ठित है। मातृ-स्नेह का मूल्य दुःख में है; पातिव्रत्य, शौर्य, पुण्य—सभी की गरिमा दुःख में है।

इस गरिमा को ईश्वर यदि हमसे छीन ले, यदि हमको वह सर्वदा आराम में ही निमग्न रखे तो सचमुच हमारी अपूर्णता लज्जास्पद हो जाय और उसकी मर्यादा जाती रहे। ऐसी दशा में किसी भी वस्तु को हम स्वार्जित न कह सकेंगे—जो कुछ है वह दान दी हुई भिक्षा-मात्र रह जायगी। आज ईश्वर के धान को हम खेती के परिश्रम से अपना बनाते हैं, ईश्वर के जल को ढोने के कष्ट से, ईश्वर की अग्नि को घर्षण के प्रयास से कमाते हैं। हमारी दैनंदिन आवश्यकताओं को सहज ही पूरा करके ईश्वर ने हमें अपमानित नहीं किया। उसकी दी हुई चीज़ों का जब हम एक विशेष ढंग से अर्जन करते हैं, तभी हम सही अर्थ में उन्हें 'पाते' हैं। यदि दुःख को ईश्वर वापस ले ले तो संसार में हमारा सारा स्वत्व निर्मूल हो जाय और हमारे हाथ में कोई अधिकार-पत्र न रहे। तब हमारी भावना यही होगी कि हम दाता के घर में हैं, न कि अपने घर में। यह हमारा चरम अभाव होगा—मानव के लिए दुःखाभाव से बड़ी क्षति

कोई नहीं हो सकती।

उपनिषद् में कहा है :

'स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा सर्वम्सृजत यदिदं किञ्च।' उसने तप किया और जो कुछ भी है उसकी सृष्टि तप से की। ईश्वर का तप ही दुःख-रूप से पृथ्वी पर विराजता है। चाहे आन्तरिक जगत् में हो या बाह्य जगत् में, किसी भी चीज़ का सृजन हम तप से ही कर सकते हैं। जन्म का आधार वेदना है, त्याग के मार्ग से ही लाभ तक पहुँचा जा सकता है। जो कुछ अमर है, प्रयत्न की सीढ़ी पर चढ़कर आया है। इस तरह हम ईश्वर की तपस्या को वहन करते हैं। उसी तप का दाह नित नये रूप लेकर मानवीय अन्तःकरण में प्रकाशित होता है। यह तपस्या आनन्द का ही अंग है। इसीलिए एक अन्य पक्ष से उपनिषद् में कहा है :

'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' आनन्द से ही प्राणी-मात्र की उत्पत्ति हुई है। आनन्द न हो ती पृथ्वी के इतने भारी दुःख का बोझ कोई सहता कैसे?

'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।' किसान खेती करके फ़सल उगाता है—जितनी बड़ी उसकी तपस्या, उतना ही गंभीर उसका आनन्द होता है। चक्रवर्ती राजा का साम्राज्य-निर्माण महान् दुःख भी है, महान् आनन्द भी। देशभक्त अपनी प्राणाहुति से राष्ट्र को गढ़ता है—इसीमें उसका चरम आनन्द है। ऐसी ही है प्रेमी की प्रियतम-साधना, ऐसा ही है ज्ञानी का ज्ञानार्जन।

ईसाई धर्मशास्त्र के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य के घर जन्म लिया, दुःख का भार वहन किया और पीड़ा का काँटों-भरा मुकुट अपने मस्तक पर रखा। मानव की एक-मात्र निजी सम्पत्ति जो दुःख है उसे प्रेम के साथ अपनाकर ईश्वर वेदना के संगम-तीर्थ पर मनुष्य से आ मिला है। दुःख को ईश्वर ने अपार आनन्द और मुक्ति के स्तर तक ऊँचा उठाया है। यही ईसाई धर्म का मूल-मन्त्र है।

हमारे देश में भी एक ऐसा संप्रदाय है जिसके साधकों ने ईश्वर के दारुण, दुःखान्वित रूप को 'माँ' कहकर सम्बोधित किया है। इस रूप को सुखप्रद या कोमल बनाने की उन्होंने ज़रा भी कोशिश नहीं की। संहार-रूप में ही वे जननी-रूप देखते रहे हैं। क्लेश की विभीषिका में ही उन्होंने शिव-शक्ति मिलन को प्रत्यक्ष किया है।

केवल सुख-स्वातन्त्र्य, शोभा-संपद् में ही ईश्वर का सत्य रूप देखना शक्ति के अभाव का भी द्योतक है और भक्ति की कमज़ोरी का भी। कुछ लोग धन

को ही ईश्वर का प्रसाद मानते हैं। उनके लिए सौन्दर्य ही ईश्वर की मूर्ति है, सांसारिक सुख-साफल्य ही पुण्य का पुरस्कार है, दैवी आशीर्वाद है। ईश्वर की दया का वे एक ही पक्ष देखते हैं—नितान्त कोमल पक्ष। ऐसे लोग—जिनके लिए सुख एकमेव पूज्य वस्तु है—वास्तव में ईश्वरीय दया को अत्यन्त क्षुद्र और खण्डित रूप में ग्रहण करते हैं; क्योंकि वह दया उनके अपने लोभ, मोह और भीरुता का आधार बन जाती है।

किन्तु हे भीषण! तुम्हारी दया और आनन्द की क्या कोई सीमा है? क्या वह इतनी संकुचित है कि हम उसे सुख-सम्पदा में, जीवन में, निरापद अस्तित्व में ही देखें? क्या हम दुःख, मृत्यु और आशंका को तुमसे अलग करके, तुम्हारे विरुद्ध खड़ा करके देखेंगे? कभी नहीं! हे पिता, तुम्हीं तो दुःख हो, संकट हो। हे माता, तुम्हीं मृत्यु हो, आशंका हो। तुम्हीं 'भयानां भयं भीषणं भीषणानां' हो।

'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णोः।'

सारे संसार को अपने ज्वलन्त मुख का ग्रास बना रहे हो। हे विष्णु, समस्त जगत् को तेज से ओत-प्रोत करती हुई तुम्हारी उग्र ज्योति प्रतप्त है। हे रुद्र, तुम्हारा दुःख-रूप और मृत्यु-रूप हम देखते हैं तभी तो दुःख और मृत्यु से मुक्त होकर तुम्हें प्राप्त करते हैं—वरना भयभीत होकर हम सब विश्व में ठोकरें खाते; विश्वास के साथ कोई भी अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से समर्पित न कर सकता। जब हमारी ऐसी दशा होती है तब हम क्या करते हैं? तुम्हें 'दयामय' कहते हैं, तुमसे करुणा की भीख माँगते हैं, तुम्हारे ही सामने तुम्हारे विरुद्ध अभियोग लगाते हैं, और तुम्हारे हाथ से रक्षा पाने के लिए रोते हैं, सो भी तुम्हारे ही आगे!

हे प्रचण्ड! हमारी प्रार्थना है, हमें वह शक्ति दो जिससे तुम्हारी दया को हम दुर्बलतावश एक ऐसी वस्तु न बना दें जो केवल आराम या क्षुद्र सुविधा का साधन हो। तुम्हें आंशिक रूप से स्वीकार करके हम अपनी ही प्रवञ्चना न करें।

नहीं, काँपते हृदय से, आँसूभरी आँखों से तुम्हें 'दयामय' नहीं कहेंगे। युग-युग में तुम मानव का उद्धार करते रहे हो। इस उद्धार का पथ दुःख का पथ है, आराम का नहीं। मानव-आत्मा पुकार रही है: 'अविरावीर्म एधि।' हे आविः, मेरे सम्मुख तुम्हारा आविर्भाव हो। यह प्रकाश आसान नहीं है, यह प्राणान्तिक प्रकाश है। असत्य अपने को जलाकर खाक करता है तब कहीं सत्य में उज्ज्वल

हो पाता है। मृत्यु अपने को विदीर्ण करके अमरत्व में खिल उठती है। हे आविः, ऐसा ही है तुम्हारा आविर्भाव—मानव के कर्म में, ज्ञान में, सामाजिक जीवन में। इसीलिए ऋषियों ने तुम्हें 'करुणामय' कहकर सम्बोधित नहीं किया, इसीलिए ऋषियों ने कहा 'रुद्र यत्ते दक्षिणमुखं तेन मां पाहि नित्यम्।' हे रुद्र, तुम्हारा जो प्रसन्न मुख है, उसके द्वारा हमारी रक्षा करो।

हे रुद्र, तुम हमारी रक्षा भय से, विपद् से, या मृत्यु से नहीं करते। तुम रक्षा करते हो जड़ता से, अन्धकार से। हे रुद्र, तुम्हारा प्रसन्न मुख हम उस समय नहीं देखते जब हम विलास में डूबे हुए, गर्व से मत्त, यश के मद में चूर या अकर्मण्यता की नींद से अलसाये होते हैं। लेकिन जब हम अज्ञान और अन्याय से संघर्ष करते हैं, जब हम सचाई को स्वीकार करने के लिए भय पर विजय पाते हैं, दुस्तर और कटु कार्य को अपने ऊपर लेने में हिचकते नहीं, जब किसी भी सुविधा या शक्ति को तुमसे बड़ा नहीं मानते—उसी समय, हे रुद्र, तुम्हारे प्रमुदित मुख-मंडल का तेज—आघात—अपमान-दरिद्रता-हिंसा के बीच—हमारे जीवन को गौरवान्वित करता है। उसी क्षण तुम्हारी प्रचण्ड भेरी मृत्यु-विपत्ति-संघर्ष से निनादित होती है और हमारे चित्त को जागरित करती है। ऐसा न हो तो सुख में हमें आनन्द न मिले, न धन में मंगल, न शान्ति में विश्राम।

हे भयंकर, हे प्रलयंकर, शंकर! हे मयस्कर, हे पिता, हे बन्धु, हमें आशीर्वाद दो। हममें ऐसी शक्ति उत्तरोत्तर बिकसित होती रहे जिससे हम तुम्हें ग्रहण कर सकें—जागृत मन से, उद्यत प्रयास से, अपराजित चित्त से। भय-दुःख-मृत्यु में भी तुम्हें पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकें—कभी कुंठित न हों, पराभूत न हों। जगाओ, हमें जगाओ। जो लोग और देश अपनी शक्ति-सम्पदा को सब-कुछ मानकर अन्धे हो उठे हैं, उन्हें भी तुम प्रलय के बीच क्षण-भर के लिए जागरित कर दोगे, और उस समय उद्धत ऐश्वर्य की दीवार तोड़कर तुम्हारी ज्योति प्रकाशित होगी। हे रुद्र, ऐसा करो कि उस ज्योति को हम अपना सौभाग्य समझ सकें! जो अन्य लोग और देश अपनी शक्ति-सम्पदा को भूल गए हैं, अविश्वास, दीनता, जड़त्व में बेजान होकर पड़े हैं, उन्हें विपत्तियाँ विह्वल करेंगी, अन्याय, अत्याचार, आघात से उनकी नसें थरथरा उठेंगी। उस दुःसह दुःख के आगे भी हम अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर सकें, उसका स्वागत कर सकें। तुम्हारे उस भीषण आविर्भाव को देखकर कह सकें:

'अविरावीर्म एधि। रुद्र यत्ते दक्षिणमुखं तेम मां पाहि नित्यं'। दैन्य हमें भिखारी न बनाये, बल्कि दुस्तर मार्गों का बटोही बनाये। अकाल और महामारी में

मृत्यु की ओर न घसीटें, बल्कि अधिक प्रयत्नशील जीवन की ओर आकृष्ट करे। दुःख से शक्ति मिले, शोक से मुक्ति-लाभ हो। लोक-भय, राज-भय, मृत्यु-भय हमारी विजय के कारण हों। हे रुद्र, तुम्हारा प्रसन्न मुख हमारी रक्षा तभी करेगा जब संकट की कठोर परीक्षा में हमारा मनुष्यत्व उत्तीर्ण होगा। अशक्ति के प्रति अनुग्रह, आलस्य के प्रति प्रश्रय, कायरता के प्रति दया—इनसे परित्राण नहीं मिल सकता। ऐसी दया तो दुर्गति है, अपमान है, और—हे महाराज! —ऐसी दया तुम्हारी दया तो नहीं है।

[मेघोत्सव (१३१४ बँगला संवत्) जनवरी, १९०८ में दिया गया व्याख्यान। इसकी रचना शिलाइदाह में हुई थी, जहाँ वे अपने सबसे छोटे बेटे शमीन्द्र की मृत्यु (नवम्बर, १९०७) के बाद रह रहे थे। 'बंग दर्शन' (फाल्गुन, १३१४) मार्च, १९०७ में प्रकाशित। १९०९ में 'धर्म' पुस्तक में समाविष्ट।]

भावुकता और पवित्रता

भाव-रस के लिए हमारे हृदय में एक स्वाभाविक लोभ होता है। काव्य और शिल्प-कला से, गल्प, गान और अभिनय से, भाव-रस उपयोग करने के आयोजन हम करते रहते हैं।

अक्सर उपासना से भी हम भाव-तृप्ति चाहते हैं। कुछ क्षणों के लिए एक विशेष रस का आभोग करके हम यह सोचते हैं कि हमें कुछ लाभ हुआ। धीरे-धीरे इस भोग की आदत एक नशा बन जाती है। मनुष्य अन्यान्य रस-लाभ के लिए जिस तरह विविध प्रकार के आयोजन करता है, लोगों को नियुक्त करता है, रुपया खर्च करता है, उसी तरह उपासना-रस के नशे के लिए वह तरह-तरह के आयोजन करता है। रसोद्रेक के लिए उचित लोगों का संग्रह करके उचित रूप से वक्तृताओं की व्यवस्था की जाती है। भगवत-प्रेम का रस नियमित रूप से मिलता रहे इस विचार से तरह-तरह की दूकानें खोली जाती हैं।

इस तरह के भाव-रस-ग्रहण को वास्तविक प्राप्ति समझना मानवीय दुर्बलता का एक लक्षण है। संसार में नाना प्रकार से हमें इसका परिचय मिलता है। ऐसे बहुत-से लोग हैं जो अतिशीघ्र गद्‌गद् हो उठते हैं, जो प्रत्येक मनुष्य को गले से लिपटाकर 'भाई' कह उठते हैं; जिनकी दया सहज ही व्यक्त होती है और जिनके आँसू सहज ही बह निकलते हैं। ऐसे लोग इस तरह के भाव-अनुभव और भाव-प्रकाश को ही फल-प्राप्ति समझते हैं। इसलिए वे वहीं तक पहुँचकर रुक जाते हैं, आगे नहीं बढ़ते। ऐसे भाव-रस को मैं निरर्थक नहीं कहता। लेकिन जब हम इसे एक-मात्र लक्ष्य समझते हैं तो वह केवल निरर्थक ही नहीं, अनिष्टकर बन जाता है। भाव को ही लक्ष्य समझने की भूल मनुष्य अक्सर कर बैठता है, क्योंकि उसमें एक तरह का नशा है।

ईश्वर की आराधना-उपासना के बीच प्राप्ति के दो अलग मार्ग हैं।

वृक्ष दो तरह से खाद्य संग्रह करता है। उसके पल्लव हवा और रोशनी से पुष्टि ग्रहण करते हैं, और वृक्ष स्वयं अपनी जड़ों के द्वारा खाद्य आकर्षित करता है।

कभी वर्षा है कभी धूप, कभी ठंडी हवा तो कभी वसन्त का मृदु समीर—चंचल पल्लव इन सबसे जो कुछ लेने योग्य हैं, ले लेते हैं; उसके बाद वे सूखकर झड़ जाते हैं और नये पत्ते निकलते है।

लेकिन जड़ में चांचल्य नहीं होता। वह सदा स्तब्ध, दृढ़ होकर गहराइयों में फैलती जाती है और अनेक ऐकान्तिक प्रयास से खाद्य ग्रहण करती है।

जड़ और पल्लव—ये दोनों पक्ष हमारे भी हैं। और हमारा आध्यात्मिक खाद्य इन दोनों दिशाओं से ग्रहण किया जाना चाहिए।

इनमें से जड़ का पक्ष प्रधान है। यही है चरित्र-पक्ष, भाव-पक्ष नहीं। उपासना में भी जिसे हम चरित्र की दिशा में ग्रहण करते हैं वही हमारा प्रधान खाद्य होता है। वहाँ चांचल्य नहीं है, वैचित्र्य की खोज नहीं है। वहाँ हम शान्त होते हैं, स्तब्ध होते हैं, ईश्वर में प्रतिष्ठित होते हैं। इस तरह के ग्रहण का कार्य अगोचर होता है, गंभीर होता है। वह अन्दर-ही अन्दर शक्ति और प्राण का संचार करता है, लेकिन भाव की अभिव्यक्ति द्वारा अपने-आपको प्रकाशित नहीं करता। वह धारण करता है, पोषण करता है, और गुप्त रहता है।

चरित्र जिस शक्ति से प्राण को विस्तृत करता है उसीको कहते हैं निष्ठा। वह अश्रुपूर्ण भाव का आवेग नहीं है। वह विचलित नहीं होती, जहाँ प्रतिष्ठित है वहीं डटी रहती है, गहराइयों में नीचे उतरती जाती है। शुद्ध चारिणी, स्नात, पवित्र सेविका की तरह वह सबसे नीचे, हाथ जोड़कर, भगवान् के पाँव के पास खड़ी रहती है।

हृदय में कितने परिवर्तन होते हैं! जिस बात से आज उसे तृप्ति मिलती है उसीसे कल वह तृष्णा अनुभव करता है। उसमें ज्वार-भाटे का खेल चलता है—कभी उल्लास, कभी अवसाद। वह वृक्ष की पत्तियों की तरह आज विकसित है तो कल जीर्ण। यह पल्लवित चंचल हृदय नित्य नये भाव-संस्पर्श के लिए व्याकुलता से स्पंदित है।

लेकिन जड़ों के साथ, चरित्र के साथ यदि उसका अविचलित, अविच्छिन्न योग न हो तो यही भाव-संस्पर्श उसके लिए आघात और विनाश का कारण बन जाता है। जिस पेड़ की जड़ काट दी जाती है उसे सूर्य का प्रकाश सुखा देता है, वर्षा का जल सड़ा देता है।

हमारे चरित्र के भीतर जो निष्ठा है वह यदि यथेष्ट मात्रा में खाद्य संग्रह करना बन्द कर दे तो भाव का योग हमें पुष्ट नहीं करता, बल्कि हममें विकृति उत्पन्न करता है। दुर्बल, क्षीण, चित्त के लिए भाव का खाद्य कुपथ्य बन जाता है।

चरित्र की जड़ से जब हम पवित्रता-लाभ करते हैं तभी भावुकता हमारा साथ देती है। भाव-रस को ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं होती; संसार में भाव का विचित्र प्रवाह अलग-अलग दिशाओं से अपने-आप ही हमारे पास आ पहुँचता है। लेकिन

पवित्रता साधना की सामग्री है। उसकी बाहर से वर्षा नहीं होती; अन्दर से ही उसको खींचकर ग्रहण करना पड़ता है। यह पवित्रता ही हमारी मूल वस्तु है, भावुकता का सम्बन्ध केवल पल्लवों से है।

अपनी उपासना में हम सर्वदा गंभीर, निस्तब्ध भाव से इसी पवित्रता को ग्रहण करने के लिए चेतना को उद्बोधित करेंगे। और अधिक कुछ नहीं, हम प्रतिदिन सवेरे उसीके सामने खड़े होंगे जो 'शुद्धम् अपापविद्धम् है,' और उसका आशीर्वाद ग्रहण करेंगे। झुककर प्रणाम करते हुए कहेंगे : 'तुम्हारी पद-धूलि से मेरा ललाट निर्मल हुआ। आज मेरी जीवन-यात्रा का पाथेय संचित हुआ। सवेरे तुम्हारे सामने खड़े होकर तुम्हें प्रणाम किया है। तुम्हारी चरण-धूलि सिर पर रखकर दिन-भर के कर्म में निर्जल, सतेज भाव से तुम्हारा परिचय ग्रहण करूँगा।'

[शान्तिनिकेतन में (२ फाल्गुन, १३१५ बँगला संवत्)
१४ फरवरी १९०९ को दिया गया व्याख्यान।
'शान्तिनिकेतन' नवम खण्ड में प्रकाशित।]

कर्मयोग

हमें जीवन देने के साथ-ही-साथ ईश्वर हमें पृथ्वी के आनन्द-यज्ञ में निमंत्रित भी करता है; लेकिन कुछ लोग इस निमंत्रण को स्वीकार नहीं करना चाहते। वे प्रत्येक वस्तु की वैज्ञानिक समीक्षा करते हैं, विश्व के सारे रहस्य के पीछे एक ऐसे स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ नियम ही नियम हैं। वे कहते हैं—'भ्रांति दूर हो गई। जो कुछ है सब नियम से चलता है, इसमें आनन्द कहाँ है ?' ऐसे लोग हमारे उत्सव की आनन्द-ध्वनि सुनकर दूर बैठे मन-ही-मन हँसते हैं।

सूर्य और चन्द्र का नियम से उदय और अस्त होता है—ऐसा लगता है वे भयभीत हैं कि कहीं पल-भर की देर न हो जाय। हवा को हम बाहर से देखने पर स्वाधीन समझते हैं, लेकिन विशेषज्ञ जानते हैं कि उसमें भी स्वच्छन्दछता नहीं—वह भी नियमबद्ध है। दुनिया में जिसे हम सबसे अधिक आकस्मिक समझते हैं, अर्थात् मृत्यु—जिसके आने की हमें खबर ही नहीं होती और जिसे सहसा दरवाज़े के बाहर देखकर हम चौंक उठते हैं—वही मृत्यु भी हाथ जोड़कर नियम का पालन करती है, एक पग भी इधर-उधर रखने की उसे हिम्मत नहीं।

कोई यह न समझें कि नियम की गूढ़ शक्ति केवल वैज्ञानिक ही जान पाये हैं। तपोवन के ऋषियों ने कहा है : 'भीषास्माद्वातः ·पवते'—'उसके' भय से नियम के अमोघ शासन से, वायु बहती है, वायु भी मुक्त नहीं है। 'भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'—'उसके' नियम के शासन से केवलअ ग्नि-चन्द्र-सूर्य ही नहीं चलते, स्वयं मृत्यु—जिसका काम बन्धन तोड़ना है, जिसका अपना भी कोई बन्धन है, ऐसा हम सोच भी नहीं सकते—वह भी भयभीत होकर नियम का पालन करती है।

हम देखते हैं कि सब-कुछ भय से ही चालित है, कहीं कोई व्यवधान नहीं। तो फिर आनन्द की बात कैसे उठती है ? जिस कारखाने में शुरू से आखिर तक यंत्र चलते हैं वहाँ आनन्द का दरबार लगाने का पागलपन कोई नहीं करेगा।

लेकिन बाँसुरी से जब आनन्द का स्वर निकलता है तो उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। मनुष्य को मनुष्य पुकारता है और कहता है—चलो भाई, आनन्द करें। नियम के राज्य में इस तरह की बात कोई कैसे कह सकता है ?

मनुष्य देखता है कि नियम का कठिन और शुष्क पेड़ बिलकुल अटल खड़ा है

—लेकिन उसीके ऊपर चढ़कर जो लता उसे आच्छन्न करती है उसमें क्या हम फूल खिले हुए नहीं देखते? क्या कहीं शोभा और शान्ति नहीं देखते, सौंदर्य और ऐश्वर्य नहीं देखते? क्या हमारी दृष्टि प्राण की लीला पर, गति की मृत्यु पर, वैचित्र्य की अजस्रता पर नहीं जाती?

विश्व का नियम सीधे खड़े होकर चरम रूप से अपना प्रचार नहीं करता, एक अनिर्वचनीय सत्ता उसे चारों ओर से आच्छन्न करके अपना परिचय देती है। इसीलिए उपनिषद् ने जहाँ यह कहा है कि अमोघ शासन के भय से सब-कुछ चालित है, वहाँ उसने यह भी कहा है: 'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' —जो कुछ भी है उसकी उत्पत्ति आनन्द से होती है। जो आनन्द-स्वरूप है, मुक्त है, वही नियम-बन्धन के बीच अपने-आपको देश-काल में प्रकाशित करता है।

कवि का मुक्त आनन्द अपने-आपको व्यस्त करते समय छन्द का बन्धन मानता है। लेकिन जिसके मन में भाव का उद्‌बोधन नहीं होता, वह कहता है: 'इसमें तो मैं शुरू से आखिर तक केवल छन्द की कसरत देखता हूँ। वह नियम देखता है, नैपुण्य देखता है; क्योंकि इन्हें बाहर से देखा जा सकता है। लेकिन जिसे हृदय से देखा जाता है—अर्थात् रस को—वह नहीं समझता। उसके लिए रस कुछ भी नहीं है। वह सिर हिलाकर कहता है, सर्वत्र यांत्रिकता है, केवल वैज्ञानिक नियम है। लेकिन किसी की उच्छ्‌वसित वाणी नितान्त सहज स्वर में बोल उठी है—'रसो: वै स:।' जिसने ये शब्द कहे हैं, वह कवि के काव्य में अनन्त रस देख पाया है। जगत् का नियम उसे बन्धन के रूप में नहीं दिखाई पड़ा। बन्धन के अन्त को देखकर उसने आनन्द से कहा है—'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' उसने जगत् में भय को नहीं देखा, आनन्द को देखा है। इसीलिए वह कहता है—'आनन्दम् ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।' ब्रह्म के आनन्द को जो सर्वत्र देख पाया है उसे किसी का भय नहीं हो सकता। इस तरह जिसने आनन्द को देखा है और भय को अस्वीकार किया है वह कहता है—'महद्‌भयं वज्रमुद्यतं य एतत् विदुरमृतास्ते भवन्ति।' इस महान् भय को, इस उद्यत वज्र को, जो जानते हैं उनके लिए मृत्यु का भय नहीं रहता।

जो जानते हैं कि भय के बीच अभय है, नियम के बीच आनन्द अपने-आपको प्रकाशित करता है, वे नियम को पार करके आगे निकल जाते हैं। यह बात नहीं कि उनके लिए नियम का बन्धन नहीं होता, लेकिन वह आनन्द का ही बन्धन है। वह प्रेमी के लिए प्रियतम का बाहु-पाश है। उसमें दुःख नहीं, कोई भी दुःख नहीं। ऐसे लोग सारे बन्धनों को खुशी से ग्रहण करते हैं, किसी बन्धन से बचना नहीं

चाहते, क्योंकि सभी बन्धनों के बीच वे आनन्द का निविड़ स्पर्श अनुभव करते हैं। वस्तुतः जहाँ नियम नहीं, जहाँ उच्छृंखल उन्मत्तता है वहीं बन्धन है, वहीं मृत्यु है, वहीं असीम से विच्छेद है, पाप की यंत्रणा है। मनुष्य जब प्रवृत्ति के आकर्षण से सत्य के सुदृढ़ नियम-बन्धन को छोड़ देता है तब वह माँ के आलिंगन से बिछुड़े हुए शिशु की तरह रोता है और कहता है—'मा मा हिंसीः।' मुझ पर आघात न करो। वह कहता है—बाँधो, मुझे बाँधो, अपने नियम से मुझे बाँधो, अन्दर से बाँधो, बाहर से बाँधो, मुझे आच्छन्न करके, आवृत्त करके बाँधो; कहीं ज़रा भी ढील न दो, मुझे जकड़कर रखो। तुम्हारे नियम के बाहु-पाश में बँधकर ही मुझे तुम्हारे आनन्द से विजड़ित होने दो। मुझे पाप के मृत्यु-बन्धन से छुड़ाकर दृढ़ता-पूर्वक मेरी रक्षा करो!

कुछ लोग नियम को आनन्द के विपरीत जानकर उन्माद को ही आनन्द समझते हैं। उसी तरह हमारे देश में ऐसे बहुत-से लोग हैं जो कर्म को मुक्ति के विपरीत समझते हैं। वे सोचते हैं कर्म स्थूल पदार्थ है, आत्मा के लिए बन्धन है।

लेकिन हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि जिस तरह नियम में ही आनन्द है उसी तरह कर्म में ही आत्मा की मुक्ति है। अपने-आपमें आनन्द प्रकाशित नहीं हो सकता, इसलिए वह बाह्य नियम चाहता है; उसी तरह अपने-आपमें मुक्ति नहीं मिल सकती, तभी आत्मा मुक्ति के लिए बाह्य कर्म की ओर मुड़ती है। मानव-आत्मा कर्म द्वारा ही अपने भीतर से अपने-आपको मुक्त करती है; यदि ऐसा न होता तो वह इच्छापूर्वक कभी कर्म न करता।

मनुष्य जितना काम करता है उसी मात्रा में अपने आन्तरिक अदृश्य को दृश्य बनाता है और अपने सुदूरवर्ती अनागत की ओर अग्रसर होता है। इसी तरह मनुष्य अपने-आपको स्पष्ट करता है—अपने विविध कर्मों में, राष्ट्र और समाज में, अपने-आपको अलग-अलग दिशाओं से देख पाता है।

यह 'देख पाना' ही मुक्ति है। अंधकार मुक्ति नहीं, अस्पष्टता मुक्ति नहीं। अस्पष्टता के जैसा भयंकर बन्धन दूसरा कोई नहीं है। अस्पष्टता को भेद कर ऊपर उठाने के लिए ही बीज में अंकुर का प्रयास है, कली में फूल का प्रयास है। अस्पष्टता के आवरण को दूर करके परिस्फुट होने के लिए ही हमारे चित्त के भाव बाह्य आकार ढूंढ़ते हैं। आत्मा अनिर्दिष्टता के कुहरे से मुक्त होकर बाहर निकलने के लिए ही कर्म की सृष्टि करती है। जो कर्म उसकी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक नहीं है उसका भी वह निर्माण करती है, क्योंकि वह मुक्ति चाहती है। मानव अपने आन्तरिक आच्छादन से मुक्ति चाहता है, अरूप के

आवरण से मुक्ति चाहता है। वह अपने को देखना चाहता है, पाना चाहता है। जंगल और घास को काटकर वह जब बगीचा बनाता है तब वह कुरूपता से सौन्दर्य को मुक्ति देता है। यह उसीका आन्तरिक सौन्दर्य है—इसे यदि बाहर से मुक्ति न मिली तो वह अन्दर से भी मुक्ति प्राप्त नहीं करता। समाज के स्वेच्छाचार में सुनियम स्थापित करके अकल्याण की बाधाओं से वह कल्याण को मुक्ति देता है। यह कल्याण उसका अपना आन्तरिक कल्याण है; इसे बाहर से मुक्ति दिलाये बिना यह अन्दर से मुक्त नहीं होता। इसी तरह मनुष्य अपनी शक्ति को, अपने सौन्दर्य और मंगल को, अपनी आत्मा को, विविध कर्मों के बीच मुक्त करता है। और ऐसा करते हुए ही वह अपने-आपको महान् रूप में देखता है, उसका आत्म-परिचय विस्तीर्ण हो जाता है।

उपनिषद् में कहा है: 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतम् समाः'—कर्म करते-करते ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करो। यह उन्हीं की वाणी है जिन्होंने आत्मा के आनन्द को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध किया था। जिन्होंने आत्मा को परिपूर्ण रूप में जाना उन्होंने कभी विह्वल होकर यह नहीं कहा—जीवन दुःखमय है और कर्म केवल बन्धन है। वे लोग उन दुर्बल फूलों की तरह नहीं थे जो फल लगने से पहले ही डंठल से अलग होकर झड़ जाते हैं। जीवन के डंठल को उन्होंने ज़ोर से पकड़ा था और कहा था—जब तक फल नहीं लगता हम कदापि इसे नहीं छोड़ेंगे। उन्होंने संसार के बीच, कर्म के बीच, अपने-आपको आनन्द द्वारा प्रबल रूप से व्यक्त करना चाहा था। दुःख और कष्ट से वे पराजित नहीं हुए, अपने हृदय के भार से वे धूलिशायी नहीं हुए। समस्त सुख-दुख के बीच आत्मा के माहात्म्य को उत्तरोत्तर उद्घाटित करते हुए उन्होंने अपने-आपको देखा, और विजयी वीर की तरह संसार-पथ पर सिर उठाकर अग्रसर होते रहे। विश्व-जगत् में, निरन्तर बनने-बिगड़ने के बीच, जिस आनन्द की लीला चल रही है उसीके नृत्य का छन्द उनकी जीवन-लीला के साथ ताल-ताल में मिला हुआ था। उनके आनन्द के साथ सूर्य प्रकाश का आनन्द, मुक्त वायु का आनन्द, सुर मिलाकर जीवन को अन्दर और बाहर से सुधामय बनाता था। उन्होंने ही कहा था: 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतम् समाः'—काम करते-करते सौ वर्ष जीने की इच्छा करो!

मनुष्य में यह जो जीवन का आनन्द है, कर्म का आनन्द है, वह बिलकुल सत्य है। हम यह नहीं कह सकते कि यह हमारा मोह है, और हम यह भी नहीं कह सकते कि इसका त्याग किये बिना धर्म-साधना के पथ पर हमारा प्रवेश सम्भव नहीं है। धर्म-साधना का मनुष्य के कर्म-जगत् से विच्छेद कभी मंगल नहीं

हो सकता। विश्व-मानव की निरन्तर कर्म-चेष्टा को इतिहास के विराट् क्षेत्र में हम सत्य दृष्टि से देखें—क्या वहाँ धर्म केवल दुःख के ही रूप में दिखाई देता है ? वास्तव में हम देखते हैं कि कर्म के दुःख को मनुष्य ने वहन नहीं किया वल्कि कर्म ने ही मनुष्य के दुःख वहन किये हैं, उसका बोझ हल्का किया है। कर्म के स्रोत से प्रतिदिन हमारी अनेक विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं, अनेक विकृतियाँ डूब जाती हैं। यह बात सच नहीं है कि मनुष्य ज़रूरत पड़ने पर ही कर्म करता है—उसके एक ओर ज़रूरत है, लेकिन दूसरी ओर सुख भी है। कर्म के एक ओर अभाव की ताड़ना है, दूसरी ओर स्वभाव की परितृप्ति है। इसलिए मनुष्य की सभ्यता जितनी ही विकसित होती जाती है, नये प्रयोजन बढ़ते जाते हैं, उतने ही परिमाण में मनुष्य अपनी इच्छा से नये-नये कर्मों का भी निर्माण करता है। प्रकृति हमसे तरह-तरह के काम कराकर हमें सचेतन करती है; भूख-प्यास की ताड़ना से हमसे परिश्रम कराती है। लेकिन मनुष्यत्व इस परिस्थिति से सन्तुष्ट नहीं होता। पशु-पक्षियों के साथ एक स्तर पर रहकर प्रकृति के क्षेत्र में काम करना उसे मंजूर नहीं। उसके भीतर इन सबसे ऊपर उठने की इच्छा है। इसलिए जैसा काम आदमी को करना पड़ता है वैसा किसी को नहीं करना पड़ता। उसे स्वयं समाज का एक बृहत् कार्य-क्षेत्र निर्माण करना पड़ता है। यहाँ युग-युग से वह बनता-बिगड़ता आया है—वह कितने नियम बनाता है और कितनों को भंग करता है, कितने पत्थर काटकर दीवार बनाता है! वह कितना सोचता है, कितना ढूँढ़ता है, कितने आँसू बहाता है ! इसी क्षेत्र में उसके सबसे बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं। यहीं उसने नये-नये रूप से जीवन-लाभ किया है। यहीं उसके लिए मृत्यु परम गौरवमय है। यहीं वह दुःख से बचना नहीं चाहता, बल्कि नये-नये दुःख स्वीकार करता है। यहीं उसने इस महान् तत्त्व का आविष्कार किया है कि जो चारों ओर उपस्थित है उसीके पिंजर में मनुष्य सम्पूर्णता-लाभ नहीं कर सकता—मनुष्य अपने वर्तमान से कहीं बड़ा है; यदि वह चाहे तो किसी एक जगह खड़ा होकर आराम कर सकता है, लेकिन ऐसा करने से उसकी सारी कृतार्थता नष्ट हो जाती है। यह महाविनाश मनुष्य के लिए असह्य है। वर्तमान को भेदकर महान् होने के लिए, जो वह अभी तक नहीं हुआ है वह हो सकने के लिए, मनुष्य को बार-बार दुःख सहना पड़ता है। इसी दुःख के बीच मनुष्य का गौरव है, इस बात को ध्यान में रखते हुए मनुष्य ने अपना कर्म-क्षेत्र संकुचित नहीं बनाया, बल्कि उसे प्रसारित करता चला गया। कभी-कभी तो उसने कर्मक्षेत्र को इतना बढ़ा दिया कि कर्म की सार्थकता विस्मृत हो गई—कर्म-स्रोत में बहती हुई बेकार चीजों का आघात मानव-चित्त पर लगा, और तरह-तरह के भयंकर आवर्तों का निर्माण

हुआ—स्वार्थ का आवर्त, साम्राज्य का आवर्त, अभिमान का आवर्त। लेकिन जब तक उसका जीवन गतिशील है तब तक कोई भय नहीं; गति की धारा से संकीर्णता का बाँध कट जाता है, कर्म का वेग स्वयं कर्म की भूलों को सुधारता है। चित्त अचल जड़ता में पड़ा सोता रहे तभी शत्रु प्रबल हो जाता है और विनाश के विरुद्ध चित्त युद्ध नहीं कर पाता। जीवित रहकर कर्म करना होगा और कर्म करते हुए जीवित रहना होगा, यही अनुशासन हमने सुना है। कर्म और जीवन में अविच्छिन्न योग है।

प्राण का लक्षण ही यह है कि वह अपने भीतर सीमित नहीं है—उसे बाहर आना ही होता है। उसका सत्य है अन्दर और बाहर का मिलन। शरीर को यदि जीवित रहना है तो बाहर के प्रकाश, वायु, और अन्न-जल के साथ उसे अपने विविध सम्बन्ध बनाए रखने हैं। प्राण-शक्ति को बचाने के लिए नहीं, उसे दान करने के लिए भी बाह्य जगत् की आवश्यकता है। शरीर को अपने भीतर ही काफी काम करना होता है—क्षण-भर के लिए भी उसका हृत्पिंड रुकता नहीं, उसका मस्तिष्क और पाकाशय निरंतर व्यस्त है। लेकिन शरीर अन्दर की इन असंख्य जैविक क्रियाओं को समाप्त करके ही स्थिर नहीं हो जाता। उसका प्राण उसे बाहर के विविध कार्यों और क्रीड़ाओं की ओर आगे बढ़ाता है। केवल अन्दर के रक्त-संचालन से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता, बाहर की विविध गतिविधियों से ही उसका आनन्द परिपूर्ण होता है।

चित्त की दशा भी शरीर-जैसी ही है। केवल अपनी ही कल्पनाओं और भावनाओं से उसका काम नहीं चलता। बाहर के विषयों की ओर वह सर्वदा आकर्षित होता है, केवल अपनी चेतनाओं को बचाये रखने के लिए नहीं बल्कि अपने-आपको प्रयोग में लाने के लिए—देने के लिए और लेने के लिए।

वास्तव में सत्यस्वरूप ब्रह्म को जब हम विभाजित करते हैं तभी कठिनाई उपस्थित होती है। केवल आन्तरिक पक्ष में ही उसका आश्रय हमें नहीं लेना है—बाह्य रूप से भी उसीको आश्रय बनाना है। जहाँ भी हम ब्रह्म का त्याग करेंगे, स्वयं वंचित होंगे। 'माहं ब्रह्म निराकुर्याम् मा मा ब्रह्म निराकरोत्'—ब्रह्म ने मेरा त्याग नहीं किया, मैं भी ब्रह्म का त्याग न करूँ! उसने बाहर से मुझे धारण किया है, और अन्तर में भी जागृत रक्खा है। यदि हम कहें कि ब्रह्म को केवल आन्तरिक ध्यान से प्राप्त करेंगे, बाह्य कर्म से उसे अलग करेंगे, हृदय के प्रेम से उसका उपभोग करेंगे, बाह्य सेवा द्वारा उसकी पूजा नहीं करेंगे,—या इसके बिलकुल विपरीत बात कहें और जीवन-साधना को एकांगी बना दें—तो हमारा निश्चय ही पतन होगा।

हम पश्चिमी महादेश में देखते हैं कि वहाँ मनुष्य का चित्त अपने को मुख्य रूप से बाहर की ओर प्रसारित करता है। शक्ति का क्षेत्र ही उसका क्षेत्र है। व्यक्ति के राज्य का ही उसे आकर्षण है—मानव-हृदय में जो समाप्ति का राज्य है उसका वह परित्याग करता है; इस राज्य पर उसे विश्वास नहीं है। वह इस दिशा में यहाँ तक चला गया है कि समाप्ति को, पूर्णता को वह किसी स्थान पर देख ही नहीं सकता। जिस तरह विज्ञान कहता है कि विश्व-जगत् परिणति के अन्तहीन पथ पर चलता जा रहा है, वैसे ही योरोप आजकल यह भी कहने लगा है कि ईश्वर क्रमशः परिणत होता है। ईश्वर अपने-आपमें ईश्वर है, यह बात योरोप के लोग मानना नहीं चाहते—वे कहते हैं ईश्वर स्वयं अपना निर्माण करता है।

ब्रह्म की एक दिशा में व्याप्ति है, दूसरी ओर समाप्ति; एक ओर परिणति, दूसरी ओर परिपूर्णता; एक ओर भाव दूसरी ओर अभिव्यक्ति। ये दोनों पक्ष गीत और गायन की तरह अविच्छिन्न रूप से मिले हुए हैं। लेकिन आधुनिक योरोप के लोग यह नहीं देख पाते। वे गायक के अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते—उनके लिए गान कहीं नहीं है, केवल 'गाते जाना' ही है। यह माना कि हम गायन क्रिया को ही देखते हैं—सम्पूर्ण गान को एक साथ कभी नहीं देखते—लेकिन क्या हम यह नहीं जानते कि सम्पूर्ण गान चित्त में है?

इस तरह केवल 'चलते जाने' और 'करते जाने' की दिशा में उसके चित्त का झुकाव होने से हम पाश्चात्य जगत् में शक्ति की उन्मत्तता देखते हैं। वहाँ के लोगों ने यह ठान लिया हैं कि किसी चीज़ को हाथ से जाने नहीं देंगे। उनकी ज़िद है कि सर्वदा 'करेंगे', कहीं रुकेंगे नहीं। जीवन के किसी स्थान पर वे मृत्यु का सहज अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। समाप्ति का सौन्दर्य वे नहीं देखते।

हमारे देश में इसके ठीक उल्टा खतरा है। हम केवल आन्तरिक पक्ष की ओर झुकते हैं। शक्ति और व्याप्ति की दिशा को हम निन्दनीय समझकर उसका परित्याग करते हैं। ब्रह्म को ध्यान के बीच, केवल परिसमाप्ति की दिशा में देखेंगे, उसे विश्व की नित्य परिणति में नहीं देखेंगे, यही हमारा व्रत है। इसलिए हमारे देश के साधकों में आध्यात्मिक उन्मत्तता है। हमारा विश्वास किसी नियम को नहीं मानता, हमारी कल्पना बाधाहीन है, हमारे आचार-विचार मुक्ति के प्रति कोई ज़िम्मेदारी नहीं देखते। विश्व पदार्थ से ब्रह्म को पृथक् करने के व्यर्थ प्रयास से हमारा ज्ञान सूखकर पत्थर बन जाता है। हृदय अपने ही आवेग में भगवान् कोअवरुद्ध करके भोग करना चाहता है, और अपने ही रसोन्माद से मूर्छित हो जाता है। शक्ति के क्षेत्र में हमारा ज्ञान विश्व-नियम के साथ ही कोई

वास्ता नहीं रखना चाहता, निश्चल होकर अपना ही निरीक्षण करना चाहता है, हमारा हृदयावेग विश्व की सेवा द्वारा भगवत्प्रेम को साकार नहीं बनाता, आँसू बहाते हुए अपने ही आँगन की धूल में लोटना चाहता है। इन सब बातों से हमारा मनुष्यत्व कितना विकृत और दुर्बल हो गया है इसे तौलने का कोई उपाय भी हमारे पास नहीं है। जिस तराज़ू में अन्दर-बाहर का सामञ्जस्य नष्ट हो चुका है उसीमें हम अपने सारे धर्म, कर्म, इतिहास पुराण, समाज-सभ्यता को तौलते हैं-—किसी और वज़न के द्वारा विशुद्ध सत्य का निर्णय करना आवश्यक नहीं समझते। लेकिन आध्यात्मिकता अन्दर-बाहर के योग से सन्तुलित होती है। सत्य एक ओर नियम है, दूसरी ओर आनन्द। उसके एक ओर ये शब्द ध्वनित होते हैं: 'भयादस्याग्निस्तपति'; और दूसरी ओर 'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'। यदि एक ओर बन्धन को न माना गया तो दूसरी ओर मुक्ति नहीं मिल सकती। ब्रह्म एक ओर अपने सत्य से बद्ध है, दूसरी ओर अपने आनन्द में मुक्त। हम भी जब सत्य के बन्धन को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं तभी मुक्ति के आनन्द का सम्पूर्ण रूप से लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ हम सितार का उदाहरण दे सकते हैं। सितार के सब तार जब सच्चे बँधे होते हैं, जब इस बन्धन में नियम का लेश-मात्र उल्लंघन नहीं होता, तभी संगीत-निर्माण होता है। एक ओर वे नियम में अविचलित रूप से बँधे हैं इसीलिए दूसरी ओर संगीत के बीच वे उन्मुक्त होते हैं। यदि तार सच्चे न बँधे हों तो वे बन्धन हैं—निरे बन्धन। लेकिन तारों को खोल देने में मुक्ति नहीं है। साधना के कठिन नियम में उन्हें धीरे-धीरे बाँधना है, तभी वह बद्ध होते हुए भी—बल्कि बद्ध होने से ही—परिपूर्ण सार्थकता में मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे।

हमारी जीवन-वीणा में भी कर्म के छोटे-मोटे तार तब तक बन्धन लगते हैं जब तक कि उन्हें सत्य के नियम में कसकर बाँधा नहीं जाता। लेकिन इन तारों को खोल डालने से जो शून्यता और व्यर्थता होगी उससे हम निष्क्रिय हो सकते हैं, मुक्त नहीं।

तभी मैंने कहा था कि कर्म को त्याग करना नहीं, बल्कि दैनंदिन कर्मों को एक चिरस्थायी स्वर में बाँधना ही सत्य की साधना है, धर्म की साधना है। इसी साधना का मंत्र है—'यद्यत्कर्म प्रकुर्वीत तत् ब्रह्मणि समर्पयेत'; जो भी कर्म करते हो, उसे ब्रह्म को समर्पित करना है। समस्त कर्म के द्वारा आत्मा का अपने-आपको ब्रह्म के सामने निवेदन करना है। अनन्त के प्रति यह नित्य निवेदन ही आत्मा का संगीत है, यही मुक्ति है। जब कर्म ब्रह्मयोग का पथ बन जाता है, जब वह हमारी निजी प्रवृत्तियों की ओर नही लौटता, जब कर्म में हमारा आत्म-समर्पण

परिपूर्ण होता है तब कैसे अद्‌भुत आनन्द की सृष्टि होती है! वही मुक्ति है, पूर्णता है, वही स्वर्ग है—और तब सारा संसार आनन्द-निकेतन बन जाता है।

कर्म में मनुष्य का यह जो विराट् आत्म-प्रकाशन हैं, अनन्त के सम्मुख उसका यह जो निरन्तर आत्म-निवेदन है, उसकी अवज्ञा करके अपने घर के एक कोने में कौन पड़ा रहेगा? मानव-मानव ने मिलकर, धूप और बरसात में, मानव-माहात्म्य का जो अभ्रभेदी मन्दिर बनाया है उससे दूर भागकर यह कौन कहेगा कि अकेले मन के भाव-रस-संभोग में ही मनुष्य का भगवान् से मिलन होता है, और यही धर्म की चरम साधना है? ओ उदासीन! अपने ही उन्माद से विभोर संन्यासी! क्या तुम सुन नहीं पाते कि इतिहास के सुदूर प्रसारित क्षेत्र में, मनुष्यत्व के प्रशस्त राजपथ पर, मानवात्मा यात्रा कर रही है--मेघ मद्र गर्जन के साथ, अपने कर्म के विजय-रथ पर आरूढ़, विश्व में अपने अधिकार को विस्तीर्ण करते हुए यात्रा कर रहा है? आकाश में फहराने वाली उसकी विजय-पताका के सामने पर्वत विदीर्ण होकर रास्ता छोड़ देते हैं। जंगलों की जटिलता इस विजय-रथ को देखकर पराभूत हो जाती है, जैसे सूर्य-प्रकाश से कुहरे का लोप होता है। दुःख अस्वास्थ्य-अव्यवस्था उसके सामने पग-पग पीछे हटती है। अज्ञान की बाधा दूर होती है, अन्धता का अन्धकार कट जाता है। चारों ओर, देखते-ही-देखते श्रीसम्पदा, काव्य-कला और ज्ञानधर्म का आनन्द-लोक उद्‌घाटित होता है।

इतिहास के दुर्गम पथ पर मानवात्मा का यह विजय-रथ अहोरात्र पृथ्वी को कम्पित करता चलता है, फिर भी, ओ उदासीन! तुम आँखें बन्द करके कहते हो कि उस रथ का कोई सारथी नहीं! उसे क्या महान् सार्थकता की ओर कोई नहीं ले जा रहा है? यहीं—सुख-दुःख और विपद्-संपद् के पथ पर—क्या रथी और सारथी का यथार्थमिलन नहीं हो रहा है? रथ चलता जा रहा है—श्रावण की अमावस्या का अँधेरा भी सारथी के अनिमेष नेत्रों को आच्छन्न नहीं कर सकता। मध्याह्न सूर्य की प्रखर किरणें भी उसकी स्थिर दृष्टि को विचलित नहीं करतीं। आलोक-अन्धकार दोनों में रथ चलता है; आलोक-अन्धकार दोनों में रथी-सारथी का मिलन होता हैं—चलते-चलते मिलन, पथ में मिलन, उठते हुए मिलन, झुकते हुए मिलन। उस नित्य मिलन को कौन अस्वीकार करना चाहता है? सारथी जहाँ रथ से चलता है वहाँ कौन नहीं जाना चाहता? कौन कहता है: 'मैं मानवीय इतिहास के क्षेत्र से दूर भाग कर, निष्क्रियता-निश्चेष्टता के बीच, ईश्वर-मिलन का अधिकारी हूँगा? कौन कहता है कि यह सब मिथ्या है, यह बृहत् संसार, नित्य विकासमान मानव-सभ्यता मिथ्या है; अन्दर-बाहर की सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त करने का मानवीय प्रयास मिथ्या है; परम दुःख और परम सुख की साधना

मिथ्या है ? जो इन सबको मिथ्या कहता है उसके चित्त में कितने बड़े असत्य का आक्रमण हुआ है ! जो इस बृहत् संसार को एक बहुत बड़ा धोखा समझ सकता है वह क्या सत्य-स्वरूप ईश्वर पर विश्वास कर सकता है ? जो समझता है संसार से भागकर ईश्वर-प्राप्ति होगी, उसे ईश्वर मिलेगा, कब और कहाँ ? भागकर वह जायगा कितनी दूर ? क्या उसके लिए यह सम्भव है कि भागते-भागते सम्पूर्ण शून्यता के बीच पहुँचे ? जो भीरु है, जो विश्व से दूर भागता है, वह ईश्वर को कहीं प्राप्त नहीं कर सकता। साहस के साथ हमें कहना होगा—ईश्वर को हम यहीं प्राप्त करते हैं, इसी क्षण प्राप्त करते हैं। बार-बार कहना होगा—जिस तरह अपने प्रत्येक कर्म में हम अपने-आपको पाते हैं, वैसे ही अपने अन्दर जो 'अपना' है उसे भी प्राप्त करते हैं। कर्म में जो कुछ बाधा है, जो कुछ बेसुरापन है, जड़ता है, अव्यवस्था है, उसे शक्ति और साधना द्वारा दूर करके हमें यह बात निःसंकोच रूप से कहने का अधिकार प्राप्त करना होगा— कर्म में ही आनन्द है, और उसी आनन्द में आनन्दमय ईश्वर विराजता है।

उपनिषद् ने 'ब्रह्मविदां वरिष्ठ' ब्रह्मविद् लोगों में श्रेष्ठ—किसे कहा है ? 'आत्मक्रीड: आत्मरति: क्रियावाध् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठ:'—जिसकी क्रीडा और जिसकी आनन्द परमात्मा में है, जो क्रियावान् है, वही ब्रह्मविद् है। आनन्द है और आनन्द की क्रीडा नहीं है, यह असम्भव बात है। वह क्रीडा निष्क्रिय नहीं, वह क्रीडा ही धर्म है। जिसका आनन्द ब्रह्म में है उसकी रक्षा कर्म के बिना कैसे हो सकती है ? उसे ऐसा कर्म करना ही होगा जो ब्रह्म के आनन्द का रूप धारण करके प्रकाशमान हो उठे। इसीलिए जो ब्रह्मविद् है, अर्थात् जो ज्ञान से ब्रह्म को जानता है वह 'आत्म-रति:' है—परमात्मा में ही उसका आनन्द है—वह आत्मक्रीडा है—उसके सारे कर्म परमात्मा में केन्द्रित हैं। उसका मनोरंजन, स्नान-आहार, जीविकार्जन, पर-हित-साधन—सभी कुछ परमात्मा में उसके विहार के रूप हैं। वह क्रियावान् है—ब्रह्म में जो आनन्द वह उपभोग करता है उसे कर्म में व्यक्त किये बगैर नहीं रह सकता। कवि का आनन्द काव्य में, शिल्पी का आनन्द शिल्प में, वीर का शक्ति-प्रतिष्ठा में और ज्ञानी का तत्त्वाविष्कार में, कर्म के द्वारा व्यक्त होता है। उसी तरह ब्रह्मविद् का आनन्द जीवन के छोटे-बड़े सभी कामों में सत्य के द्वारा, सौन्दर्य के द्वारा, बंधन और मंगल के द्वारा, असीम को व्यक्त करने का प्रयास करता है।

और ब्रह्म भी अपने आनन्द को इसी तरह व्यक्त करता है—वह 'बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति'। वह अपनी 'बहुधा शक्ति' के योग से विभिन्न देशों के विभिन्न अन्तर्निहित प्रयोजन सिद्ध करता है। सब प्रयोजनों

का मूल वर स्वयं है—इसीलिए नाना शक्तियों द्वारा, विविध रूपों में, अपने-आपको दान करता है। कर्म करता है, ब्रह्म कर्म करता है—नहीं तो अपने-आपको वह दे न सकता। उसका आनन्द अपने-आपको उत्सर्ग करता है—यही सृष्टि है।

हमारी सार्थकता भी वहीं है—और वहीं ब्रह्म के साथ मिलन है। 'बहुधा शक्ति योग' से हमें भी अपना दान करना है। वेदों में ईश्वर को 'आत्मदा, बलदा' कहा गया है—वह अपना दान करता है यही नहीं, हमें ऐसा बल देता है जिससे हम भी उसकी तरह अपना दान कर सकें। इसलिए 'बहुधा शक्तियोग' से जो हमारे प्रयोजन पूर्ण करता है उसके सम्मुख ऋषियों की प्रार्थना है—'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'—वह हमारा सबसे बड़ा प्रयोजन सिद्ध करे ! हमारे साथ शुभबुद्धि का योग स्थापित करे ! अपनी शक्ति से वह कर्म करके हमारा अभाव दूर कर सकता है—लेकिन यही यथेष्ट नहीं है। वह हमें शुभबुद्धि दे, जिससे हम भी उसके साथ मिलकर कार्य करने के लिए उद्यत हों—तभी उसके साथ हमारा योग पूर्ण होगा। शुभबुद्धि वह बुद्धि है जिससे हम सबके स्वार्थ को अपना ही निहितार्थ समझें; जिसके कारण सबके कर्मों में अपनी 'बहुधाशक्ति' का प्रयोग करना हमारे लिए आनन्दप्रद हो। ऐसी शुद्धबुद्धि से किया हुआ कर्म नियमबद्ध होते हुए भी यंत्रचालित नहीं होता। वह आत्मा को तृप्त करता है, वह अभाव से पीड़ित व्यक्ति का कर्म नहीं है—वह दूसरों का अन्ध अनुकरण नहीं, और न वह लोकाचार का भीरु अनुवर्तन है। जिस तरह हम देखते हैं 'विचैति चान्ते विश्वमादौ'—विश्व के सारे कर्म 'उसमें' आरम्भ होते हैं और 'उसमें' ही समाप्त होते हैं—वैसे ही हम देख सकेंगे कि हमारे कर्म शान्तिमय, कल्याणमय और आनन्दमय हैं।

उपनिषद् कहता है, 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'—उसका ज्ञान शक्ति और कर्म स्वाभाविक है। उसकी परम शक्ति अपने स्वभाव के अनुगत ही काम करती है। आनन्द उसका कार्य है, और कार्य में ही उसका आनन्द है। विश्व ब्रह्माण्ड की असंख्य क्रियाओं में ही उसके आनन्द की गति है।

लेकिन यह स्वाभाविकता हममें नहीं है, इसलिए हम कर्म और आनन्द को अलग करते हैं। कार्य का दिन हमारे लिए आनन्द का दिन नहीं होता—जिस दिन हमें आनन्द मनाना होता है उस दिन हम छुट्टी लेते हैं—क्योंकि हम इतने अभागे हैं कि कार्य के भीतर हमें अवकाश नहीं मिलता। प्रवाहित होने में ही नदी को छुट्टी मिलती है, हवा में प्रसारित होकर ही फूलों का परिमल छुट्टी पाता है—लेकिन हमें अपने सारे कर्मों में छुट्टी का बोध नहीं होता। हम कर्म में अपने-आपको नहीं देते, अपना दान नहीं करते, इसीलिए कर्म हमें दबाकर रखता है। हे आत्मदा ! विश्व के कर्म में तुम्हारी आनन्द-मूर्ति को प्रत्यक्ष करके, कर्म के भीतर ही हमारी

आत्मा की ज्वाला तुम्हारी ओर उठे ! नदी की तरह हमारी आत्मा तुम्हारी ओर प्रवाहित हो, फूलों के सुवास की तरह तुममें प्रसारित हो ! हमें ऐसी शक्ति दो कि हम जीवन को सारे सुख-दुःख, क्षति-पूर्ति और उत्थान-पतन के बीच परिपूर्ण रूप से प्रेम कर सकें। तुम्हारे इस विश्व को पूर्ण शक्ति से देख सकें, सुन सकें, पूर्ण शक्ति से यहाँ काम कर सकें। 'जीवन में सुख नहीं'—यह बात कहकर हम तुम्हें दोष न दें। हमें तुमने जो जीवन दिया है उसे परिपूर्ण करके हमारा उद्धार हो, वीरतापूर्वक हम इसे ग्रहण करें और इसका दान करें, यही हमारी प्रार्थना है। दुर्बल चित्त की उस कल्पना का हम त्याग करें जो हमें सारे कर्म से विमुख करके एक आधारहीन, आकारहीन, वास्तवहीन पदार्थ को ब्रह्मानन्द कहती है। कर्मक्षेत्र में मध्याह्न सूर्य के प्रकाश में तुम्हारा आनन्दमय रूप देखकर घर में, बाज़ार में, घाट पर, गाँव में, हर जगह हम तुम्हारा ही जय-जयकार कर सकें ? कठोर परिश्रम से धरती को जोतकर जब किसान खेती करता है तब तुम्हारा ही आनन्द श्यामल शस्य में उच्छ्वसित होता है। जहाँ मनुष्य जंगलों और चट्टानों को दूर हटाकर अपने लिए निवास-भूमि तैयार करता है वहाँ तुम्हारा ही आनन्द प्रकाशित होता है। जहाँ स्वदेश-कल्याण के लिए मनुष्य अथक कर्म के बीच अपने-आपको दान करता है, वहाँ तुम्हारा ही आनन्द विस्तारित होता हैं। जहाँ मनुष्य के जीवन का आनन्द, चित्त का आनन्द, कर्म का रूप धारण करना चाहता है वहीं मनुष्य महान् है, वहीं उसका प्रभुत्व है, वहीं वह दुःख-कष्ट के भय से, दुर्बल क्रन्दन-स्वर में, अपने अस्तित्व को नहीं कोसता। जहाँ जीवन में आनन्द नहीं, कर्म में आस्था नहीं, वहाँ तुम्हारा सृष्टि तत्त्व प्रतिहत होता है, और वहीं निखिल का प्रवेश-द्वार संकीर्ण हो जाता है। वहीं संकोच, अन्धसंस्कार, कल्पित विभीषिकाएँ, व्याधि और विच्छिन्नता है।

हे विश्वकर्मन् ! आज हम तुम्हारे सिंहासन के सम्मुख खड़े यह बात सुनने आये हैं कि हमारा संसार आदन्दमय है, हमारा जीवन आनन्दमय है। यह तुमने बहुत अच्छा किया कि हमें क्षुधा-तृष्णा के आघात से जागृत रखा—तुम्हारे जगत् में, तुम्हारी 'बहुधाशक्ति' के असीम लीला-क्षेत्र में जागृत रखा। यह भी अच्छा ही हुआ कि तुमने हमें दुःख देकर सम्मानित किया—विश्व के असंख्य जीवों में जो दुःख ताप की आग है, जो ज्वलन्त सृष्टि है, उससे संयुक्त करके हमें गौरवान्वित किया। उन सबके साथ प्रार्थना करने हम आए हैं—तुम्हारी प्रबल विश्व-शक्ति वसंत के दक्षिण-पवन की तरह प्रवाहित रहे; मानव के विशाल इतिहास के महाक्षेत्र पर यह पवन बहता रहे। अपने विविध फूलों के परिमल को, अपनी मर्मर ध्वनि को वहन करता हुआ हमारे देश के शब्दहीन, प्राणहीन, शुष्कप्राय चित्त-

अरण्य के सारे शाखा-पल्लवों को यह समीर कंपित और मुखरित करे; हमारे हृदय की सुप्तोत्थिता शक्ति फूल-फल-किसलय में सार्थक होने के लिए रो उठे ! देश की ब्रह्मोपासना सहस्रों कर्मों के रूप धारण करके तुम्हारी असीमता की ओर हाथ बढ़ाये और अपने-आपको दशों-दिशाओं में घोषित करे। मोह के आवरण को हटाओ, उदासीनता की निद्रा से हमें जगाओ। यहीं, इसी क्षण, अनन्त देशकाल में, धावमान चिरचांचल्य के बीच, हम तुम्हारे आनन्दरूप को देख सकें—और फिर सारे जीवन के उत्सर्ग से तुम्हें प्रणाम करते हुए हम मानवात्मा के सृष्टि-क्षेत्र में प्रवेश कर सकें—उस सृष्टि-क्षेत्र में जहाँ अभाव की प्रार्थना, दुःख का क्रन्दन, मिलन की आकांक्षा और सौन्दर्य का निमंत्रण हमें आह्वान देते हैं, जहाँ हमारी शक्ति दीर्घकाल से सार्थकता की प्रतीक्षा कर रही है, जहाँ विश्व-मानव के महा-यज्ञ में, आनन्द के होम-हुताशन में, जीवन के समस्त सुख-दुःख, लाभ-क्षति को पुण्य आहुति के रूप में अर्पित करने के लिए हमारे हृदय में कोई तपस्विनी महा-भिनिष्क्रमण का हार ढूँढ़ रही है।

[मेघोत्सव, कलकत्ता (जनवरी १६११) में पठित। 'भारती' (मासिक) में फरवरी १६११ में प्रकाशित। 'शान्तिनिकेतन' खण्ड १३ में प्रकाशित। रवीन्द्रनाथ की अंग्रेज़ी पुस्तक 'साधना' (१६१३) में इसका अनुवाद सम्मिलित किया गया। १ दिसम्बर, १६१२ को अमरीका में दिया गया भाषण।]

आत्मबोध

बहुत दिन पहले की बात है, एक गाँव में किसी विशेष सम्प्रदाय के दो बाऊलों[1] के साथ मेरी भेंट हुई। मैंने उनसे पूछा : 'तुम लोगों के धर्म का विशेषत्व क्या है, मुझे बता सकते हो?' उनमें से एक ने कहा : 'कहना कठिन है, ठीक समझाया नहीं जा सकता।' दूसरे ने कहा : 'अवश्य कहा जा सकता है। बात बिलकुल सीधी है। हम कह सकते हैं, गुरु के उपदेश से पहले अपने-आपको जानना होगा। जब अपने-आपको हम जान लेते हैं अपने बीच 'उसको' प्राप्त किया जाता है।' मैंने पूछा : 'अपने इस धर्म की बात दुनिया में सब लोगों को क्यों नहीं सुनाते?' उसने कहा : 'जिसे पिपासा है वह स्वयं गंगा-तट पर आता है।' मैंने फिर पूछा : 'तुम क्या देखते हो—कोई आता है?' उसने अत्यन्त प्रशान्त मुद्रा से हँसकर कहा : 'सभी आयेंगे। सभी को आना होगा।'

मैंने सोचा, बंगाल के देहात में उस शास्त्र-शिक्षा-हीन बाउल ने जो बात कही वह मिथ्या नहीं है। आ रहे हैं, सभी मनुष्य आ रहे हैं। स्थिर तो कोई भी नहीं है। अपनी परिपूर्णता की ओर ही तो सबको चलना पड़ता है—और जायेंगे कहाँ? हम प्रसन्नता से हँसकर कह सकते हैं—पृथ्वी पर सब लोग यात्रा कर रहे हैं। क्या हम यह सोचते हैं कि सब मनुष्य केवल अपने उदर-निर्वाह के लिए अन्न ही ढूँढ रहे हैं और प्रात्यहिक प्रयोजनों की प्रदक्षिणा करते हुए ही अपना जीवन बिताते हैं? नहीं, ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक क्षण पृथ्वी के सभी लोग अन्न-वस्त्र के लिए, अपनी छोटी-बड़ी सैकड़ों दैनिक आवश्यकताओं के लिए, प्रयत्नशील हैं। लेकिन केवल इसी आह्निक गति से वे अपनी ही प्रदक्षिणा नहीं कर रहे—इसके साथ, जाने-अनजाने, वे महाकाश में किसी अन्य केन्द्र के चारों ओर भी यात्रा कर रहे हैं। इस केन्द्र के साथ वे ज्योतिर्मय प्राण के आकर्षण से जुड़े हैं; यहाँ से उन्हें आलोक मिलता है, जीवन मिलता है; इसके साथ एक अदृश्य, अविच्छेद्य सूत्र से उनका महायोग है।

मनुष्य अन्न-वस्त्र से अधिक गम्भीर प्रयोजन के लिए मार्ग पर निकल पड़ा

---

१. 'बाउल' बंगाल के वैरागियों का एक सम्प्रदाय-विशेष, जो अखाड़ों में रहते हैं और निरन्तर घूमते रहते हैं। इंडियन फिलासोफिकल कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए रवीन्द्रनाथ ने उनके दर्शन का विवेचन किया था।

है। वह कौन-सा प्रयोजन है ? तपोवन में भारत के ऋषियों ने इसका उत्तर दिया है, और बंगाल के गाँवों में बाउल भी इसका उत्तर दे रहे हैं। मनुष्य अपने-आपको पाने के लिए बाहर निकला है। बिना अपने को प्राप्त किये वह 'उसको' नहीं पा सकता जो अपने से भी बढ़कर अपना है। अपने-आपको विशुद्ध करके, परिपूर्ण करके, पाने के लिए मनुष्य कैसी-कैसी तपस्या करता है ! शैशव से ही वह अपनी प्रवृत्तियों को शिक्षित और संयत बनाता है; बड़े-बड़े आदर्शों को सामने रखकर वह अपनी समस्त छोटी-छोटी वासनाओं को नियमित करने का यत्न करता है; ऐसे आचार-अनुष्ठान निर्माण करता है जो उसे बार-बार याद दिलाते रहें कि दैनिक जीवन-यात्रा के बीच उसकी समाप्ति नहद है, सामाजिक व्यवहार में ही उनका अवसान नहीं है। वह एक ऐसे वृहत् 'अपने' को चाहता है जो उसके वर्तमान को, उसके परिवेश को, उसकी प्रवृत्ति और वासना को बहुत पीछे छोड़ गया है।

बंगाल की किसी छोटी नदी के किनारे एक मामूली कुटिया में बैठकर हमारे वैरागी उसी 'अपने' को ढूंढते हैं, और निश्चिन्त होकर हँसते हुए कहते हैं : सभी को आना होगा, इस 'अपने' को ढूंढने। यह किसी विशेष मत की या संप्रदाय की पुकार नहीं है, यह उसकी पुकार है जो मानव-मात्र के बीच चिरंतन सत्य है। आवाज़ का तो कहीं अन्त नहीं—कितने कल-कारखाने, कितने युद्ध-विग्रह, कितने प्रकार के वाणिज्य-व्यवसाय का कोलाहल आकाश को हिला रहा है। फिर भी मानव के आन्तरिक सत्य की पुकार क्षीण नहीं होती। मनुष्य की सारी क्षुधा-तृष्णा, सारे अर्जन-वर्जन के बीच सत्य की वह ध्वनि जीवित है। कितनी भाषाओं में वह व्यक्त हुई है, कितने युगों, देशों, रूपों और भावों में वह वर्तमान प्रयोजनों के ऊपर उठकर जागृत हो रही है ! तर्क ने उस पर आघात किया है, संशय ने उसे अस्वीकार किया है, विकृति ने उस पर आक्रमण किया, फिर भी वह सुरक्षित है। वह यही कहती जा रही है—'अपने को प्राप्त करो, आत्मानं विद्धि।'

जब मनुष्य 'अपने' को सहज भाव से अपना नहीं बना पाता तब वह सूत्रच्छिन्न माला की तरह धूल में मिल जाता है। लेकिन जिस विश्व-जगत् में वह रहता है वह जगत् तो बराबर गिर नहीं जाता। फिर भी वह जगत् कोई सरल चीज़ नहीं है। उसमें जो विराट् शक्तियाँ काम करती रहती हैं वे निश्चेष्ट नहीं हैं। रासायनिक परीक्षा-भवन में एक सामान्य टेबल के ऊपर गैस के दो-चार कणों को हम बंधन-मुक्त करके देखते हैं तो हमें हैरत होती है। उन कणों के अद्भुत घात-प्रतिघात से हम विस्मित होते हैं । इसी तरह कितने आविष्कृत और अनाविष्कृत वाष्प-पदार्थों की विचित्र लीला विश्व में चल रही है, इसकी हम

कल्पना तक नहीं कर पाते। उसके पीछे जगत् की जो मूल शक्तियाँ हैं वे भी परस्पर-विरोधी हैं—आकर्षण और विकर्षण, केन्द्रानुगता और केन्द्रातिगता। इस विरोध और वैचित्र्य की प्रकाण्ड क्रीड़ा-भूमि पर, इस पृथ्वी पर, हम सहज ही साँस लेते हैं, जल-थल में अनायास ही हम विचरण करते हैं। वैसे ही हमारे शरीर के अन्दर अनगिनत कार्य चल रहे हैं, फिर भी उन सबके बीच एक अखण्ड स्वास्थ्य का अनुभव करते है; शरीर को हृत्पिंड, मस्तिष्क, पाकाशय प्रभृति अलग यंत्रों का असंलग्न समूह हम नहीं समझते।

जगत् के रहस्यगृह में शक्तियों का घात-प्रतिघात चाहे जितना जटिल और भयंकर हो, हमें तो वह नितान्त सहज ही लगता है। लेकिन दुनिया वास्तव में है क्या चीज़, इस बात का जब हम सन्धान करते हैं तो समस्या की कहीं थाह नहीं मिलती। यह सर्वविदित है कि वस्तु-तत्त्व के सम्बन्ध में किसी समय विज्ञान की यह दृढ़ धारणा थी कि परमाणुओं तक ही हम पहुँच सकते हैं, उनके पीछे नहीं—और इन सूक्ष्मतम मूल वस्तुओं के योग-वियोग से ही पृथ्वी का निर्माण हुआ है। लेकिन विज्ञान का यह मूलवस्तु-दुर्ग भी अब चसले की तरह मज़बूत नहीं रहा। आदिकारण के महासागर की ओर विज्ञान एक-एक क़दम बढ़ाता है, और वस्तुतत्त्व का किनारा भी क्षितिज में विलुप्त हो जाता है। समस्त वैचित्र्य आकार-आयतन, एक विराट शक्ति के बीच हमारी सीमाएँ खो देते हैं और हमारी धारणा-शक्ति से बिलकुल बाहर पहुँच जाते हैं।

लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि एक दिशा में जो सत्ता हमारी धारणा से परे है वही दूसरी दिशा में हमारे लिए नितान्त धारणागम्य है, हमारे बिलकुल निकट है। यही है हमारा जगत्। इस जगत् की शक्ति को हमें विज्ञान की सहायता से शक्तिरूप में जानना नहीं पड़ता। उसे हम जल-स्थल, तरु-लता, पशु-पक्षी में अत्यन्त प्रत्यक्ष रूप में देख सकते है। जल का अर्थ है हमारी अपनी एक सामग्री। वह हमारे देखने की चीज है, स्पर्श करने की चीज़ है, हमारे नहाने और पीने की चीज़ है—वह विविध प्रकार से हमारी अपनी वस्तु है। विश्व-जगत् भी इसी तरह है—स्वरूप के पक्ष से उसकी बालू के एक कण तक भी हमारी धारणा-शक्ति नहीं पहुँचती—लेकिन सम्बन्ध के पक्ष से वह विचित्र रूप से, विशेष रूप से, हमारा अपना है।

जिसे हम पकड़ नहीं सकते वह अपने-आप हमारे पास आ जाता है—इतनी आत्मीयता के साथ कि दुर्बल शिशु भी उसकी अचिंत्य शक्ति को अपना मिट्टी का घर बनाने के लिए बिना रोक-टोक व्यवहार में लाता है।

जैसा जड़ जगत् है वैसा ही मनुष्य है। प्राण-शक्ति क्या है, यह कहना बहुत

कठिन है। पर्दे के बाद पर्दा हम उठाते जाते हैं, पर वह अचिन्त्य, अनन्त, अनिर्वचनीय रहती है। लेकिन वही प्राण, जो एक ओर से प्रकाण्ड रहस्य है, दूसरी ओर से एक ऐसी शक्ति है जिसे हम सहज ही वहन करते हैं—वह हमारा अपना प्राण है। पृथ्वी के सारे नगरों-ग्रामों को व्याप्त करके प्राण-धारा प्रतिक्षण अगण्य जन्म-मृत्यु के बीच प्रवाहित होती है, नित नई शाखा-प्रशाखाओं में बढ़ती हुई दुर्भेद्य निर्जनता को बसाती है। इसी प्राण-प्रवाह के ऊपर लक्षावधि मनुष्यों की शरीर-लहरें अहोरात्र अंधकार से आलोक की ओर उठती हैं और आलोक से अंधकार में डूब जाती हैं। यह कौन-सा तेज है, कौन-सा वेग है, कौन-सा विश्वास है जो मनुष्य के बीच आन्दोलित होता है, नित-नये वैचित्र्य में अपने-आपको विस्तारित करता है ? जहाँ अथाह गहराइयों में उसका रहस्य सदा के लिए सुरक्षित है, वहाँ हमारा प्रवेश नहीं। जहाँ देश-काल के बीच उसके प्रकाश का निरन्तर मंथन होता है, वहाँ भी हमारी दृष्टि लेश-मात्र तक ही पहुँचती है, समस्त को हम एक साथ नहीं देख पाते। फिर भी यही वह है, इसी क्षण वह है, हमारा अपना है। अपने सारे अतीत को आकर्षित करते हुए, अपने सारे भविष्य को वहन करते हुए, वह है। वह अदृश्य है, फिर भी दृश्य है; एक होते हुए भी बहु है। वह विराट् मानव-प्राण अपनी क्षुधा-तृष्णा को लेकर, अपने निःश्वास-प्रश्वास को लेकर, अपने हृत्पिंड के उत्थान-पतन और शिरा-उपशिरा की रक्त-धारा के ज्वार-भाटे को लेकर, देश-देशान्तर में, वंश-वंशान्तर में विद्यमान है। यह अनिर्वचनीय प्राण-शक्ति, अपने अपरिमित रहस्य के बावजूद, नवजात बालक के लिए भी अकुण्ठित रूप से 'अपनी' है।

इसीलिए मैंने कहा था कि विरोध और वैचित्र्य के बीच महाशक्ति की जो अनिर्वचनीय क्रियाएँ चल रही हैं वे हमारे लिए जगत्-रूप में, प्राण-रूप में, 'अपनी' हैं। तभी हम उनको केवल व्यवहार में नहीं लाते, उनसे प्रेम करते हैं, उन्हें किसी तरह छोड़ना नहीं चाहते। वे हमारे लिए अपनी 'आत्मीय' हैं और यदि हम उन्हें त्याग दें तो हमारा 'अपनापन' वस्तुशून्य हो जाता है।

जगत् के सम्बन्ध में तो यह सब सहज है, लेकिन जहाँ मनुष्य की आन्तरिक सत्ता है वहाँ इतनी आसानी से सामञ्जस्य स्थापित नहीं होता। मनुष्य अपने-आपको इस तरह अखण्ड रूप से, समग्र रूप से, उपलब्ध नहीं कर पाता, जिसके द्वारा सभीके साथ मनुष्य का इतना निकट सम्बन्ध है, उसीको 'अपना' बनाना मनुष्य के लिए अत्यन्त कठिन जान पड़ता है।

अन्दर-बाहर मनुष्य तरह-तरह की बातों को लेकर व्याकुल है। उनके बीच वह अपने-आपको सँभाल नहीं पाता। उसका 'अपनापन' टुकड़े-टुकड़े होकर

चारों ओर बिखर-सा जाता है। लेकिन उसे अपने-आपकी ही सबसे अधिक आवश्यकता है—उसका जो दुःख है वह शुरू से ही अपने को न पाने का परिणाम है। जब तक अपने को वह परिपूर्ण रूप से नहीं पाता तब तक बार-बार यह सोचता है : 'यह नहीं मिला', 'वह नहीं मिला'—किसी तरह उसकी तृप्ति नहीं होती। जब तक हम अपने-आपको नहीं पाते तब तक हम नित्य रूप से किसी वस्तु को नहीं पाते, क्योंकि ऐसा कोई आधार ही नहीं रहता जिसके ऊपर किसी चीज़ को स्थिर भाव से हम रख सकें। तब हम कहते हैं, सब-कुछ माया है, सब-कुछ छाया की तरह विलीन हो जाता है। लेकिन जब हम आत्मा को प्राप्त करते हैं, जब अपने अन्दर ध्रुव 'एक' को निश्चित करते हैं, तब उस केन्द्र के आधार पर चारों ओर की चीज़ें निकट आकर आनन्दमयी हो उठती हैं। जो कुछ उस समय तक मिथ्या था वह हो उठता है। वासनाओं और प्रवृत्तियों के लिए जो कुछ मरीचिका की तरह था, जो पास आकर फिर दूर हो जाता था, वह आत्मा को सत्य रूप से वेष्टित करके हमारा अपना बन जाता है। इसलिए जिसने आत्मा को उपलब्ध किया है उसे जल-स्थल-आकाश में आनन्द प्राप्त होता है, सभी अवस्थाओं में उसे आनन्द मिलता है, क्योंकि वह अपने सत्य के बीच 'समस्त' को अमर सत्य के रूप में देखता है। वह किसी को छाया नहीं कहता, माया नहीं कहता; क्योंकि जगत् के समस्त पदार्थों का सत्य उसमें समा गया है। वह स्वयं सत्य बन गया है, उसके लिए सत्य विश्लिष्ट या विच्छिन्न नहीं होता। इस तरह अपने-आपको पाने में समस्त को पाना, अपने सत्य के द्वारा सकल सत्य के साथ संयुक्त होना, अपने को केवल कुछ वासनाओं और अनुभूतियों का स्तूप न समझना, अपने-आपको विच्छिन्न तथा असंलग्न विषयों में न ढूंढ़ना—यही हैं आत्मबोध के लक्षण, आत्मोपलब्धि के लक्षण।

पृथ्वी किसी समय वाष्प-मण्डल-मात्र थी। उस समय उसके परमाणु अपने ही ताप के उद्वेग से विश्टिष्ट होकर चक्कर लगाते थे। तब पृथ्वी को अपना आकार नहीं मिला था, प्राण नहीं मिला था, वह किसी चीज़ को जन्म नहीं दे सकती थी, किसी चीज़ को धारण नहीं कर सकती थी। उस समय न उसका सौन्दर्य था, न सार्थकता—केवल ताप था और गति थी। जब वह संहत हुई, एक हुई, तभी विश्व के ग्रह-नक्षत्र-मण्डल में उसे एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ, विश्व की मणिमाला में एक नया हीरा पिरो दिया गया। उसी तरह हमारा चित्त भी जब केवल प्रवृत्ति के उत्ताप और उद्वेग से इधर-उधर छितर जाता है तब वह यथार्थ रूप से न कुछ पाता है, न देता है। जब हम समस्त को संहत करके, संयत करके, आत्मा को प्राप्त करते हैं, जब हम सत्य को जानते हैं, तब हमारा

विच्छिन्न ज्ञान एक ही प्रज्ञा में घनीभूत होता है, हमारी विच्छिन्न वासनाएं एक ही प्रेम में सम्पूर्णता-लाभ करती हैं; जीवन में जो कुछ है—चाहे वह छोटा हो या बड़ा—निविड़ आनन्द में सुन्दर होकर व्यक्त होता है। तब हमारे सारे चिन्तन में, सारे कर्म में, आत्मानन्द का अविच्छिन्न योग उत्पन्न होता है। तभी हम आध्यात्मिक ध्रुवलोक मे अपनी सत्य प्रतिष्ठा उपलब्ध करके सम्पूर्ण रूप से निर्भय हो जाते हैं। तब हमारा यह भ्रम दूर हो जाता है कि हम संसार की अनिश्चितता और मृत्यु के आवर्त्त में चक्कर काट रहे हैं। तब आत्मा बड़ी आसानी से यह मान लेती है कि परमात्मा के बीच चिरसत्य के रूप में उसका स्थैर्य है।

इस सबसे बड़े सत्य को, अर्थात् अपने-आपको, इच्छा-शक्ति से प्राप्त करना होगा—भीड़ से दूर हटकर, तरह-तरह की खींचातानी से बचकर, इस सहज समग्रता को हमें ग्रहण करना है। हमारे अन्दर यह अखण्ड सामजञ्स्य जागतिक नियम से नहीं, बल्कि हमारी इच्छा के ज़ोर से ही प्रतिस्थापित हो सकता है।

मनुष्य का सामञ्जस्य विश्व-जगत् के सामञ्जस्य की तरह सहज नहीं है। मनुष्य की चेतना है, वेदना है। अपने समस्त आन्तरिक विरोध वह शुरू से ही अनुभव करता है। वेदना की पीड़ा से ये विरोध ही उसके लिए महत्वपूर्ण बन जाता है। अपने आन्तरिक विरोधों का दुःख उसके लिए इतना तीव्र होता है कि उसका चित्त उस दुःख से प्रतिहत होता रहता है। वह आसानी से यह बात नहीं देख पाता कि किसी वृहत् सत्य में उसके सारे विरोधों का समाधान भी है, सारी दुःख-वेदना का आनन्दमय परिणाम भी है। हम शुरू से ही यह बात देखते है कि जिसमें सुख है उसमें ही मंगल नहीं है, जिसे हम मंगल कहते हैं वहाँ तक पहुँचने में प्रत्येक दिशा से बाधाएँ हमारे सामने आती हैं। हमारे शरीर के दावे के साथ मन का दावा अक्सर मेल नहीं खाता; व्यक्तिगत रूप से हम जो अधिकार माँगते हैं वे समाज के अधिकारों के विपरीत होते है; हमारे वर्तमान की माँग भविष्य की माँग को अस्वीकार करती है। अन्दर-बाहर इन सब बाधा-विरोधों को और छिन्न-विच्छिन्नता को साथ लेकर मनुष्य को चलना होता है। अन्दर-बाहर के इस घोर असामंजस्य से आक्रान्त होकर मनुष्य अपनी अन्तरतम ऐक्य-शक्ति की प्रार्थना करता है। जो शक्ति उसके बिखराव को दूर करके उसे ऐक्य प्रदान करे, उसीके प्रति अपने विश्वास को और उसीमें अपने लक्ष्य को स्थिर करने का प्रयत्न मनुष्य करता रहता है—प्रतिदिन वह विशेष के बीच ऐक्य साधना के प्रयास में लगा रहता है। उसके ज्ञान-विज्ञान, समाज, साहित्य, राजनीति—सब इसी प्रयास के परिणाम हैं। यही चेष्टा मनुष्य को उसके अपने स्वभाव और सत्य की जानकारी कराती

है। यह प्रयास कभी सफल होता है, कभी निष्फल; कभी टूटता है, कभी फिर सबल होता है। लेकिन इसी गिरने-उठने के बीच मनुष्य अपनी स्वाभाविक ऐक्य-चेष्टा के द्वारा ही अपने आन्तरिक 'एक' को स्पष्ट रूप से देख पाता है। वह 'एक' जितना अधिक स्पष्ट होता है उसी मात्रा में मनुष्य अपने स्वाभाविक ज्ञान, प्रेम और कर्म में क्षुद्र विच्छिन्नता का परित्याग करके भूमा का आश्रय लेता है।

इसीलिए मैंने कहा है कि घूम-फिरकर मनुष्य जो कुछ भी करता है—कभी भूल करते हुए, कभी भूल सुधारते हुए—उसके मूल में आत्मबोध की यही साधना है। वह चाहे जिसकी भी इच्छा करे, सत्य रूप से इसी 'अपने' को चाहता है—कभी जान-बूझकर, कभी अनजाने। विश्व-ब्रह्माण्ड को विराट् रूप से एक स्थान पर प्रतिष्ठित करके मनुष्य आत्मा की अखंड उपलब्धि चाहता है। वह किसी-न-किसी तरह यह समझ लेता है कि विरोध सत्य नहीं, विच्छिन्नता सत्य नहीं—विरोध की सार्थकता है निरन्तर अविरोध के बीच मिलकर विश्वसंगीत को ध्वनित करना। उस संगीत में ही परिपूर्ण आनन्द है। अपने इतिहास में मनुष्य उसी संगीत की तान साधता है—स्वर-च्युत होने पर भी निराश नहीं होता। उपनिषद् की वाणी से वह कहता है: 'तमेवैकं जानीथ आत्मानं'—उसी एक को जानो, उसी आत्मा को। 'अमृतस्यैष सेतुः'—यही अमृत का सेतु है।

जब अपने-आपमें 'एक' को पाकर मनुष्य धीर हो जाता है, उसकी प्रवृत्तियाँ शान्त और संयत हो जाती हैं, तो वह यह भी जान लेता है कि उसका 'एक' किसे ढूँढ रहा है। उसकी प्रवृत्ति विविध विषयों की ओर दौड़ती है—विविध विषयों में ही उसका जीवन है, उन्हींके साथ संयुक्त होने में प्रवृत्ति की सार्थकता है। लेकिन मनुष्य का जो 'एक' है, मनुष्य का जो 'अपना' है वह स्वभावतः असीम 'एक' को—असीम 'अपने' को—ढूँढता है। अपने ऐक्य में असीम ऐक्य का अनुभव करके ही उसकी सुख-अभिलाषा शान्त होती है। तभी उपनिषद् में कहा है: 'एकं रूपं बहुधा यः करोति'—जो एकरूप को विश्व-जगत् में बहुत्व के द्वारा व्यक्त करता है—'तमात्मस्थः येऽनुपश्यन्ति धीराः'—उसे जो धीर आत्मस्थ के रूप में देखते हैं, अर्थात् जो लोग अपने 'एक' के बीच देखते हैं,—'तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'—उन्हींका सुख नित्य है, दूसरों का नहीं।

आत्मा के साथ परमात्मा को देखना, यह एक अत्यंत सहज दृष्टि है—यह मुक्ति-तर्क की दृष्टि नहीं है। यह है 'दिवीव चक्षुराततम्'—यह वैसी ही दृष्टि है जैसे चक्षु सहज ही उस पदार्थ को देखता है जो आकाश में फैला हुआ है। हमारी आँखों का स्वभाव ही यह है कि वे किसी चीज़ को टुकड़े-टुकड़े करके नहीं देखतीं,

समग्र रूप में देखती हैं। वह स्पेक्ट्रॉस्कोप यंत्र की तरह नहीं देखतीं—वह अपने बीच समस्त को बाँधकर, समस्त को अपनाकर देखना जानती हैं। जब हमारे आत्मबोध की दृष्टि उन्मुक्त होती है तब वह भी इसी तरह सहज भाव से अपने को 'एक' करके और परम 'एक' के साथ आनन्द में सम्मिलित करके देखती है। इस तरह समग्र रूप से देखना उसका सहज धर्म है। परमात्मा हमारा 'अपना' है। यदि उसे 'अपना' समझकर नहीं जाना तो फिर अन्य किसी तरह से भी हम जानें, हम उसको नहीं जानते। ज्ञान के द्वारा जानना 'अपना' समझकर जानना नहीं है—बल्कि उसका उलटा है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव है प्रभेद के द्वारा जानना, 'अपना' करके जानने की शक्ति उसमें नहीं है।

उपनिषद् में कहा है : 'एष देवो विश्वकर्मा'—यह देवता विश्वकर्मी है, विश्व के असंख्य कर्मों में अपने को असंख्य रूपों से व्यक्त करता है—लेकिन वही 'महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' अपने महान् रूप से, परम एक रूप से, सर्वदा मानव-हृदय में सन्निविष्ट है। 'हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतत्'—संशयरहित, अव्यवहित ज्ञान में जो लोग उसे प्राप्त करते हैं, 'अमृतास्ते भवन्ति'—वही अमर होते हैं।

हमारी आँखें जिस तरह अपने-आप देखती हैं उसी तरह हमारा हृदय अपने-आप अनुभव करता है—जो मधुर है वह उसे मीठा लगता है, रुद्र उसे भीषण लगता है। इस बोध के लिए उसे कुछ विचार करना नहीं पड़ता। हृदय जब अपनी स्वाभाविक, संशयहीन बोधशक्ति द्वारा परम 'एक' का विश्व में और अपने-आपमें प्रत्यक्ष अनुभव करता है तब मनुष्य की चिरकाल के लिए रक्षा होती है। टुकड़ों को जोड़कर हम अनन्त काल तक 'एक' को नहीं पा सकते, लेकिन हृदय के सहज बोध से मुहूर्त-मात्र में उसे एकान्त स्वकीय रूप में प्राप्त करते हैं। तभी उपनिषद् में कहा गया है : 'वह हमारे हृदय में सन्निविष्ट है—रस रूप में, आनन्द रूप में, उसे हम स्पष्ट देखते हैं; और किसी तरह वह हमें नहीं मिलता।'

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।'

वाणी और मन जिसे न पाकर वापस लौटते हैं उस ब्रह्म के आनन्द का जब हृदय को बोध होता है तब फिर किसी बात का भय नहीं रहता।

यह सहजबोध ही प्रकाशन है—यह 'जानना' नहीं है, संग्रह करना नहीं है, टुकड़ों को जोड़ना नहीं है। आलोक जिस तरह अपने-आप प्रकट होता है उसी तरह का यह प्रकाशन है। जब सवेरा होता है हमें प्रकाश को ढूंढने के लिए बाज़ार

नहीं जाना पड़ता, ज्ञानी का दरवाज़ा नहीं खटखटाना पड़ता—जो बाधाएँ हैं उन्हें हटाना होता है, दरवाज़ा खोल देना होता है, आलोक अपने-आप अखण्ड रूप से प्रवेश करता है।

इसीलिए मनुष्य की गंभीरतम प्रार्थना यही है—'आविरावीर्म एधि:'। हे आवि:, हे आलोक, तुम हमारे बीच प्रकट हो जाओ। मनुष्य का जो दु:ख है वह प्रकट न होने का दु:ख है—जो प्रकाश-स्वरूप है वह अभी तक मनुष्य के बीच व्यक्त नहीं हुआ; हृदय के ऊपर बहुत-से आवरण रह गए हैं; अभी तक उसमें बाधाएँ हैं, विरोध है; अभी तक वह अपनी प्रकृति के अलग-अलग अंशों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता; अभी तक उसका एक भाग अन्य भागों के विरुद्ध विद्रोह करता है, स्वार्थ के साथ परमार्थ का मिलन नहीं होता; उच्छृंखलता के बीच 'आवि:' का आविर्भाव नहीं होता; भय, शोक, दु:ख, अवसाद अकृतार्थता उसके हृदय में हैं; खोये हुए के लिए वेदना और आने वाले के प्रति आशंका उसके चित्त को विचलित करती है; अन्दर-बाहर से समस्त को साथ लेकर उसका जीवन प्रसन्न नहीं होता, इसीलिए मनुष्य की प्रार्थना है—'रुद्र यत्ते दक्षिणमुखं तेन मां पाहि नित्यम्'-- हे रुद्र ! अपने प्रसन्न मुख द्वारा हमारी सदा रक्षा करो। जहाँ उस 'आवि:' का आविर्भाव सम्पूर्ण नहीं, वहाँ प्रसन्नता नहीं; जिस देश में आवि: का आविर्भाव बाधाग्रस्त है उस देश से प्रसन्नता प्रस्थान कर चुकी; जिस घर में उसका आविर्भाव अवरुद्ध है वहाँ धन-धान्य होते हुए भी श्री नहीं है; जिस चित्त में उसका प्रकाश आच्छन्न है वह चित्त दीप्तिहीन है, प्रतिष्ठाहीन है, वह नदी की धारा पर तैरती हुई सेवाल की तरह बहता चला जाता है। इसलिए मनुष्य की और जो कुछ भी प्रार्थनाएँ हों, उसकी वास्तविक प्रार्थना यही है—'आविरावीर्म एधि:', हे प्रकाश ! मुझमें तुम्हारा आविर्भाव सम्पूर्ण हो। इसीलिए मनुष्य यदि किसी बात के लिए सबसे अधिक दुखी होता है तो पाप के लिए—परम एक के साथ वह स्वर मिला नहीं सकता, यह बेसुरापन ही वह पाप है जो उस पर आघात करता है। जब मनुष्य के अलग-अलग पक्ष छितर जाते हैं, जब उसका एक अंश अन्य अंशों को छोड़कर मनमानी करता है, तब वह अपने-आपको परम एक के शासन में धारण किया हुआ नहीं पाता, तब वह विच्छिन्नता की वेदना से रो उठता है और कहता है—'मा मा हिंसी:'-- मुझ पर आघात न करो, आघात न करो। 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव'—मेरे सब पाप दूर करो, अपने साथ मेरे समस्त को संयुक्त करो, तभी मेरा अपने-आपसे मिलन होगा, सबसे मिलन होगा, मुझमें तुम्हारा प्रकाशन परिपूर्ण होगा, जीवन की सारी 'रुद्रता' प्रसन्नता से दीप्तिमान हो उठेगी।

दुनिया में अलग-अलग देश आज अलग-अलग अवस्थाओं में हैं, उनके ज्ञान और बुद्धि का विकास एक-जैसा नहीं है। उनके इतिहास में वैचित्र्य है, सभ्यता में भिन्नता है। लेकिन विभिन्न देशों की परिणति अलग-अलग होते हुए भी, प्रत्येक देश किसी-न-किसी रूप में अपने से बड़े 'अपने' को चाहता है,—एक ऐसी बड़ी सत्ता को चाहता है जो उस पर अधिकार करके उसे अपने बीच बाँध दे, जो उसके जीवन को अर्थ प्रदान करे। जो उसने पाया है, जो उसकी प्रतिदिन की चीज़ है, जिसको लेकर उसने घर बसाया है, जो उसकी खरीदने-बेचने की सामग्री है, उसके साथ तो उसे रहना ही है। लेकिन साथ-ही-साथ जो सबके परे है, जो देखने-सुनने, खाने-पीने से 'अधिक' है, जो उसे अपने-आप का अतिक्रमण करने के लिए प्रेरित करता है, उसे त्याग करने को कहता है, जो उसकी पूजा ग्रहण करता है, जो उसे दुःसाध्य प्रयासों का आह्वान देता है—ऐसी सत्ता की उपलब्धि भी मनुष्य अपने में करना चाहता है। उसीको वह अपने समस्त सुख-दुःख से बड़ा समझकर स्वीकार करता है, क्योंकि वह जानता है कि मनुष्यत्व की अभिव्यक्ति उसी दिशा में है—खाने-पीने, आराम-चैन की दिशा में नहीं। उसी दिशा की ओर देखते हुए मनुष्य हाथ जोड़कर कहता है: 'आविरावीर्म एधिः'—हे प्रकाश, तुम्हारा मुझमें आविर्भाव हो। उसी दिशा की ओर देखकर वह समझ सकता है कि उसका मनुष्यत्व दैनंदिन तुच्छता से आच्छन्न है, प्रवृत्तियों के आकर्षण से विच्छिन्न हो गया है, और इस मनुष्यत्व को मुक्त करना होगा, एक करना होगा। उस दिशा की ओर देखते हुए ही मनुष्य अपनी दीनता के साथ अपने महान् अधिकार को भी प्रत्यक्ष करता है। उसी दिशा में देखते हुए उसकी यह वाणी चिरदिन, नाना भाषाओं में ध्वनित होती है—आविरावीर्म एधिः, हे प्रकाश! तुम्हारी मुझमें अभिव्यक्ति हो। अभिव्यक्ति चाहता है, मनुष्य अभिव्यक्ति चाहता है, भूमा को अपने बीच देखना चाहता है, परम 'अपने' को अपने-आपमें प्राप्त करना चाहता है। यह अभिव्यक्ति उसके आहार-विहार से बड़ी है, उसके प्राण से बड़ी है—यह उसके प्राणों का प्राण है, उसके मन का मन है। इसी अभिव्यक्ति में उसके अस्तित्व का परम अर्थ है।

मनुष्य-जीवन में भूमा की यह उपलब्धि पूर्णतर करने के लिए ही पृथ्वी पर महापुरुषों का पदार्पण होता है। महापुरुष यही दिखाने के लिए आते हैं कि मनुष्य में भूमा का प्रकाशन कैसे होता है। हम यह नहीं कह सकते कि किसी एक भक्त में यह प्रकाशन सर्वांगीण रूप से हुआ है, लेकिन मनुष्य में भूमा की अभिव्यक्ति को उत्तरोत्तर परिपूर्ण करना ही उनका काम है। असीम के बीच मनुष्य की आत्मोपलब्धि को अखण्ड बनाने का मार्ग वे सुगम करते हैं। समस्त गान को

चाहे ताल और लय में निवद्ध न कर सकें, फिर भी मूल स्वर को वे विशुद्ध रूप में बाँधते हैं।

भक्तगण असीम को मनुष्य के बीच स्थापित करके उसे मनुष्य की अपनी सामग्री का रूप देते हैं। हम आकाश में, समुद्र में, पर्वत में, नक्षत्रलोक में, विश्व-व्यापी नियम-तंत्र में, असीम को देखते अवश्य हैं, लेकिन वहाँ हम उसे सम्पूर्ण भाव से नहीं देखते। जब हम मनुष्य में असीम को देखते हैं, तभी हमारा देखना सर्वांगीण होता है, आन्तरिक होता है। वह है इच्छा के बीच इच्छा को देखना। जगत् के नियम में हम शक्ति को देख पाते हैं— लेकिन इच्छा-शक्ति को हम इच्छा के अतिरिक्त और कहाँ देख सकेंगे? अग्नि, जल, वायु, सूर्य, तारे — चाहे वे कितने ही उज्ज्वल, प्रबल या बृहत् हों—असीम की अभिव्यक्ति हमें नहीं दिखा सकते। वे शक्ति दिखाते हैं— लेकिन शक्ति को दिखाने की क्रिया में बन्धन है, पराभव है। वे नियम का लेश-मात्र उल्लंघन नहीं कर सकते। वे जो हैं वही हो सकते हैं, क्योंकि उनके पास इच्छा-शक्ति नहीं है। ऐसे जड़ यन्त्र में इच्छा का आनन्द प्रकाशित नहीं हो सकता।

मनुष्य को इच्छा-शक्ति प्रदान करके ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता को सीमित कर दिया है—उसने किसी हद तक मनुष्य को स्वतन्त्र कर दिया है, और इस स्वातन्त्र्य के क्षेत्र में ईश्वर अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता। स्वाधीनता के क्षेत्र में प्रभु और दास का सम्बन्ध नहीं, वरन् प्रियतम के साथ प्रेमी का मिलन है। यहीं ईश्वर की सबसे महान् अभिव्यक्ति है—इच्छा की अभिव्यक्ति, प्रेम की अभिव्यक्ति। यहाँ हम ईश्वर को मान सकते हैं, नहीं भी मान सकते—यहाँ हम उसे आघात तक पहुँचा सकते हैं। यहाँ हम इच्छापूर्वक उसकी इच्छा को ग्रहण कर सकते हैं, प्रीति द्वारा उसके प्रेम को स्वीकार कर सकते हैं—ऐसी ही उसकी अपेक्षा है, इसलिए यहाँ हममें और ईश्वर में व्यवधान है। विश्व-ब्रह्माण्ड में यही एक स्थान है जहाँ सर्वशक्तिमान का सिंहासन नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रेम का आसन है।

जहाँ यह व्यवधान है, भेद है, वहीं असत्य, अन्याय, पाप और मलिनता के लिए स्थान है, क्योंकि यहाँ से ईश्वर ने इच्छापूर्वक अपने-आपको कुछ हटा-सा लिया है। यहाँ मनुष्य इस सीमा तक विकृत हो सकता है कि संशय से उत्पीड़ित होकर वह कह उठता है—'यदि ईश्वर होता तो असत्य, अन्याय इत्यादि कैसे सम्भव होते!' वास्तव में यहाँ ईश्वर स्वयं आच्छन्न हो गया है और उसने मानव के लिए स्थान छोड़ दिया है। यहाँ उसका नियम बिलकुल समाप्त हो गया हो, ऐसी बात नहीं। माँ बच्चे को चलना सिखाते हुए पास रहकर भी उसका हाथ नहीं

पकड़ती, बीच-बीच में गिरने देती है, चोट खाने देती है। उसी तरह मानवीय इच्छा के क्षेत्र में ईश्वर है भी, और नहीं भी। तभी यहाँ हम आघात करते हैं और आघात सहते हैं, धूल से हमारा शरीर मलिन होता है; तभी यहाँ द्विधा-द्वन्द्व है, पाप है। यहीं से मनुष्य की यह प्रार्थना ध्वनित होती है—'आविरावीर्म एधि:', हे प्रकाश, हमारे बीच तुम्हारा आविर्भाव परिपूर्ण हो। वैदिक ऋषियों की यह प्रार्थना हम बंगाल में रास्ते-रास्ते पर सुन सकते हैं, ऐसे गीतों में जिन्हें साहित्य में स्थान नहीं मिला, ऐसे लोगों के कंठ से जिन्हें अक्षरबोध तक नहीं है। इसी बंगाल में हम माझियों को सरल चित्त से सरल सुर में गाते हुए सुनते हैं: 'माझि, तोर बइठा ने रे आमि आर बाइते पारलाम ना:'—अपनी पतवार आप ही सँभालो, यह जगह तुम्हारी है, मैं अपनी इच्छा से अब और न खे सकूँगा। जहाँ विच्छेद है उस स्थान पर मुझे अकेला न बिठाओ। हे प्रकाश, वहाँ तुम्हारा ही आविर्भाव परिपूर्ण हो।

बाधा-विरोध, असत्य, जड़ता और पाप को भेद कर ऊपर उठना होता है, तब कहीं भक्त के बीच भगवान् का आविर्भाव सम्पूर्ण होता है। यह बात नहीं कि जड़ जगत् में ईश्वर की अभिव्यक्ति बाधाहीन है—बिना बाधा के तो आविर्भाव हो ही नहीं सकता। जड़ जगत् में उसका नियम ही उसकी शक्ति का विरोध करता है और इस तरह ईश्वर का आविर्भाव स्पष्ट होता है—इस नियम को ईश्वर ने स्वीकार किया है। हमारे चित्त-जगत् में जब ईश्वर प्रेम-मिलन की अभिव्यक्ति कराता है, उस समय भी बाधा को स्वीकार करता है। वह बाधा है स्वाधीन इच्छा। इस बाधा के बीच से होकर जब आविर्भाव पूर्ण होता है, जब इच्छा के साथ इच्छा, आनन्द के साथ आनन्द और प्रेम के साथ प्रेम मिल जाते हैं, तब भक्त में भगवान् की ऐसी अभिव्यक्ति होती है जैसी और कहीं नहीं हो सकती।

इसीलिए हमारे देश में भक्तों का गौरव ऐसे कीर्तनों में किया गया है, जिनका उच्चारण करने में दूसरे देश के लोगों को संकोच होता है। जो आनन्दमय है—आविर्भाव में ही जिसका आनन्द है—वह अपने-आपको विशुद्ध आनन्द रूप में भक्त के जीवन में व्यक्त करता है। इस आविर्भाव के लिए वह भक्त की इच्छा पर निर्भर है—यहाँ ज़ोर-जबरदस्ती नहीं चल सकती। प्रेम के राज्य में बादशाह का सिपाही पैर नहीं रख सकता। प्रेम के अलावा प्रेम का कोई दूसरा चारा नहीं है। इसलिए भक्त जिस दिन अपने अहंकार को विसर्जित कर देता है, अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा से मिला देता है, उस दिन मनुष्य के बीच ईश्वर का आनन्द पूर्ण रूप से व्यक्त होता है। और यह आविर्भाव ईश्वर चाहता है। इसीलिए मानव-हृदय के द्वार पर उसके सौन्दर्य का संदेश प्रतिदिन पहुँचता है; उसके रस का स्पर्श हमारे चित्त को तरह-तरह से प्रभावित

करता है; हमारी समस्त प्रकृति को निद्रा से जगाने के लिए क्षण-प्रतिक्षण विपद, मृत्यु और दुःख-शोक हमें हिला देते हैं। ईश्वर आविर्भाव चाहता है, इसीलिए हमारा चित्त भी विस्मृति और जड़ता के बावजूद गम्भीर रूप से इस आविर्भाव की प्रतीक्षा करता है। कहता है : 'आविरावीर्म एधि:'।

हमारे देश के भक्ति-शास्त्र में यह विचार व्यक्त हुआ है कि अनन्त की इच्छा हमारी इच्छा के द्वार पर आकर खड़ी है। आजकल अन्य देशों के साहित्य में भी हमें इस विचार का आभास मिलता है। किसी दिन एक अंग्रेज़ भक्त कवि की ये पंक्तियाँ मैंने देखीं :

'Thou hast need of thy meanest creature
Thou hast need of what once was thine :
The thirst that consumes my spirit
Is the thirst of thy heart for mine.'

कवि कहता है : 'तुम्हारे दीनतम जीव का भी तुम्हारे लिए कुछ प्रयोजन है—एक दिन वह तुममें ही था, और तुम उसे फिर एक बार अपना बनाना चाहते हो; मेरा चित्त जिस तृष्णा से दग्ध हो रहा है वह तुम्हारी ही तृष्णा है, मेरे लिए तुम्हारे हृदय की प्यास है।'

पश्चिमी भारत के एक प्राचीन साधक कवि, ज्ञानदास बघैली, ने यही विचार प्रकट किया है। मेरे एक मित्र ने कवि की कुछ पंक्तियों का इस तरह से अनुवाद किया है :

असीम तृष्णा में, असीम क्षुधा में,
हे प्रभु,
असीम भाषा में तुम प्रवाहित हो।
हे दीनानाथ ! मैं क्षुधित हूँ, प्यासा हूँ,
तभी तो मैं दीन हूँ।

मेरे लिए ईश्वर की जो तृष्णा है वही उसके लिए मेरी तृष्णा में प्रकट होती है। अपनी असीम तृष्णा को वह असीम भाषा में व्यक्त करता है। वही भाषा तो उषा के आलोक में, निशीथ के नक्षत्रों में, वसन्त के परिमल में, शरद् ऋतु की स्वर्ण किरणों में है। इस भाषा का पृथ्वी पर और कोई प्रयोजन नहीं—वह केवल हृदय के प्रति हृदय-महासागर की पुकार है। यह पश्चिम-भारतीय कवि जो कहता है

वही बलरामदास[1] ने कहा—'तोमाय हियार मितर हैते के कैल बाहिर'—तुम्हें मेरे हृदय के अन्दर से किसने बाहर निकाला ! तुम मेरे हृदय में थे—लेकिन अब विच्छेद हुआ है, विच्छेद मिटाकर वापस आ जाओ, सारे दुःख के पथ को पार करते हुए फिर मुझमें लौट आओ; हृदय के साथ हृदय का मिलन सम्पूर्ण हो ! यह विरह वेदना अनन्त में है, हृदय मुझमें भी है :

I have come from thee, why I know not;
but thou art, O God ! what thou art;
And the round of eternal being is the
pulse of thy beating heart.

मैं तुम्हारे हृदय से बाहर आया हूँ, मैं नहीं जानता क्यों। किन्तु, हे ईश्वर, तुम जो हो वही हो—तुमसे बिछुड़कर बाहर आना और युग-युगान्तर तक वापस लौटते रहना, यह तुम्हारे असीम हृदय का ही स्पन्दन है।

अनन्त की इस विरह-वेदना से ही विश्व-काव्य की रचना हुई है—कवि ज्ञानदास अपने ईश्वर से कहते हैं—यह वेदना हम-तुम बाँट लेंगे, और इसका उपभोग करेंगे : यह वेदना जितनी तुम्हारी है उतनी ही मेरी भी है। हे प्रभु, मुझे जो दुःख मिलता है उससे तुम लज्जित न होना।

मैं तुम्हारी प्रेम-पत्नी हूँ,
स्वामी, मेरे सामने लज्जा किस बात की ?
अपनी समस्त व्यथा से दिन-रात मुझे व्यथित करो।
जब तुम्हारी आँखों में नींद नहीं
तो मैं कैसे सोता रहूँ ?
विश्व तुम्हारा विराट् निवास-स्थान है,
और मैं भी विश्व में ही लीन हूँ।

मैं भोग का सुख नहीं चाहता—सुख का वेतन दासियों को देना, मुझे नहीं। मैं तो पत्नी हूँ, तुम्हारे विश्व के दुःख का समस्त भार मुझे तुम्हारे साथ-साथ वहन करना है; उस दुःख के भीतर होकर ही दुःख से उत्तीर्ण होना है। मुझमें तुम्हारा आविर्भाव अखण्ड मिलन से संपूर्ण होगा—इसीलिए मैं यह नहीं कहता कि मुझे सुख

---

१. पन्द्रहवीं शताब्दी के बंगाल के वैष्णव कवि, जो नित्यानन्द के शिष्य और श्री श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथी थे। बलरामदास का मूल स्थान सिलहट में था, जहाँ से श्री श्रीचैतन्य महाप्रभु के पिता नवद्वीप में आये थे। 'बलरामदास की पदावली' बँगला में प्रसिद्ध है।

दो—मैं तो कहता हूँ--'आविरावीर्म एधिः', हे प्रकाश मेरे बीच तुम्हारा आविर्भाव हो।

मैं तुम्हारी धर्म-पत्नी हूँ।
भोग की दासी नहीं।
स्वामी, मुझसे लज्जा कैसी ?
प्रभु, मुझे सुख का प्रलोभन मत दिखाओ,
मेरा परम धन यही है कि तुम्हारे साथ-साथ
दुःख का भार वहन करूँ।
मैं तुम्हारी भोग्य दासी नहीं हूँ,
इस बात को स्मरण रखना।
मिथ्या सुख, मिथ्या अभिमान से
मुझे दूर मत करना—
मैं पतिव्रता सती हूँ
तभी तुम्हारे घर, हे भिखारी,
मेरा दारिद्रय सेवा के लिए प्रस्तुत है।
मैं तुम्हारे सुख के लिए नियुक्त भृत्य नहीं हूँ,
इसीलिए मुझे सुख का दान नहीं मिलता
मैं तुम्हारी प्रेम-पत्नी हूँ, इसीमें मेरा सम्मान है।

मनुष्य जब इतना सचेत और जागृत हो जाता है कि आविर्भाव की सम्पूर्णता को चाहने लगता है, तो फिर वह साधारण सुख को सुख नहीं कहता। तब वह कहता है—'या वै भूमा तत् सुखः', जो भूमा है वही सुख है। जब वह अपने-आपमें भूमा को चाहता है तब वह आराम या स्वार्थ से सन्तुष्ट नहीं होता, एक कोने में छिपना उसके लिए असम्भव हो जाता है; तब वह अपने हृदयोच्छ्वास को लेकर अपने आँगन में पड़ा-पड़ा रोता नहीं रहता। तब उसे अपने आँसू पोंछकर विश्व के दुःख का भार अपने कन्धों पर लेने के लिए प्रस्तुत होना पड़ता है। फिर उसके कर्म का अन्त नहीं होता, उसके त्याग की सीमा नहीं होती। उस समय भक्त विश्व-बोध में, विश्व-प्रेम में, विश्व-सेवा में अपने को भूमा के प्रकाश में व्यक्त करता रहता है।

जब हम भक्त के जीवन में ईश्वर के आविर्भाव को देखते हैं, तो हमें क्या दिखाई पड़ता है ? हम यही देखते हैं कि वहाँ तर्क-वितर्क नहीं है, तत्त्वज्ञान के टीकाभाष्य-वाद-प्रतिवाद नहीं हैं, विज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है—वह जीवन है एक की सम्पूर्णता, अखण्डता की अभिव्यक्ति। जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक प्रयोगशाला में जाना नहीं पड़ता—यही बात भक्त के

जीवन पर भी लागू होती है। भक्त के सारे जीवन को एक करके, संयुक्त करके, उसमें असीम अपने-आपको सहज रूप से दिखाता है। फिर भक्त-जीवन के वैचित्र्य में कोई विरुद्धता नहीं रह जाती। उसका आदि-अन्त 'एक' के बीच सुन्दर, महान् और शक्तिशाली हो उठता है। उसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म मिल जाते हैं, उसमें अन्दर-बाहर, सुख-दुःख, जीवन और मृत्यु, मित्र और शत्रु सब मिल जाते हैं। सब-कुछ आनन्द में मिल जाता है, रागिनी में मिल जाता है। उस समय जीवन के सारे सुख-दुःख की विपद-सम्पद की परिपूर्ण सार्थकता सुडौल, अविच्छिन्न रूप में प्रकाशित होती है।

इसी प्रकाशन का अनिर्वचनीय रूप है प्रेम का रूप। इस प्रेम-रूप में दुःख और सुख दोनों ही सुन्दर हैं, त्याग और भोग दोनों ही पवित्र हैं, क्षति और लाभ दोनों ही सार्थक हैं। इस प्रेम में विरोध का आघात वीणा के तारों पर उँगली के आघात की तरह है—वह मधुर स्वरों में बज उठता है। इस प्रेम की मृदुलता जितनी सुकुमार है उतनी ही उसकी वीरता कठोर है। यह प्रेम दूर और निकट को, अपने-पराये को, जीवन-सागर के इस पार और उस पार को, अपने माधुर्य से एक करता है; दिग्-दिगन्तर के व्यवधान को अपनी सुन्दर हास्य-छटा से दूर करके उषा की तरह उदित होता है। तब 'असीम' मनुष्य की बिलकुल अपनी सामग्री के रूप में दिखलाई देता है—पिता होकर, मित्र होकर, स्वामी होकर, उसके दु.ख-सुख में सहभागी, उसके 'मन का मानव' होकर। उस समय असीम और ससीम का प्रभेद अमृत से भर जाता है, उस प्रभेद के भीतर से मिलन-पारिजात की पँखुड़ियाँ एक के बाद एक विकसित होती हैं। उस समय पृथ्वी का सब आलोक, आकाश के सब नक्षत्र, ऋतुओं के सब फूल—एक महा प्रकाशन के उत्सव में जाते हैं और संगीत में अपने-अपने स्वर मिलाते हैं। उस समय, हे रुद्र! हे परम दुःख! हे विच्छेद-वेदना! तुम्हारी कैसी मूर्ति सामने आती है! कैसा 'दक्षिणं मुखं'! उस समय तुम नित्य सबका परित्राण करते हो, असीमता के दुःख और विच्छेद से बचाते हो—यह गूढ़ अब और छिपा नहीं रहता। उस समय भक्त के उन्मीलित हृदय में मानव-लोक के लिए तुम्हारा सिंहद्वार खुल जाता है। सब आते हैं—बालक और वृद्ध; जो मूढ़ हैं उन्हें भी रोका नहीं जाता; पतितों के लिए भी निमंत्रण है। लोकाचार की कृत्रिम शास्त्रविधि डगमगाती है और वर्गभेद की निष्ठुर प्राचीर करुणा में विगलित हो जाती है।

तुम्हारा विश्व-जगत् आकाश में घोषणा करता है—'मैं तुम्हारा हूँ'। यह कहकर वह नतमस्तक होकर तुम्हारा नियम पालन करता है। लेकिन मनुष्य को जो कहना है वह इससे महान् है, इसलिए वह अनन्त आकाश में सिर उठाकर खड़ा

है। वह कहना चाहता है—तुम मेरे हो। केवल तुममें मेरा स्थान है, यह बात नहीं—तुझमें भी तुम्हारा स्थान है। तुम मेरे प्रेमी हो, मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। अपनी इच्छा से मैं तुम्हारी इच्छा को स्थान दूँगा, अपने आनन्द से तुम्हारे आनन्द को ग्रहण करूँगा, इसीलिए मेरा इतना दुःख है, इतनी वेदना, इतने आयोजन। ऐसा दुःख तुम्हारे जगत् में और किसी के पास नहीं है। अन्दर-बाहर, रात-दिन संघर्ष करते हुए और कोई यह नहीं कहता—'आविरावीर्म एधिः'। तुम्हारे विच्छेद की वेदना सहते हुए जगत् में और कोई आँसू-भरी आँखों से यह नहीं कहता—'मा मा हिंसीः'। तुम्हारे पशु-पक्षी कहते हैं—मेरी क्षुधा दूर करो, मुझे सर्दी-गर्मी से बचाओ। केवल मैं ही कहता हूँ, 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव'—मेरे सब पाप दूर करो।

क्यों मैं यह कहता हूँ? इसीलिए, हे प्रकाश! कि मुझमें तुम्हारा आविर्भाव नहीं हुआ। मिलन न होने का यह दुःख केवल मेरा ही नहीं है, वह दुःख अनन्त में व्याप्त हो गया है। इसलिए मनुष्य जहाँ भी देखे, जो कुछ भी करे, सारी चेष्टाओं के बीच सर्वदा उसका यही साधना-मन्त्र रहता है—'आविरावीर्म एधिः'। यह मन्त्र वह किसी हालत में नहीं भूल सकता। ऐश्वर्य की पुष्पशय्या पर सोते हुए भी वह इसे नहीं भूल सकता—और न वह इसे यंत्रणा के अग्निकुण्ड में भूलता है। हे प्रकाश! तुम्हारा मुझमें आविर्भाव हो, तुम मेरे हो जाओ, मेरे समस्त पर अधिकार करके मेरे बनो, मेरे सुख-दुःख के ऊपर खड़े होकर मेरे हो जाओ. मेरे समस्त पाप को अपने पैरों-तले कुचलकर मेरे बन जाओ। असंख्य युग-युगान्तर, लोक-लोकान्तर के ऊपर निस्तब्ध विराजमान जो तुम 'परम एक' हो, 'महान् एक' हो, वह मुझमें आकर मेरे हो जाओ। वही एक तुम 'पिता नोऽसि', मेरे पिता हो जाओ। वही एक तुम 'पिता नो बोधि' मेरे बोध में मेरे पिता हो जाओ, मेरी प्रवृत्ति के बीच प्रभु हो जाओ, मेरे प्रेम के बीच प्रियतम बन जाओ।

यह प्रार्थना ईश्वर को सुनाने का गौरव मनुष्य ने अपनी अन्तरात्मा में वहन किया है। इस प्रार्थना को सफल करने का गौरव भक्त परम्परा के द्वारा उसने प्राप्त किया है। मनुष्य के इसी श्रेष्ठतम, चिरन्तन, गम्भीरतम गौरव का उत्सव आज यहाँ है—नगर के एक किनारे, आज की पृथ्वी के जन्म-मृत्यु के बीच, हँसने-रोने, काज-कर्म, विश्वास-अविश्वास के बीच, इस क्षुद्र प्रांगण में है। मनुष्य के इसी गौरव को आनन्द-ध्वनि से, संगीत से, पुष्पमालाओं से, स्तव-गान से उद्घोषित करने के लिए यह उत्सव है। विश्व में तुम एकमेवाद्वितीयम् हो, यह बात जानने और समझाने के लिए हम यहाँ आये हैं—तर्क द्वारा नहीं, युक्ति द्वारा नहीं वरन् आनन्द के बीच, ऐसे परिपूर्ण प्रत्यय के बीच जिससे शिशु अपने पिता-माता को

जानता है।

उत्सव के अधिदेवता ! हममें से प्रत्येक के लिए उत्सव सफल करो। हे आविः, इस उत्सव में आविर्भूत हो जाओ। हमारे सबके चित्ताकाश में तुम्हारा दक्षिण मुख प्रकाशित हो ! अपने को क्षुद्र जानकर हमने प्रतिदिन जो दुःख भोगा है उससे हमारा परित्राण करो। सारे लोभ और क्षोभ से ऊपर उठकर, भूमा के बीच आत्मा को उपलब्ध करके, विश्वमान के विराट् मन्दिर में आज हम नतमस्तक होकर तुम्हें नमस्कार करते हैं। नमस्तेऽस्तु—तुममें हमारा नमस्कार सत्य हो !

['शान्तिनिकेतन' खण्ड ९ में प्रकाशित। 'साधना' (अंग्रेजी) के लिए अनूदित। १७ दिसम्बर, १९१२ को अमरीका में दिया गया भाषण।]

धर्म का अधिकार

जिन सब महापुरुषों की वाणी आज तक पृथ्वी पर अमर है उन्होंने कभी दूसरों के मन को खुश करते हुए अपनी बात कहना नहीं चाहा। वे जानते थे कि मनुष्य अपने मन से कहीं बड़ा है—मनुष्य अपने को जो समझता है वहीं उसकी समाप्ति नहीं है। इसीलिए महापुरुषों ने अपना दूत सीधे मनुष्यत्व के राज-दरबार में भेजा; बाहरी दरवाजे के चौकीदार को मीठी बातों से प्रसन्न करके अपने काम का मूल्य नष्ट नहीं किया।

उनकी बातें ऐसी थीं जिन्हें कहने का साहस साधारण व्यक्तियों को नहीं होता। संसार के काम-काज में लगे हुए लोग इन बातों से अक्सर नाराज़ होते हैं, और कहते हैं कि ये किसी काम की बातें नहीं हैं। लेकिन बड़ी-बड़ी 'काम की बातें' समय के स्रोत में बहते-बहते बुद्‌बुदों की तरह विलीन हो गई हैं। कितनी असम्भव बातें सम्भव हुई हैं, जो कल्पनातीत लगता था वह सत्य सिद्ध हुआ है। बुद्धिमानों की मंत्रणा ने नहीं बल्कि विक्षिप्त लोगों के 'पागलपन' ने मनुष्य के चिन्तन और कर्म में, उसके अन्दर और बाहर, उसके दर्शन और साहित्य में युग-युग में नये ढंग से सृष्टि की है। उनकी इन अद्‌भुत बातों को जब हम पकड़ना चाहते हैं तब वे हाथ नहीं आतीं, इनको मारना चाहें तो ये अमर हो जाती हैं, जलाने से उज्ज्वल हो जाती हैं, कुचलने से अंकुरित हो जाती हैं। इन बातों को ज़बरदस्ती रोकना चाहें तो और भी अधिक बलपूर्वक उन्हें ग्रहण करना पड़ता है। ऐसा लगता है कि किसी मंत्र की शक्ति से ये बातें हमारे अनजाने ही—बल्कि कभी-कभी हमारी इच्छा के विरुद्ध—भावुक लोगों के भाव बदल डालती हैं और लोगों के कार्य में एक नया स्वर ध्वनित करती हैं। महापुरुषों ने अकुण्ठित वाणी से यही उपदेश दिया है कि जो असाध्य प्रतीत हो उसीकी साधना करनी चाहिए। जब कभी मनुष्य किसी बाधा के सामने आकर रुक जाता है, और सोचता है कि इसके आगे बढ़ना असम्भव है, जब वह इसी स्थान पर अपने शास्त्र और अपनी प्रथाओं से एक पक्का घर बनाने की कोशिश करता है, तब महापुरुष आकर वेष्टन गिरा देते हैं, बाँध को तोड़ देते हैं। वे कहते हैं—'पथ अभी बाकी है, पाथेय अभी शेष नहीं हुआ; जो अमृत-भवन तुम्हारा अपना घर है, तुम्हारा चरमलोक है, वह इन मिस्त्रियों के हाथ से बनाई हुई पत्थर की दीवारों से तैयार नहीं होता; वह परिवर्तित होता है लेकिन टूटता नहीं; वह आश्रय देता है

लेकिन आबद्ध नहीं करता; वह निर्मित नहीं बल्कि विकसित होता है; संचित नहीं बल्कि संचारित होता है; उसमें कारीगर की कुशलता नहीं बल्कि अक्षय जीवन की अक्लान्त सृष्टि है। साधारण मनुष्य कहता है, यह पथ-यात्रा मेरे लिए असाध्य है क्योंकि मैं दुर्बल हूँ, थका हुआ हूँ। महापुरुष कहते हैं—नहीं, यहाँ पर रुके रहना ही तुम्हारे लिए असाध्य है; क्योंकि तुम मनुष्य हो, तुम महान् हो, तुम 'अमृत के पुत्र' हो, तुम्हें भूमा के अतिरिक्त किसी से सन्तोष नहीं मिल सकता।

जो व्यक्ति छोटा है वह विश्व-संसार को असंख्य बाधाओं का राज्य समझता है। बाधाएँ उसकी दृष्टि को अवरुद्ध करती हैं और उसकी आशाओं पर आघात करती हैं। इसीलिए वह सत्य को नहीं जानता, बाधाओं को ही सत्य के रूप में देखता है। लेकिन जो व्यक्ति महान् है वह बाधाओं से मुक्त होकर सत्य को देख सकता है। तभी महान् लोगों की बातें छोटे व्यक्तियों की बातों के बिलकुल विपरीत होती हैं। जब अन्य सब लोग एक स्वर से कहते हैं: 'हमारे सामने केवल अन्धकार है', तब महापुरुष विश्वास के साथ यह कह सकता है:

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'—समस्त अंधकार से मुक्त होकर मैं उसीको जानता हूँ जो महान् है, ज्योतिर्मय है।

इसीलिए, जब स्पष्ट देखा जाता है कि सहस्रों लोग अधर्म को ही अपना एक-मात्र रक्षक जानकर हिंसा और संघर्ष की ओर दलबल से अग्रसर होते हैं, तब भी महापुरुष निःसंकोच कह सकते हैं: 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—अल्प-मात्र धर्म महाभय से रक्षा कर सकता है। जब यह देखा जाता है कि सत्कर्म पग-पग पर बाधाग्रस्त है, मूढ़ता के जड़त्व-पुंज से प्रतिहत है, प्रबलों के अत्याचार से पीड़ित है, उसका दारिद्र्य सब प्रकार से प्रत्यक्ष है, तब भी वे संशयहीन होकर कहते हैं कि राई बराबर विश्वास पर्वत-तुल्य बाधा पर विजयी हो सकता है। किसी भी बात को कहने में वे हिचकते नहीं। वे मनुष्य को छोटा समझकर उसके लिए सत्य की प्रतिष्ठा कम नहीं करते; असत्य के आस्फालन की उपेक्षा करते हुए कहते हैं, 'सत्यमेव जयते'। जो लोग संसार को ही सत्य मानकर अहोरात्र उसीकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं उनके सामने खड़े होकर महापुरुष कहते हैं; 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'—अनन्त स्वरूप ब्रह्म ही सत्य है। जिसे देखते हैं, जिसे ज्ञान का अन्तिम विषय समझते हैं उससे सत्य कहीं बड़ा है—यह बात महापुरुष हमें दिखाते हैं।

उनका अनुशासन भी सुनने में असम्भव-सा लगता है। पृथ्वी पर जो लोग जैसे हैं उन्हें ठीक वैसे ही देखो, यह परामर्श भी बहुत आसान नहीं है। लेकिन

महापुरुष यहीं पर नहीं रुकते--वे कहते हैं सबको अपने-जैसा देखो। जहाँ अपने-पराये का भेद है उसी स्थान पर उनकी दृष्टि रुक नहीं जाती, जहाँ अपने और पराये का मिलन है वहीं वे विहार करते हैं। शत्रु को क्षमा करो, यह कहना भी काफ़ी बड़ी बात है; लेकिन वे इससे भी ऊपर उठकर कहते हैं शत्रु को प्रीतिदान दो, जैसे चन्दन का वृक्ष आघातकारी को सुगन्ध-दान करता है। प्रेम में ही वे सत्य को पूर्ण रूप से देखते हैं, और इसीलिए स्वभावतः वे वहाँ तक पहुँचे बिना नहीं रह सकते। 'तुम महान् बनो, अच्छे बनो' यह उपदेश भी मनुष्य के लिए कुछ कम नहीं हैं; लेकिन वे इससे भी बड़ी बात कहते हैं :

'शरवत् तन्मयो भवेत्।'

तीर जिस तरह लक्ष्य के बीच पूर्णतया निविष्ट हो जाता है उसी तरह तन्मय होकर ब्रह्म के बीच प्रवेश करो। ब्रह्म ही परिपूर्ण सत्य है और उसीको पूर्ण रूप से प्राप्त करना है, इस बात को वे हीन भाव से नहीं कहते। वे स्पष्ट कहते हैं कि जो मनुष्य ब्रह्म को न जानकर केवल जप-तप में समय काटता है, 'अन्तवदेवास्य तद्भवति'—उसका सारा जप-तप नष्ट हो जाता है। ब्रह्म को न जानकर जो व्यक्ति इहलोक से अपसृत होता है 'स कृपणः'—वह कृपापात्र है। इसलिए यह देखा जाता है कि मनुष्यों में जो सबसे बड़े हैं वे उसी सत्य की बात कहते हैं जो सबसे चरम है। किसी प्रयोजन की ओर आँखें गड़ाकर वे सत्य को छोटा नहीं कहते। उस चरम लक्ष्य को बिना किसी संशय के, स्पष्ट रूप से, परम सत्य न माना गया तो मनुष्य भीरु और आत्मविश्वासहीन बन जाता है। बाधाओं के पार जो सत्य है उसे यदि वह महान् न समझे तो मनुष्य बाधाओं के साथ समझौता करके वहीं घर बसा लेता है, और सत्य को अपने अधिकार से बाहर मानकर उसे व्यवहार के क्षेत्र से निर्वासित कर देता है।

जिस परम लाभ की, जिस असाध्य साधन की, मानव-जाति के इन गुरुजनों ने चर्चा की है उसीको वे मनुष्य का धर्म कहते हैं। अर्थात्, वही है मनुष्य का परिपूर्ण स्वभाव। जिसके प्रति लोभ हुआ उसीको छीनकर खा लिया—ऐसी प्रवृत्ति भी मनुष्य में है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन यह मनुष्य का धर्म नहीं, मनुष्य का यथार्थ स्वभाव नहीं। लोभ उत्पन्न होने पर उसका दमन करो, दूसरों का अन्न न छीनो, यह उपदेश भी कुछ कम नहीं है; लेकिन मनुष्य यहीं पर रुक नहीं जाता। वह कहता है, क्षुधित को अन्नदान करो, यही मनुष्य का धर्म है, यही मनुष्य का पुण्य है, अर्थात् उसकी पूर्णता है। लोकसंख्या की गिनती करके यदि मनुष्य के धर्म पर विचार किया जाय, तब तो निश्चय ही यह कहना होगा कि अपना अन्न दूसरों को देना मनुष्य का धर्म नहीं है;

बहुत-से लोग दूसरों का अन्न छीनने का सुयोग मिलते ही अपने जीवन को सार्थक मानते हैं। फिर भी मनुष्य ने सदा अकुण्ठित भाव से कहा है कि दया ही धर्म है, दान ही पुण्य है।

लेकिन मनुष्य के लिए जो सत्य है वही उसके लिए सहज भी हो, ऐसी बात नहीं है। यह देखा जाता है कि जो सहज है उसीको अपना धर्म मानकर मनुष्य आराम नहीं करना चाहता। और यदि कोई दुर्बल-चित्त सहज को अपना धर्म कहता है या धर्म को अपनी सुविधा के अनुसार सहज बना लेता है, तो उसकी दुर्गति का अन्त नहीं रहता। अपने धर्म-पथ के विषय में मनुष्य ने कहा है : 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम् पथस्तत् कवयो वदन्ति'। दुःख को मनुष्य ने मनुष्यत्व का वाहन समझा है, और सुख को ही उसने सुख नहीं कहा—उसने कहा है, 'भूमैव सुखं'।

इसीलिए हम यह आश्चर्यजनक बात देखते हैं कि जिन्होंने मनुष्य को असाध्य साधन का उपदेश दिया है, जिनकी बातों पर मन को आसानी से विश्वास नहीं होता, उन्हींके प्रति मनुष्य की श्रद्धा रही है। इसका कारण यह है कि महत् ही मनुष्य की आत्मा का धर्म है। वह मुँह से जो कुछ भी कहे, अन्ततः वह महत् पर ही विश्वास करता है। सहज के प्रति उसकी वास्तविक श्रद्धा नहीं है; असाध्य साधन को ही वह सत्य साधना समझता है; और उस पथ के पथिक को सर्वोच्च सम्मान दिये बग़ैर वह नहीं रह सकता।

जिन्होंने मनुष्य को दुर्गम मार्ग पर बुलाया है उन्हें मनुष्य की श्रद्धा मिली है—क्योंकि उन्होंने स्वयं मनुष्य की श्रद्धा की है। उन्होंने मनुष्य को दीनात्मा कहकर उसकी अवज्ञा नहीं की। बाह्य रूप से उन्होंने मनुष्य में चाहे जितनी दुर्बलता या मूढ़ता देखी हो, उनका यह विश्वास रहा है कि मनुष्य वास्तव में हीनशक्ति नहीं है—उसकी शक्तिहीनता बाहर की चीज़ है, जिसे हम 'माया' कह सकते हैं इसलिए जब वे श्रद्धापूर्वक मनुष्य को महान् पथ पर बुलाते हैं तो वह माया का त्याग करके सत्य को पहचान सकता है, अपना माहात्म्य देख सकता है। और जैसे ही उसे अपने सत्य-स्वरूप पर विश्वास हो जाता है, वह असाध्य साधन में जुट जाता है। फिर वह विस्मय के साथ देखता है कि भय उसे भयभीत नहीं करता, दुःख उसे दुःखी नहीं बनाता, बाधाएँ उसे पराजित नहीं करतीं, यहाँ तक कि विफलता भी उसे कर्मच्युत नहीं कर सकती। तब वह सहसा अनुभव करता है कि त्याग उसके लिए सहज है, क्लेश उसके लिए आनन्दमय है, मृत्यु उसके अमरत्व का सोपान है।

बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को उपदेश देते समय एक बार कहा था कि मनुष्य के

मन में कामना अत्यन्त प्रबल है, लेकिन सौभाग्यवश उससे भी अधिक प्रबल एक वस्तु हमारे पास है। यदि सत्य की पिपासा हमारी प्रवृत्तियों से अधिक प्रबल न होती तो हममें से कोई धर्म के मार्ग पर न चल सकता।

मनुष्य के प्रति इतनी बड़ी श्रद्धा और इतनी बड़ी आशा की बात साधारण लोग नहीं कह सकते। जो लोग छोटे हैं उनकी दृष्टि केवल इसी बात पर पड़ती है कि कामना के आघात से मनुष्य बार-बार नीचे गिरता है। केवल महापुरुष ही यह बात देख सकते हैं कि सत्य के आकर्षण से मनुष्य पाशविकता से मनुष्यत्व की ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिए वही मनुष्य को बार-बार निर्भयता से क्षमा कर सकते हैं, वही मनुष्य के लिए आशा कर सकते हैं, वही मनुष्य को सबसे बड़ा सत्य सुना सकते हैं, वही मनुष्य को बड़े-से-बड़ा अधिकार देने में नहीं हिचकते। महापुरुष कृपण की तरह नाप-तौलकर अनुग्रह दान नहीं करते, और यह नहीं कहते कि मनुष्य की बुद्धि और शक्ति के लिए उतना ही दान यथेष्ट है। प्रिय मित्र की तरह वे अपने जीवन की सर्वोच्च साधना का धन श्रद्धापूर्वक मनुष्य को अर्पण करते हैं, और उसे इसके योग्य समझते हैं। उसकी योग्यता कितनी बड़ी है यह बात मनुष्य स्वयं नहीं समझता, लेकिन महापुरुष अच्छी तरह जानते हैं।

मनुष्य कहता है: 'मैं जानता हूँ, मैं यह नहीं कर सकूंगा'। महापुरुष कहते हैं: 'मैं जानता हूँ, तुम कर सकते हो'। मनुष्य कहता है: 'एक ऐसा धर्म स्थापित करो जो हमारे बस का है'। महापुरुष कहते हैं: 'जो धर्म है वह निश्चय ही तुम्हारे बस का है'। मनुष्य की समस्त शक्ति के ऊपर महापुरुष अधिकार जताते हैं। मानवीय दुर्बलता से परिचित होने पर भी वे निश्चित रूप से जानते हैं कि मनुष्य में शक्ति है।

धर्म में ही मनुष्य का श्रेष्ठ परिचय मिलता है। धर्म का मनुष्य के ऊपर जिस मात्रा में अधिकार होता है उसी के अनुसार मनुष्य अपने-आपको पहचानता है। सम्भव है कोई व्यक्ति राजपुत्र होने पर भी अपने-आपको भूल जाय। लेकिन देश के लोगों की ओर से बार-बार ताकीद दी जानी चाहिए। उसके पैतृक गौरव की याद दिलाना आवश्यक है; उसे लज्जित करना, यहाँ तक कि उसे दण्ड देना भी आवश्यक हो सकता है। लेकिन उसे मूर्ख कहकर समस्या को आसान करने की कोशिश वृथा है। यदि वह मूर्ख की तरह व्यवहार करे तो भी सत्य को उसके सामने स्थिर करके रखना है। इसी तरह धर्म मनुष्य से कहता है: 'तुम अमृत के पुत्र हो, यही सत्य है'। व्यवहार में मनुष्य का पग-पग पर पतन होता है फिर भी धर्म उसके सत्य परिचय को ऊँचा उठाता है। धर्म मनुष्य को किसी तरह राह भूलने नहीं देता कि 'मनुष्य' शब्द से कितनी बड़ी-बड़ी बातों का बोध होता है। यही धर्म का प्रधान

कार्य है।

रोग मनुष्य के शरीर का स्वभाव नहीं है, फिर भी वह उसे जकड़ता है; लेकिन शरीर की प्रकृति की ओर से रोग को परास्त करने के विविध प्रयत्न चलते रहते हैं। जब तक मस्तिष्क ठीक है तब तक इस संग्राम में हमें कोई डर नहीं। लेकिन जब मस्तिष्क पराजित हो जाता है तब रोग दारुण हो उठता है, क्योंकि बाह्य रूप से चिकित्सा का प्रयास कितना ही प्रबल क्यों न हो भीतर से एक श्रेष्ठ सहायक दुर्बल हो जाता है। शरीर के लिए जैसा मस्तिष्क है वैसा ही मानव-समाज के लिए धर्म है। धर्म का आदर्श ही मानव-प्रकृति को अन्दर-अन्दर से सारी विकृतियों के विरुद्ध लड़ाई करने के लिए प्रवृत्त करता रहता है। लेकिन जिस परम दुर्दिन के समय धर्म के आदर्श पर विकृति का आक्रमण होता है, बाहर के नियम-संयम, आचार-अनुष्ठान, पुलिस और राष्ट्रविधि चाहे जितनी प्रबल हो समाज-प्रकृति को दुर्गति से कोई बचा नहीं सकता। इसलिए दुर्बलता की दुहाई देकर इच्छापूर्वक धर्म को कमज़ोर करने के समान आत्म-घातकता दूसरी कोई नहीं है; क्योंकि दुर्बलता के समय समाज की रक्षा का एक-मात्र उपाय धर्म का बल है।

हमारे देश में सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह है कि मनुष्य की दुर्बलता के नाप से धर्म को सुविधानुसार छोटा किया जा सकता है, इस तरह के अद्‌भुत विश्वास ने हमारे मन में घर कर लिया है। हम निःसंकोच यह कहते हैं कि जिसके पास शक्ति कम है उसके लिए धर्म को काट-छाँटकर छोटा करने में कोई दोष नहीं, बल्कि ऐसा करना ही हमारा कर्तव्य है।

धर्म के प्रति यदि श्रद्धा होती तो क्या हम ऐसी बात कह सकते? प्रयोजन के अनुसार उसे छोटा या बड़ा करते? धर्म जीवनहीन जड़ पदार्थ तो नहीं है; उसके ऊपर फ़र्माइश के अनुसार दर्ज़ी की कैंची या बढ़ई की आरी तो नहीं चलाई जा सकती। यह कोई नहीं कहता कि बालक छोटा है इसलिए माँ को भी चारों ओर से काटकर कम करना चाहिए। शिशु के शरीर के साथ माँ की तुलना नहीं की जा सकती। पहले तो यदि माँ को काटा जाय तो उसकी मृत्यु हो जायगी; और दूसरे जिस तरह बड़ी सन्तान के लिए अखण्ड समग्र माँ की आवश्यकता है उसी तरह छोटी सन्तान के लिए भी है—माँ को कम करने से बड़े बालक की तरह छोटा बालक भी वंचित होगा। मनुष्य के लिए धर्म क्या माता के समान नहीं है? मैं जानता हूँ लोग पूछेंगे—क्या सभी मनुष्यों की बुद्धि और प्रकृति एक ही तरह की है—क्या सब लोग धर्म को एक ही भाव से समझ सकते हैं? नहीं, सब लोग समान नहीं हैं। दुनिया में छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेद है। इसलिए हम यह नहीं

कह सकते कि सभी ने सत्य को एक ही सीमा तक प्राप्त किया है। हमारी शक्ति मर्यादित है। लेकिन जहाँ तक सत्य की महत्ता हमने देखी है उससे भी यदि हम सत्य को छोटा घोषित करें तो यह मिथ्या बात होगी—और ऐसी मिथ्या बात हम किसी की खातिर क्षण-भर के लिए भी नहीं कह सकते। गॅलिलिओ ने जिस ज्योतिष्क-तत्त्व का आविष्कार किया था वह प्रचलित ईसाई धर्म से असंगत था। लेकिन क्या यह कहना उचित होता कि बेचारे ईसाइयों के लिए मिथ्या ज्योतिर्विद्या ही सत्य है ? उन्हें क्या यह उपदेश दिया जा सकता—'तुम ईसाई हो इसलिए एक विशेष ज्योतिष्क शास्त्र को श्रद्धापूर्वक चुन लो, जो कि तुम्हारे लिए उपयुक्त हो ?'

इसका मतलब यह नहीं कि गॅलिलिओ ज्योतिष्क के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा था। फिर भी वह सत्य की ओर बढ़ा था। हम उससे भी आगे जा सकते हैं, लेकिन उससे पीछे हटना अब किसी हालत में हमारे लिए सम्भव नहीं है। यदि हम पीछे हटे तो सत्य की विपरीत दिशा में जायँगे और इसके लिए हमें निश्चय ही दण्ड भोगना पड़ेगा। उसी तरह धर्म के सम्बन्ध में यदि एक व्यक्ति का बोध भी देश के अन्य लोगों के बोध से आगे बढ़ जाय तो समस्त देश के लिए वही धर्म है, क्योंकि वही देश के लिए सर्वोच्च सत्य है। सम्भव है दूसरे लोग उसे ग्रहण करने के लिए राज़ी न हों, उसे समझने में विलम्ब करें; लेकिन तुम यदि उसे समझ सकते हो तो तुम्हें सबके सामने खड़े होकर कहना होगा : 'यही सत्य है—और यह सत्य केवल मेरा नहीं सब लोगों का है।' यदि कोई जड़भाव से कहे : 'मैं इसे समझ नहीं सकूँगा' तो तुम्हें ज़ोर से कहना होगा : 'तुम अवश्य समझ सकोगे, क्योंकि यह सत्य है, और सत्य को ग्रहण करना मनुष्य का धर्म है।'

इतिहास में हमने क्या देखः है ? हमने देखा है कि बुद्धदेव ने जब सत्य को उपलब्ध किया तो उन्होंने इस बात को समझा कि उनके द्वारा समस्त मानव-जाति को सत्य प्राप्त करने का अधिकार मिला था। उस समय उन्होंने विभिन्न लोगों की शक्ति के अनुसार सत्य में विभिन्न मात्राओं में मिथ्या को मिलाकर प्रस्तुत नहीं किया। उनकी तरह अद्भुत शक्तिमान् पुरुष ने दीर्घकाल तक एकाग्र चिन्तन के बाद जो सत्य उपलब्ध किया था उसके विषय में वे स्वयं कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि यह सत्य सारी मानव-जाति के लिए नहीं है। कई लोग उस सत्य को नहीं मानते, बहुत से अपने बुद्धि-दोष से उसे विकृत भी करते हैं। फिर भी यह बात तो निश्चित है कि हिसाब-किताब करके धर्म को छोटा नहीं बनाया जा सकता। कोई उसे किसी परिमाण में माने या न माने, उसी को एकमात्र 'मानवीय' बताकर पूर्ण रूप से सबके सामने रखना होगा। पिता पर सभी लड़कों की एक-सी

श्रद्धा नहीं होती, कुछ लड़के पिता के विरुद्ध विद्रोह भी कर बैठते हैं। लेकिन लड़कों को अलग श्रेणियों में विभाजित करके यह तो नहीं कहा जा सकता : 'पिता के ऊपर रुपये में बारह आना अधिकार तुम्हारा है, चार आना अधिकार तुम्हारा है, और तुम्हारा कुछ भी अधिकार नहीं है—तुम किसी पेड़ की डाल को पिता मान लो। तुम्हारे अधिकार विभिन्न हैं, इसलिए तुम लोग पिता के साथ अलग-अलग तरह से व्यवहार करो। इसी तरह तुम लोग सन्तान-धर्म का पालन करो।' वास्तव में पिता की ओर से कम-अधिक का भेद नहीं है। सन्तान के हृदय और व्यवहार में यदि इस तरह का भेद हो तो हम उसे अनुचित ही कहेंगे—यह नहीं कहेंगे : 'तुम पिता को इतना ही दे सकते हो, तो तुम्हारे लिए ऐसा ही व्यवहार ठीक है।' यह सभी जानते हैं कि जब ईसा मसीह ने बाह्य अनुष्ठान-प्रधान धर्म की निन्दा करके आध्यात्मिक धर्म की घोषणा की थी, उस समय यहूदियों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। फिर भी वे अपने थोड़े-से अनुयायियों को साथ लेकर सत्य धर्म का प्रचार करते रहे और उसे मानव-मात्र का धर्म घोषित करते रहे। उन्होंने यह नहीं कहा : 'जो इसे समझ सकते हैं उन्हींके लिए यह धर्म है—जो समझ नहीं सकते उनके लिए नहीं।' जब मुहम्मद का आविर्भाव हुआ, मूर्ति-पूजक अरबों ने उनका एकेश्वरवाद आसानी से ग्रहण नहीं किया। लेकिन मुहम्मद ने उन्हें बुलाकर यह नहीं कहा : 'तुम्हारे लिए जो सहज है वही तुम्हारा धर्म है, तुम्हारे बाप-दादा जिस बात को मानते आए हैं वही तुम्हारा सत्य है।' मुहम्मद ने इस तरह का असत्य लोगों के सामने नहीं रखा कि दस लोग मिलकर जिसका पालन करते हैं वही धर्म है। ऐसा कहने से शायद उनके सामने जो समस्या उपस्थित थी वह दूर हो जाती, लेकिन मानव की चिरकाल की समस्या और भी कठिन हो जाती।

कहना न होगा कि जो 'उपस्थित' है वहीं तक मनुष्य का व्यवहार सीमित नहीं है। यदि ऐसा होता तो मनुष्य युग-युगान्तर तक मधु-मक्खी की तरह एक ही-जैसा छत्ता बनाता रहता। वास्तव में अविचलित, सनातन प्रथा की यदि कोई बड़ाई करता है तो वह है पशु-पक्षी या कीट-पतंग, मनुष्य नहीं। और सनातन की इससे भी अधिक बड़ाई धूल, मिट्टी और पत्थर द्वारा होती है। मनुष्य किसी एक जगह पहुँचने के बाद आँखें बन्द करके उस सीमा को मान नहीं लेता—इसीलिए वह मनुष्य है। मनुष्य की यह जो 'अभी और' की ओर गति है, यह जो भूमा के प्रति उसका आकर्षण है, यही उसका श्रेय है। इस श्रेय की रक्षा करने का, उसे स्मरण कराते रहने का भार धर्म के ऊपर है। इसीलिए मानव-चित्त अपने कल्याण के विषय में 'जितनी दूर तक विचार कर सकता है उतनी ही

दूर तक वह अपने धर्म को प्रहरी की तरह साथ रखता है। मानव-चेतना के दिगंत पर खड़ा होकर धर्म निरन्तर मनुष्य का अनन्त की ओर जाने के लिए आह्वान करता रहता है।

मनुष्य की शक्ति के दो पक्ष हैं : एक पक्ष का नाम है 'कर सकता है' और दूसरे का नाम है 'करेगा'। पहला पक्ष उसके लिए सहज है, लेकिन उसकी तपस्या दूसरे पक्ष की ओर है। धर्म मनुष्य के 'करेगा' पक्ष के सर्वोच्च शिखर पर खड़ा होकर उसके समस्त 'कर सकता है' को पुकारता है; उसे विश्राम नहीं करने देता; उसे किसी सामान्य लाभ से ही सन्तुष्ट नहीं होने देता। जहाँ मनुष्य का समस्त 'कर सकता है' इसी 'करेगा' के निर्देशन में आगे बढ़ता जाता है वहीं मनुष्य की वीरता है—वहीं उसका सत्य-रूप से आत्मलाभ है। लेकिन जिससे 'करेगा' का आकर्षण सहा नहीं जाता, जो अपने को मूढ़ और अक्षम समझता है, वह धर्म से कहता है 'जहाँ मैं हूँ वहाँ तुम भी उतर जाओ'। जब एक बार धर्म को 'सहज साध्य' की समतल भूमि पर खींच लाया जाता है तब मनुष्य चाहता है बड़े-बड़े पत्थरों से इस धर्म की जीवित समाधि बनाना। वह सोचता है : 'कैसी चतुराई से मैंने धर्म को पाला ! उसे घर के दरवाज़े पर सदा के लिए बाँध रखा और अपने वंशजों के भोग की मैंने व्यवस्था की।' ऐसे लोग धर्म को बन्दी बनाकर स्वयं अचल हो जाते हैं, धर्म को दुर्बल बनाकर स्वयं वीरता खो देते हैं, धर्म को प्राणहीन बनाकर स्वयं पल-पल पर मरते हैं। उनका समाज बाह्य आचार-अनुष्ठान से, अन्ध संस्कार से, काल्पनिक विभीषिकाओं के कुहरे से चारों ओर से आच्छन्न हो जाता है।

वस्तुत: धर्म जब मनुष्य को असाध्य-साधन के लिए प्रोत्साहित करता है तभी वह शिरोधार्य हो उठता है। जब वह प्रवृत्तियों के साथ समझौता करने के लिए मनुष्य के कान में यह सलाह देता है : 'तुम जो कर सकते हो वही तुम्हारे लिए श्रेय है' या 'जो दस लोग करते आये हैं उसके साथ निर्विचार योगदान ही तुम्हारे लिए पुण्य है', तो धर्म हमारी प्रवृत्तियों से भी नीचे गिर जाता है। प्रवृत्ति के साथ सन्धि करके या लोकाचार के साथ मेल-जोल बढ़ाकर, धर्म अपने-आपको उच्च स्थान पर नहीं रख पाता। उसकी 'जाति' पर धब्बा लग जाता है।

हमारे देश के वर्तमान समाज में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। हमारे समाज में पुण्य को सस्ता करने के लिए यह कहा गया है कि किसी विशेष तिथि को, किसी विशेष धारा में स्नान करने से अपना ही नहीं हजारों पूर्व-पुरुषों का सारा पाप धुल जाता है। पाप दूर करने का ऐसा सहज उपाय सुनकर नि:सन्देह

उस पर विश्वास करने का लोभ होता है। धर्मशास्त्र की इन बातों से मनुष्य अपने-आपको धोखा देता है; लेकिन इस तरह सम्पूर्ण रूप से अपनी प्रवंचना करना उसके लिए सम्भव नहीं है। एक बार एक विधवा स्त्री आधी रात को चन्द्रगहण के बाद अपने पीड़ित शरीर को लेकर गंगा-स्नान के लिए जा रही थी। मैंने उससे पूछा : 'क्या आपका सचमुच यह विश्वास है कि पाप नाम की चीज़ को धूल या मिट्टी की तरह जल से धोया जा सकता है? अकारण अपने शरीर-कर्म के विरुद्ध यह जो पाप आप कर रही हैं उसका फल क्या आपको भोगना नहीं पड़ेगा ?' उसने कहा, 'बाबा, यह तो सीधी-सादी बात है—जो तुम कह रहे हो मैं खूब समझती हूँ; लेकिन जो धर्म कह रहा है उसका पालन किये बिना सान्त्वना नहीं मिलती।' इसका अर्थ यह हुआ कि उस स्त्री की स्वाभाविक बुद्धि उसके धर्म-विश्वास से ऊपर उठी है।

एक और दृष्टान्त देखिये। एकादशी के दिन विधवा को निर्जल व्रत रखना होगा, हमारे देश में यह लोकाचार-सम्मत या शास्त्रानुगत धर्मानुशासन है। इसके बीच जो दारुण निष्ठुरता है वह हमारी प्रकृति में स्वाभाविक रूप से नहीं है। यह बात कदापि सच नहीं है कि स्त्रियों को भूख-प्यास से पीड़ित करके हमें दुःख नहीं होता। तब हम क्यों इन बेचारियों को इच्छापूर्वक कष्ट पहुँचाते हैं? इस प्रश्न का कोई युक्ति-संगत उत्तर नहीं मिलता। केवल यही कहना पड़ता है कि हमारा धर्म विधवाओं को एकादशी के दिन अन्न-जल देने से हमें रोकता है, यहाँ तक कि यदि वे रोग से मरणासन्न हों तो उन्हें दवा देना भी निषिद्ध है। यहाँ स्पष्ट देखा जाता है कि धर्म हमारी सहज बुद्धि से बहुत नीचे के स्तर पर उतर आया है।

मैंने अनेक बार देखा है कि बच्चे स्वभावतः अपने सहपाठियों से जाति-वर्ण को लेकर घृणा नहीं करते। हीनवर्ण मित्रों की अपेक्षा वे अपने को श्रेष्ठ नहीं समझते; क्योंकि वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि श्रेष्ठता जाति-वर्ण पर निर्भर नहीं होती। फिर भी भोजन के समय वे हीनवर्ण मित्र के स्पर्श को वर्जित समझते हैं। ऐसी घटनाएँ सुनने में आई हैं कि रसोईघर के सामने बरामदे में पड़े हुए खिलौने को उठाने के लिए नीच जाति के किसी बच्चे ने वहाँ पर पैर रखा और फौरन रसोईघर में पकाये हुए सारे चावल फेंक दिये गए, यद्यपि उसी बरामदे में कुत्ते के आने-जाने से वही अन्न अपवित्र नहीं हुआ था। इस आचरण में जो मानव-घृणा है उस मात्रा में क्या वास्तव में हमारी आंतरिक प्रकृति में घृणा विद्यमान है? मैं तो यह बात कभी नहीं मान सकता कि ऐसी तीव्र मानव-घृणा हमारे देश के मन के लिए स्वाभाविक है। यहाँ भी यह स्पष्ट है कि हमारा धर्म हमारे हृदय के स्तर से बहुत नीचे गिर गया है। इस तरह मनुष्य जब धर्म को अपने से नीचे गिराता है तब

वह अपने सहज मनुष्यत्व को भुला देता है। इस बात का एक निष्ठुर उदाहरण मुझे इस तरह याद है मानो किसी ने उसे मेरे मन पर दाग दिया हो। एक विदेशी पथिक रोग-ग्रस्त होकर गाँव की सड़क के किनारे तीन दिन तक बेसहारे पड़ा हुआ था। उसी समय पुण्य-स्नान का एक बड़ा पर्व था। सहस्रों नर-नारी कई दिन तक पुण्य कामना से उस मार्ग पर चल रहे थे। उनमें से किसी ने यह नहीं सोचा कि उस मरते हुए को घर ले जाकर बचाने का प्रयत्न करे और ऐसा करने में पुण्य होगा। सबने मन-ही-मन यह कहा—'न जाने कहाँ का आदमी है, उसकी जात का पता नहीं, अंतिम घड़ी में उसे अपने घर ले जाकर बेकार प्राय-श्चित्त का भार क्यों लें?' मनुष्य की स्वाभाविक दया यदि अपना काम करना चाहती है तो समाज धर्म-रक्षक की हैसियत से उसे रोकता है। यहाँ धर्म मनुष्य की आंतरिक प्रकृति से बहुत नीचे के स्तर पर है।

मैंने गाँव में स्वयं देखा है कि शूद्रों के खेत में अन्य जाति के लोग काम नहीं करते, उनका धान नहीं काटते, उनके घर नहीं बनाते। अर्थात्, पृथ्वी पर रहने के लिए एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से जिस सहयोगिता की अपेक्षा कर सकता है उसके योग्य हमारा समाज इन शूद्रों को नहीं समझता। बिना किसी दोष के हम इनकी जीवन-यात्रा को दुःसह और दुरूह बनाते हैं और जन्म से मृत्यु तक उन्हें दण्ड देते रहते हैं। मनुष्य पर इस तरह अकारण अत्याचार करना क्या हमारे लिए स्वभावसिद्ध बात है? जिन लोगों से हम यथेष्ट मात्रा में सेवा और सहायता लेने में नहीं हिचकते उन्हें सर्व प्रकार की सहायता से वंचित करना—इस बात को क्या हमारी न्याय-बुद्धि सत्य-संगत कह सकती है? कदापि नहीं। मनुष्य को इस तरह मनुष्य के साथ अन्याय और अवज्ञापूर्वक व्यवहार करने का उपदेश धर्म देता है, प्रकृति नहीं। इस तरह का अविचार हम इसलिए नहीं करते कि हमारा हृदय दुर्बल है वरन् इसलिए कि हम उसे अपना कर्तव्य समझते हैं। हमारा धर्म ही हमारी प्रकृति से नीचे गिरकर हमें अन्याय में बाँधता है। शुभबुद्धि के नाम पर धर्म ने इसी तरह देश के लोगों को सदियों तक निर्दयता, अंधता, और मूढ़ता से कष्ट दिया है।

हमारे देश के वर्तमान शिक्षित समाज की एक श्रेणी के लोग इस तरह का तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जाति-भेद तो योरोप में भी है, वहाँ भी उच्चवंश के लोग निम्न वंश के लोगों के साथ बैठकर खान-पान नहीं करना चाहते। इन लोगों का यह तर्क अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनुष्य के मन में अभिमान की जो प्रवृत्ति है उसके कारण उसकी भेद-बुद्धि उद्धत हो उठती है। किन्तु क्या धर्म स्वयं उसी अभिमान से समझौता करके उसके साथ एक ही आसन पर बैठेगा? क्या

धर्म अपने सिंहासन पर बैठकर उस अभिमान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं करेगा ? चोर तो सभी देशों में चोरी करता है ; लेकिन हमारे समाज में मजिस्ट्रेट स्वयं चोर को अपना चपरासी बनाकर अपने हाथ से उसे अपना स्वर्णपदक दे देता है ! ऐसी हालत में सुनवाई कहाँ होगी और कौन हमारी रक्षा करेगा ?

इस तरह का अद्‌भुत तर्क हमारे ही मुख से सुना जा सकता है कि जो तामसिक प्रकृति के लोग हैं, जो मद्य-मांस सेवन करते हैं, पाशविकता जिनके लिए स्वभाव-सिद्ध है, उनका पशुत्व धर्म की सम्मति से एक सीमा तक स्वीकार करना चाहिए; और यदि हम उनसे कहें कि 'इस तरह मद्य-मांस सेवन करना और चरित्र को कलुषित करना तुम्हारे लिए धर्म है', तो इसमें कोई दोष नहीं है, बल्कि ऐसा कहना उचित ही है।

इस प्रकार का तर्क किस सीमा तक जाकर रुकेगा, यह हम सोच नहीं सकते। मानव-जाति में ऐसे पापिष्ठ और अमानुष लोग भी हैं जो नरहत्या में आनन्द अनुभव करते हैं। ऐसे लोगों के लिए 'ठगी-धर्म' विशेष रूप से निर्दिष्ट करना ठीक है, यह कहने में भी शायद हमें संकोच नहीं होगा—लेकिन उसी समय तक जबकि हमारी गर्दन ठगों के फन्दे से बाहर है !

जहाँ हमने एक बार धर्म या शक्ति के सम्बन्ध में मनुष्य का उच्चाधिकार या निम्नाधिकार माना वहाँ हम उस महानौका के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं जिसके द्वारा हम जीवन-समुद्र को पार कहना चाहते हैं। उन टुकड़ों से हम छोटी-छोटी नावें बना सकते हैं जिनसे तीर के पास उथले जल में थोड़ा-बहुत विहार चाहे हम कर लें, महासमुद्र की यात्रा अब हम नहीं कर सकते। लेकिन जो केवल विहार ही करते हैं, यात्रा कभी नहीं करते उनके लिए उचित है कि लकड़ी के टुकड़े, घास-फूंस इत्यादि जमा करके अपने मनोरंजन के लिए एक नाव बना लें। उनकी खातिर क्या हम अपनी अमूल्य धर्मनौका को तोड़कर सदा के लिए अपना सर्वनाश होने देंगे ?

मैं फिर यही कहूँगा, धर्म मनुष्य की पूर्ण शक्ति की अकुण्ठित वाणी है। उसमें कोई द्विधा नहीं है। वह मनुष्य को मूर्ख कहकर स्वीकार नहीं करता, और न दुर्बल कहकर उसकी अवज्ञा करता है। वह मनुष्य को पुकारकर कहता है—'तुम अजेय हो, अभय हो, अमर हो।' धर्म की शक्ति से ही मनुष्य असम्भव लगने वाले कामों में जुट जाता है, और ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है जिसकी वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता। इसी धर्म के मुख से यदि हम कहलायें : 'तुम मूढ़ हो, समझ न सकोगे' तो फिर मनुष्य की मूढ़ता को दूर कौन करेगा ? यदि धर्म से ही हम यह कहलायें : 'तुम अक्षम हो, कुछ न कर सकोगे', तो मनुष्य को शक्ति

कौन देगा ?

हमारे देश में दीर्घकाल से यही होता आया है। हमारे धर्म-शासन ने स्वयं अधिकांश लोगों से कहा है : 'पूर्ण सत्य पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, असम्पूर्ण से ही तुम सन्तुष्ट रहो।' असंख्य लोग पिता-पितामह के काल से यह सुनते आये हैं : 'तुम्हारे लिए मंत्रों की आवश्यकता नहीं, पूजा का प्रयोजन नहीं। देवता के मंदिर में तुम प्रवेश नहीं कर सकते। तुम्हारे लिए धर्म का दायित्व अत्यन्त अल्प है—तुम्हारे क्षुद्र साध्य के परिमाण में ही है। तुम 'स्थूलत्व' लेकर बैठो, चित्त को अधिक ऊँचा उठाने की ज़रूरत नहीं है। जहाँ हो वहीं नीचे पड़े रहो। इसी तरह धर्म का फल आसानी से प्राप्त कर सकोगे।'

वास्तव में हीन-से-हीन मनुष्य के लिए सम्मान का एक-मात्र स्थान धर्म ही है। उसे यह जानना चाहिए कि धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जिस पर वह निःसंकोच अधिकार कर सकता है। राजा हो या पंडित, संसार के क्षेत्र में ही उनका प्रभुत्व है, उनका प्रताप है। धर्म के क्षेत्र में किसी दीन, हीन, मूर्ख का अधिकार भी हम कृत्रिम शासन से संकीर्ण नहीं कर सकते। धर्म ही मनुष्य की सबसे बड़ी आशा है। वहीं उसकी मुक्ति है, क्योंकि वहीं उसका समस्त भविष्य है, वहीं उसकी अनन्त सम्भाव्यता है। क्षुद्र वर्तमान का सारा संकोच वहीं दूर हो जाता है। इसलिए संसार-क्षेत्र में जन्म या योग्यता के आधार पर मनुष्य के स्वत्व को चाहे कोई खण्डित करे, धर्म के क्षेत्र में किसी मनुष्य के लिए बाधा निर्माण करने का अधिकार न परमज्ञानी का है, न चक्रवर्ती सम्राट् का।

धर्म के अधिकार की सीमा निर्धारित करने वाले तुम कौन हो ? क्या तुम अन्तर्यामी हो ? तुम्हारा यह अहंकार, कि मनुष्य की मुक्ति का भार ग्रहण करोगे ! तुम लौकिक व्यवहार में भी अपने-आपको सँभाल नहीं सकते; कितनी बार पराजित हुए हो; तुम्हारी कितनी विकृतियाँ हैं, कितने प्रलोभन हैं ! और फिर भी तुम अपने अत्याचार की लाठी पर धर्म के नाम का मुलम्मा चढ़ाकर धर्मराज के आसन पर बैठना चाहते हो ! सदियों से इतने बड़े देश को शृंखलित करके, उसे पंगु बनाकर तुमने पराधीनता के अन्ध-कूप में डाल दिया है; वहाँ से बाहर निकलने के लिए तुमने कोई रास्ता भी नहीं रख छोड़ा।

जो क्षुद्र है, स्थूल है, असत्य है, अविश्वसनीय है उसे भी देश-काल के अनुसार धर्म कहकर तुमने कैसे प्रकाण्ड, असंगत, असंलग्न जंजाल का भयंकर बोझ मनुष्य के सिर पर सदियों से रखा है ! वह पौरुषहीन नतमस्तक मनुष्य प्रश्न करना भी नहीं जानता; यदि प्रश्न करे भी तो उत्तर कहीं नहीं मिलता। केवल विभीषिकाओं की ताड़ना से और काल्पनिक प्रलोभनों की व्यर्थ आशा से उसे चलाया जाता है।

चारों ओर से उसे चेतावनी दी जाती है और कड़ी आवाज़ से यह आदेश दिया जाता है—'जो हम कहते हैं वही मानते चलो, क्योंकि तुम मूढ़ हो और समझ न सकोगे; जो सब करते हैं वही करते जाओ, क्योंकि तुम अक्षम हो; हज़ारों वर्षों से हमने तुम्हें आपादमस्तक शत-शत बन्धनों से बाँध रखा है, क्योंकि नये सिरे से अपने कल्याण के विषय में सोचने की शक्ति तुम्हारे पास नहीं है।' निषेध-जर्जरित कायर मनुष्य निर्माण करने के लिए इतना बड़ा भयंकर देशव्यापी लौह-यन्त्र इतिहास में क्या और भी कहीं हुआ है? मनुष्यत्व को पूर्ण करने के इस यन्त्र को क्या किसी अन्य देश में भी धर्म की पवित्र उपाधि से सम्बोधित किया गया है?

दुर्गति तो प्रत्यक्ष हमारे सामने है, उसके लिए युक्ति की आवश्यकता नहीं है। जो प्रत्यक्ष है उसे हम आँखें खोलकर देखेंगे या उसके विषय में आँखें बन्द करके तर्क करेंगे? हमारे देश में ब्रह्म के ध्यान में और पूजा-अर्चना में जिस स्थूलता का प्रचार हुआ है उसे हम तर्क की दृष्टि से चरम नहीं मानते। हम कहते हैं—'इस देश में विभिन्न लोगों के लिए उनकी आध्यात्मिक अवस्था के अनुसार अलग-अलग आश्रय बनाये गए हैं; इस तरह प्रत्येक व्यक्ति अपने आश्रय की सहायता से क्रमशः उच्चतर अवस्था के लिए प्रस्तुत हो रहा है।' लेकिन मैं जानना चाहता हूँ, अनन्त काल में जो असंख्य मनुष्य हैं उनमें से प्रत्येक के लिए अवस्थानुसार उपयुक्त आश्रय बनाना किसके लिए सम्भव है? इतने बड़े वैचित्र्य को स्थान दे सके ऐसा विश्वकर्मा मानव-समाज में कोई है?

वस्तुतः जो लोग मनुष्य के वैचित्र्य को सचमुच स्वीकार करते हैं वे मनुष्य के लिए असीम स्थान खुला छोड़ देते हैं। जहाँ क्षेत्र उन्मुक्त है वहाँ वैचित्र्य अपने-आपको अबाधित रूप से व्यक्त कर सकता है। जिस समाज में मनुष्य के सोते-जागते सभी व्यवहारों को कसकर बाँध दिया जाता है वहाँ मानव-चरित्र स्वतन्त्र रूप से दृढ़ नहीं हो सकता। वहाँ सभी लोग एक साँचे में ढले हुए निर्जीव आदमी बन जाते हैं आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। मनुष्य के सारे चिन्तन को, कल्पना को, यदि अविचलित स्थूल आकार में ढाल दिया जाय, यदि उससे कहा जाय: 'असीम के बारे में तुम एक ही रूप से सोच सकते हो' तब क्या मनुष्य के स्वाभाविक वैचित्र्य को आश्रय मिल सकता है? क्या इस तरह मनुष्य के चिरधावमान परिणति-प्रवाह को मदद मिलती है? इस तरह क्या उसका आध्यात्मिक विकास बन्द नहीं हो जाता? आध्यात्मिक क्षेत्र में क्या उसे कृत्रिम उपायों से मूढ़ और पंगु नहीं बनाया जाता?

इस विशाल ब्रह्माण्ड में विविध जातियों के लोग बचपन से वृद्धावस्था तक

विविध अवस्थाओं के बीच सोचते हैं, कल्पना करते हैं, कर्म करते हैं। यदि इन सबको एक ही दुनिया में मुक्ति न मिलती, यदि कोई प्रबल, प्रतापशाली बुद्धिमान व्यक्ति मन्त्रणा देता कि इन लोगों में से प्रत्येक के लिए, और प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक भिन्न अवस्था के लिए, एक छोटा-सा जगत् बना देना चाहिए, तो इससे क्या इन सबका उपकार होता ? जो लोग यह सोच भी सकते हैं कि मानव-चित्त की चिरविचित्र अभिव्यक्ति को किसी कृत्रिम सृष्टि के बीच सीमित करना सम्भव है, वे विश्व के हितैषी नहीं हैं। छोटे और बड़े, अबोध और सुबोध, सभी लोग इसी असीम जगत् में रहते हैं। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति, अपनी बुद्धि और प्रकृति के अनुसार, अपनी शक्ति के परिमाण में, जो प्राप्य है उसे संग्रह करने का प्रयास करता है। इसलिए शिशु जब किशोरावस्था में पहुँचता है तब उसे अपने शैशव-जगत् को बलपूर्वक तोड़ने के लिए विद्रोह नहीं करना पड़ता। उसकी बुद्धि विकसित हुई है, उसकी शक्ति और ज्ञान में वृद्धि हुई है; फिर भी उसे एक नई दुनिया के संधान में दौड़-भाग नहीं करनी होती। नितान्त मूर्ख और बृहस्पति-जैसा बुद्धिमान, दोनों के लिए यही एक बृहत् जगत् है। लेकिन किसी विशेष प्रयोजन से प्रेरित होकर, या मूढ़तावश, मनुष्य जब मानव-जीवन के वैचित्र्य को श्रेणी-विभक्त करके प्रत्येक के अधिकार को सनातन रूप देना चाहता है तभी वह मनुष्यत्व का विनाश करता है। यही नहीं, ऐसा करके वह समाज को भयंकर विद्रोह और विप्लव के पास पहुँचाता है। कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, मानव-प्रकृति को सजीव रखते हुए उसे सदा के लिए किसी सनातन बन्धन में नहीं जकड़ सकता। मनुष्य की जान लिये बग़ैर उसे दफनाना सम्भव नहीं है। यदि मनुष्य की बुद्धि को रोकना चाहते हो तो उसे विनष्ट कर डालो, यदि उसके जीवन-चांचल्य को अतीत के गहरे कुएँ में निमग्न रखना चाहते हो तो पहले उसे निर्जीव बना दो। अपना मतलब सिद्ध करने के लिए मनुष्य विवेक छोड़कर दूसरों को निर्ममता से पंगु बनाना चाहता है; तभी वह ऐसी निर्लज्ज बात कह सकता है कि यदि नीच लोगों को शिक्षा दी गई तो हमें नौकर नहीं मिलेंगे, यदि स्त्रियों को विद्यादान मिले तो उनको दबाकर रखना मुश्किल होगा, यदि आम लोगों को उच्च शिक्षा दी जाय तो फिर वे अपनी संकीर्ण अवस्था में सन्तुष्ट नहीं रह सकेंगे। वास्तव में जब तक मनुष्य को कृत्रिम शासन से बाँधकर छोटा न कर दिया जाय तब तक उसे एक ही स्थान पर सदा के लिए स्थिर नहीं रखा जा सकता। सम्भव है, कुछ लोग यह सोचते हों कि मनुष्य के अन्य सैकड़ों बन्धनों की तरह धर्म को भी एक कठिन बन्धन बनाकर उसके द्वारा मनुष्य की बुद्धि, विश्वास और आचरण को सदा के लिए एक स्थान पर बाँधकर सम्पूर्ण रूप से निश्चित होना ही श्रेयस्कर है।

लेकिन ऐसे लोगों को चाहिए कि पहले मनुष्य को आहार-विहार में, निद्रा-जागरण में सहस्रों निषेधों के द्वारा, विभीषिकाओं और प्रलोभनों के द्वारा, असंयत काल्पनिकता के द्वारा, मोहाच्छन्न करके रखे; मनुष्य को ज्ञान या कर्म में कहीं मुक्ति का स्वाद न मिले; क्षुद्र विषय में भी उसकी रुचि स्वतन्त्र न हो; सामान्य बातों में भी उसकी इच्छा मुक्त न हो; किसी मंगल विचार में वह अपनी बुद्धि का प्रयोग न करे; बाह्यिक, मानसिक, आध्यात्मिक किसी दिशा में वह दूर सागर-पार यात्रा न कर सके; प्राचीन शास्त्र के लंगर और कठिन आचार की जंजीर से उसकी नौका एक ही पक्के घाट पर बँधी हुई गतिहीन पड़ी रहे।[1]

लेकिन तर्क-पण्डितों के साथ बहस करना अपने देश के प्रति अविचार होगा। जब हम देख रहे है कि धर्म-चिन्तन में स्थूलता और धर्म-कर्म में मूढ़ता आ गई है, और सारे देश के ऊपर एक के बाद एक पर्दा डालकर उसे अन्धता में रखा जा रहा है, तब यह सोचना वृथा होगा कि कुछ बुद्धिमान लोग मिलकर अपने परामर्श से परिस्थिति बदल सकेंगे। हम अहंकारवश कहते हैं कि हमारी व्यवस्था दूरदर्शी पूर्वजों के ज्ञान पर आधारित है। लेकिन वास्तव में वह पूर्वजों के ज्ञान पर नहीं हमारे अज्ञान पर आधारित है। इतिहास की विशेष अवस्था में कुछ विशेष कारणों से यह विकृत परिस्थिति उत्पन्न हुई है। यह बात असत्य है कि हमने सोच-समझकर व्यक्ति की बुद्धि के अनुसार अलग-अलग अवस्थाओं में उपयुक्त पूजा-अर्चना और आचार-पद्धति का निर्माण किया है। हमारे कंधों पर जो बोझ गिरा उसे हमने ग्रहण कर लिया। भारत में आर्यों की संख्या थोड़ी थी। उनके लिए यह संभव नहीं हुआ कि अपने धर्म और सभ्यता को सदा के लिए विशुद्ध रूप में व्यक्त करते। पग-पग पर पिछड़ी हुई जातियों के साथ उनका संपर्क हुआ।

---

१. इसके उत्तर में कुछ लोग कहेंगे कि अधिकार-भेद चिरन्तन नहीं है साधना की अवस्थाओं का ही भेद है। लेकिन हमारे समाज में, जहाँ एक विशेष वर्ण के लिए धर्म का उच्चतम अधिकार खुला है और दूसरे वर्ण के लिए बन्द है, यह बात कहकर काम कैसे चल सकता है? प्रत्येक मनुष्य का अधिकार किसी कृत्रिम नियम से स्थिर नहीं किया जा सकता। फिर भी यदि मैं यह देखता कि समाज में अवस्थानुसार अधिक सजीव रखने की चेष्टा है, यदि मैं देखता कि कभी ब्राह्मण शूद्र हो गया है और शूद्र ब्राह्मण, तब मैं यह मान लेता कि अधिकार-लाभ व्यक्तिगत क्षमता पर निर्भर है। हो सकता है, किसी समय हमारे देश में सामाजिक और धार्मिक अधिकार-भेद सचल और सजीव था। लेकिन जब हमने यह सचलता खो दी तब से अधिकार-भेद हमारे पथ में रुकावट बन गई, और उससे हमारे जीवन की गति अवरुद्ध हो गई। यहाँ यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस निबन्ध का विषय प्राचीन आर्य-समाज की नियम-व्यवस्था नहीं है।

पुराणों में और इतिहास में इस बात का प्रमाण है कि इन पिछड़ी जातियों का विरोध करते हुए भी आर्यों का उनके साथ मिश्रण हुआ। इस तरह एक दिन भारत में आर्य-जाति की ऐक्यधारा विभक्त और मिश्रित हो गई। निकृष्ट जातियों की पूजा-पद्धति, आचार-संस्कार और कथा-परम्परा ने समाज में प्रवेश किया। अत्यन्त वीभत्स, निष्ठुर, अनार्य और कुत्सित सामग्री को भी समाज के बाहर रखना सम्भव नहीं हुआ। इन सब विचित्र और असंलग्न स्तंभों के ऊपर आर्य शिल्पी एक इमारत खड़ी करने की चेष्टा प्राणपण से करते आये हैं। लेकिन यह असाध्य है। जहाँ वास्तविक मेल नहीं है वहाँ कौशल द्वारा मिलन नहीं कराया जा सकता। समाज की धारा में बहकर जो कुछ भी हमारे पास आये उसे यदि हम स्वीकार कर लें तो समाज में जो कुछ श्रेष्ठ है उसके लिए स्थान नहीं रहेगा। यदि किसान के ऊपर ज़बरदस्ती यह भार डाला जाय कि वह काँटों की भी देख-भाल करे तो वह धान की रक्षा नहीं कर सकेगा। ऐसा किसान कहाँ है जो काँटों का धान के साथ स्वाभाविक विरोध दूर करके उनका समन्वय करे? आज हमने झाड़-झंखाड़ को स्वीकार किया है। सारे खेत में जंगल पनप रहा है। सदियों से इन जंगली लताओं में प्रतियोगिता चल रही है—कोई आज प्रबल है तो वही कल दुर्बल है, किसी को आज स्थान मिला है तो कल उसे हटा दिया गया है। और इस भीड़ में कहीं से उड़कर बाहर का बीज हमारे खेत में गिरा है—वह अंकुरित होकर एक अजीब चीज़ ज़मीन से बाहर निकल रही है। यहाँ इस समस्त जंजाल के लिए अबाधित प्रवेश है, निषेध है तो केवल किसान के लिए, जो इस जंगल को साफ़ करना चाहता है। जो कुछ हो रहा है प्राकृतिक निर्वाचन के नियमानुसार ही है—पितामहों ने किसी दिन सत्य के जो बीज डाले थे उसके दाने न जाने कहाँ दबे पड़े हैं। यदि कोई उन दानों की ओर ध्यान दे और जंगल को अलग करना चाहे तो चौकीदार लाठी लेकर 'खबरदार' कहता हुआ आ पहुँचेगा, कहेगा—ये अर्वाचीन लोग हमारे सनातन खेत को नष्ट करने आए हैं। नाना जातियों और युगों की यह आवर्जना लेकर हमने बिना सोचे-समझे एक प्रकाण्ड गठरी को बाँध रखा है। और उत्तरोत्तर संचित हो रहे इस बोझ को—जिसमें उत्कृष्ट-निकृष्ट, नूतन-पुरातन, आर्य-अनार्य सभी कुछ असम्बन्धित रूप से है—हिन्दू धर्म का नाम देकर, उसे अपनी चिरकालीन सम्पत्ति मानकर, हम उस पर गौरव करते हैं। इस भयंकर बोझ से हमारा देश युग-युगांतर से धूलिमग्न रहा है, किसी तरह आगे नहीं बढ़ पाता। इस बोझ को हल्का करने का जहाँ किसी ने यत्न किया, 'अधर्म' कहकर उस यत्न में बाधाएँ डाली जाती हैं। दुर्गति में डूबते हुए भी आज देश के शिक्षाभिमानी लोग गर्व करते हैं कि धर्म का ऐसा वैचित्र्य दुनिया में और कहीं नहीं है। अंध

संस्कार का ऐसा सार्वभौम एकाधिपत्य वास्तव में किसी और समाज में नहीं है; मोहित करने वाले विश्वासों का ऐसा प्रशस्त क्षेत्र सचमुच मानव-इतिहास में अन्य किसी देश में नहीं बना; आपस के ऐसे तीव्र भेद और पार्थक्य ने भी किसी अन्य समाज को इस तरह विभाजित नहीं किया—इस दृष्टि से अवश्य कहा जा सकता है कि संसार में केवल हिन्दू समाज ही ऐसा है जहाँ ऊँच-नीच को बिना सोचे-समझे समान स्थान दिया गया है।

लेकिन विचार ही मनुष्य का धर्म है। ऊँच और नीच, श्रेय और प्रेय, धर्म और स्वभाव—इनके बीच उसे चुनाव करना ही होगा। वह सभी को नहीं ग्रहण कर सकता—यदि ऐसा यत्न किया गया तो उसकी अपनी रक्षा नहीं होगी। स्थूल तामसिकता ही यह कह सकती है कि 'जो जैसा है वह वैसा ही रहे।' जो विनाश के योग्य है उसे भी सनातन कहकर पकड़ रखना तामसिकता का ही काम है। जो हमसे कहता है: 'एक जगह पड़े रहो' उसे धर्म कहकर सम्मानित करना भी तामसिकता ही है।

मनुष्य की साधना का लक्ष्य है निरन्तर अपने 'सर्वश्रेष्ठ' को प्रकाशित करना। जो अपने-आप जमा होता रहा है, या हज़ारों वर्ष पहले हो चुका है, उसको व्यक्त करना मानव-साधना नहीं है। अपने सर्वश्रेष्ठ को नियत प्रकाशित करने की शक्ति उसे धर्म से ही मिलती है। इसलिए मनुष्य अपने धर्म को बड़ी तपस्या के बाद अपनी श्रेष्ठता के चरम स्थान पर स्थापित करता है। लेकिन जब वह विपत्तिवश या मोहवश अपने धर्म को झुका देता है, तब धर्म की तरह विनाशकारी चीज़ दूसरी कोई नहीं हो सकती। उच्चस्थान से जो चीज़ हमें ऊपर उठाती है वही यदि निम्न स्थान पर हो तो हमें नीचे गिराती है। इसलिए यदि कोई देश धर्म की नीति के बदले रीति पर आधारित करे; बुद्धि के बदले संस्कार पर प्रतिष्ठित करे; यदि धर्म को अंतःकरण में आसर देने के बदले उसे बाह्य अनुष्ठानों में आबद्ध करे; धर्म के अनुसार परिवेश को गढ़ने के बदले परिवेश के ही हाथों धर्म को समर्पित करे; धर्म की दुहाई देकर मानव-मानव में पार्थक्य निर्माण करे; एक वर्ग के घमण्ड को दूसरे वर्ग के सिर पर लादे; मनुष्य की सर्वोच्च आशा और अधिकार को संकुचित तथा खण्डित करे—तो ऐसे देश को हीनता के अपमान से बचाना किसी कांग्रेस या कान्फ्रेंस के लिए सम्भव नहीं; ओर न ऐसे देश की रक्षा वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति से या राजनैतिक इन्द्रजाल से हो सकती है। ऐसे देश का यदि एक संकट से उद्धार हो तो वह दूसरे संकट से ग्रस्त होगा; यदि एक प्रबल पक्ष अनुग्रहपूर्वक उसका सम्मान करे, तो दूसरा प्रबल पक्ष उसकी लांछना करेगा। जो अपने सर्वश्रेष्ठ को सर्वोच्च सम्मान नहीं देता उसे कभी उच्चासन नहीं

मिल सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म के विकार से ही ग्रीस और रोम का पतन हुआ, और हमारी दुर्गति का कारण भी हमारे धर्म में ही मिलेगा, और कहीं नहीं। इसमें भी कोई सन्देह नहीं, कि यदि हमें अपना उद्धार करना है तो बाहर की ओर ताकने से या किसी बाह्य सुविधा का सहारा लेने से कोई लाभ नहीं। रक्षा के उपाय को अपने बाहर ढूँढ़ना दुर्बल आत्मा की मूढ़ता है—ध्रुव सत्य तो यही है : 'धर्मो रक्षति रक्षितः'।

[साधारण ब्रह्मसमाज में २६ जनवरी १९१२ (१२ माघ, १३१८ बँगाली संवत्) को सायंकाल मेघोत्सव पर पठित।
'प्रवासी' (फाल्गुन १३१८ बं० सं०) में प्रकाशित। जुलाई १९१६ में 'संचय' पुस्तक में समाविष्ट।]

यात्रा से पहले

खुले मैदान के बीच हमारे आश्रम का विद्यालय है। यहाँ हम छोटे-बड़े सब लोग एक साथ रहते हैं, छात्र और शिक्षक एक ही कमरे में सोते हैं। लेकिन हमारे और भी साथी हैं। आकाश-आलोक-समीर के और हमारे बीच कोई पर्दा नहीं है। यहाँ प्रभात की धूप सीधी हमारी आँखों पर पड़ती है, आकाश के तारे हमारी ओर देखते रहते हैं। जब आँधी आती है तब क्षितिज में धूल की चादर उड़ाकर दूर से ही हमें अपने आगमन की सूचना देती है। प्रत्येक ऋतु का प्रथम संवाद हमारे आश्रम-वृक्षों के पत्ते-पत्ते में प्रकाशित होता है। विश्व-प्रकृति को हमारे दरवाज़े के बाहर क्षण-भर के लिए भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

हमारी इच्छा है कि पृथ्वी के सारे मनुष्यों के साथ भी हमारा इसी तरह योग स्थापित हो। हमारी मन:कामना यही है कि मानव-इतिहास में जो ऋतुओं का आवागमन, सूर्य का उदयास्त और आँधी-बादल का उत्पात चलता रहता है उसे भी हम स्पष्ट और बृहत् रूप में देख सकें। हम शहर से दूर हैं, इसलिए हमें इस तरह देखने की सुविधा है। पृथ्वी के समस्त संवाद यहाँ बिना किसी साँचे में ढले हुए सीधे आ पहुँचते हैं, यदि हम चाहें तो उन्हें विशुद्ध रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

मानव-जगत् के साथ अपने इस ग्रामीण विद्यालय का सम्बन्ध घनिष्ठ बनाने के लिए हम पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। इस विशाल धरती का निमन्त्रण-पत्र हमें मिला है। लेकिन विद्यालय में जो दो सौ छात्र हैं वे सब तो इस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि तुम सबकी ओर से मैं अकेला ही उसे स्वीकार करूँगा और अपने बीच तुम सबका भ्रमण सम्पादन करूँगा। जब आश्रम लौटूँगा तब बाहर की पृथ्वी को किसी अंश तक अपने जीवन में भर कर तुम्हारे लिए प्रस्तुत कर सकूँगा। यात्रा से लौटने पर काफ़ी अवकाश मिलेगा और बहुत-सी बातें होंगी। लेकिन आज विदा लेते समय दो-एक बातों को मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ।

बहुत से लोग मुझसे पूछते हैं : 'तुम योरोप की यात्रा करने क्यों जा रहे हो ?' मैं समझ नहीं पाता कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँ। यदि कहूँ कि भ्रमण करना ही यात्रा का उद्देश्य होता है तो प्रश्नकर्ता सोचेंगे मैंने उनकी बातों का कोई गम्भीर उत्तर नहीं दिया। फलाफल का विचार करके नफे-नुकसान का हिसाब जब तक न दिया जाय तब तक मनुष्य का मन सन्तुष्ट नहीं होता।

बिना किसी ज़रूरत के आदमी अचानक घूमने क्यों निकले ? यह प्रश्न हमारे ही देश में पूछा जा सकता है। हम यह बात बिलकुल ही भूल गए हैं कि घूमने की इच्छा मनुष्य के लिए स्वभाव-सिद्ध है। घर ने हमें इतने बन्धनों से बाँध रखा है, देहरी के बाहर पाँव रखते ही हमारे यहाँ इतनी छींकें सुनाई पड़ती हैं, इतने आँसू बहाये जाते हैं, कि बाहर की दुनिया हमारे लिए अत्यन्त पराई हो उठी है; घर के साथ उसका सम्बन्ध पूर्णतया विच्छिन्न हो गया है। थोड़े से समय के लिए भी यदि हमें बाहर जाना होता है तो बहुत बड़ी आत्मीय मण्डली के प्रति हम ज़िम्मेदारियाँ अनुभव करते हैं। हमारे पंख इस तरह बँध गए हैं कि हमें इस बात पर विश्वास ही नहीं होता कि उड़ना अपने-आपमें आनन्दप्रद हो सकता है।

अल्प आयु में जब मैं विदेश गया था, मेरी यात्रा के पीछे एक आर्थिक उद्देश्य था। सिविल सर्विस में प्रवेश या बैरिस्टर बनने की चेष्टा, अच्छे ख़ासे बहाने थे। लेकिन आज बावन वर्ष की आयु में ऐसा कोई बहाना नहीं है, इसलिए पारमार्थिक उद्देश्य की ही दुहाई देनी पड़ेगी।

आध्यात्मिक उन्नति के लिए भ्रमण का प्रयोजन है, यह बात हमारे देश के लोग स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए कुछ लोग समझते हैं कि ऐसे ही किसी उद्देश्य से मैं इस आयु में यात्रा के लिए निकला हूँगा। उन्हें आश्चर्य होता है कि यह उद्देश्य आखिर योरोप में कैसे सिद्ध होगा। वे सोचते हैं कि भारत के ही तीर्थों में साधु-साधकों की संगति-लाभ करके मुक्ति मिल सकती है।

लेकिन मैं तो पहले ही से कह रहा हूँ कि केवल बाहर निकलना मेरा उद्देश्य है। सौभाग्य से इस पृथ्वी पर आया हूँ; पृथ्वी के साथ यथासम्भव सम्पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकूँ तो यही मेरे लिए काफ़ी है। दो आँखें मिली हैं; उनसे विराट् को जितनी दिशाओं से और जितने विचित्र रूपों में देख सकूँगा उतनी ही वे आँखें सार्थक होंगी।

लेकिन यह बात मुझे माननी पड़ेगी कि लाभ पर भी मेरी दृष्टि है। केवल सुख ही नहीं, इस भ्रमण-संकल्प के बीच प्रयोजन-साधन की इच्छा भी छिपी हुई है।

मैं सोचता हूँ यदि कोई योरोपवासी यथार्थ श्रद्धा के साथ भारत आये तो उसे तीर्थ-भ्रमण का फल अवश्य मिलेगा। ऐसे योरोपियों के साथ मेरी भेंट हुई है, और मैंने उन्हें भक्ति की दृष्टि से देखा है।

भक्ति का कारण यह नहीं है कि इन विदेशियों की श्रद्धा में भारत का माहात्म्य प्रतिफलित होकर हमारे लिए वह और भी अधिक उज्ज्वल हो जाता है। उन लोगों के हृदय की शक्ति को देखकर ही मेरा मन प्रणत होता है। परायेपन की

बाधा को भेदकर सत्य को स्वीकार करने और कल्याण को ग्रहण करने की क्षमता सभी के पास नहीं होती। दूसरे देश में गये बिना सत्य के बीच सहज संचार करने की शक्ति का परिचय भी नहीं मिलता। जिसकी आदत पड़ी हो उसे सत्य मानना और जिसकी आदत न हो उसे तुच्छ या मिथ्या समझकर वर्जित करना दीनात्मा का लक्षण है।

अनभ्यास का मन्दिर-द्वार खोलकर जब हम सत्य की पूजा करने जाते हैं तब सत्य के प्रति भक्ति को हम विशेष भाव से उपलब्ध करते हैं। हमारी यह पूजा स्वाधीन होती है; हमारी यह भक्ति अंध प्रथाओं द्वारा प्रेरित नहीं होती।

योरोप में संस्कार-मुक्त दृष्टि से हम सत्य को देख सकेंगे, इस श्रद्धा के साथ यदि हम वहाँ यात्रा करें तो भारतवासियों के लिए ऐसा दूसरा तीर्थ कहाँ मिलेगा? भारत में जो श्रद्धापरायण योरोपीय यात्री आते हैं उनकी दृष्टि हमारे देश की दुर्गति पर भी अवश्य पड़ती है। लेकिन इस धूल से वे अन्धे नहीं हो जाते। जीर्ण आवरण के पीछे भारत के अन्तरतम सत्य को वे देखते हैं।

योरोप में भी सत्य के ऊपर आवरण पड़ा हुआ है। वह आवरण जीर्ण नहीं है, वह बहुत उज्ज्वल है। इसलिए वहाँ का अन्तरतम सत्य देखना और भी कठिन है। वहाँ आवरण मणिमुक्ता की झालर से सुसज्जित है और वीर प्रहरी उसकी रक्षा करते हैं। इसलिए उसीको आश्चर्य के साथ देखकर, उसीको सबसे अधिक मूल्यवान पदार्थ समझकर, हम वापस लौट सकते हैं। उसके पीछे जो देवता प्रतिष्ठित है उसे हम शायद प्रणाम भी नहीं करते।

यदि हम सुसज्जित पर्दे को ही देखें और देवता के प्रति हमारी श्रद्धा न हो तो योरोप-यात्रा में हमारा जो खर्च होगा उसके बराबर अपव्यय दूसरा कोई नहीं हो सकता।

योरोपीय सभ्यता वस्तुगत है, उसमें आध्यात्मिकता नहीं है, इस तरह की बातें आजकल सर्वत्र सुनाई पड़ती हैं। कारण जो कुछ भी हो, जब इस तरह की जनश्रुति का प्रचार होता है तो लोग नहीं सोचते कि बात कहाँ तक सच है। पाँच लोग जो कहते हैं उसी को छठा व्यक्ति दोहराता है। इस तरह की आवृत्ति युक्ति का स्थान ले लेती है।

हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मानव-समाज में जो कुछ भी मंगल है उसके पीछे आध्यात्मिक शक्ति होनी ही पड़ेगी। मनुष्य मशीन से सत्य को नहीं प्राप्त कर सकता, आत्मा से ही कर सकता है। यदि हम योरोप में मानवीय उन्नति देखते हैं तो हमें निश्चित रूप से जानना चाहिए कि उस उन्नति का मूल

मानव-आत्मा ही है; जड़तत्त्व से उसकी सृष्टि नहीं हो सकती। बाहर के विकास में आत्मा की शक्ति का ही परिचय मिलता है।

'योरोप में मनुष्य आत्मा को प्रकाशित नहीं करता, केवल जड़ वस्तुओं को जमा करता है', यह बात उसी तरह की है कि 'बरगद का पेड़ केवल सूखे पत्ते गिराता है, अपने जीवन को व्यक्त नहीं करता'। वास्तव में बरगद की प्राणशक्ति से ही पत्तों की वर्षा होती है; सूखे, परित्यक्त पत्तों से वृक्ष की मृत्यु प्रमाणित नहीं होती। जो जीवित है वही प्रतिक्षण मर सकता है; मृत्यु का बिलकुल बन्द हो जाना ही यथार्थ मरण है।

योरोप में हम देखते हैं कि मनुष्य नई-नई परीक्षाओं और नये-नये परिवर्तनों में से गुज़र रहा है। आज वह जिसे ग्रहण करता है कल उसीका त्याग करता है। वह कहीं चुपचाप बैठा नहीं रहता। बहुत-से लोग ऐसा कहते हैं। इसीसे प्रमाणित होता है कि उनमें आध्यात्मिकता का अभाव है। विश्व-जगत् में भी हम परिवर्तन और मृत्यु देखते हैं। लेकिन क्या इसी विश्व के बारे में ऋषियों ने नहीं कहा कि आनन्द से सब-कुछ उत्पन्न होता है? मृत्यु-स्रोत से ही क्या अमरत्व निरन्तर उत्सारित नहीं होता? बाहर को चरम समझने से हम न तो भीतर को देख सकते हैं, न बाहर को सत्य रूप से ग्रहण कर सकते हैं। योरोप का भी एक आन्तरिक पक्ष है, उसकी भी एक आत्मा है, और वह आत्मा दुर्बल नहीं।

योरोप की उस आध्यात्मिकता को हम जब देखेंगे तभी उसके सत्य को देख सकेंगे; तभी एक ऐसे पदार्थ को जान सकेंगे जिसे आत्मा के बीच ग्रहण करना सम्भव है; जो केवल वस्तु नहीं, केवल विद्या नहीं, बल्कि आनन्द है।

मैं जो बात कहने का प्रयत्न कर रहा हूँ उसे समझाने के लिए हाल की एक घटना का उल्लेख किया जा सकता है। दो हज़ार यात्रियों को लेकर एक जहाज अटलांटिक महासागर पार कर रहा था। आधी रात को एक ग्लेशियर से टकराकर जहाज़ डूबने लगा। उस समय अधिकांश योरोपीय और अमरीकी यात्रियों ने अपनी जीवन-रक्षा के लिए व्याकुलता न दिखाकर बच्चों और स्त्रियों को बचाने का प्रयत्न किया। बहुतों की मृत्यु हुई। इस दुर्घटना के आघात से योरोप का बाह्यावरण कुछ देर के लिए दूर होकर उसकी आन्तरिक आत्मा का सत्य रूप हम देख सके। हमने जो देखा उसके बाद योरोप के सामने सिर झुकाने में हमें संकोच नहीं होता। इसी तरह आत्मा के परिचय से आत्मा का आनन्द व्यक्त होता है।

इस घटना के कुछ ही दिन बाद मेरे कुछ मित्र ढाका से स्टीमर द्वारा लौट

रहे थे। पद्मा[1] नदी में स्टीमर से टकराकर एक नाव डूब गई और तीन यात्री पानी में गिर पड़े। एक दूसरी नाव पास ही से गुज़र रही थी। जहाज़ के सब लोगों ने ज़ोर-ज़ोर से उस नाव के माँझी को पुकारा और डूबने वालों को बचाने का अनुरोध किया। लेकिन माँझी ने ध्यान नहीं दिया, यद्यपि उसे किसी बात का खतरा नहीं था, वह बिलकुल पास से जा रहा था, और काम दुःसाध्य नहीं था।

इस अवसर पर एक और घटना मुझे याद आती है। रात के समय ज़ोर की आँधी उठी थी। सबेरे हवा का वेग तो कम हो गया था, लेकिन नदी अभी तक चंचल थी। गोराई[2] नदी के किनारे हमारी बोट बँधी थी। अचानक हमने देखा कि नदी के बीच किसी स्त्री का शरीर बह रहा है। पानी के ऊपर केवल उसके बाल तैरते हुए दिखाई पड़ते थे। घाट पर जो लोग थे उन्हें बुला कर मैंने कहा : 'मेरी लाइफ-बोट ले जाओ और उस स्त्री को किनारे ले आओ। शायद अभी तक जीवित हो।' लेकिन उनमें से कोई आगे न बढ़ा। मैंने फिर कहा : 'जो भी जायगा उसे मैं पाँच रुपये इनाम दूँगा।' यह सुनकर कई लोग लाइफ-बोट ले गए और उस स्त्री को तट पर ले आए। वह मूर्च्छित हो गई थी, कुछ ही देर में होश आ गई। पुरस्कार की आशा न होती तो कोई भी न जाता।

एक और दिन की बात है कि मैं बोट में एक खाड़ी पार कर रहा था। जहाँ खाड़ी का पानी नदी की धारा से मिलता है वहाँ मछली पकड़ने की सुविधा के लिए मछुओं ने बड़े-बड़े खूँटे गाड़कर जल के यातायात-मार्ग को संकीर्ण बना दिया था। ऐसा करने से धारा का वेग बहुत बढ़ जाता है, और ऐसे स्थानों पर भारी नौकाओं को मुश्किल में फँसते मैंने अक्सर देखा है। उस दिन संकीर्ण जलमार्ग पर हमारी बोट खूँटों से बचते-बचते एक संकटमय स्थान पर जा पहुँची। आठ-दस हाथ के ही फासले पर कुछ धीवर मछली पकड़ रहे थे। हमने मदद के लिए उन्हें पुकारा, लेकिन उन्होंने आँख उठाकर भी न देखा। हमारे माँझी ने पुरस्कार घोषित किया। पुरस्कार की दर बढ़ाने की आशा से मछुओं ने यह बहाना किया कि हमारी बात उन्होंने सुनी ही नहीं थी। जब पुरस्कार की रकम काफ़ी बढ़ गई तो उनकी श्रवण-शक्ति अचानक बाधाहीन हो गई। हमारे देश के किसी पाठक को यह बताना आवश्यक नहीं है कि यदि बोट में कोई बड़ा अफ़सर होता तो उन मछुओं की

---

१. पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान) की एक नदी, जो गंगा की एक शाखा है। सियालदाह इसी के किनारे पर बसा हुआ है। रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में पद्मा का बार-बार उल्लेख मिलता है।

२. पूर्वी पाकिस्तान के कुष्टिया ज़िले की एक नदी।

श्रवण-शक्ति दूसरी तरह की होती।

बोलपुर बाज़ार[1] की एक दूकान में जब आग लगी थी उस दिन की बात तो तुम सबको याद ही होगी। आग बुझाने के काम में कुछ विदेशी काबुलियों ने तुम्हारी मदद की थी। तुमने गाँव के लोगों को बुलाया था लेकिन उनसे तुम्हें कोई सहायता नहीं मिली थी। यह भी याद होगा कि जब कुछ लोगों से आग बुझाने के लिए घड़े माँगे गए, उन्होंने देने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं उनके बर्तन अपवित्र न हो जायँ।

हमारे चारों ओर यह जो आत्म-त्याग का अभाव है उसे प्रमाणित करने के लिए और बहुत-से दृष्टान्तों की ज़रूरत नहीं है। मुँह से हम कुछ भी कहें, अपने चरित्र का यह दैन्य मन में हम स्वीकार करते हैं। आत्म-त्याग के साथ आध्यात्मिकता का क्या कोई सम्बन्ध नहीं है? क्या आत्म-त्याग धर्मबल का लक्षण नहीं है? क्या आध्यात्मिकता केवल इसी में है कि लोगों से अलग रहकर, 'पवित्र' होकर हम हरिनाम जपते रहें? क्या आध्यात्मिक शक्ति मनुष्य को वीरता प्रदान नहीं करती?

टायटॅनिक जहाज़ डूबने की घटना में बहुत-से लोगों का मृत्यु के सम्मुख व्यवहार एकाएक प्रकाश में आया। इस घटना से किसी एक मनुष्य की असामान्यता प्रमाणित हुई हो, ऐसी बात नहीं। सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात तो यह है कि लक्ष्मी की गोद में पले हुए करोड़पति, जिन्होंने रुपये के ज़ोर से सर्वदा अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझा था, जिनका भोग सदा बाधाहीन रहा था और जिनको रोग या विपत्ति में अपनी रक्षा करने का सुयोग औरों से कहीं अधिक था, ऐसे लोगों ने भी उस समय अपने दुर्बल बान्धवों को बचाने के लिए रास्ता छोड़ दिया और मृत्यु स्वीकार की। ऐसे करोड़पति उस जहाज़ पर अनेक थे।

आकस्मिक दुर्घटना में मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियाँ अक्सर सभ्यता संयम को छिन्न कर देती हैं। सोचने का समय मिलने पर मनुष्य आत्मनिग्रह कर सकता है। डूबते हुए टायटॅनिक पर अँधेरी रात में कोई अचानक नींद से जाग पड़ा तो किसी को आमोद-प्रमोद के बीच हठात् धक्का लगा। सबने अपने सामने मृत्यु की काली मूर्ति देखी। उस समय भी लोगों ने दुर्बलों को धकेलकर आत्मरक्षा का

---

१. बोलपुर बाजार बोलपुर का व्यापारिक केन्द्र स्थान है। बोलपुर कलकत्ता से लगभग ९९ मील दूर पश्चिमी बंगाल के बीरभूम ज़िले में है। इसी स्थान से लगभग डेढ़ मील की दूरी पर शान्तिनिकेतन स्थित है।

प्रयत्न नहीं किया। ऐसे वीरत्व को आकस्मिक या व्यक्तिगत नहीं कहा जा सकता। उस दिन समस्त जाति की दीर्घ तपस्या और आध्यात्मिक शक्ति ने भीषण परीक्षा में मृत्यु पर विजय प्राप्त की।

इस दुर्घटना में जिस शक्ति का परिचय मिलता है उसे क्या हम योरोप में विविध रूपों में नहीं देखते ? देश-हित और लोक-हित के लिए सर्वस्व त्याग और प्राण-विसर्जन किये जाने के हज़ारों दृष्टान्त क्या हमारे सामने नहीं आते ? इस राशिभूत त्याग द्वारा ही क्या योरोपीय सभ्यता ने प्रवालद्वीप की तरह अपना मस्तक ऊँचा नहीं किया है ?

किसी भी समाज में यथार्थ उन्नति नहीं हो सकती जब तक उसकी भित्ति दुःख के ऊपर प्रतिष्ठित न हो। इस दुःख को वे लोग कदापि वरण नहीं कर सकते जो मैटिरियलिस्ट हैं, जड़ वस्तुओं के दास हैं। जिनका चरम आनन्द वस्तुओं में होता है वे भला वस्तुओं का त्याग कैसे कर सकते हैं ? वे कल्याण को अपने प्राण से भी बड़ा कैसे मान सकते हैं ?

जो लोग शास्त्रविहित पुण्य को पारलौकिक विषय-संपत्ति की तरह समझते हैं उनके बारे में हम चाहे यह कहें कि वे स्वार्थप्रेरित पुण्य के लिए दुःख स्वीकार करते हैं। लेकिन जो पुण्य शास्त्र-विधि की सामग्री नहीं है, जो तीर्थयात्रा का कष्ट नहीं है, जो हृदय की स्वाधीन प्रेरणा है, ऐसे दुःख को ग्रहण करने वाला वस्तु-उपासक नहीं हो सकता।

योरोप में हमने बार-बार यह देखा है कि देश के लिए, मानवता के लिए, प्रेम और ज्ञान के लिए, हृदय के स्वाधीन आवेग से दुःख और मृत्यु को लोगों ने स्वीकार किया है। इसमें से सभी का स्वार्थ-त्याग विशुद्ध नहीं है। ऐसे व्यवहार में कभी-कभी केवल बहादुरी का प्रदर्शन भी होता है। लेकिन इन अपवादों के कारण हमें सत्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी चन्द्र के चारों ओर एक ज्योतिचक्र दिखाई पड़ता है। हम जानते हैं कि यह चन्द्र नहीं है, यह छाया है, मिथ्या है। लेकिन यदि चन्द्र बीच में न हो तो ज्योतिचक्र का अस्तित्व असम्भव है। प्रत्येक समाज में श्रेष्ठ पदार्थ के इर्द-गिर्द, उसी के आलोक पर आधारित एक ज्योतिमण्डल उत्पन्न होता है। लेकिन इस नकली ज्योतिचक्र को मूल आलोकपुंज का प्रतिवादी नहीं कहा जा सकता। पाखण्डी संन्यासियों को देख कर सच्चे साधुओं के प्रति अविश्वास करना हमारी भूल होगी।

योरोप में जो असामान्य लोग हुए हैं उनके बारे में मैंने पुस्तकों में पढ़ा है, उन्हें निकट से नहीं देखा। जिन दो-एक योरोपियों को देखा है वे विख्यात नहीं हैं।

बहुत दिन हुए मैं हैमरग्रेन[1] नाम के एक स्वीडन-निवासी से मिला था। उस दूर देश में न जाने कहाँ से उन्हें एक पुस्तक मिली, जिसमें राममोहन राय का उल्लेख था। उनके मन में राममोहन के प्रति भक्ति जागृत हुई। निर्धन होते हुए भी उन्होंने अपना देश छोड़कर, बड़ी कठिनाइयाँ झेलकर, बंगाल की यात्रा की। वे यहाँ की भाषा नहीं जानते थे, न यहाँ के किसी व्यक्ति को पहचानते थे। फिर भी एक बंगाली घर में आश्रय लेकर उन्होंने राममोहन राय के देश को अपना देश समझा। दु:सह क्लेश झेलकर, निष्ठा और अध्यवसाय के साथ, और अत्यन्त नम्रतापूर्वक उन्होंने इस देश के कल्याण के लिए प्राणपण से यत्न किया। जिन्होंने उनका जीवन देखा है वे उन्हें कभी भूल नहीं सकते। वे अधिक दिन तक जीवित न रहे। मृत्यु के बाद नीमतला घाट[2] पर उनका दाह-संस्कार हुआ। इस पर हमारे एक साप्ताहिक ने 'हिन्दू श्मशान कलुषित हो गया' कहकर तीव्र आपत्ति व्यक्त की।

भगिनी निवेदिता[3] ने स्वामी विवेकानन्द के प्रति जो भक्ति दिखाई थी, और भारत के लिए जो अद्भुत आत्मत्याग किया था, वह तो सभी जानते ही हैं।

इन दो दृष्टान्तों में हम देखते हैं कि इन योरोपीय भक्तों ने ऐसे स्थान पर और ऐसी अवस्था में आत्मदान किया जहाँ जीवन का कोई सर्व-परिचित पथ उनके सामने खुला नहीं था। उनके हृदय और मन के संस्कारों ने बार-बार उनके पथ में बाधाएँ डालीं। उन्होंने केवल आत्मोत्सर्ग ही नहीं किया, बल्कि उन्हें पग-पग पर आत्मोत्सर्ग का मार्ग भी तैयार करना पड़ा; क्योंकि उपस्थित मार्ग उनके लिए

---

१. स्वीडन निवासी एक युवक। राजा राममोहन राय की अंग्रेजी रचनाएँ पढ़कर वह अध्ययन और जन-सेवा के उद्देश्य से सन् १८९३ में कलकत्ता आया था। पौष मेले के अवसर पर एक बार उसने शान्तिनिकेतन की भी यात्रा की थी। यह घटना शान्तिनिकेतन स्कूल की स्थापना के बहुत पहले की है। बाद में कलकत्ता में उसकी मृत्यु हुई। जब रवीन्द्रनाथ नोबेल पुरस्कार के सम्बन्ध में स्वीडन गए थे तब उन्होंने अपने इस स्वीडिश अतिथि का उल्लेख किया था।

२. गंगा (हुगली) के किनारे कलकत्ता का श्मशान घाट। हैमरग्रेन का दाहसंस्कार यहीं किया गया था, जिस पर कुछ पुराणपंथी हिन्दुओं ने आपत्ति उठाई थी। रवीन्द्रनाथ का अन्तिम संस्कार भी यहीं हुआ था।

३. स्वामी विवेकानन्द की विख्यात शिष्या (१८६७-१९११)। इनका मूल नाम मार्गरेट नोबिल था। ये आयरलैण्ड की निवासिनी थीं। इन्होंने कलकत्ता में अनाथों के लिए एक स्कूल की स्थापना की थी और वहीं रहने लगी थीं। बंगाल के क्रान्तिकारियों की वह भाँति-भाँति से सहायता करती थीं। वे बड़ी मिलनसार थीं। रवीन्द्रनाथ, जगदीशचन्द्र बसु, गोखले, तिलक, रमेशचन्द्र दत्त—सब इन्हें अपना मित्र और हितैषी मानते थे।

अवरुद्ध थे।

सत्य के प्रति यह भक्ति, और सत्य के लिए दुर्गम बाधाओं को पार करके निरन्तर अकुण्ठित रूप से अपने-आपको दान करने की यह शक्ति, इन्हें कहाँ से मिली ? निश्चय ही यह उनकी जातीय साधना की ही देन थी। ऐसी आश्चर्यजनक शक्ति क्या कभी वस्तु-उपासना से मिल सकती है ? क्या यह शक्ति यथार्थ रूप में आध्यात्मिक नहीं है ? और मैं यह भी पूछता हूँ, क्या यह शक्ति हमारे देश में यथेष्ट परिमाण में देखी जाती है ?

मैं यह नहीं कहता कि हमारे देश में आध्यात्मिकता नहीं है। यहाँ भी आध्यात्मिकता का एक पक्ष व्यक्त हुआ है। हमारे देश के साधक ज्ञान और भक्ति द्वारा समस्त खण्ड पदार्थों के बीच अखण्डस्वरूप को स्वीकार कर सके हैं। दीर्घ-कालीन चिन्तन और साधना से उनके लिए ज्ञान और भाव की दिशाओं में बहुत-सी बाधाएँ दूर हुई हैं।

इसीलिए हमारे देश के साधु पुरुषों ने अपने चित्तलोक में, अपने हृदयधाम में, अनन्त के साथ सहज योग को उपलब्ध किया है।

हमारे देश की मानव-प्रकृति में यह जो शक्ति है उसे यदि कोई विदेशी श्रद्धा से देखे तो वह निश्चय ही कृतार्थ होगा और अपनी प्रकृति का एक अभाव पूर्ण कर सकेगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे बीच भी उसी तरह एक अभाव है जिसे पूर्ण करना आवश्यक है। यह अभाव दीर्घकाल तक हमें दुर्बलता के अवसाद की ओर खींचता रहा है।

यह बात सुनते ही हमारे देशाभिमानी कह उठेंगे : 'हाँ, अभाव है; लेकिन यह आध्यात्मिकता का अभाव नहीं बल्कि वस्तुज्ञान का, विषयबुद्धि का अभाव है। इन्हींके ज़ोर से योरोप पृथ्वी के अन्य भागों से आगे निकल गया है।'

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। केवल वस्तुसंचय किसी देश की उन्नति का आधार नहीं हो सकता, और केवल विषय-बुद्धि से कोई देश शक्तिशाली नहीं बन सकता। दीपक में केवल तेल भरने से वह जल नहीं उठता, और न बाती बनाने की निपुणता से ही काम चल सकता है; यदि दीप जलाना है तो किसी-न-किसी तरह उससे आग का स्पर्श कराना ही होगा।

आज योरोप पृथ्वी पर केवल वस्तुशक्ति से शासन कर रहा है, यह बात अविश्वासी, नास्तिक ही कह सकेंगे। उस शासन की मूल शक्ति निःसन्देह धर्मगत है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं हो सकती।

यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि बौद्ध धर्म विषयासक्ति का धर्म नहीं है। फिर भी भारत में बौद्ध धर्म के अभ्युदयकाल में और उसके परवर्ती युग में बौद्ध सभ्यता

के ही प्रभाव से शिल्प, विज्ञान, वाणिज्य और साम्राज्य का ऐसा विस्तार हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। इसका कारण यह है कि जब मानव-आत्मा को जड़त्व के बन्धन से मुक्ति मिलती है तब उसकी समस्त शक्ति आनन्दमयी होकर पूर्ण रूप से विकसित होती है। मनुष्य की सारी शक्ति का केन्द्र आध्यात्मिकता ही है, क्योंकि वह आत्मा की ही शक्ति है। परिपूर्णता ही उसका स्वभाव है। वह अन्दर-बाहर किसी दिशा में मनुष्य को हीन बनाकर अपने ही ऊपर आघात नहीं करना चाहती। योरोप की शक्ति का बाह्यरूप चाहे कुछ भी हो, उसका आन्तरिक रूप धर्मबल ही है, इस विषय में मेरे मन में ज़रा भी सन्देह नहीं है।

उसका यह धर्मबल अत्यन्त सचेतन है। वह मनुष्य के किसी दुःख या भाव के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। सर्वप्रकार से मनुष्य की दुर्गति को दूर करने के लिए वह सर्वदा दुःसाध्य प्रयत्न में नियुक्त है। इस प्रयत्न के केन्द्र-स्थल पर एक स्वाधीन शुभबुद्धि है जो मनुष्य से स्वार्थत्याग कराती है, उसे सुख-चैन से खींचकर बाहर निकालती है, मृत्यु को आह्वान देती है, उसे शक्ति प्रदान करती है। वह कौन-सा अमृत है जो इस मंगल-कामना को सतेज रखता है?

ईसा के जीवन-वृक्ष से जो धर्मबीज योरोप के चित्तक्षेत्र में गिरा था वही आज इतना फलवान् हो उठा है। उस बीज में कौन-सी जीवन-शक्ति है? वह है दुःख को परमधन समझकर ग्रहण करना।

स्वर्ग की दया मनुष्य के समस्त दुःख को प्रेमपूर्वक अपना लेती है, यह बात योरोप सदियों से सुनता आया है; यह बात विविध अनुष्ठानों में, मंत्रों में, संगीत में ध्वनित हुई है। सुनते-सुनते इस आइडिया ने योरोप के ऐसे गम्भीर स्थान पर अधिकार कर लिया है जो चेतना के अन्तराल में है, जो अतिचेतना का देश है। इसी देश की गूढ़ निःस्तब्धता में मनुष्यत्व के सारे बीज अंकुरित होते हैं; इसी देश की अगोचर गम्भीरता में मानव का समस्त ऐश्वर्य है।

इसीलिए आज योरोप में यह आश्चर्यजनक बात देखी जाती है कि जो लोग मुँह से ईसाई धर्म को अमान्य करते हैं और जड़वाद का जय-जयकार करते हैं वे भी मौक़ा पड़ने पर धन और प्राण का त्याग करते हैं, निन्दा और दुःख को हिम्मत के साथ वहन करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे लोग अचेतन रूप से मृत्यु के ऊपर अमृत को स्वीकार करते हैं और सुख के ऊपर मंगल को सत्य समझते हैं।

टायटॅनिक जहाज़ पर जिन्होंने अपने प्राण की उपेक्षा करते हुए दूसरों को बचाने का यत्न किया उनमें से सभी निष्ठावान और उपासना-रत ईसाई नहीं थे। यहाँ तक कि उनमें नास्तिक और अज्ञेयवादी भी रहे होंगे। लेकिन केवल मतान्तर

होने से वे अपनी जातीय धर्म-साधना से विच्छिन्न कैसे हो सकते थे ? प्रत्येक देश और जाति में जो तपस्वी होते हैं वे समस्त जाति के आत्मीय होकर तपस्या करते हैं। इसलिए समाज के मूढ़ लोग यदि उनका धिक्कार करें तो भी उनकी तपस्या के फल से वे पूर्णतया वंचित नहीं रहते।

ईश्वर के प्रेम द्वारा मनुष्य के छोटे-बड़े सभी दुःख वहन करने की शक्ति और साधना हमारे देश में परिव्याप्त नहीं हुई है। यह बात चाहे जितनी अप्रिय हो हमें स्वीकार करना ही होगा। हमारी प्रेम-भक्ति में भावना का आवेग और रस की लीला यथेष्ट है। लेकिन प्रेम में जिस दुःख-स्वीकृति की, आत्म-त्याग और सेवा की, आकांक्षा होती है उसका हमारे यहाँ अभाव है। यह आत्म-त्याग और सेवा वीरता से ही साध्य हो सकती है। हम जिसे ईश्वर की सेवा कहते हैं वह दुःखपीड़ित मानव के बीच भगवान् की सेवा नहीं है। हम प्रेम की रसलीला को ही ऐकांतिक रूप से ग्रहण करते हैं, प्रेम की दुःखलीला को स्वीकार नहीं करते।

दुःख को लाभ के पक्ष से स्वीकार करने में आध्यात्मिकता नहीं है। प्रेम की दिशा से दुःख को अपनाने में ही आध्यात्मिकता है। कृपण धनसंचय के लिए जो दुःख भोगता है, पुण्यकामी पारलौकिक सद्गति के लिए जिस दुःखव्रत का पालन करता है, मुक्ति-लोलुप व्यक्ति मुक्ति के लिए और भोगी भोग के लिए जो कष्ट स्वीकार करता है, उसमें परिपूर्ण साधना नहीं है। उससे आत्मा अपने दैन्य को, अपने अभाव को ही प्रकाशित करती है। प्रेम के लिए जो दुःख सहा जाता है उसी-में मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अपनी शक्ति और आनन्द को ऊँचा उठाता है।

दुःखलीला के क्षेत्र में ही हम अपनी संकीर्णता को छोड़कर विश्व को सत्य भाव से ग्रहण कर पाते हैं। दुःख ही सत्य का मूल्य है। दुःख-संपदा ही आत्मा का प्रधान ऐश्वर्य है। दुःख द्वारा ही आत्मा का बल व्यक्त होता है और हम अपने को तथा अन्य लोगों को प्राप्त कर सकते हैं। तभी शास्त्र में कहा है, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। दुःख स्वीकार करने की शक्ति जिसमें नहीं है वह अपने-आपको सत्य रूप से उपलब्ध नहीं कर सकता।

इसका एक प्रमाण यह है कि हम अपने ही देश को स्वयं उपलब्ध नहीं कर पाते। हमारे देश में कोई किसी का 'अपना' नहीं है, देश जिसे चाहता है वह देश की आवाज़ नहीं सुनता। हमारे यहाँ जनसंख्या की कमी नहीं है। लेकिन यह संख्याबहुलता देश की शक्ति नहीं बल्कि दुर्बलता व्यक्त करती है। इसका मुख्य कारण यह है कि हम दुःख के द्वारा परस्पर को अपना नहीं पाते। हम देश के

लोगों को मनुष्य के रूप में कोई मूल्य नहीं प्रदान करते। माता सेवा-दुःख का मूल्य चुकाकर अपनी सन्तान को प्राप्त करती है। जिसको हम सत्य समझते हैं, जिसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा है, उसके लिए हमें स्वभावतः मूल्य चुकाना है, किसी के दबाव से नहीं। अपने देशवासियों को आन्तरिक रूप से 'सत्य' समझकर हम ग्रहण नहीं कर पाते इसीलिए हम आनन्द के साथ स्वार्थ-त्याग करने में असमर्थ हैं।

इस तरह मनुष्य को सत्य समझना प्रेम द्वारा ही सम्भव है। दर्शन जब कहता है 'सारी सत्ताएँ एक हैं' तो यह वाक्य-मात्र है। ऐसे दार्शनिक तत्त्व द्वारा समस्त भूतों को आत्मवत् नहीं किया जा सकता। आत्मा के पास प्रेम की जो चरमशक्ति है, जिसका धैर्य असीम है, जिसका स्वाभाविक आनन्द आत्मत्याग में है, उस सेवा-तत्पर प्रेम के अतिरिक्त कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे हम पराए को अपना बना सकें। इस शक्ति से ही देश-प्रेमी परमात्मा को समस्त देश में उपलब्ध करता है, मानव-प्रेमी परमात्मा को प्रत्येक मानव में प्राप्त करता है।

योरोप को उसके धर्म ने इसी दुःखप्रदीप्त सेवापरायण प्रेम की दीक्षा दी है। इसीकी शक्ति से वहाँ मनुष्य-मनुष्य में सहज मिलन सम्भव हुआ है। इसीके कारण वहाँ दुःख-तपस्या की होमाग्नि जल रही है और जीवन के सभी विभागों में शत-शत तपस्वी आत्माहुति के यज्ञ द्वारा देश के चित्त में तेज संचारित कर रहे हैं। इस कठोर यज्ञहुताशन से जो अमृत निकलता है उसीके द्वारा योरोप में शिल्प, विज्ञान, साहित्य, वाणिज्य और राजनीति का विकास हो सका है। किसी कारखाने के लौहयंत्र से ये सब चीज़ें तैयार नहीं होतीं। इनमें तपस्या की सृष्टि है, और तपस्या की अग्नि ही मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति है, उसका धर्मबल है।

इसीलिए हम इतिहास में देखते हैं कि बौद्धयुग में भारतवर्ष ने जब प्रेम के त्यागधर्म को स्वीकार किया था उस समय समाज उसी तरह विकसित हुआ था जैसे आज योरोप में हो रहा है। उस समय भारत में रोगियों के लिए औषध-पथ्य की व्यवस्था थी, यहाँ तक कि पशुओं के लिए भी चिकित्सालय स्थापित हुए थे। जीव-मात्र के दुःखनिवारण की चेष्टा विविध प्रकारों से की जाती थी। उस समय अपने प्राण और आराम को तुच्छ समझकर धर्म के आचार्य, दुर्गम मार्गों पर चलते हुए, विदेशियों और बर्बर जातियों की सद्गति के लिए दुःख वहन करते थे। उन दिनों भारत में प्रेम का दुःखरूप विकसित हुआ था और उसने भक्तों को वीर्यशाली मनुष्यत्व की दीक्षा दी थी। इसीलिए भारत ने उस समय धर्म के द्वारा केवल अपनी आत्मा पर ही नहीं समस्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त की थी, और आध्यात्मिकता के तेज से ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति को सम्मिलित रूप से उपलब्ध किया था।

उस समय योरोप की क्रिश्चियन सभ्यता स्वप्नातीत थी। भारत के उस आत्म-त्यागपरायण प्रेम की उज्ज्वल दीप्ति आज कृत्रिमता और भावरसावेश से आच्छन्न है। लेकिन क्या वह बिलकुल ही बुझ गई है ? बाहर कहीं यदि वैसी ही प्रेमदीप्ति दिखाई पड़े तो क्या उसे अपने अतीत काल की उज्ज्वलता स्मरण नहीं हो उठेगी ? आज जो दीप्ति दूसरे के घर में विराज रही है उसे क्या भारत की चेतना अपनी सामग्री नहीं समझेगी ? हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शक्ति की अग्नि जहाँ प्रचुर मात्रा में जलती है वहाँ राख भी अधिक जमा हो जाती है। निर्जीवता में उत्ताप कम होता है, उसका दायित्व सामान्य होता है, उसकी दुर्गति-मूर्ति प्रशान्त होती है। यह बात माननी पड़ेगी कि अशान्ति का क्षोभ और पाप की प्रचण्डता जिस तरह योरोपीय समाज में देखी जाती है वैसी हमारे देश में नहीं है।

लेकिन योरोप के लोग इस अशान्ति और पाप को उदासीन भाव से स्वीकार नहीं कर लेते। उनसे योरोप का चित्त अभिभूत नहीं हुआ वरन् नित्य जागृत रहा है। मलेरिया-वाहक मच्छर से लेकर सामाजिक पाप तक सभी असुरों के विरुद्ध वहाँ संघर्ष चलता रहा है। भाग्य पर जिम्मेदारी सौंपकर वहाँ कोई बैठा नहीं रहता। अपने प्राणों को संकट में डालकर लोग वीरतापूर्वक संग्राम करते हैं। कुछ दिन हुए मैंने 'London Police Courts' शीर्षक एक किताब पढ़ी थी। इस ग्रन्थ में राजधानी लन्दन के अँधेरे निम्न जगत् में जो दारिद्रय और पाप है उसका वर्णन है। यह चित्र बड़ा दारुण है; लेकिन इसमें क्रिश्चियन साधकों का अद्भुत धैर्य और करुणापरायण प्रेम भी समस्त बीभत्सता से ऊपर उठकर उज्ज्वल रूप में प्रकाशित हुआ है। गीता में कहा है, थोड़ा-सा धर्म भी महान् भय से हमारा परित्राण करता है। किसी समाज में जब तक धर्म सजीव है, उस धर्म को दुर्गति की अपेक्षा बड़ा मानना होगा, चाहे दुर्गति की मात्रा कितनी ही अधिक क्यों न हो।

योरोप में दुर्बल देशों के प्रति न्यायधर्म की विडम्बना हम देखते हैं। लेकिन साथ-ही-साथ इस निष्ठुरता, अहंकार और लालच के प्रति धिक्कार और भर्त्सना भी सुनाई पड़ती है। अन्याय का विरोध और प्रतिकार करने वाले साहसी वीर भी वहाँ अनेक हैं। परकीय जातियों का पक्ष अवलम्बन करके कष्ट सहने में जो कुण्ठित नहीं होते, ऐसे दृढ़निष्ठ साधु व्यक्तियों का वहाँ अभाव नहीं। हमारे देश में बहुत-से लोग इस चेष्टा में प्रवृत्त हैं कि भारत को राज्य-शासन के क्षेत्र में प्रशस्त अधिकार मिले। लेकिन इन लोगों को दीक्षा देने वाले कौन हैं ? इसके वास्तविक सहायक कौन हैं ? अपने बांधवों का उपहास और विरोध स्वीकार

करते हुए स्वजाति की स्वार्थपरता का क्षेत्र किसने संकीर्ण किया है? योरोप के ही कुछ लोगों ने यह सब किया है। उन्होंने धर्म की दुहाई देकर अपने देश के लोगों को स्वार्थ का मार्ग छोड़ने के लिए कहा है। वे गिनती में थोड़े हैं। लेकिन सत्य-दृष्टि से देखा जाय तो उनकी संख्या हमें अल्प नहीं लगती, क्योंकि उन्हींके बीच उनका अन्त नहीं है। देश में उनकी एक परम्परा है, जो कभी गोचर होती है कभी अगोचर। वे सभी एक ही समय या एक ही जैसा काम नहीं करते, लेकिन समाज की आन्तरिक न्याय-शक्ति उनमें ही है। वे ही 'क्षत्रिय' हैं। पृथ्वी के समस्त दुर्बलों को विनाश से बचाने के लिए उन्होंने कवच धारण किया है। उनके स्वर्गस्थ गुरु ने दुःख से मनुष्य का उद्धार करके के लिए दुःख वहन किया था, मनुष्य को मृत्यु से अमृतलोक की ओर ले जाने के लिए स्वयं मृत्यु को स्वीकार किया था। उसी गुरु के दुर्गम, अपमानित, रक्तरंजित पथ पर वे चल रहे हैं। उनका जीवन समस्त जाति के चित्तप्रान्तर के बीच बहने वाली अमृत-मन्दाकिनी धारा है।

हम सर्वदा यह कहकर अपनी सान्त्वना करते आए हैं कि हमारा देश आध्यात्मिक है, धर्मनिष्ठ है; वाह्य विषयों की हमें परवाह नहीं है, और इसीलिए उस क्षेत्र में हम दुर्बल हैं। बाह्य जीवन में हमारा जो दैन्य है उसके विषय में अपनी लज्जा को हम इस तरह छिपाना चाहते हैं। कुछ लोग तो बड़ी शान से यहाँ तक कहते हैं कि दारिद्र्य ही हमारा भूषण है।

लेकिन जिनके पास ऐश्वर्य पर अधिकार करने की शक्ति है उन्हींके लिए दारिद्र्य भूषण हो सकता है। जिसका कुछ मूल्य ही नहीं उसे भूषण नहीं कहा जा सकता। त्याग का दारिद्र्य भूषण है, अभाव का दारिद्र्य भूषण नहीं। शिव का दारिद्र्य भूषण है, दुर्भाग्यदेवी के दारिद्र्य में केवल कृपणता है। जो पेटभर भोजन नहीं पाते और इसीलिए सर्वदा क्लान्त और मलिन हैं; जो किसी तरह जीवित रहना चाहते हैं, लेकिन जीवन के कठिन उपायों को ग्रहण करने की शक्ति न होने से जिन्हें बार-बार धूल में लोटना पड़ता है; जो निर्धन कहलाते हैं लेकिन अवसर पाते ही दूसरे निर्धनों का शोषण करते हैं; जो दुर्बल हैं, लेकिन शक्ति पाते ही दूसरे निर्बलों पर आघात करते हैं—ऐसे लोगों का दारिद्र्य कदापि भूषण नहीं है।

अपने दुःख, दारिद्र्य और अपमान को धर्मनिष्ठा का पुरस्कार कहकर हम आध्यात्मिकता के क्षेत्र को विस्तृत नहीं बना सकते। हमने आध्यात्मिकता को व्यक्तिगत भक्ति-साधना के बीच आबद्ध कर दिया है, उसके आह्वान से हम मानव-मात्र में ऐक्य स्थापित नहीं कर सके। हमने समाज-शासन की अंधशक्ति

से विधि-विधान के साँचे में मनुष्य की विचार-क्षमता को, उसकी स्वाधीन मंगल-वृद्धि को, पीस डाला है। धर्मबोध की संकीर्णता और अचैतन्य से हम जड़पिण्ड बन गए हैं, दासत्व के अधिकारी बन गए हैं। हम अभी तक यह सोचते हैं कि कानून के द्वारा हमारी दुर्गति दूर होगी, शासन सभा में आसन मिलने से हम मनुष्य हो उठेंगे। लेकिन राष्ट्रीय सद्गति मशीन की सामग्री नहीं है; मनुष्य की आत्मा जब तक अपने भीतर से उसका पूरा मूल्य चुकाने के लिए प्रस्तुत नहीं है तब तक 'नान्य : पन्था विद्यते अयनाय'।

इसलिए मैं कह रहा था कि तीर्थयात्रा का संकल्प करके ही यदि योरोप जाना पड़े तो यात्रा निष्फल नहीं होगी। वहाँ भी हमारे गुरु हैं, जिनमें मानव-समाज की अन्तरतम दिव्यशक्ति है। गुरु को श्रद्धापूर्वक संधान करके प्राप्त करना होता है.आँखें खोलते ही वह नहीं मिल जाता। योरोपीय समाज का जो प्राण-पुरुष है उसे अन्धतावश या अहंकारवश न देखकर ही हम लौट सकते हैं। यह अद्भुत धारणा भी हम अपने साथ ला सकते हैं कि इंग्लैंड का जो कुछ प्रताप है वह पार्लमेंट की दृष्टि है, योरोप का ऐश्वर्य केवल कारखानों में प्रस्तुत है और पाश्चात्य महादेश का सारा माहात्म्य युद्ध के अस्त्रों में, तिजारती जहाजों में और विभिन्न वस्तुओं के ढेर में ही है। जिसके मन में शक्ति की सत्य अनुभूति नहीं है वह सोचता है कि शक्ति बाहर की चीज़ है और यदि किसी सुयोग से उस पर अधिकार कर लिया जाय तो हर तरह का अभाव दूर हो सकता है। लेकिन 'येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्'—यह योरोप का भी आन्तरिक विचार है। योरोप भी निश्चित रूप से जानता है कि रेल, टेलिग्राफ या कारखानों के कारण वह महान् नहीं है। इसीलिए योरोप ने वीरतापूर्वक सत्यव्रत ग्रहण किया है, सत्य के लिए वह धन और प्राण का उत्सर्ग कर रहा है। जब वह ग़लतियाँ करता है, जब उसका कार्य व्यर्थ होता है, तब द्विगुणित उत्साह के साथ वह फिर से उद्योग में जुट जाता है। किसी तरह वह हिम्मत नहीं हारता। कभी-कभी वह अमंगल का सामना करुता है, उसके मार्ग में संघर्ष की आग जल उठती है, समुद्र-मन्थन से कभी-कभी विष भी बाहर निकलता है, लेकिन जो हीन है उसे वह किसी हालत में स्वीकार नहीं करता। उसके पास अस्त्र-शस्त्र हैं, निर्भीक सेना है, और सत्य की दीक्षा से उसने प्रचण्ड बल प्राप्त किया है।

सत्य के सामने हम आलस्य प्रदर्शित करते हैं, सत्य की साधना में हम उदासीन हैं, छोटे-छोटे बन्धनों में हम आपादमस्तक जकड़ गए हैं, इन्हीं बन्धनों को हम आश्रय मानते हैं। इसीलिए जब विपत्ति का दिन समीप होता है, जब सत्य मार्ग के अतिरिक्त हमारा कोई चारा नहीं होता, उस समय हम अपने-

आपको जागृत नहीं कर पाते, अपना त्याग नहीं कर पाते। उस समय भी खेल को हम काम समझते हैं, नक़ल करके असली फल की प्रत्याशा करते हैं। अपने कृत्रिम उत्साह को हम सतेज नहीं रख पाते, शुरू किये गए कामों को पूर्ण नहीं कर पाते, तात्विकता और भावुकता के जाल में फँसकर बार-बार हमारा जीवन व्यर्थ होता है। इसलिए सत्य के दायित्व को वीर की तरह अन्तःकरण से स्वीकार करने की दीक्षा, सत्य के प्रति अविचलित प्राणान्तक निष्ठा, जीवन की समस्त श्रेष्ठ सम्पदा को दुःख का मूल्य देकर अर्जन करने का निश्चय, बुद्धि-हृदय-कर्म सभी दिशाओं से मनुष्य का कल्याण-साधन, और मनुष्य के प्रति श्रद्धा द्वारा दुःसाध्य सेवाव्रत—इन सबको स्वीकार करने के लिए यदि तीर्थ-यात्री योरोप चले तो उसका भ्रमण कभी निष्फल नहीं हो सकता। लेकिन उसके मन में श्रद्धा होना आवश्यक है और सर्वांगीण मनुष्यत्व की परिपूर्णता में ही आध्यात्मिक सफलता का सच्चा परिचय ढूँढ़ना आवश्यक है।

मैं जानता हूँ, योरोप के साथ एक दिशा में हमारे स्वार्थ का संघर्ष हुआ है और इस संघर्ष से हमें अन्दर-बाहर तीव्र वेदना सहनी पड़ी है। यह वेदना हमारे आध्यात्मिक दैन्य का ही दुःख है, हमारे सञ्चित पाप का ही प्रायश्चित्त है—फिर भी है तो यह वेदना। जिनमें हमें यह वेदना मिली है उनकी क्षुद्रता और निष्ठुरता का परिचय हमने कई तरह से प्राप्त किया है। हमने यह भी देखा है कि हमें वेदना पहुँचाने वाले अक्सर कपटपूर्वक अपनी नीचता छिपाते हैं और अन्य देशों के माहात्म्य को अन्धता और अहंकारवश अस्वीकार करते हैं। इसीलिए अपनी इस वेदना को लेकर हम योरोप के सत्य को देख नहीं पाते; उस सत्य को ग्रहण करने के मार्ग में हमारा हृदय बाधाओं का अनुभव करता है। उन लोगों के धर्म पर भी हम विश्वास नहीं करते, उनकी सभ्यता को वस्तुजालजड़ित स्थूल पदार्थ कहकर उसकी निन्दा करते हैं। हमें यह भी डर लगा रहता है कि प्रबलता को पूजा के आसन पर बिठाकर कहीं हम अपने-आप को अपवित्र न कर लें; कहीं अपने गौरव और दूसरों के गौरव को साथ-साथ ग्रहण करने में हम असफल न हो जायँ; कहीं हम आत्मविश्वास के अभाव से अपना सत्य विसर्जित करके अनुसरण की शून्यता में न पड़ जायँ; कहीं हम दूसरे के शरीर की छाया और ध्वनि की प्रतिध्वनि बनकर विश्व में अपने-आपको व्यर्थ न बना डालें; कहीं हमें यह भ्रम न हो जाय कि दूसरों को स्वीकार करते हुए अपने को अस्वीकार करना ही यथार्थ औदार्य है।

ये सब विपत्तियाँ हमारे सामने हैं, इसीलिए इस पथ पर किये गए सत्य संधान को मैं तीर्थयात्रा कहता हूँ। हमें सारे असत्य को पार करना होगा; बाधाओं के

दुःख को सहते हुए अग्रसर होना होगा; आत्माभिमान के व्यर्थ बोझ को पीछे छोड़ देना होगा; आत्मगौरव के पाथेय की यत्नपूर्वक रक्षा करते हुए चलना होगा। वास्तव में विपत्तियों के द्वारा ही हम इस तीर्थयात्रा के पूर्ण फललाभ की आशा कर सकते हैं, क्योंकि जो सहज ही मिल जाता है उसे हम सचेतन भाव से ग्रहण नहीं करते। किसी महान् लाभ की यथार्थ सफलता चेतना के पूर्णतर विकास में है। हम जो कुछ भी सत्यभाव से प्राप्त करते हैं उसके द्वारा अपने-आपको सत्य रूप में उपलब्ध करते हैं। यदि ऐसा न कर सकें, यदि बाहर की वस्तु को बाहर से ही प्राप्त करें, तो वह वस्तु हमारे लिए माया है, मिथ्या है।

[२४ अप्रैल, १९१२ (११ वैशाख, १३१९ बँगला सम्वत्) को इंग्लैंड प्रस्ताव के समय शान्तिनिकेतन मन्दिर में दिया गया भाषण। 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' (आषाढ़, १३१९) १९१२ में प्रकाशित। अगस्त, १९३९ में 'पथेर संचय' पुस्तक में प्रकाशित।]

मेरी दुनिया

रात्रि पृथ्वी के खुले बालों की तरह है, जो पीठ ढककर एड़ी तक लटकते हैं। लेकिन नक्षत्र-जगत् लक्ष्मी के शुभ्र ललाट पर वह एक काले तिल के बराबर भी नहीं है। इन तारिकाओं में से कोई यदि अपनी साड़ी से इस कालिमा को पोंछ दे, तो आँचल में जो दाग़ लगेगा वह इतना छोटा होगा कि किसी निन्दक की सूक्ष्म दृष्टि को भी दिखाई नहीं पड़ेगा।

रात्रि धरती-माता के नवजात, श्यामल शिशु की तरह है। पालने के पास लक्षावधि तारे चुपचाप निश्चल खड़े हैं। शिशु की नींद कहीं खुल न जाय, इस डर से वे ज़रा भी नहीं हिलते।

मेरे वैज्ञानिक मित्र इससे अधिक नहीं सुन सके। कहने लगे: 'तुम किस वेटिंग-रूम की आरामकुर्सी पर पड़े सो रहे हो? उधर बीसवीं सदी के विज्ञान की रेलगाड़ी सीटी बजाकर चल पड़ी है। तारे गतिहीन होते हैं, यह कैसी बात तुम कह रहे हो? यह तो निरा कवित्व है।'

मैं कहना चाहता था—'तारे गतिशील होते हैं, यह बात भी निरा वैज्ञानिकत्व है।' लेकिन आज के युग में यह तो जय-जयकार ही लगता!

कवित्व के कलंक को मैं स्वीकार करता हूँ। यह कालिमा भी पृथ्वी पर उतरने वाली रात्रि की तरह है। इसके सिरहाने विज्ञान का जगद्विजयी दीप है लेकिन वह उसके शरीर पर हाथ नहीं उठाता—स्नेह से कहता है, 'आहा, स्वप्न देखने दो इसे।'

मैं कहता हूँ कि तारे चुपचाप खड़े हैं यह बात मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। यहाँ तर्क करने का प्रश्न ही नहीं है।

विज्ञान कहता है, तुम बहुत दूर से देख रहे हो, इसीलिए कहते हो कि तारे स्थिर हैं। लेकिन यह सत्य नहीं है।

मैं कहता हूँ, तुम बहुत अधिक पास से देखते हो और कहते हो वे गतिशील हैं। लेकिन यह बात सच नहीं है।

विज्ञान नाराज़ होकर कहता है, इसका मतलब?

मैं भी नाराज़ होकर उत्तर देता हूँ, यदि निकट का पक्ष लेकर तुम दूर को भला-बुरा कह सकते हो तो मैं दूर का पक्ष लेकर निकट की निन्दा क्यों नहीं कर सकता?

विज्ञान कहता है, जब दो पक्ष एक-दूसरे के बिलकुल ही विपरीत बातें करते हैं तो उनमें से किसी एक पक्ष की बात ही मानी जायगी।

मैं कहता हूँ, तुम तो इसे स्वीकार करते नही। जब दुनिया को गोलाकार कहते हो, उस समय तुम बड़ी आसानी से 'दूर' की दुहाई देते हो—कहते हो, हम वहुत करीब से देखते हैं इसीलिए दुनिया समतल लगती है, जो कि एक भ्रम है। उस समय तुम्हारा तर्क होता है कि करीब से केवल अंश को देखा जाता है. दूर गए बिना समग्र को हम देख नहीं सकते। तुम्हारी यह बात मानने के लिए मैं तैयार हूँ। इसीलिए तो मनुष्य को अपने बारे में मिथ्या गर्व है, क्योंकि वह अपने-आपको बहुत करीब से देखता है। तभी शास्त्रों में कहा है, जो अपने को दूसरों के बीच देखता है वही सत्य देखता है—अर्थात् अपने से दूर हुए बिना अपना गोलाकार विश्वरूप देखा नहीं जा सकता।

जब 'दूर' की तुम यहाँ तक परवाह करते हो तो किस मुँह से कहते हो कि तारागण इधर-उधर दौड़ रहे हैं? मध्याह्न-सूर्य को देखने के लिए काले शीशे की ज़रूरत होती है। विश्व-लोक के ज्योतिर्मय, दु:सह स्वरूप को हम समग्रता से देख सकें, इसीलिए पृथ्वी ने रात्रि का काला पर्दा हमारी आँखों पर डाला है। उसके बीच से हम क्या देखते हैं? यही कि समस्त नीरव है, शान्त है—इतना शान्त और नीरव कि हमारी आतिशबाज़ी के चक्र और अनार निडर होकर विश्वलोक का उपहास करते हैं।

जब हम सारे नक्षत्रों को एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित देखते हैं, तो हम समझते हैं कि वे अविचल हैं, स्थिर हैं—गजमुक्ता के सात लड़ियों के मुक्ताहार की तरह। जब ज्योतिर्विद्या इस सम्बन्ध-सूत्र को विच्छिन्न करके किसी विशेष नक्षत्र पर दृष्टि डालती है, तब वह कहती है कि नक्षत्र गतिशील हैं—और हार से अलग होकर बिखर जाते हैं।

मुश्किल यह है कि, किसकी बात पर विश्वास करें? विश्वतारा अन्धकार के मंच पर खड़ा जो गवाही दे रहा है वह नितान्त सरल है—उसकी ओर एक बार आँख उठाकर हमें देखना है, और कुछ कहना नहीं है। लेकिन दो-एक तारे विश्वासन से नीचे उतरकर, गणित शास्त्र की गुहा में झाँककर जो कहते हैं, वह कुछ और ही बात है। अपने दल से सम्बन्ध तोड़कर कुछ लोग पुलिस-मजिस्ट्रेट के प्राइवेट कमरे में जाकर अपने साथियों के बयान के विरुद्ध सूचना देते हैं। लेकिन ऐसे 'एप्रूवर' लोगों को ही सत्यवादी मानना पड़ेगा, यह बात नहीं।

ये 'एप्रूवर' लोग बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहते हैं, और ऐसी बातें प्रभावशाली होती हैं। समस्त पृथ्वी कहती है: 'मैं गोलाकार हूँ', लेकिन हमारे पाँव-तले जो

ज़मीन है वह कहती है : मैं समतल हूँ'। पैर के नीचे की ज़मीन जो कहती है उसमें अधिक शक्ति है, क्योंकि वह बार-बार अपना अस्तित्व जताती है। उसकी बातों से हमें तथ्य मिलता है, अर्थात केवल आंशिक सूचना मिलती है, लेकिन पृथ्वी जो कहती है उसमें हमें सत्य मिलता है, अर्थात् समग्र की सूचना मिलती है।

मेरा कहना यह है कि इनमें से किसी बात को हम अस्वीकार नहीं कर सकते—दोनों की ज़रूरत है। तथ्य न हो तो हमारा काज-कर्म बन्द हो जाय, सत्य न हो तो हमारा परित्राण नहीं। हमारा जो कुछ व्यवहार है, निकट और दूर दोनों को लेकर है। इसमें से किसी पर भी यदि मिथ्या का आरोप लगायें, तो वह कलंक हमारे ही शरीर पर लगेगा।

इसीलिए यही कहा जाय कि दूर के क्षेत्र में तारे स्थिर हैं और निकट के क्षेत्र में गतिशील हैं, तो इसमें दोष ही क्या है? बिना दूर के निकट और बिना निकट के दूर, सिर-कटे धड़ की तरह है। दूर और निकट विभिन्न तथ्यों के स्वामी हैं, किन्तु क्या वे दोनों एक ही सत्य के अधीन नहीं ? इसलिए उपनिषद् में कहा गया है—

'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।'

वह सचल है और अचल है, दूर है और निकट है—ये दोनों बातें एक साथ सत्य हैं। अंश को भी मानना है, समस्त को भी—लेकिन समग्रहविहीन अंश घोर अंधकार है, और अंशविहीन समग्र उससे भी घोर अंधकार है।

आजकल के पण्डित कहते हैं, गति ही सब-कुछ है—ध्रुवत्व तो हमारी विद्या द्वारा सृष्ट माया है। अर्थात्, जगत् गतिशील है, लेकिन हमारे ज्ञान में हम उसे स्थिरत्व के सहारे खड़ा कर देते हैं; ऐसा न करें तो देखना या जानना सम्भव ही न हो; सचलता ही सत्य है, स्थिरत्व केवल विद्या की माया है। किसी समय पण्डित कहते थे 'ध्रुव' के अलावा और कुछ नहीं है, चंचलता तो अविद्या की सृष्टि है। जब तक पण्डित अपने-अपने पक्ष की वकालत करेंगे, उनमें विग्रह चलता रहेगा। लेकिन हमारी सरल बुद्धि जानती है कि चलना भी सत्य है और रुकना भी। अंश, जो निकटवर्ती है, गतिशील है; समग्र, जो दूर है, स्थिर है।

इस सम्बन्ध में एक उपमा का मैं पहले ही प्रयोग कर चुका हूँ। गायक जब गाता है, उसका गाना प्रतिक्षण सचल रहता है; लेकिन समग्र गान सभी क्षणों का अतिक्रमण करके स्थिर रहता है। किसी के गाने की क्रिया में जो सचल नहीं, वह गान ही नहीं—लेकिन जो क्रिया किसी गान के बीच स्थिर-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती वह गायन ही नहीं। गान और गायन के मिलन में जो सत्य है वही—

'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके'

'वह चलता भी है; नहीं भी चलता; दूर भी है, निकट भी।'

यदि एक पत्ते को मैं सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखूँ, तो वह विस्तृत आकाश में फैला हुआ दिखाई पड़ेगा। यंत्र को 'फोतस' करते-करते पत्ते का विस्तार इस सीमा तक पहुँचेगा कि अन्त में वह 'लेन्स' के बाहर चला जायगा। सीमित आकाश में जो चीज़ मेरे लिए 'पत्ता' है वह बहुत अधिक विस्तृत आकाश में अपना अस्तित्व ही खो देती है।

यह तो हुई देश की बात—लेकिन इसके अलावा 'काल' पर भी ध्यान देना है। जिस काल में मैं हूँ यह यदि ज्यों-का-त्यों रह सकता, पेड़ के उस पत्ते के सम्बन्ध में एक महीने को यदि एक मिनट के अन्दर ठूँसा जा सकता, तो पत्ता होने के पहले की अवस्था और पत्ता होने के बाद की अवस्था इतनी तेज़ी से एक-दूसरे में मिल जातीं कि मैं पत्ते को देख भी न सकता! जगत् में जो पदार्थ हमारे काल से भिन्न काल में हैं वे हमारे चारों ओर होते हुए भी हमें दिखाई नहीं पड़ते।

एक उदाहरण देकर इस बात को और स्पष्ट किया जा सकता है। गणित के क्षेत्र में अक्सर ऐसे असामान्य लोग मिलते हैं जो अत्यन्त दुरूह अंकों की गणना क्षण-भर में ही कर लेते हैं। गणना के सम्बन्ध में उनका चित्त जिस काल का आश्रय लेता है वह हमारे काल से बहुत अधिक तेज़-रफ्तार है। इसलिए जिस पद्धति से वे अंकफल तक पहुँचते हैं उसे हम देख भी नहीं सकते—और शायद वे स्वयं उसे देख नहीं सकते।

मुझे याद है, एक दिन दोपहर के वक्त मैं कुछ देर के लिए सो गया था। उस समय के अन्दर मैंने एक बहुत लम्बा स्वप्न देखा। मुझे भ्रम हुआ कि मैं बहुत देर तक सोया हूँ। पास के लोगों से पूछने पर पता चला कि मैं पाँच मिनट से ज़्यादा नहीं सोया था। स्वप्न के अन्दर का समय और स्वप्न के बाहर का समय—इन दोनों में पार्थक्य था। यदि इन दोनों कालखण्डों के विषय में मैं सचेत रह सकता तो शायद स्वप्न इतनी तेज़ी से मन के अन्दर से गुज़रता कि उसे पहचानना कठिन हो जाता—या स्वप्न-काल की रेलगाड़ी में यात्रा करते हुए स्वप्न बाह्य जगत् की रेलगाड़ी के बाहर के दृश्य की तरह पीछे की ओर भागता दिखाई देता; उस जगत् की किसी वस्तु पर दृष्टि स्थिर करना सम्भव न होता। अर्थात्, स्वभावतः जो गतिहीन है उसे भी गति मिल जाती।

दौड़ते हुए घोड़े के एक मिनट को यदि दस घण्टे बना दिया जाय तो हम घोड़े का पाँव उठते नहीं देखेंगे। घास प्रतिक्षण बढ़ती है, इसलिए हम उसका

विकास देख नहीं पाते—व्यापक काल के बीच उसका हिसाब लगाकर हम जानते हैं कि घास बढ़ रही है। वह व्यापक काल यदि हमारी बोधशक्ति से बाहर होता तो हमारी दृष्टि में घास भी पहाड़ की तरह अचल होती।

इस तरह हमारा मन जिस काल के ताल पर चलता है उसीके वेग के अनुसार हम देखते हैं कि बरगद का पेड़ निश्चल खड़ा है और नदी बहती जा रही है। हो सकता है, काल के परिवर्तन से हम बरगद को गतिशील और नदी को निस्तब्ध देखते !

इससे हम देख सकते हैं कि जिसे हम जगत् कहते हैं वह हमारे ज्ञान के योग पर निर्भर है। जब हम पर्वत, सूर्य चन्द्र देखते हैं, तो सोचते हैं कि जो बाहर है उसीको हम देख रहे हैं, और हमारा मन केवल एक दर्पण है। लेकिन हमारा मन दर्पण नहीं, वह सृष्टि का प्रधान उपकरण है। जिस क्षण हम देखते हैं उसी क्षण देखने के योग से, सृष्टि होती है। जितने मन हैं उतनी ही 'सृष्टियाँ' हैं। अवस्था परिवर्तन से मन की प्रकृति यदि बदल जाय तो सृष्टि भी दूसरी तरह की होगी।

हमारा मन, इन्द्रिय-योग से, धनदेश में स्थित वस्तुओं को एक तरह से देखता है, व्यापक देश की वस्तुओं को दूसरी तरह से; काल की द्रुतगति में एक तरह से देखता है, मन्दगति में दूसरी तरह से। इसी प्रभेद के अनुसार सृष्टि में विचित्रता है। आकाश के करोड़ों मील के फासले को हमारा मन गज़-भर में ही देख लेता है, और उस समय तारे एक-दूसरे से सटे हुए लगते हैं, स्थिर लगते हैं।

केवल तारों को ही नहीं, हमारा मन लोहे के परमाणुओं को भी निविड़ और स्थिर देखता है—यदि लोहे को वह व्याप्त आकाश में देखता तो ऐसा लगता कि परमाणु स्वतन्त्र होकर इधर-उधर दौड़ रहे हैं। इस विचित्र देश-काल के भीतर देखना ही सृष्टि की लीला को देखना है। इसीके द्वारा लोहा लोहा है, जल जल है, मेघ मेघ है।

लेकिन विज्ञान प्रत्येक वस्तु को घड़ी की सुइयों से निर्धारित काल में और टेप से नापे हुए फासले में देखना चाहता है। देश-काल का एक ही आदर्श मानकर वह समस्त सृष्टि की चर्चा करता है। पर यह एक ही आदर्श सृष्टि का आदर्श नहीं है। इसलिए विज्ञान सृष्टि को विश्लिष्ट कर देता है—और अन्त में अणु-परमाणु से गुज़रते हुए ऐसी जगह पहुँच जाता है जहाँ सृष्टि ही नहीं है। सृष्टि तो अणु-परमाणु नहीं—देश-काल के वैचित्र्य के बीच हमारा मन जो देखता है वही सृष्टि है। 'ईथर' का स्पन्दन सृष्टि नहीं, आलोक की अनुभूति ही सृष्टि है। बोध की उपेक्षा करके मुक्ति द्वारा हम जो देखते हैं वह प्रलय है; बोध द्वारा जो

देखते हैं वही सृष्टि है।

मेरे वैज्ञानिक मित्र अब मुझे मारने दौड़ेंगे ! वे कहेंगे, हमने बड़े परिश्रम से बोध को विज्ञान के क्षेत्र से अलग किया है, क्योंकि मेरा बोध एक बात कहता है, तुम्हारा बोध कोई दूसरी बात। और मेरा बोध भी अभी एक बात कहता है, किसी और समय कोई दूसरी बात कहेगा।

मैं कहता हूँ, यही तो सृष्टितत्त्व है। सृष्टि मशीन की नहीं, मन की है। मन को अलग करके सृष्टितत्त्व की चर्चा करना राम को अलग करके रामायण पढ़ने की तरह है।

वैज्ञानिक कहेंगे, यदि प्रत्येक मन अलग ढंग से सृष्टि करने लगे तब तो एक अजीब-सी चीज़ उत्पन्न होगी।

मैं कहता हूँ, ऐसा तो नहीं हुआ है : लाखों मन सृष्टि करते रहे हैं, लेकिन फिर भी हम देखते हैं कि वैचित्र्य के बावजूद उनका पारस्परिक योग बना हुआ है। तभी तो तुम्हारे शब्द मैं समझता हूँ और मेरे तुम समझते हो। यदि मेरा मन केवल मेरा ही होता, तो उसका दूसरों के मन से कोई योग न रह सकता। लेकिन मन जगत्व्यापी पदार्थ है—मुझमें बन्द होकर वह खण्डित नहीं हुआ है। सारे मनों के बीच एक ऐक्यतत्त्व है—यदि ऐसा न होता तो मनुष्य समाज की रचना न कर सकता और मानव-इतिहास का कोई अर्थ न होता।

वैज्ञानिक पूछते हैं—यह 'मन' पदार्थ क्या है, ज़रा हम भी सुनें ?

मैं जवाब देता हूँ, तुम्हारे 'ईथर' पदार्थ से यह कम आश्चर्यजनक या अनिवर्चनीय नहीं है। असीम जहाँ सीमा को ग्रहण करता है, वही है मन की दिशा। उसी दिशा में देश-काल है; वहीं रूप-रस-गंध है; वहीं बहुत्व है; वहीं असीम का प्रकाशन है।

वैज्ञानिक कहते हैं—असीम की सीमा ! जब कवि लोग इन सब बातों की चर्चा करने लगें, तब तो कविराज को बुलाना होगा !

मेरा उत्तर है—यह चर्चा आज की नहीं, बहुत पुरानी है। पागलों का वंश सनातन काल से चला आ रहा है। तभी प्राचीन ऋषि ने कहा है—

'अधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो यउ विद्यायां रता :।'

जो अनन्त को छोड़कर अन्त की उपासना करता है वह अंधकार में डूबता है। और जो अन्त को छोड़कर अनन्त की उपासना करता है वह उससे भी अधिक घने अंधकार में डूबता है।

'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदो भयं सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।'

अन्त और अनन्त को जो एकत्र देखता है वह अन्त के बीच से मृत्यु को उत्तीर्ण करके अनन्त के बीच अमरत्व प्राप्त करता है।

पर यह बात भी सच है कि ससीम-असीम का भेद बिलकुल ही मिटाकर देखना उचित नहीं है। अन्त और अनन्त में पार्थक्य भी है—पार्थक्य यदि न होता तो सृष्टि कैसे होती ? इसीलिए जहाँ असीम अपने को सीमा से संकुचित करता है वहीं उसकी सृष्टि है, वहीं उसका बहुत्व है—लेकिन इससे वह अपनी असीमता को त्याग नहीं देता।

अपने ही अस्तित्व के बारे में सोचने से यह बात स्पष्ट होगी। मैं अपने चलने-फिरने में, बातचीत में, प्रतिक्षण अपने-आपको व्यक्त करता हूँ—यह व्यक्तीकरण अपने-आपकी दृष्टि है। लेकिन इस प्रकाशन को मेरा अपनापन कई तरह से अतिक्रमण भी करता है। मेरी एक दिशा में 'अन्त' है, दूसरी दिशा में 'अनन्त'। मेरा 'अव्यक्त मैं' मेरे 'व्यक्त मैं' के योग से सत्य हुआ है—पर मेरा 'व्यक्त मैं' भी मेरे 'अव्यक्त मैं' के साथ मिलकर ही सत्य है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'मैं' आया कहाँ से ? वह भी मेरा सम्पूर्ण अपना नहीं है। असीम जहाँ अपने को सीमित करता है वहीं अहंकार है। 'सोऽहमस्मि'। वहीं वह भी है, मैं भी हूँ। असीम की वाणी, अर्थात् सीमा के बीच असीम की अभिव्यक्ति ही 'अहमस्मि' है। मैं हूँ—जहाँ 'होने' का पर्याय आरम्भ होता है, वहीं मेरा पर्याय है। समस्त सीमा के बीच असीम कहता है—'अहमस्मि'। 'मैं हूँ'—यही है सृष्टि की भाषा।

यह एक 'मैं हूँ' लक्षावधि 'मैं हूँ' में फैला हुआ है, फिर भी उसकी सीमा नहीं। मेरा 'मैं हूँ' उस महान् 'मैं हूँ' का आविर्भाव है, लेकिन मुझमें ही उसके आविर्भाव की समाप्ति नहीं हो जाती। वह मेरे 'मैं हूँ' में है और मेरे 'मैं हूँ' का अतिक्रमण भी करता है। इसीलिए अनगिनत 'मैं हूँ' के बीच योग का पथ खुला है। तभी उपनिषद् में कहा है—जो सर्व भूतों में आत्मा को और आत्मा में सर्वभूतों को देखते हैं वे छिपे नहीं रहते। अपने विषय में वही अनभिज्ञ है जो केवल अपने को 'अपना' कहता है, अन्य को 'अपना' नहीं जानता।

तत्त्वज्ञान पर मेरा कोई अधिकार नहीं, उस पक्ष से मैं कुछ कहता भी नहीं। मैं एक निर्बोध मनुष्य हूँ—वैचित्र्य पर मेरा विश्वास है, और विश्व पर मैं सन्देह नहीं करता। मैं अपनी प्रकृति के आधार पर जानता हूँ कि दूर और निकट दोनों सत्य हैं, स्थिति और गति दोनों सत्य हैं। अणु-परमाणु तार्किक क्रियाओं से

विश्लिष्ट होकर, इन्द्रियों का और मन का आश्रय खोकर, धीरे-धीरे आकार के आयतन से परे प्रलय सागर के किनारे पहुँच जाते हैं—यह बात मुझे न विस्मयजनक लगती है, न मनोहर। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आकार का फ़व्वारा निराकार के हृदय से फूट निकलता है और किसी तरह रुकना नहीं चाहता। मैं यह देखता हूँ कि जिस दिन मेरा हृदय प्रेम से परिपूर्ण होता है उस दिन सूर्य-किरणों की उज्ज्वलता बढ़ जाती है, चन्द्रलोक का माधुर्य घनीभूत हो जाता है, सारे जगत् का ताल और स्वर नई तान में, नई लय में बज उठता है। इसीसे मैं जान सकता हूँ कि जगत् मेरे मन में, मेरे हृदय में ओत-प्रोत है। जिन दो सत्ताओं के योग से सृष्टि होती है उनमें से एक है मेरा हृदय। जब भी मैंने वर्षा का गीत गाया है, उस मेघ-मल्हार में जगत् की सारी वर्षा का अश्रुपात-स्वर नई भाषा और अपूर्व वेदना से पूर्ण हुआ है। चित्रकार की कलाकृति और कवि के काव्य में विश्व-रहस्य का नया रूप और नया वेश दिखाई पड़ा है—उसी से मैंने जाना है कि जगत् का जल-स्थल-आकाश मेरे हृदय के तन्तुओं से बुना गया है; यदि ऐसा न होता तो मेरी भाषा के साथ उसकी भाषा का कोई योग न होता; गान मिथ्या होता, कवित्व मिथ्या होता, विश्व स्वयं मूक होता और मेरे मन को भी मूक रखता। कवियों और गुणी-जनों का काम है कि जो लोग भूल गए हैं उन्हें इस सत्य की याद दिलाना—जगत् मैं हूँ, जगत् मेरा है, वह रेडियो-तरंगों का कम्पन मात्र नहीं है। तत्त्वज्ञान और विज्ञान अपनी-अपनी बातें कहते हैं, लेकिन कवि कहता है : 'मेरी हृदय-वीणा के तारों पर उस्ताद जो बजा रहे हैं वह विश्व-संगीत ही है।'

वीणा में एक ही तार नहीं है। लाखों तार हैं, लाखों सुर हैं—लेकिन विभिन्न तारों में विरोध नहीं है। हृदय की वीणा जड़ यन्त्र नहीं है, प्राणवान है; इसीलिए वह एक ही बँधा हुआ सुर नहीं बजाती। उसका स्वर विस्तारित होता है, सप्तक बदल जाता है, तार बढ़ते जाते हैं। उसको लेकर जिस जगत् की सृष्टि होती है वह कहीं स्थिर नहीं है, वह कहीं जाकर रुकेगा नहीं। महारसिक इस हृदय-वीणा से नया-नया रस ले जाता है और इसका समस्त सुख-दुःख सार्थक कर देता है। मैं धन्य हूँ, जो मैं रास्ते की सराय में नहीं रहता और न राजप्रासाद के एक कमरे में मेरा निवास निर्दिष्ट है। मेरा स्थान ऐसे जगत् में है जिसकी सृष्टि मैंने अपने-आपको देकर की है। इसलिए यह पंचभूत का या चौसठ भूतों का अड्डा नहीं है—यह मेरे हृदय का नीड़ है, मेरे प्राण का लीलाभवन है, मेरे प्रेम का मिलन-तीर्थ है।

[जुलाई १९१४ में लिखित। 'सबुज पक्ष' सितम्बर-अक्टूबर १९१४ में प्रकाशित। 'संचय' पुस्तक में जुलाई १९१६ में समाविष्ट। जिस समय यह लिखा गया उन दिनों साहित्य में यथार्थवाद तथा आदर्शवाद के विषय में उत्कट द्वन्द्व चल रहा था।]

मानव-सत्य

हमारी तीन जन्मभूमियाँ हैं, और तीनों एक-दूसरे से मिली हुई हैं। पहली जन्मभूमि है पृथ्वी—मनुष्य का वासस्थान पृथ्वी पर सर्वत्र है। ठण्डा हिमालय और गर्म रेगिस्तान, दुर्गम उत्तुंग पर्वत-श्रेणी और बंगाल की तरह समतल भूमि—सभी जगह मानव का निवास है। मनुष्य का वासस्थान वास्तव में एक ही है—अलग-अलग देशों का नहीं, सारी मानव जाति का। मनुष्य के लिए पृथ्वी का कोई अंश दुर्गम नहीं—पृथ्वी ने उसके सामने अपना हृदय मुक्त कर दिया है।

मनुष्य का द्वितीय वासस्थान है स्मृतिजगत्। अतीत से पूर्वजों का इतिहास लेकर वह काल का नीड़ तैयार करता है—यह नीड़ स्मृति की ही रचना है। यह किसी विशेष देश की बात नहीं है, समस्त मानव-जाति की बात है। स्मृतिजगत् में मानव-मात्र का मिलन होता है। विश्व-मानव का वासस्थान एक ओर पृथ्वी है, दूसरी ओर सारे मनुष्यों का स्मृतिलोक। मनुष्य समस्त पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करता है और समस्त इतिहास में भी।

उसका तृतीय वासस्थान है आत्मलोक। इसे हम मानवचित का महादेश कह सकते हैं। यही चित्तलोक मनुष्यों के आन्तरिक योग का क्षेत्र है। किसी का चित्त संकीर्ण दायरे में आबद्ध है, किसी के चित्त में विकृति है—लेकिन एक ऐसा व्यापक चित्त भी है जो विश्वगत है, व्यक्तिगत नहीं। उसका परिचय हमें अकस्मात ही मिल जाता है—किसी दिन अचानक वह हमें आह्वान देता है। मनुष्य अकस्मात् सत्य के लिए प्राण त्यागना चाहता है। साधारण व्यक्ति में भी देखा जाता है कि जहाँ वह स्वार्थ भूल जाता है, प्रेम करता है, अपने-आपको क्षति पहुँचाता है, वहाँ उसके मन का एक ऐसा पक्ष है जो 'सर्वमानव' के चित्त की ओर ओर प्रवृत्त है।

मनुष्य विशेष प्रयोजनों के कारण घर की सीमाओं में बद्ध है, लेकिन महाकाश के साथ उसका सच्चा योग है। व्यक्तिगत मन अपने विशेष प्रयोजनों की सीमा से संकीर्ण होता है, लेकिन उसका वास्तविक विस्तार सर्वमानव-चित्त में है। वहाँ की अभिव्यक्ति आश्चर्यजनक है। एक आदमी के पानी में गिरते ही दूसरा उसे बचाने के लिए कूद पड़ता है। दूसरे की प्राण-रक्षा के लिए मनुष्य अपना प्राण संकट में डाल सकता है। जिसके लिए अपनी सत्ता ही सब-कुछ है वह कहेगा, 'अपनी जान है तो वंश का नाम है।' लेकिन ऐसा भी हम देखते हैं कि

मनुष्य अपनी रक्षा को ही सबसे बड़ी चीज़ नहीं गिनता। इसका कारण यही है कि प्रत्येक मनुष्य की सत्ता दूसरों की सत्ता से जुड़ी हुई है।

मेरा जन्म ऐसे परिवार में हुआ जिसका धर्म-साधन एक विशेष प्रकार का था। उपनिषद्, मेरे पितृदेव की अभिज्ञता, और अन्य साधकों की साधना—इन सबसे मिलकर हमारी पारिवारिक साधना का निर्माण हुआ। मैं अपने पिता का कनिष्ठ पुत्र हूँ। जातकर्म से लेकर मेरे सभी संस्कार वैदिक मन्त्रों से अनुष्ठित हुए, यद्यपि वे ब्राह्मत के अनुसार भी अवश्य थे। मैं स्कूल से भागने वाला बालक था। जो भी जगह घिरी हुई होती है, वहाँ मेरा मन नहीं लगता। जो अभ्यास बाहर से लादा जाता है उसे मैं ग्रहण नहीं कर पाता। लेकिन मेरे पितृदेव ने इस विषय में मेरी कभी भर्त्सना नहीं की। उन्होंने स्वयं स्वाधीनता के साथ पूर्वजों के संस्कारों का त्याग किया था। गम्भीर-से-गम्भीर जीवन-तत्त्व के सम्बन्ध में मैं आजादी से सोचता था। यह बात माननी होगी कि मेरा यह स्वातन्त्र्य कभी-कभी उन्हें दु ख पहुँचाता था—फिर भी उन्होंने कभी कुछ कहा नहीं।

बचपन में उपनिषदों के कई अंश, पुनरावृत्ति करते-करते, मुझे याद हो गए थे। उनमें से सभी तो मैं ग्रहण नहीं कर सका--श्रद्धा थी, लेकिन शायद भक्ति नहीं थी। उसी समय मेरा उपनयन हुआ। मुझे गायत्री मन्त्र दिया गया—केवल मौखिक भाव से नहीं, मैंने इस मन्त्र को बार-बार दुहराया है और पितृदेव से उसके ध्यान का अर्थ भी समझा है। मेरी आयु बारह वर्ष की रही होगी। इस मन्त्र के विषय में चिन्तन करते-करते मुझे लगता कि विश्व के और मेरे अस्तित्व में आत्मिकता है। भूर्भुवः स्वः—इस भूलोक के साथ, अन्तरिक्ष के साथ, मेरा अखण्ड योग है। इस विश्व ब्रह्माण्ड का आदि-अन्त जो ईश्वर है उसने ही हमारे मन में चैतन्य जागरित किया है। चैतन्य और विश्व—अन्दर-बाहर, सृष्टि की ये दो धाराएँ मिली हुई हैं।

इस तरह ध्यान के द्वारा जिसको हम उपलब्ध करते हैं वह विश्वात्मा से और हमारी आत्मा से चैतन्य के सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। इस तरह के विचारों के आनन्द से मेरे मन में एक ज्योति जग उठी, यह बात मुझे स्पष्ट रूप से याद है।

जब मैं बड़ा हुआ—अठारह या उन्नीस वर्ष की आयु होगी, या शायद बीस भी हो—चौरंगी[1] में अपने दादा के साथ रहने लगा। ऐसे दादा कभी किसी को न मिले होंगे—वे मित्र, भाई, सहयोगी, सभी कुछ थे।

---

१. कलकत्ता का एक प्रमुख मार्ग, जो आधुनिकता का केन्द्र है। चौरंगी नाथ-सम्प्रदाय के एक 'गुरु' थे।

उन दिनों तड़के उठने की प्रथा थी—मेरे पिता भी बहुत सवेरे उठते। मुझे याद है, एक बार पिता के साथ पहाड़ गया था—हम डलहौजी में रहते थे। वहाँ कड़ी सर्दी थी। उस सर्दी में भी वे तड़के ही हाथ में दिया लेकर मेरे पलंग के पास आते और मुझे जगा देते। एक दिन मैं सवेरे उठकर चौरंगी के घर के बरामदे में खड़ा था। उन दिनों वहाँ 'फ्री स्कूल' नाम की एक पाठशाला थी। रास्ते के उस पार ही स्कूल का अहाता दिखाई पड़ता था। मैंने देखा कि वहीं पेड़ के पीछे से सूर्य उदित हो रहा है। जैसे ही पेड़ से सूर्य का आविर्भाव हुआ, मेरे मन का पर्दा खुल गया। मुझे लगा कि मनुष्य आजन्म एक आवरण लिये रहता है। उसी में उसका स्वातन्त्र्य है। इस स्वातन्त्र्य का लोप होने से सांसारिक प्रयोजनों की पूर्ति में असुविधा होती है। लेकिन उस दिन सूर्योदय होते ही मेरा आवरण दूर हुआ। मैंने सोचा, अब सत्य को मुक्त दृष्टि से देख पाया हूँ। दो मज़दूर एक-दूसरे के कन्धों पर हाथ धरे, हँसते-हँसते चले जा रहे थे। उनको देखकर मैंने एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य का अनुभव किया। मन में यह विचार नहीं उठा कि वे मामूली मज़दूर थे। उस दिन मैंने उनकी अन्तरात्मा को देखा, जहाँ चिरकाल का 'मानव' है।

हम सुन्दर किसे कहते हैं? बाह्य रूप से जो नगण्य लगता है उसका जब हम आन्तरिक अर्थ देखते हैं तो वह सुन्दर लगता है। गाय के बछड़े के लिए गुलाब का फूल सुन्दर नहीं होता। मनुष्य के लिए वह सुन्दर है—उस मनुष्य के लिए जो उस फूल की पँखुड़ी नहीं, उसका डण्ठल नहीं, बल्कि उसकी समग्र आंतरिक सार्थकता ग्रहण करता है। पबना का ग्रामीण कवि जब रूठी हुई प्रणयिनी को मनाने के लिए 'एक रुपये का उपहार' लाने का प्रस्ताव करता है तो उस उपहार का दाम एक रुपये से कहीं अधिक हो जाता है। इस उपहार का—या गुलाब का आंतरिक अर्थ जब हम देख पाते हैं तभी वह सुन्दर हो जाता है। उस दिन मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने देखा, समस्त सृष्टि अपरूप है। मेरा एक मित्र था। बुद्धिमत्ता के लिए उसकी विशेष ख्याति नहीं थी। उसकी सुबुद्धि का एक दृष्टान्त देता हूँ। एक दिन उसने मुझसे पूछा, 'क्यों, ईश्वर को देखा है?' मैंने कहा, 'नहीं, मैंने तो नहीं देखा'। वह बोला, 'मैंने देखा है'। मैंने पूछा, 'किस तरह?'। उसने उत्तर दिया, 'क्यों? यह तो है—आँख के पास बिज-बिज कर रहा है'। जब भी यह मित्र आता, मैं समझता मुझे नाराज़ करने आया है। लेकिन उस दिन मुझे वह भी अच्छा लगा। मैंने खुद ही उसे पुकारा। उस दिन ऐसा लगा, उसकी बुद्धिहीनता आकस्मिक है; वह उसका चरम, चिरन्तन सत्य नहीं। उसको बुलाकर उस दिन मैं बहुत खुश हुआ। उस दिन वह 'अमुक' नहीं रहा। मैं जिस मानव-लोक में रहता हूँ, उसी में वह भी रहता है। तब मैंने सोचा, यही मुक्ति है। इसी अवस्था में मैं चार दिन रहा—चार दिन तक

मैंने जगत् को सत्य रूप से देखा। उसके बाद ज्योतिदा[1] ने कहा, 'दार्जिलिंग चलो'। वहाँ जाकर फिर मन पर पर्दा पड़ गया—फिर वही नगण्य, वही प्रात्यहिकता लेकिन उसके पहले कुछ दिन तक सबके बीच जिसे देखा था, उसके सम्बन्ध में आज तक मन में कोई संशय नहीं है। वह है अखण्ड मनुष्य, जो सब मनुष्यों के भूत-भविष्यत् में परिव्याप्त है—अरूप होते हुए भी सभी मनुष्यों के रूप में जिसका अन्तरतम आविर्भाव है।

[२]

यही मेरे जीवन की प्रथम अभिज्ञता थी जिसे आध्यात्मिक कहा जा सकता है। उस समय जिस भाव से मैं प्रभावित हुआ उसका स्पष्ट रूप मेरी उन दिनों की रचनाओं में—'प्रभात संगीत' की कविताओं में—देखा जा सकता है। वह भाव अपने-आप ही 'प्रभात संगीत'[2] में प्रकाशित हुआ। बाद में अगर सोच-विचार कर उस भाव के विषय में मैं लिखता तो उसका यथार्थ चित्र न मिलता। पहले ही से यह बताना उचित होगा कि 'प्रभात संगीत' की कविताओं को मैं यहाँ केवल उस समय की अपनी भावनाओं का चित्रण करने के लिए उद्धृत कर रहा हूँ—काव्य की दृष्टि से वे अत्यन्त सामान्य हैं। मेरे लिए उनका एकमात्र मूल्य यह है कि उन दिनों मेरे मन में जो आनन्द उच्छ्वसित हुआ था वह उनमें व्यक्त हुआ है। भाव असंलग्न हैं, भाषा अपरिपक्व है—मानो उनमें मैं शब्दों को टटोलने की चेष्टा कर रहा हूँ : लेकिन 'चेष्टा' कहना ठीक न होगा—चेष्टा उनमें नहीं है। मन ने बिना किसी यत्न के, जैसे बन पड़ा, अपने भाव व्यक्त किये हैं। साहित्य के आदर्श से विचार करने पर किसी संग्रह में स्थान पाने योग्य रचनाएँ ये नहीं हैं।

इन कविताओं को मैं झिझकते हुए सुना रहा हूँ, उत्साहपूर्वक नहीं। जो कविता मैं सबसे पहले पढ़ूँगा वह शायद उस अनुभव के बाद पहले ही दिन लिखी गई थी जिसका मैंने अभी उल्लेख किया। लेकिन यह बात मैं बिलकुल निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि यह ठीक पहले ही दिन की रचना है। मेरे काव्य का

---

१. अपने अग्रज ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर के लिए रवीन्द्रनाथ का स्नेह-सम्बोधन। ज्योतिरिन्द्रनाथ महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८४९-१९२५) के पाँचवे पुत्र थे और रवीन्द्रनाथ से १३ वर्ष बड़े थे। ज्योतिरिन्द्रनाथ संगीत के बड़े प्रेमी थे और अनेक पुस्तकों के प्रणेता। रवीन्द्रनाथ ने अपनी 'जीवन स्मृति' और 'छेलेबेला' में उनका अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है।

२. रवीन्द्रनाथ का काव्य-संग्रह, जो सन् १८८३ में प्रकाशित हुआ यह ग्रन्थ उन्होंने अपनी दसवर्षीया भतीजी इन्दिरा देवी (बाद में इन्दिरा देवी चौधरानी) को समर्पित किया था।

इतिहास जिन्होंने देखा है वे जानते हैं कि रचना-काल के सम्बन्ध में मेरे वक्तव्यों पर निर्भर नहीं किया जा सकता। जो कुछ भी हो, यह उस समय की लिखी कविता है जब हृदय भावोच्छ्वास से व्याकुल हो उठा था। उसे आज की अभिज्ञता के साथ मिलाकर देखना होगा। मैंने कहा है कि हमारे एक ओर अहं है, दूसरी ओर आत्मा। अहं खण्डाकाश की तरह है—घर के अन्दर का आकाश है, जिसको लेकर विषय-कर्म, मामला-मुक़दमा इत्यादि चलते हैं। उससे जुड़ा हुआ महाकाश है, जिसमें वैषयिकता नहीं है; वह आकाश असीम है, विश्वव्यापी है। 'मानवत्व' से जिस विराट् पुरुष की ओर संकेत होता है वह हमारे खंडाकाश में भी है। हममें ही दो पक्ष हैं— एक हममें बद्ध है, दूसरा सर्वत्र व्याप्त है। ये दोनों संलग्न हैं, और इनको मिलाकर ही हमारी परिपूर्ण सत्ता बनती है; इसीलिए मैंने कहा है कि जब हम अहं को एकांगी भाव से पकड़कर रखते हैं तब हम मानव-धर्म से च्युत हो जाते हैं। तब हमारा उस महामानव से—विराट् पुरुष से—विच्छेद होता है जो हममें विद्यमान है :

मैंने जागकर देखा, अँधेरे में हूँ,
अपने आपमें बँधा हुआ हूँ।
मग्न हूँ अपने ही कल स्वर में,
जिसकी प्रतिध्वनि मेरे ही कानों में गूँज रही है।

यह है 'अहं', अपने-आपमें आबद्ध, जो असीम से च्युत होकर, अन्ध होकर, अन्धकार में पड़ा रहता है। मैंने अनुभव किया कि ऐसे ही अन्धकार में मैं था। वह स्वप्न-जैसी दशा थी :

गहरी, अत्यन्त गहरी गुहा, घना अँधेरा
गहरी नींद में प्राण अकेला गीत गा रहा है
स्वप्न गीत के स्वर मेरे एकाकी हृदय में विलीन हो रहे हैं।

निद्रा में जो स्वप्नलीला है उसके साथ सत्य का योग नहीं। अमूलक, मिथ्या—तरह तरह के नाम उसे देता हूँ। अहं की सीमाओं में आबद्ध जो जीवन है, वह है मिथ्या—उसमें दुःख, क्षति, विकृति है। जब अहं जाग पड़ता है और आत्मा को उपलब्ध करता है तो उसे नया जीवन मिलता है। कभी उसी अहं के क्रीड़ा-भवन में मैं गिरफ़्तार था। अपने प्राण को ही मैंने पकड़ रखा था, वृहत सत्य रूप नहीं देखा था :

आज प्रभात की वेला में रविकिरणें
कैसे मेरे प्राण में समा गईं !

गुहा के अँधेरे में कैसे प्रवेश किया
प्रभात-विहंग के संगीत ने !
न जाने कैसे, इतने दिन बाद
प्राण जाग उठा,
प्राण जाग उठा !
प्राण वारि छलक उठा
प्राण की वासना, प्राण का आवेग
अब अवरुद्ध नहीं रह सकते ।

यह है उस दिन की बात जब अन्धकार से मैं आलोक में आया—बाहर के, असीम के आलोक में । उस दिन चेतना ने ऊपर उठकर भूमा में प्रवेश किया । कारागृह का द्वार खोलकर बाहर निकलने के लिए, जीवन की सारी विचित्र लीलाओं के साथ सम्मिलित होकर प्रवाहित होने के लिए, अन्तःकरण व्याकुल था । उस प्रवाह की गति थी महान्, विराट् समुद्र की ओर । उसीको अब मैंने विराट् पुरुष कहा है । उसी महामानव में जाकर नदी मिलेगी—लेकिन सबके बीच से गुज़रते हुए । यह पुकार मैंने सुनी । सूर्य-प्रकाश में जागकर मन व्याकुल हो उठा । यह आह्वान कहाँ से आया ? यह महासमुद्र की ओर आकर्षित करता है, मानव-मात्र के भीतर होकर, संसार के भीतर होकर । भोग-त्याग किसी को भी यह अस्वीकार नहीं करता—सबका स्पर्श-बोध करके आखिर उस स्थान पर पहुँचता है जिसके प्रति मैंने कहा :

आज न जाने क्या हुआ, प्राण जाग उठा
दूर से मानो मैंने महासागर का गीत सुना ।
उसी सागर की ओर हृदय दौड़ता है ।
उसीके तट पर जाकर जीवन शेष होना चाहता है ।

वहाँ जाने के लिए हृदय व्याकुल था । 'मानव धर्म' से सम्बन्धित मेरे भाषण की यही भूमिका है । इस महासागर को अब मैंने महामानव का नाम दिया है । समस्त मानव-जाति के भूत-भविष्यत्-वर्तमान को लेकर वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रतिष्ठित है । उसके साथ जा मिलने की ही यह पुकार है ।

उस अनुभव के दो-चार रोज़ बाद मैंने 'प्रभात उत्सव' कविता लिखी । बात वही है, लेकिन कुछ अधिक स्पष्ट कही गई है :

आज मेरा हृदय न जाने कैसे उन्मुक्त हो गया है !
जगत् पास आकर उसका आलिंगन करता है।
पृथ्वी पर जितने शत-सहस्र मनुष्य हैं
मेरे प्राण में आते हैं, हँसकर मुझसे गले मिलते हैं।

यह तो सभी मनुष्यों के हृदय की तरंगलीला है। मनुष्य-मनुष्य में स्नेह, प्रेम और भक्ति के सम्बन्ध तो हैं ही। लेकिन उन्हें जब हम विशेष रूप से देखते हैं, विशाल पृष्ठभूमि पर देखते हैं, तो ऐक्य और तात्पर्य का लाभ होता है। उस दिन दो मज़दूरों की बात मैंने कही थी—उनमें जो आनन्द मैंने देखा वह सत्य का आनन्द था, जिसका उद्गम सार्वजनीन, सर्वकालीन चित्त की गहराइयों में है। उसे देखकर मैं खुश हुआ—और उससे भी अधिक प्रसन्नता मुझे इसलिए हुई कि जिन लोगों में यह आनन्द मैंने देखा उन्हें मैं नगण्य समझता आया था। जिस क्षण उनमें मैंने विश्वव्यापी प्रकाश देखा, एक परम सौन्दर्य का अनुभव हुआ। उसी दिन मानवीय सम्बन्धों की विचित्र रसलीला, आनन्द और अनिर्वचनीयता का मुझे आभास मिला। वह आभास एक बालक के अनिपुण लेखन में व्यक्त हुआ—परिस्फुट रूप में नहीं; उस समय मैंने जो अनुभव किया, वही लिखा। मैंने बिलकुल ही मनमाना गीत गाया हो, ऐसी बात नहीं है। यह गीत दो घड़ी का नहीं है, यह अन्तहीन है। इसमें एक धारावाहिकता है, प्रत्येक मनुष्य के हृदय में इसकी अनुवृत्ति है। मेरे गान के साथ मनुष्य-मात्र का योगदान है—गान रुकने पर भी यह योग विच्छिन्न नहीं हो सकता :

कल गान का अन्त होगा इस विचार से
आज क्यों न गाऊँ—आज, जब प्रभात की किरनें फूटी हैं ?
यह किसकी हर्ष-ध्वनि है, तुम्हीं कहो।
आनन्द के स्रोत पर सब तैरते जा रहे हैं,
आनन्द में लीन हो रहे हैं।
धरती की ओर देखकर, नव-आनन्द के गीत गाते हुए,
मन को किसी और दिन की याद आ रही है।

विराट् आनन्द की धारा में सब-कुछ तरंगित है—यह बात बहुत दिन तक मैंने नहीं देखी थी लेकिन उस दिन देखी। मनुष्य के विविध सम्बन्धों में आनन्द का रस है। सब लोगों में यह जो आनन्द-रस है उसके द्वारा ही 'महारस' की अभिव्यक्ति होती है, 'रसो वै सः' इसके खण्ड-अण्ड आविर्भाव में ही ब्रह्म को प्राप्त किया गया था। उस अनुभूति को व्यक्त करने के लिए मैं बेचैन था, लेकिन अच्छी तरह व्यक्त न कर सका। मैंने जो कुछ कहा असंपूर्ण रूप से कहा।

'प्रभात-संगीत' की अन्तिम कविता की पंक्तियाँ हैं—

आज मैं कोई बात नहीं कहूँगा—
आज मैं कोई गीत नहीं गाऊँगा।
देखो, आज भोर के समय कितने लोग आये हैं !
चारों ओर भीड़ लगी है,
सब अनिमेष मेरी ओर देख रहे हैं—
मेरा स्मितमुख देखकर सारा दुःख-शोक भूल गये हैं।
आज मैं गीत नहीं गाऊँगा।

इससे समझा जा सकता है, उस समय मेरा मन किस भाव से आविष्ट था, उसने किस सत्य का स्पर्श पाया था। जो कुछ है उस महामानव में जा मिलता है, और प्रतिध्वनि के रूप में वहाँ से लौटता है—रस-सौन्दर्य-मण्डित होकर। यह उपलब्धि मुझे अनुभूति से हुई, तत्त्वरूप में नहीं। उस समय एक बालक का मन जिस अनुभूति से आन्दोलित हुआ था, उसीकी असम्पूर्ण अभिव्यक्ति 'प्रभात-संगीत' में है। बाद में ऑक्सफोर्ड में मैंने जो कहा वह तो चिन्तन का परिणाम था—अपने विचारों को अनुभूति से अलग करके, उन्हें अन्य तत्त्वों के साथ मिलाकर, युक्ति पर आधारित करके कहा था। लेकिन उसका आरम्भ उसी अनुभूति में है। उस दिन मैंने जगत् के तुच्छ आवरण को हटते देखा, सत्य का अपरूप सौन्दर्य देखा। उसमें तर्क के लिए स्थान नहीं था—उस 'देखने' का सत्यरूप मैंने समझा। अभी तक मेरे मन में यह उत्कट लालसा है कि किसी शुभ मुहूर्त में विश्व के आनन्दरूप को फिर एक बार वैसी ही परिपूर्णता से देख सकूँ। यह जो बाल्यावस्था में एक दिन स्पष्ट देखा था उसीके बारे में उपनिषद् के ये शब्द मेरे होठों से बार-बार ध्वनित हुए हैं—'आनन्दरूपं अमृतं यद्विभाति'। उस दिन देखा, विश्व स्थूल नहीं है, विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें रसस्पर्श न मिलता हो। जो प्रत्यक्ष देखा है उसके विषय में तर्क की क्या ज़रूरत है? स्थूल आवरण मर्त्य हैं, अन्तरतम आनन्दमय सत्ता अमर है।

[३]

वर्षा ऋतु में नहर जल से भरी रहती थी। जब वह सूख जाती, लोग उसके ऊपर चलकर इधर-उधर जाते। नहर के इस पार एक बाज़ार लगता, तरह-तरह के लोग वहाँ आते। अपने दुमंज़िले मकान से यह सब देखकर मैं खुश होता। लेकिन पद्मा नदी पर बोट में रहते हुए मैं जनता से दूर हो गया था। नदी का तट, कहीं-कहीं सूखी ज़मीन, तपती हुई बालू। जगह-जगह पानी जमा हो गया था, जहाँ पक्षी और जलचर चक्कर काटते। वहाँ जो कहानियाँ मैंने लिखीं उनमें पद्मा-तीर का

वातावरण है। जब शहजादपुर[1] आता, ग्रामीण जीवन की झाँकी सामने आती, देहात के विविध कामों पर दृष्टि जाती। 'पोस्ट मास्टर', 'समाप्ति', 'छुट्टी' इत्यादि कहानियों में इसी वातावरण का प्रतिबिम्ब है। उनमें गाँव के अलग-अलग दृश्यों को कल्पना के द्वारा पूरा करके चित्र खींचे गए हैं।

उस समय की एक घटना मुझे याद है। सूखी हुई एक पुरानी नहर में पानी भर गया था। कीचड़ में धँसी हुई एक छोटी नाव एकाएक तैरने लगी। गाँव के लड़के नई जलधारा की पुकार सुनकर खुश हुए—उन्होंने दिन में दस-दस बार डुबकियाँ लगाईं।

दूसरी मंज़िल की खिड़की से मैंने सामने आकाश में नववर्षा के जलभरे बादल देखे, और नीचे बालक-मण्डली में प्राण का तरंगित कल्लोल। मेरा मन सहसा खुले द्वार से बाहर निकल पड़ा—कहीं दूर जाने के लिए। अत्यन्त निबिड़ रूप से हृदय को अनुभूति मिली—सामने मैंने देखी नित्यकालव्यापी अनुभवधारा, कितने प्राणों की विविध क्रीड़ाओं से मिलकर बनी हुई एक अखण्ड लीला। अपने जीवन में जिसका बोध करता हूँ, उपभोग करता हूँ, और घर-घर लोगों की जो निरन्तर जीवनोपलब्धि चल रही है, वह सब एक विराट् अभिज्ञता में मिल जाती है। कितने नटों का अभिनय चल रहा है; उनमें से प्रत्येक की जीवन-यात्रा में सुख-दुःख की खण्डशः अभिव्यक्ति हो रही है—लेकिन समस्त अभिनय से एक नाट्यरस उत्पन्न होकर परमद्रष्टा में आविर्भूत हो रहा है—ऐसे परमद्रष्टा में जो 'सर्वानुभूः' है। इतने समय तक जीवन के सुख-दुःख की जिस अनुभूति ने मुझे विचलित किया था उसको एक नित्य साक्षी के पास खड़े होकर मैं देख सका।

इस तरह अपने से पृथक् करके जब मैं अंश को समग्र के बीच स्थापित कर पाया, तब अपने अस्तित्व का भार हल्का हो गया। किसी रसिक के साथ एक होकर मैं जीवन-लीला को सत्य रूप में देख सका। उस दिन का वह अनुभव मेरे लिए एक गम्भीर रहस्य बन गया।

मुक्ति का आनन्द मुझे मिला। स्नानगृह की ओर जाते-जाते बीच में खिड़की के पास मैं खड़ा हो गया था। वह क्षण अब मेरे लिए वृहत् हो उठा। मेरी आँखों से आँसू टपके—मेरी इच्छा हुई, किसी के सामने सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करूँ, भूमिष्ठ होकर किसी को प्रणाम करूँ। मेरे अन्तरंग का वह कौन-सा साथी है जिसने मेरी समस्त क्षणिकता को ग्रहण करके उसका अपनी नित्यता में समावेश किया है? मुझे ऐसा लगा कि मैंने अपने एक पक्ष को छोड़कर, दूसरे पक्ष की ओर जाकर,

१. पूर्वी बंगाल में टैगोरों की ज़मींदारी में एक स्थान का नाम। यह ज़मींदारी पबना जिले में थी, जो अब पूर्वी पाकिस्तान में है।

अपना परिचय पाया। 'एषोऽस्य परमानन्दः'। मेरे बीच 'यह' और 'वह' दोनों हैं—जब 'यह' 'वह' के पास पहुँचता है तभी उसे आनन्द मिलता है।

उस दिन अत्यन्त निकट से मैंने देखा कि मेरी सत्ता में उपलब्धि के दो पक्ष हैं। एक वह जिसको 'मैं' कहता हूँ—और उसके साथ जुड़ी हुई सब चीज़ें, मेरा संसार, मेरा देश, मेरा धन-मान, जिसको लेकर इतनी चिन्ता है, इतना प्रयास है। लेकिन एक परम पुरुष भी है जो इन सबके ऊपर अधिकार करता है, सबका अतिक्रमण करता है—वह नाटक-द्रष्टा भी है स्रष्टा भी, इसलिए वह सबसे संयुक्त है और सबके परे भी। अस्तित्व के इन दोनों पक्षों को सदा सम्मिलित रूप से मैं नहीं देख पाता। अपने-आपको विराट् से विच्छिन्न करके सुख-दुःख से आन्दोलित होता हूँ। मन की विचलता का कोई परिमाण नहीं रहता, और इससे मैं अपने और विराट् के बीच सामञ्जस्य नहीं देख पाता। कभी अचानक दृष्टि उधर जाती है, मुक्ति का स्वाद मिलता है। जब अहं अपनी ऐकान्तिकता भूल जाता है, तब वह सत्य को देखता है। 'जीवन देवता'-सम्बन्धी मेरी कविताओं में यह अनुभूति व्यक्त हुई है :

हे अन्तरतम,

मेरे अन्तर में आकर क्या तुम्हारी सब प्यास मिट गई है? जिस परिमाण में मैं पूर्ण हूँ, विश्वभूमीन हूँ, उसी परिमाण से मैंने 'उसको' अपना बनाया है। 'उसके' साथ मेरा ऐक्य हुआ है। यही बात सोचकर मैंने कहा : 'मेरे बीच अपनी लीला को देखकर तुम कितने खुश हो!'

विश्वदेवता का आसन प्रत्येक जगत् में है—ग्रह-चन्द्र-तारों में है। जीवन-देवता विशेष रूप से जीवन के आसन पर है, प्रत्येक हृदय में उसका पीठ स्थान है, प्रत्येक अनुभूति और अभिज्ञता में उसका केन्द्र है। बाउलों ने उसीको 'मन का मनुष्य' कहा है। इसी 'मन के मनुष्य' को, सर्व मनुष्यों के इसी जीवन-देवता को, मैंने अपनी 'Religion of Man' शीर्षक व्याख्यानमाला का विषय बनाया। इन व्याख्यानों को दर्शन के दृष्टिकोण से देखना उचित नहीं होगा। मतवाद का आकार उन्हें दिया गया है, लेकिन वास्तव में उनमें केवल एक कवि के चित्त की अभिज्ञता है। यह आन्तरिक अभिज्ञता दीर्घकाल तक मेरे अन्दर प्रवाहित हुई है। उसे मेरी व्यक्तिगत चित्त-प्रकृति की विशेषता समझकर ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

जो सारे जगत् का भूमा है उसे उपलब्ध करने की साधना में कभी-कभी यह उपदेश मिलता है : 'लोकालय छोड़ो, गुहा में जाओ, अपनी सत्ता को, अपनी सीमा को, विलुप्त करके असीम में अन्तर्हित हो जाओ।' इस साधना के विषय में कुछ कहने का मुझे अधिकार नहीं है। लेकिन मेरा मन जिस साधना को स्वीकार करता

है वह कहती है—अपना त्याग न करो; अपने बीच ही उस महान् पुरुष को उपलब्ध करने का क्षेत्र है; वह निखिल मानव-जाति का आत्मा है। उसकी उपेक्षा करते हुए किसी अमानवीय या अतिमानवीय सत्य तक पहुँचने की बात यदि कोई करे तो उसे समझने की शक्ति मेरे पास नहीं है। मेरी बुद्धि मानवीय बुद्धि है, मेरा हृदय मानवीय हृदय है, मेरी कल्पना मानवीय कल्पना है। उसको मैं कितना ही परिमार्जित करूँ, है तो वह मानवचित्त। जिसे हम विज्ञान कहते हैं वह मानव-बुद्धि से ही प्रमाणित है, जिसे ब्रह्मानन्द कहते हैं वह भी मानव-चैतन्य में व्यक्त आनन्द है। इस बुद्धि में, इस आनन्द में, जिसको हम उपलब्ध करते हैं वह भूमा है—लेकिन वह 'मानवीय भूमा' है। उसके बाहर कुछ होना या न होना मनुष्य के लिए बराबर है। मनुष्य को विलुप्त करके ही यदि मुझे मुक्ति मिल सकती है, तो मैं मनुष्य हुआ ही क्यों ?

किसी समय मैं अकेला बैठा प्राचीन मंत्रों को लेकर आत्मविलय की भावना से ध्यान करता था। पलायन करने की इच्छा मुझमें थी—और इससे बिलकुल ही शान्ति न मिली हो, ऐसी बात नहीं। इस तरह विक्षोभ से सहज ही निष्कृति मिलती थी। दुःख के समय इस भावना से मुझे सान्त्वना मिली, प्रलोभन से मेरी रक्षा हुई। लेकिन एक दिन ऐसा भी आया जब मैंने समस्त को स्वीकार किया, सबको ग्रहण किया। मैंने देखा कि मानव-नाट्यमंच पर जो लीला चल रही है उसीका अंश मैं भी हूँ। सबको निकट से देखा। इस देखने को मैं छोटी चीज़ नहीं समझता। यह भी सत्य है। जीवन को जीवन-देवता से पृथक् करके देखना ही दुःख है, दोनों को संयुक्त रूप में देखना ही मुक्ति है।

[कमला भाषण-माला (कलकत्ता विश्वविद्यालय) के अन्तर्गत शान्ति-निकेतन में दिये गए तीन भाषणों में से अन्तिम। 'प्रवासी' (वैशाख-ज्येष्ठ १३४० बं० सं०) १९३३ में प्रकाशित। ये लेख 'मानुषेर धर्म' (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३३) में परिशिष्ट रूप में दिये गए हैं।]

चतुर्थ खण्ड

शिक्षा

शिक्षा में हेर-फेर

जो अत्यावश्यक है उसीमें आवद्ध होकर रहना मानव-जीवन का धर्म नहीं है। आवश्यकता की शृंखला से हम किसी सीमा तक बद्ध हैं, लेकिन किसी हद तक हम स्वाधीन भी हैं। हमारा शरीर साढ़े-तीन हाथ के फासले में सीमित है, लेकिन उसके लिए साढ़े-तीन हाथ का घर बनाने से काम नहीं चलेगा। चलने-फिरने के लिए यथेष्ट स्थान रखना ज़रूरी है, वरना हमारे स्वास्थ्य और आनन्द दोनों में बाधा पड़ेगी। शिक्षा के विषय में भी यही बात लागू होती है। जो कम-से-कम ज़रूरी है वहीं तक यदि शिक्षा को सीमित किया गया तो बच्चों के मन की वृद्धि नहीं हो सकेगी। आवश्यक शिक्षा के साथ स्वाधीन पाठ को मिलाना होगा, अन्यथा बच्चे की चेतना का विकास नहीं होगा—आयु बढ़ने पर भी बुद्धि की दृष्टि से वह सदा बालक ही रहेगा।

लेकिन दुर्भाग्य से हमारे पास समय की कमी होती है। हम चाहते हैं कि जितना शीघ्र हो सके, विदेशी भाषा सीखकर, इम्तहान पास करके काम में जुट जायँ। इसलिए बचपन से ही हाँफते-हाँफते, दायें-बायें न देखकर, जल्दी-जल्दी सबक याद करने के अलावा और कुछ करने का. हमारे पास समय नहीं होता। बच्चों के हाथ में यदि कोई मनोरंजन की पुस्तक दिखाई पड़ी तो वह फौरन छीन ली जाती है।

और फिर मनोरंजन की पुस्तक आये भी कहाँ से? बँगला में इस तरह की किताबें नहीं हैं। रामायण-महाभारत अवश्य हैं, लेकिन बच्चों को बँगला भाषा इस तरह नहीं सिखाई जाती कि वे घर बैठकर अपनी इच्छा से बँगला काव्य का यथार्थ स्वाद ग्रहण कर सकें। और बेचारे बालक अंग्रेज़ी भी इतनी नहीं जानते कि उस भाषा की बालोचित पुस्तकें पढ़ सकें। शिशुओं के लिए लिखी अंग्रेज़ी पुस्तकों में अंग्रेज़ी संस्कृति का वातावरण होता है उसमें अंग्रेज़ घर की बातें और कौटुम्बिक वार्तालाप होता है, जो हमारे एम० ए० पास पाठकों के लिए भी सम्पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं होता।

परिणामस्वरूप, हमारे बंगाल में बच्चों को व्याकरण, शब्दकोश, भूगोल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता—उनके भाग्य में अन्य पुस्तकें नहीं हैं। दूसरे देशों के बालक जिस आयु में अपने नये दाँतों से बड़े आनन्द के साथ गन्ना चबाते हैं, उसी आयु में हमारे बंगाल के बच्चे स्कूल की बेंच पर—धोती की काँछ के

साथ अपनी दो दुबली-पतली टाँगों को हिलाते हुए—मास्टर के बेंत हज़म करते हैं। और बेंत के साथ उन्हें कड़वी गालियों के अलादा दूसरा कोई मसाला भी नहीं मिलता !

इससे उनकी मानसिक पाचन-शक्ति का ह्रास होता है। जिस तरह बंगाल की सन्तानों का शरीर उपयुक्त आहार और खेल-कूद के अभाव से कमज़ोर रह जाता है उसी तरह उनके मन का पाकाशय भी अपरिणत रह जाता है। हम बी. ए., एम. ए. पास करते रहें, पुस्तकों के ढेर-के-ढेर निगलते रहें, पर हमारी बौद्धिक शक्ति परिपक्व नहीं होती, किसी चीज़ को हम कसकर पकड़ नहीं पाते, किसी चीज़ की आद्योपान्त रचना नहीं कर पाते। हमारे विचार, हमारे आचार-अनुष्ठान, वैसे नहीं हैं जैसे बालिग़ों के होने चाहिएँ। इसीलिए हम अत्युक्ति, आडम्बर और आत्मश्लाघा द्वारा अपने मानसिक दैन्य को ढाँकने की कोशिश करते हैं।

इसका कारण यही है कि हमारी शिक्षा में बाल्य-काल से ही आनन्द के लिए स्थान नहीं होता। जो नितान्त आवश्यक है उसीको हम कण्ठस्थ करते हैं। इससे काम तो किसी-न-किसी तरह चल जाता है, लेकिन हमारा विकास नहीं होता। हवा से पेट नहीं भरता—पेट तो भोजन से ही भरता है। लेकिन भोजन को ठीक से हज़म करने के लिए हवा आवश्यक है। वैसे ही, एक 'शिक्षा पुस्तक' को अच्छी तरह पचाने के लिए बहुत-सी पाठ्य पुस्तकों की सहायता ज़रूरी है। आनन्द के साथ पढ़ते रहने से पठन-शक्ति भी अलक्षित रूप से वृद्धिगत हो जाती है; सहज-स्वाभाविक नियम से ग्रहण-शक्ति, धारणा-शक्ति और चिन्ता-शक्ति भी सबल होती है।

लेकिन मानसिक शक्ति का ह्रास करने वाली इस निरानन्द शिक्षा से बंगालियों को कैसे छुटकारा मिलेगा कुछ समझ में नहीं आता।

एक तो अंग्रेज़ी विदेशी भाषा है। शब्द-विन्यास और पद-विन्यास की दृष्टि से हमारी भाषा के साथ उसका कोई सामञ्जस्य नहीं। तिस पर भावपक्ष और विषय-प्रसंग भी विदेशी होते हैं। शुरू से आखिर तक सभी अपरिचित चीज़ें हैं, इसलिए धारणा उत्पन्न होने से पहले ही हम रटना आरम्भ कर देते हैं। फल वही होता है जो बिना चबाया अन्न निगलने से होता है। शायद बच्चों की किसी 'रीडर' में Hay-making का वर्णन है। अंग्रेज़ बालकों के लिए यह एक सुपरिचित चीज़ है और उन्हें इस वर्णन से आनन्द मिलता है। Snowball से खेलते हुए Charlie का Katie से कैसे झगड़ा हुआ यह भी अंग्रेज़ बच्चे के लिए कुतूहल-जनक घटना है। लेकिन हमारे बच्चे जब विदेशी भाषा में यह सब पढ़ते हैं तब उनके मन में कोई स्मृति जागृत नहीं होती, उनके सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं

होता। अन्धभाव से उनका मन अर्थ को टटोलता रहता है।

नीचे के दर्जों को जो मास्टर पढ़ाते हैं उनमें से कोई एन्ट्रेन्स पास है, तो कोई एन्ट्रेन्स-फेल। अंग्रेज़ी भाषा, भाव, आचार, व्यवहार, साहित्य—किसी से वे परिचित नहीं हैं। और उन्हींके हाथों हमारा अंग्रेज़ी के साथ प्रथम परिचय होता है। वे न तो बंगला अच्छी तरह जानते हैं, न अंग्रेज़ी। उन्हें बस यही सुविधा है कि बच्चों को पढ़ाने की तुलना में बच्चों का मन बहलाना बहुत आसान है। इस कार्य में वे पूरी तरह सफल होते हैं।

इन बेचारों को दोष देना भी ठीक न होगा। यदि Horse is a noble animal का अनुवाद किया जाय तो बंगला में भी यह वाक्य ठीक नहीं उतरता और अंग्रेज़ी के विषय में भी हम द्विधा में पड़ जाते हैं। अर्थ को हम कैसे करें? 'घोड़ा एक महान् जन्तु है,' 'घोड़ा एक उच्च श्रेणी का जानवर है,' 'घोड़ा एक बहुत ही अच्छा प्राणी है'—इसमें से कोई भी अनुवाद हमें सन्तुष्ट नहीं करता। अंग्रेज़ी की हमारी प्रारम्भिक शिक्षा में इस तरह की मिलावट का कोई अन्त नहीं होता। फलतः, अल्पायु में हम जिस तरह की अंग्रेज़ी सीखते हैं उसका स्तर इतना सामान्य होता है, और वह इतनी ग़लत होती है, कि उसमें से रस निचोड़ना किसी बालक के लिए सम्भव नहीं होता, और न प्रत्याशित ही होता है। मास्टर और छात्र दोनों कहते हैं—रस से हमारा कोई वास्ता नहीं। खींच-तानकर किसी तरह शब्दों से अर्थ को निकाल लें तो काफी है। परीक्षा में पास हों, दफ़्तर में नौकरी मिले, बस और क्या चाहिए। और जो अर्थ निकाला जाता है उसके सम्बन्ध में शंकराचार्य के शब्द स्मरण हो उठते हैं—

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।'

अर्थ को अनर्थ समझो—उसमें न सुख है, न सत्य।

तो फिर बच्चों के भाग्य में बाकी क्या रहा? यदि वे केवल बंगला सीखते तो रामायण-महाभारत पढ़ लेते; यदि कुछ भी न सीखते तो उन्हें खेल-कूद के लिए अवकाश मिलता—पेड़ पर चढ़ते, पानी में डुबकियाँ लगाते, फूल तोड़ते, प्रकृति-जननी को हज़ार शरारतों से तंग करते; उनका शरीर पुष्ट और मन प्रफुल्ल होता; उनकी बाल्य प्रकृति को तृप्ति मिलती। लेकिन अंग्रेज़ी पढ़ने के प्रयास में न वे सीखते हैं, न खेलते हैं, प्रकृति के सत्यराज्य में प्रवेश करने के लिए उन्हें अवकाश नहीं मिलता, साहित्य के कल्पना-राज्य का द्वार उनके लिए अवरुद्ध रहता है। मनुष्य के अन्दर और बाहर दो उन्मुक्त विहार-क्षेत्र हैं, जहाँ से वह जीवन, बल और स्वास्थ्य का संचय करता है, जहाँ नाना वर्ण-रूप-गन्ध, विचित्र गति और

संगीत, प्रीति और उल्लास उसे सर्वांगचेतन और विकसित करते हैं। इन दोनों मातृभूमियों से निर्वासित करके अभागे बालकों को एक विदेशी कारागृह में बन्द कर दिया जाता है। जिनके लिए ईश्वर ने माता-पिता के हृदय में स्नेह का संचार किया है, जिनके लिए माता की गोद को कोमलता प्रदान की गई है, जो आकार में छोटे होते हुए भी घर-भर की सारी जगह को अपने खेल के लिए यथेष्ट नहीं समझते, ऐसे बालकों को अपना बचपन कहाँ काटना पड़ता है? विदेशी भाषा के व्याकरण और शब्दकोश में—जिसमें जीवन नहीं, आनन्द नहीं, अवकाश या नवीनता नहीं, जहाँ हिलने-डुलने का स्थान नहीं, ऐसी शिक्षा की शुष्क, कठोर, संकीर्णता में। इससे क्या बालक कभी मानसिक शक्ति, चित्त का प्रसार या चरित्र की बलिष्ठता लाभ कर सकता है? क्या वह फीका, रक्तहीन, दुबला और अविकसित नहीं रहेगा? क्या वह बड़ा होने पर अपनी बुद्धि से कुछ निर्माण कर सकेगा, अपनी शक्ति से बाधाओं का अतिक्रमण कर सकेगा, अपने स्वाभाविक तेज से मस्तक उन्नत कर सकेगा? क्या वह केवल रटना, नकल करना और दूसरों की गुलामी करना ही नहीं सीखेगा?

जीवन की अवस्थाओं का एक-दूसरे से अविच्छिन्न योग होता है। बाल्यकाल से धीरे-धीरे परिणत होते ही हम यौवन तक पहुँचते हैं। यौवन में सहसा कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते ही जो आवश्यक है वह हमें सहज ही मिल नहीं जाता। जीवन के लिए आवश्यक चीज़ें हमारे हाथ-पाँव की तरह जीवन के साथ-ही-साथ बढ़ती हैं। वह ऐसी सामग्री नहीं है, जो ज़रूरत पड़ने पर बाज़ार से बनी-बनाई खरीदी जा सके।

चिन्ता-शक्ति और कल्पना-शक्ति दोनों जीवन-यात्रा सम्पन्न करने के लिए अत्यावश्यक हैं, इसमें सन्देह नहीं। यदि हमें वास्तव में मनुष्य होना है तो इन दोनों को जीवन में स्थान देना होगा। इसलिए यदि बाल्यकाल से ही चिन्तन और कल्पना पर ध्यान न दिया गया तो काम पड़ने पर उनका अभाव दुखदायी सिद्ध होगा, यह अनुभव बहुत प्राचीन है।

लेकिन हमारी वर्तमान शिक्षा में इन दोनों के लिए रास्ता बन्द है। हमें दीर्घकाल तक केवल भाषा-शिक्षा में उलझे रहना पड़ता है। पहले ही कह चुका हूँ कि अंग्रेज़ी हमारे लिए इतनी परकीय है, और हमारे शिक्षकों का उस पर प्रभुत्व इतना कम है कि, भाषा के साथ भाव का प्रवेश हमारे मन में नहीं हो पाता। इसलिए अंग्रेज़ी के भाव से परिचित होने में ही हमें बहुत समय लगता है और तब तक हमारी चिन्तन-शक्ति किसी उपयुक्त काम के अभाव से निश्चेष्ट पड़ी रहती है। एन्ट्रेन्स और फर्स्ट-ईयर आर्ट्स तक केवल काम चलाऊ अंग्रेज़ी हम सीख पाते

हैं। फिर सहसा बी. ए. क्लास में बड़ी-बड़ी पुस्तकों और गम्भीर चिन्तनीय विषयों का हमें सामना करना होता है। उन्हें अच्छी तरह आत्मसात् करने के लिए हमारे पास न समय होता है, न शक्ति। सबको मिलाकर, खिचड़ी पकाकर, हम किसी तरह निगल जाते हैं।

हमारी शिक्षा में पढ़ने की क्रिया के साथ-साथ सोचने की क्रिया नहीं होती। हम ढेर-का-ढेर जमा करते हैं, कुछ निर्माण नहीं करते। ईंट-पत्थर, बालू-चूना पहाड़ की तरह जमा हो जाते हैं, और इसी समय विश्वविद्यालय का हुक्म होता है: 'एक तिमंज़िला मकान बनाओ!' उपकरणों के स्तूप पर चढ़कर दो साल तक परिश्रम करके हम स्तूप के ऊपर का भाग बड़ी मुश्किल से समतल बना पाते हैं। अब स्तूप का इमारत के आकार से थोड़ा-बहुत सादृश्य उत्पन्न होता है—लेकिन क्या इसे कोई अट्टालिका कहेगा? इसमें हवा और रोशनी के प्रवेश के लिए क्या कोई व्यवस्था है? मनुष्य के स्थायी आवास के लिए क्या यहाँ आश्रय मिल सकता है? क्या बाह्य संसार की गर्मी-सर्दी से यह इमारत हमारी रक्षा कर सकती है? इसमें कोई क्रमबद्धता, कोई सौन्दर्य, कोई सुषमा भी है?

माल-मसाला प्रचुर मात्रा में जमा किया गया है इसमें सन्देह नहीं; मानसिक अट्टालिका के निर्माण के लिए इतनी ईंटें पहले हमारे पास नहीं थीं। लेकिन संग्रह करना यदि सीख लें तो निर्माण करना भी सीखा जाता है, यह विचार ही सबसे बड़ी भूल है। वास्तव में संग्रह और निर्माण के कार्य यदि साथ-साथ अग्रसर हों तभी इमारत बनाने का काम सम्पन्न हो सकता है।

संग्रहणीय वस्तु हाथ आते ही उसका उपयोग जानना, उसका प्रकृत परिचय प्राप्त करना, और जीवन के साथ-ही-साथ जीवन का आश्रयस्थल बनाते जाना—यही है रीतिमय शिक्षा। हमारे देश में यह अजीब परिस्थिति है कि मनुष्य एक दिशा में विकसित हो रहा है तो विद्या किसी और जगह जमा होती जा रही है; एक ओर खाद्य पदार्थों से कोठरी गिरी जा रही है, तो दूसरी ओर पाचन यन्त्र अपने ही रस में गला जा रहा है।

इसलिए यदि बच्चों को मनुष्य बनाना है तो यह क्रिया बाल्यकाल से ही आरम्भ हो जानी चाहिए, वरना वे सदा बच्चे ही बने रहेंगे। शैशव से ही केवल स्मरण-शक्ति पर बल न देकर उसके साथ-ही-साथ चिन्तन-शक्ति और कल्पना-शक्ति को स्वाधीन रूप से परिचालित करने का भी अवसर उन्हें दिया जाना चाहिए। सवेरे से शाम तक केवल हल चलाना और पत्थर तोड़ना, केवल पिटाई, रटना और इम्तहान—यथेष्ट नहीं है; इससे हम अपने बहुमूल्य खेत में सोने की फसल नहीं उगा सकते।

इस शुष्क धूल के साथ, इस अविरत हल चलाने के साथ, रस का होना भी आवश्यक है। मिट्टी जितनी सरस होती है उतनी ही फसल अच्छी होती है। एक ऐसा समय आता है जब खेत के लिए वृष्टि की सबसे अधिक ज़रूरत है। वह समय यदि निकल जाय तो बाद में हज़ारों बार वर्षा होने से भी उतना लाभ नहीं हो सकता। वयोविकास में भी एक ऐसा विशिष्ट समय आता है जब सजग भावना और नवीन कल्पना जीवन की परिणति के लिए, सरसता-साधन के लिए, अत्यन्त आवश्यक होती है। इसी समय यदि साहित्य के आकाश से ज़ोरदार बारिश हो तो फिर क्या कहना—'धन्य राजा पुण्य देश'। अन्धकार की मातृभूमि को छोड़कर नवोद्भिन्न हृदयांकुर विपुल पृथ्वी और अनन्त आकाश की ओर सिर उठा रहा है; प्रच्छन्न जन्मगृह के द्वार पर आकर शिशु मन बाह्य संसार से नूतन परिचय प्राप्त कर रहा है; नवीन विस्मय, नवीन प्रीति और कौतूहल का आविर्भाव हो रहा है। ऐसे समय यदि भाव का समीर उसे मिले, आनन्दलोक से प्रकाश और आशीर्वाद की धारा आकर उसे स्पर्श करें, तभी उसका जीवन सफल, सरस और परिणत होगा। लेकिन यदि इस समय शुष्क धूल और तपी हुई बालू—नीरस व्याकरण और विदेशी शब्दकोश—उसे आच्छन्न करें, तो बाद में चाहे मूसलाधार वर्षा ही क्यों न हो, योरोपीय साहित्य के जीवन्त सत्य, विचित्र कल्पनाएँ और उन्नत भाव चाहे जितनी मात्रा में उसके दायें-बायें फैला दिये जायँ, उसकी शिक्षा सफल नहीं होगी। साहित्य की अन्तर्निहित जीवन-शक्ति उसके प्राणों में सहज भाव से प्रकाशित नहीं होगी।

हमारी नीरस शिक्षा में जीवन का यही बहुमूल्य समय व्यर्थ हो जाता है। हम बाल्यावस्था से कैशोर्य में और कैशोर्य से यौवन में प्रवेश करते हैं शुष्क ज्ञान का बोझ लेकर। सरस्वती के साम्राज्य में हम मज़दूरी ही करते रहते हैं। हमारी रीढ़ की हड्डी झुक जाती है, मनुष्यत्व का सर्वांगीण विकास नहीं होता। जब अंग्रेज़ी के भावराज्य में हम प्रवेश करते हैं, वहाँ हम स्वच्छन्दता से विहार नहीं कर सकते। भावों को हम चाहे समझ भी लें, उन्हें अपने मर्मस्थल पर केन्द्रित नहीं कर पाते। वक्तृताओं और निबन्धों में चाहे हम उन भावों का प्रयोग करें, जीवन में उनकी परिणति नहीं होती।

इस तरह बीस-बाईस वर्ष की आयु तक हमें जो शिक्षा मिलती है उसका हमारे जीवन से रासायनिक मिश्रण नहीं होता। इससे हमारे मन को एक अजीब आकार मिलता है। शिक्षा से हमें जो विचार और भाव मिलते हैं उनमें से कुछ को तो लेई से जोड़कर हम सुरक्षित रखते हैं, और बचे हुए कालक्रम से झड़ जाते हैं। बर्बर जातियों के लोग शरीर पर रंग लगाकर, या शरीर के विभिन्न

अंगों को गोदकर, गर्व का अनुभव करते हैं, जिससे उनके स्वाभाविक स्वास्थ्य की उज्ज्वलता और लावण्य छिप जाते हैं। उसी तरह हम भी अपनी विलायती विद्या का लेप लगाकर दम्भ करते हैं, यद्यपि यथार्थ आन्तरिक जीवन के साथ उसका योग बहुत ही कम होता है। असभ्य जातियों के राजा सस्ते, विलायती काँच के टुकड़ों को अपने शरीर पर लटकाते हैं और विलायती वस्तुओं से विचित्र तरह का विन्यास करते हैं। वे नहीं समझते कि उनका व्यवहार कितना हास्यास्पद होता है। उसी तरह हम भी सस्ते, चमकते हुए, विलायती ज्ञान को लेकर शान दिखाते हैं, विलायती विचारों का असंगत रूप से प्रयोग करते हैं। हम स्वयं यह नहीं समझते कि अनजाने ही हम कैसे अपूर्व प्रहसन का अभिनय कर रहे हैं। यदि कोई हमारे ऊपर हँसता है तो हम फौरन योरोपीय इतिहास से बड़े-बड़े उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

बाल्यकाल से ही यदि भाषा-शिक्षा के साथ भाव-शिक्षा की भी व्यवस्था हो और भाव के साथ समस्त जीवन-यात्रा नियमित हो, तभी हमारे जीवन में यथार्थ सामंजस्य स्थापित हो सकता है, हमारा व्यवहार सहज मानवीय व्यवहार हो सकता है और प्रत्येक विषय में उचित परिमाण की रक्षा हो सकती है। हमें यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि जिस भाव से हम जीवन-निर्वाह करते हैं उसके अनुकूल हमारी शिक्षा नहीं है। जिस घर में हमें सदा के लिए रहना है उसका उन्नत चित्र हमारी पाठ्य-पुस्तकों में नहीं है। जिस समाज के बीच हमें अपना जीवन बिताना है उस समाज का कोई उच्च आदर्श हमें शिक्षा-प्रणाली के साहित्य में नहीं मिलता। उसमें हम अपने माता-पिता, सुहृद-मित्र, भाई-बहन किसी का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं देखते। हमारे दैनिक जीवन के कार्यकलाप को उस साहित्य में स्थान नहीं मिलता। हमारे आकाश और पृथ्वी, निर्मल प्रभात और सुन्दर संध्या, परिपूर्ण खेत और देशलक्ष्मी स्रोतस्विनी का संगीत उस साहित्य में ध्वनित नहीं होता। यह सब देखकर हम समझ सकते हैं कि वर्तमान शिक्षा के साथ हमारे जीवन का निविड़ मिलन होने की कोई स्वाभाविक सम्भावना नहीं है। दोनों के बीच एक व्यवधान है। हमारी शिक्षा जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाती। जहाँ हमारे जीवन-वृक्ष की जड़ें हैं वहाँ से सौ गज़ दूर हमारी शिक्षा की वर्षा होती है। जो थोड़ा-बहुत पानी हम तक पहुँचता है वह जीवन की शुष्कता दूर करने के लिए यथेष्ट नहीं है। जिस शिक्षा को लेकर हम जीवन व्यतीत करते हैं उसकी उपयुक्तता किसी एक व्यवसाय तक ही सीमित रहती है। जिस सन्दूक में हम अपनी दफ़्तर की पोशाक रखते हैं उसीके अन्दर अपनी विद्या को भी बन्द कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह वर्तमान

शिक्षा-प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम है। और इसके लिए छात्रों को दोष देना अन्याय होगा। उनका ग्रंथ-जगत् एक ओर है तो वास्तव्य-जगत् दूसरी ओर। इन दोनों के बीच केवल व्याकरण-शब्दकोश का सेतु है। इसलिए हमें इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि एक ही व्यक्ति एक ओर योरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्याय-शास्त्र का पण्डित है तो दूसरी ओर सारे कुसंस्कारों का यत्नपूर्वक पोषण करता है; एक ओर स्वाधीनता के उज्ज्वल आदर्श का प्रचार करता है तो दूसरी ओर अधीनता के शतसहस्र तंतुपाश से अपने को और दूसरों को प्रतिक्षण आच्छन्न करता है; एक ओर भाव वैचित्र्यपूर्ण साहित्य का स्वतन्त्र रूप से रसोपभोग करता है तो दूसरी ओर जीवन को भाव के उच्च शिखर पर नहीं बल्कि केवल धनोपार्जन और वैषयिक उन्नति के आधार पर स्थापित करता है। विद्या और व्यवहार के बीच एक दुर्भेद्य व्यवधान उत्पन्न हो गया है; दोनों में सुसंलग्नता निर्मित नहीं हो पाती।

परिणाम यह होता है कि दोनों उत्तरोत्तर एक-दूसरे के विरोधी होते जाते हैं। हमारी जो पुस्तकीय विद्या है उसकी विपरीत दिशा में जीवन को निर्देशित करते-करते हमारे मन में उस विद्या के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा का जन्म होता है। हम सोचते हैं कि वह विद्या एक सारहीन और मिथ्या वस्तु है और समस्त योरोपीय सभ्यता इसी मिथ्या पर आधारित है। जो कुछ हमारा है वह तो सत्य है और जिधर विद्या हमें ले जाती है उधर सभ्यता नामक एक मायाविनी का साम्राज्य है। हम यह नहीं देखते कि विशेष कारणों से हमारे लिए यह शिक्षा निष्फल सिद्ध हुई है; बल्कि हम यह स्थिर करते हैं कि इस विद्या के अन्दर स्वभावतः एक वृहत् निष्फलता विद्यमान है। इस तरह जब हम शिक्षा के प्रति अश्रद्धा व्यक्त करते हैं तब शिक्षा भी हमारे जीवन से विमुख हो जाती है। हमारे चरित्र के ऊपर शिक्षा का प्रभाव विस्तृत परिमाण में नहीं पड़ता। शिक्षा और जीवन का आपसी संघर्ष बढ़ता जाता है। वे एक-दूसरे का परिहास करते हैं। असम्पूर्ण जीवन और शिक्षा को लेकर बंगालियों की संसार-यात्रा दोनों दिशाओं में एक प्रहसन बन जाती है।

जीवन का तिहाई हिस्सा हम जिस शिक्षा में बिताते हैं वह यदि हमारे सम्पूर्ण जीवन से असंलग्न हो जाय, और किसी अन्य शिक्षा के प्राप्त करने का अवसर हमें न मिले, तो अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने का कोई साधन हमारे पास नहीं रह जाता। इसलिए शिक्षा और जीवन में सामंजस्य निर्माण करने की समस्या आज हमारे लिए सर्वप्रधान विचारणीय विषय है।

लेकिन यह सामंजस्य किस शक्ति के द्वारा स्थापित हो सकेगा? बंगला

भाषा और बंगला साहित्य के ही द्वारा। जब बंकिम बाबू का 'बंग दर्शन' नव प्रभात की तरह हमारे देश में उदित हुआ उस समय समस्त शिक्षित जगत् में एक अपूर्व आनन्द का संचार हुआ था। इसका कारण यह नहीं था कि 'बंगदर्शन' ने किसी ऐसे नूतन तत्त्व को प्रकाशित किया था जो योरोपीय दर्शन, विज्ञान या इतिहास में उपलब्ध नहीं था। 'बंगदर्शन' ने एक ऐसी प्रबल प्रतिभा को जन्म दिया जिससे हमारी अंग्रेज़ी शिक्षा और हमारे अन्तःकरण के बीच जो व्यवधान था वह दूर हुआ। बहुत दिनों के बाद प्राण के साथ भाव का आनन्दमय मिलन हुआ। प्रवासी को घर के भीतर लाया गया और इस उत्सव से घर उज्ज्वल हुआ। इतने दिनों तक कृष्ण का मथुरा में राजत्व था, बीस-पच्चीस वर्ष तक द्वारपाल की आराधना करने पर कहीं दूर से उनका दर्शन मिलता था, 'बंगदर्शन' ने श्रीकृष्ण को हमारे वृन्दावन धाम में पहुँचा दिया। हमारे घर में, समाज में, अन्तर में एक नई ज्योति प्रकाशित हुई। हमने अपने घर की स्त्रियों को सूर्यमुखी और कमलमणि[1] के रूप में देखा। चन्द्रशेखर और प्रताप ने बंगाल के पुरुष को एक उच्चतर भावलोक पर प्रतिष्ठित किया। प्रतिदिन के क्षुद्र जीवन में महिमारश्मि का आविर्भाव हुआ।

'बंगदर्शन' से जिस अनुपम आनन्द का आस्वाद मिला उसके फलस्वरूप आज शिक्षित लोगों के मन में बंगला भाषा में अपने भाव व्यक्त करने का उत्साह है। वे समझ गए हैं कि अंग्रेज़ी हमारे लिए काम-काज की भाषा है। लेकिन भाव की भाषा नहीं है। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा है कि यद्यपि हम बचपन में अत्यन्त यत्नपूर्वक अंग्रेज़ी भाषा सीखते हैं फिर भी हमारे देश का वर्तमान स्थायी साहित्य बंगला में ही निर्मित हुआ है। इसका कारण यह है कि अंग्रेज़ी भाषा के साथ हम ऐसे घनिष्ठ आत्मीय भाव से परिचित नहीं हो सकते जिससे साहित्य का स्वाधीन भावोच्छ्वास सहज ही प्रकाशित हो सके। अंग्रेज़ी भाषा पर उसका चाहे जितना प्रभुत्व हो, कोई भी बंगाली उस भाषा में अपना भाव जीवन्त रूप से व्यक्त नहीं कर पाता। जो विशेष माधुर्य, जो विशेष स्मृति-सम्पदा हमें आत्म-प्रकाशन के लिए उत्तेजित करती है, जिन संस्कारों से हमारे मन का विशेष रूप से गठन हुआ है, वे सब विदेशी भाषा में कदापि यथार्थ मुक्तिलाभ नहीं कर सकते।

इसलिए हमारे समाज के शिक्षित लोग जब भी अपने आन्तरिक भाव व्यक्त करना चाहते हैं उन्हें बंगला भाषा का अवलम्बन लेना पड़ता है। लेकिन वह

---

१. सूर्यमुखी, कमलमणि, चन्द्रशेखर, प्रताप—ये सब बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों के पात्र हैं।

अभिमानिनी भाषा है कहाँ ? इतने दीर्घ समय तक जिसकी अवहेलना की गई है वह क्या अपना सारा सौन्दर्य और गौरव लेकर शिक्षाभिमानी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण कर देगी ? हे सुशिक्षित, हे आर्य, तुम क्या इस सुकुमारी, सुकोमला यौवना भाषा की यथार्थ मर्यादा जानते हो ? इसके कटाक्ष में जो उज्ज्वल हास्य है. जो अश्रुम्लान करुणा है, जो प्रखर तेज है, जो स्नेह-प्रीति-भक्ति है उसका गम्भीर मर्म क्या तुमने पहचाना है, अपने हृदय में ग्रहण किया है ? तुम सोचते हो—'मैंने मिल, स्पेन्सर पढ़ रखे हैं, कितने इम्तहान पास किये हैं। मैं एक स्वाधीन, चिन्ताशील, मेधावी युवक हूँ। कितने हतभागे कन्याभारग्रस्त पितागण अपनी कुमारी कन्याओं को लेकर मेरे द्वार पर खुशामद करते हैं। ऐसा होते हुए अशिक्षित ग्रामीण लोगों के घर की तुच्छ भाषा के लिए यही उचित है कि इशारा पाते ही मेरे सामने आत्मसमर्पण करके अपने को धन्य समझे। मैं जो अंग्रेज़ी पढ़कर बंगला में लिखता हूँ इससे बढ़कर सौभाग्य की बात बंगला के लिए दूसरी क्या हो सकती है ? जो यश अंग्रेज़ी भाषा में मुझे अनायास ही मिल सकता है उसका त्याग करके मैं अपने बड़े-बड़े विचार इस दारिद्र्यग्रस्त देश के लिए विर्सजित करता हूँ। जिस तरह जीर्ण वस्त्र, दीन पथिक राजा को देखते ही सम्मानपूर्वक रास्ता छोड़ देते हैं उसी तरह मेरे सामने आते ही भाषा की समस्त बाधा-विपत्तियों को झटपट अलग हो जाना चाहिए। देखो तो, मैं तुम्हारे ऊपर कितने उपकार करता आया हूँ। पोलिटिकल इकॉनॉमी के सम्बन्ध में तुम लोगों को मैं कुछ बताऊँगा। जीव-राज्य से लेकर समाज और आध्यात्मिक जगत् तक इवोल्यूशन का नियम किस तरह काम करता है इसके बारे में मैंने जो कुछ सीखा है वह भी मैं पूर्णतया गोपन नहीं रखूँगा। अपने ऐतिहासिक और दार्शनिक निबन्धों के 'फुटनोटों' में विभिन्न भाषाओं के दुरूह ग्रन्थों से संकलित दृष्टान्त मैं प्रस्तुत करूँगा। विदेशी साहित्य के कौन-से ग्रन्थ के बारे में किस समालोचक ने क्या कहा है यह भी बंगाली पाठक मुझसे जान सकेगा। लेकिन यदि तुम लोगों की यह जीर्णवस्त्रा, अविकसित भाषा मेरा आदेश पाते ही आगे बढ़कर मेरा अभिवादन न करे तो मैं बंगला में नहीं लिखूँगा—मैं वकालत करूँगा, डेप्युटी-मजिस्ट्रेट बनूँगा, अंग्रेज़ी समाचार पत्रों के 'लीडर' लिखूँगा। इससे तुम्हारी जो क्षति होगी उसकी कोई सीमा है ?'

बंगदेश के परम दुर्भाग्य से उसकी यह लज्जाशीला, तेजस्विनी, नन्दिनी बंगभाषा ऐसे 'अच्छे लड़कों' का समुचित आदर नहीं करती—और अच्छे लड़के भी नाराज़ होकर बंगला भाषा के साथ सम्पर्क नहीं रखते —यहाँ तक कि बंगला में पत्र-व्यवहार तक नहीं करते, मित्रों से मिलने पर यथासम्भव बंगला में बातचीत

नहीं करते, बंगला पुस्तकों को उपेक्षापूर्वक घर में बन्द करके रखते हैं। इसको कहते हैं छोटे पाप का भारी दण्ड।

पहले ही कह चुका हूँ, हमारे बाल्यकाल की शिक्षा में भाषा के साथ भाव नहीं होता, और जब हम बड़े होते हैं तो परिस्थिति इसके ठीक विपरीत हो जाती है—अब भाव होते हैं, लेकिन उपयुक्त भाषा नहीं होती। इस बात का भी पहले उल्लेख कर चुका हूँ कि भाषा शिक्षा के साथ-साथ भाव-शिक्षा की वृद्धि न होने से योरोपीय विचारों से हमारा यथार्थ संसर्ग नहीं होता, और इसीलिए आजकल बहुत-से शिक्षित लोग योरोपीय विचारों के प्रति अनादर व्यक्त करने लगे हैं। दूसरी ओर, जिन लोगों के विचारों से मातृभाषा का दृढ़ सम्बन्ध नहीं होता वे अपनी भाषा से दूर हो जाते हैं और उसके प्रति उनके मन में अवज्ञा की भावना उत्पन्न होती है। बंगला भाषा का उन्हें ज्ञान नहीं होता, लेकिन इस बात को वे स्वीकार नहीं करते और कहते हैं: 'बंगला में कोई गम्भीर विचार कैसे व्यक्त किया जा सकता है? यह भाषा हमारे-जैसे शिक्षित लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है।' जब अंगूर हमारी पहुँच के बाहर होते हैं तब हम उन्हें खट्टा कहकर अपना समाधान करते हैं।

हम चाहे जिस दिशा से देखें, हमारी भाषा, जीवन और विचारों का सामंजस्य दूर हो गया है। हमारा व्यक्तित्व विच्छिन्न होकर निष्फल हो रहा है; वह अपने बीच कोई अखण्ड ऐक्य उपलब्ध करके बलिष्ठ नहीं हो पाता, जिन चीज़ों की उसे ज़रूरत है वे उसके पास नहीं हैं। एक निर्धन आदमी जाड़े के दिनों में रोज़ भीख माँगकर गरम कपड़ा बनाने के लिए धन-संचय करता, लेकिन यथेष्ट धन जमा होने तक जाड़ा बीत जाता। उसी तरह जब तक वह गर्मी के लिए उचित कपड़े की व्यवस्था कर पाता तब तक गर्मी भी बीत जाती। एक दिन जब देवता ने उस पर तरस खाकर उसे वर माँगने के लिए कहा तो वह बोला: 'मेरे जीवन का यह हेर-फेर दूर करो, मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं जीवन-भर गर्मी में गरम कपड़े और सर्दी में ठण्डे कपड़े प्राप्त करता रहा हूँ। इस परिस्थिति में संशोधन करके दो—बस, मेरा जीवन सार्थक होगा।'

हमारी प्रार्थना भी यही है। हेर-फेर दूर होने से ही हमारा जीवन सार्थक होगा। हम सर्दी में गरम कपड़े और गर्मी में ठण्डे कपड़े जमा नहीं कर पाते तभी हमारा इतना दैन्य है—वरना हमारे पास है सब-कुछ। हम विधाता से यही वर माँगते हैं—हमें क्षुधा के साथ अन्न, शीत के साथ वस्त्र, भाव के साथ भाषा और शिक्षा के साथ जीवन प्राप्त करने दो। हमारी दशा तो वैसी ही है कि:

पानी में मीन पियासी
सुनत-सुनत लागे हासी ।

हमारे पास पानी भी है और प्यास भी है। देखकर पृथ्वी के लोग हँसते हैं। आँखों से आँसू टपकते हैं, लेकिन हम प्यास नहीं बुझा पाते।

[नवम्बर, १८९२ में राजशाही (अब पूर्वी पाकिस्तान के अन्तर्गत) में लोकेश पालित के साथ रहते समय राजशाही एसोसियेशन के अनुरोध पर लिखित प्रबन्ध ।
'साधना' (पौष १२९९, बं० सं०) दिसम्बर, १८९२ में प्रकाशित । जस्टिस सर गुरुदास बनर्जी, वाइस चान्सलर, कलकत्ता विश्वविद्यालय, बंकिमचन्द्र तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा यह विशेष रूप से प्रशंसित किया गया। नवम्बर, १९०८ में 'शिक्षा' पुस्तक में समाविष्ट ।]

शिक्षा का मिलन

यह बात माननी पड़ेगी कि आज पृथ्वी पर पश्चिम के लोग विजयी हुए हैं। पृथ्वी को वे कामधेनु की तरह दुह रहे हैं। उनका पात्र छलका पड़ रहा है। हम बाहर खड़े ताक रहे हैं, और देख रहे हैं कि हमारे उपभोग के लिए अन्न का हिस्सा दिन-दिन कम होता जाता है। जब भूख बढ़ती है तो उसके साथ-साथ क्रोध भी बढ़ता है। हम मन-ही-मन सोचते हैं, उपभोग करने वाले को अवसर पाकर परास्त कर दें। लेकिन करेंगे कैसे ? आज तो वही हमें दबाए बैठा है। अवसर उसीके हाथ में है, हमारे हाथ तक नहीं पहुँचा।

क्यों नहीं पहुँचा ? विश्व को उपभोग करने का अधिकार पश्चिम के लोगों को क्यों मिला है ? अवश्य किसी-न-किसी सत्य के ज़ोर से। हम भले ही दलबन्दी करके, बाहर से उसकी खुराक बन्द करके, अपने लिए अन्न की व्यवस्था करना चाहें; लेकिन यह काम आसान नहीं है। यदि हम सोचें कि ड्राइवर के सिर पर डण्डा मारकर इंजन को अपने वश में कर सकेंगे तो यह हमारी भूल होगी। एक विशेष विद्या है, जो ड्राइवर का रूप धारण करके इंजन चलाती है। इसलिए हमारे क्रोध की आग से इंजन नहीं चलेगा। विद्या पर अधिकार करना होगा, तभी सत्य का वरदान मिलेगा।

मान लीजिए, एक बाप के दो बेटे हैं। बाप स्वयं मोटर चलाता है, सोचता है जो लड़का मोटर चलाना अच्छी तरह सीख लेगा उसीको मोटर मिलनी चाहिए। उनमें से एक बेटा चतुर है, उसके कुतूहल का कोई अन्त नहीं। वह बराबर देखता रहता है कि गाड़ी कैसे चलती है। दूसरा लड़का सीधा-सादा है, भक्तिभाव से बाप के चरणों की ओर देखता है; इस बात पर ध्यान नहीं देता कि बाप के दोनों हाथ 'स्टिअरिंग'-चक्र को किस तरह घुमाते हैं। चतुर लड़का मोटर के कल-पुर्ज़ों को अच्छी तरह समझ लेता है और एक दिन ज़ोर से हॉर्न बजाते हुए गाड़ी दौड़ाता है। गाड़ी चलाने का शौक़ इतना बढ़ जाता है कि बाप के अस्तित्व का भी उसे होश नहीं रहता। लेकिन बाप उसके गाल पर चपत लगाकर उसके हाथ से गाड़ी छीन नहीं लेता, बल्कि वह इस बात से प्रसन्न होता है कि उसकी तरह पुत्र भी मोटर चला लेता है। भोला लड़का देखता है कि भैया खेत में फ़सल को कुचलते हुए दिन-भर गाड़ी हाँक रहे हैं। लेकिन कौन उन्हें रोक सकता है ? सामने खड़े होकर बाप को दुहाई देने से 'मरणं ध्रुवं'; फिर भी वह

बाप के चरणों की ओर देखता है और कहता है : 'मुझे कुछ नहीं चाहिए।'

लेकिन 'कुछ नहीं चाहिए' कहकर किसी वास्तविक आवश्यकता की उपेक्षा करने से मनुष्य को दुःख सहना ही पड़ता है। प्रत्येक आवश्यकता की एक मर्यादा होती है। उस मर्यादा के अन्दर उसको स्वीकार करने से हमें मुक्ति मिल सकती है। आवश्यकता की अवज्ञा करने से हम उसके चिरऋणी बन जाते हैं, और ब्याज चुकाते-चुकाते हमारा जीवन बीत जाता है। परीक्षक के हाथ से मुक्ति पाने का एक ही उचित मार्ग है—परीक्षा पास करना।

विश्व का एक बाहरी पहलू है। इस पहलू से देखा जाय तो विश्व एक विशाल यन्त्र है। उसके नियम बँधे हुए है, उसमें तिल-भर भी परिवर्तन नहीं हो सकता। यह विराट् वस्तु-विश्व हमें तरह-तरह से बाधा देता है। यदि आलस्य या मूर्खतावश इन बाधाओं की हम उपेक्षा करते हैं तो अपने-आपको ही धोखा देते हैं। इसके विपरीत जो वस्तुजगत् के नियम सीख लेता है उसकी बाधाएँ ही दूर नहीं हो जाती बल्कि वस्तुएँ स्वयं उसकी सहायक बन जाती हैं। वस्तु-जगत् के दुर्गम पथ पर चलने की विद्या उसीके हाथ आती है। सब स्थानों पर सबसे पहले वह पहुँच सकता है और इसलिए विश्वभोज का प्रथम भाग उसीके थाल में पड़ता है। जो धीरे-धीरे चलकर सबके बाद पहुँचता है वह देखता है कि उसके भाग्य में या तो बहुत ही कम है या कुछ भी नहीं।

ऐसी अवस्था में पश्चिम के लोगों ने जिस विद्या के ज़ोर से विश्व पर प्रभुत्व प्राप्त किया है उस विद्या की निन्दा करने से हमारा दुःख कम नहीं होता, वरन् त्रुटियाँ बढ़ती जाती हैं। विद्या ही सत्य है। कुछ लोग कहते हैं, 'विद्या अकेली नहीं है, विद्या के साथ-साथ छल भी है।' लेकिन जहाँ छल है वहाँ मृत्यु है, क्योंकि दुष्टता में सत्य नहीं।

जीवजन्तु आहार पाकर जीवित रहते हैं, आघात पाकर मरते है। जो पाते हैं उसे वे बिना किसी तर्क के मान लेते हैं। लेकिन मानव-स्वभाव का सबसे बड़ा गुण है 'न मानना।' जीव-जन्तु विद्रोही नहीं होते, मनुष्य विद्रोही है। बाहर से जो होता है, जिसमें उसका कोई हस्तक्षेप नहीं, उसीको वह चरम नहीं मानता। इसीलिए प्राणी-जगत् के इतिहास में आज उसने ऐसा गौरवमय स्थान प्राप्त किया है। असल बात यह है कि मनुष्य बिलकुल ही सीधा या विनीत नहीं है। इतिहास के आदिकाल से उसने कहा : 'हम विश्व की घटनाओं पर अधिकार करेंगे।' उसने सोचा, घटनाओं के पीछे जो प्रेरणा है उसे यदि वह बाध्य कर सके तो फिर वह स्वयं 'घटनाओं' की श्रेणी से निकलकर 'घटयिताओं' के वर्ग में जा पहुँचेगा। अपनी साधना उसने मन्त्र-तन्त्र से आरम्भ की। पहले उसकी यह धारणा थी कि

जगत् में जो कुछ होता है वह एक अद्भुत जादू की शक्ति से होता है और इसलिए जिसके पास अपनी भी एक 'जादूशक्ति' हो उसीको प्रकृति पर अधिकार मिल सकता है।

जादू-मन्त्र से मानव ने जो चेष्टा आरम्भ की थी उसकी परिणति आज विज्ञान की साधना में हो रही है। इस चेष्टा का मूल स्वर है : 'हम मानेंगे नहीं, मनवायँगे।' इसलिए जिन्होंने इस चेष्टा में सिद्धि प्राप्त की है उन्हींको बाह्य जगत् पर प्रभुत्व मिला है। विश्व ब्रह्मांड में नियम बिलकुल अटल है, इस नियम में कहीं त्रुटि नहीं हो सकती, यही है वैज्ञानिक विश्वास। इसी विश्वास के ज़ोर से बाह्य जगत् पर विजय मिलती है। इसी वैज्ञानिक विश्वास पर निर्भय होकर पश्चिम के लोगों ने नियम को पकड़ रखा है और इसीसे वे बाह्य जगत् की बाधाओं का अतिक्रमण करते हैं। आज भी जो विश्व-व्यवस्था में जादू को अस्वीकार करने में डरते हैं, जिनका मन जादू की ओर झुकता है, उन्हें वस्तु जगत् में सर्वदा आघात ही मिलता है, अधिकार नहीं।

पूर्वी जगत् में जिस समय हम रोग-निवारण के लिए भूत भगाने वाले मांत्रिक को बुलाते थे, दैन्य दूर करने के लिए ग्रहशान्ति का उपाय सोचते थे और ज्योतिषी का दरवाजा खटखटाते थे, चेचक से बचने के लिए शीतलादेवी की आराधना करते थे, शत्रु को मारने के लिए मन्त्र उच्चारण करते थे, उस समय पश्चिमी महादेश में वॉल्तेयर-जैसे बुद्धिवादी विद्यमान थे। जब वॉल्तेयर से एक स्त्री ने पूछा : 'सुना है कि मन्त्र के ज़ोर से भेड़ को मारा जा सकता है, क्या यह सच है ?' वॉल्तेयर ने उत्तर दिया : 'अवश्य मारा जा सकता है—लेकिन हाँ, मन्त्र के साथ-साथ यथेष्ट मात्रा में आर्सेनिक भी होना चाहिए।' योरोप के किसी भी कोने में जादू-मन्त्र पर विश्वास करने वाले लोग नहीं हैं, यह मैं नहीं कहता; लेकिन आर्सेनिक विष की शक्ति में वहाँ प्रायः सभी का विश्वास है। इसीलिए वे इच्छा करते ही मार सकते हैं और हम इच्छा न करते हुए भी मर सकते हैं।

आज यह कहना आवश्यक नहीं है कि विश्व-शक्ति त्रुटिविहीन विश्वनियम का ही रूप है। हमारी नियंत्रित बुद्धि इस नियन्त्रित शक्ति को उपलब्ध करती है। बुद्धि-नियम के साथ विश्व-नियम का सामञ्जस्य है। हममें से प्रत्येक का इस नियम पर अधिकार है, यह बात जब हम जान लेते हैं तभी हम निडर होकर आत्म-शक्ति पर निर्भर रह सकते हैं। विश्व-व्यवस्था में जो मनुष्य आकस्मिकता को मानता है वह अपने-आपको मानने का साहस नहीं करता; वह इधर-उधर जिस-तिस को मान बैठता है; शरणागत होने के लिए वह व्याकुल है। मनुष्य जब सोचता है कि विश्व में उसकी बुद्धि का कोई ज़ोर नहीं चलता तो फिर वह

सन्धान नहीं करना चाहता, प्रश्न नहीं करना चाहता। फिर वह किसी बाह्य 'कर्ता' को ढूँढ़ता रहता है। इसलिए बाहर की ओर से सभी ठगते हैं—पुलिस दरोगा से लेकर मलेरिया के मच्छर तक। बुद्धि की भीरुता ही शक्तिहीनता का मुख्य कारण है।

पश्चिमी जगत् में पोलिटिकल स्वतन्त्रता का विकास कब से आरम्भ हुआ है? अर्थात् देश के सभी लोगों ने यह बात कब से समझी है कि राष्ट्रनियम व्यक्ति विशेष या संप्रदाय विशेष की काल्पनिक वस्तु नहीं है, वह नियम सभी की सम्मति पर आधारित है? तभी से जब से वैज्ञानिक चर्चा ने उनके मन को भयमुक्त किया है, जब से उन्होंने जाना है कि वही नियम सत्य है जो व्यक्तिगत कल्पना से विकृत या विचलित नहीं हो सकता। विशालकाय रशिया ने सदियों राजा की गुलामी की, उसके दुःख की कभी कोई सीमा नहीं रही। इसका मुख्य कारण यही है कि वहाँ के अधिकांश लोग प्रत्येक विषय में दैव को मानते थे, अपनी बुद्धि को नहीं। आज वहाँ राजा नहीं रहा, लेकिन एक और आफ़त उनके कन्धों पर सवार है। इस आफ़त ने उन्हें रक्त समुद्र पार कराते हुए दुर्भिक्ष की मरुभूमि में पहुँचा दिया है। और इसका कारण यही है कि स्वराज्य बाहर से प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। स्वराज्य के लिए आत्मबुद्धि के प्रति आस्था आवश्यक है, क्योंकि इसी आस्था पर आत्मशक्ति निर्भर है।

एक दिन मैं किसी गाँव में गया था, ग्राम सुधार में योग देने के लिए। मैंने गाँव के लोगों से पूछा: 'उस दिन जब यहाँ आग लगी थी, तुम लोग एक घर को भी क्यों नहीं बचा पाए?' उन्होंने उत्तर दिया: 'हमारी किस्मत!' मैंने कहा: 'किस्मत नहीं, कुएँ का अभाव। गाँव में एक कुआँ क्यों नहीं बना लेते?' उन्होंने फौरन जवाब दिया: 'जी, मालिक चाहेंगे तो होगा'। जिनके घर में दैवी इच्छा से आग लगती है, वे आग बुझाने के लिए पानी की ज़िम्मेदारी किसी विशेष व्यक्ति पर डालते हैं। किसी-न-किसी तरह इन्हें जब एक 'कर्ता' मिल जाता है तभी इनकी रक्षा होती है। इनके भाग्य में और चाहे जिस चीज़ का अभाव हो, 'कर्ता' का अभाव हर्गिज़ नहीं है।

विश्व राज्य में देवता ने हमें स्वाधीनता दी है, अर्थात् विश्व के नियम को उसने सबके लिए बनाया है। इस नियम को हाथ में लेकर प्रत्येक व्यक्ति किसी सीमा तक विश्व पर अधिकार कर सकता है। केवल हमारा मोह हमें इस अधिकार से वंचित रखता है। इसीलिए ईश्वर के सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा है:

'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः'

ईश्वर ने अर्थ का जो विधान बनाया है वह यथायोग्य है उसमें काल्पनिकता

बिलकुल नहीं है। वह विधान शाश्वत है—यह नहीं हो सकता कि आज एक विधान है, तो कल दूसरा। इसका मतलब हुआ कि अर्थ-राज्य में ईश्वर ने अपने विधान को सदा के लिए सुदृढ़ बनाया है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य को सर्वदा दुर्बलता-पूर्वक दूसरों का दामन पकड़ना पड़ता। विश्व की प्रत्येक वस्तु से भयभीत होकर वह मानो पग-पग पर ईश्वर के अनुचरों को घूस देने के लिए प्रवृत्त होता। लेकिन इन अनुचरों का छद्मवेश धारण करने वाली विभीषिकाओं से हमें जिसने बचाया है वह है विश्व राज्य में हमारी स्वाधीनता का प्रमाणपत्र। उसी प्रमाणपत्र की यह आश्वास वाणी है :

'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्य: समाभ्य:'

ईश्वर ने अनन्तकाल के लिए अपने विधान को अटल बनाया है। उसने अपने सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रों को विश्वास दिलाया है : 'वस्तुराज्य में यदि मैं न रहूँ तो भी तुम्हारा काम चलता रहेगा। मैं वहाँ से अलग हो गया हूँ। अब एक ओर मेरे विश्व का नियम है और दूसरी ओर तुम्हारी बुद्धि का नियम है। इन दोनों के योग से तुम महान् बनो। यह राज्य तुम्हारा ही हो! तुम्हारी जय हो। यह धन तुम्हारा है, और ये अस्त्र भी तुम्हारे हैं।' इस विधिदत्त स्वराज्य को जो ग्रहण करता है उसे दूसरे सभी प्रकार की स्वाधीनता मिलती है और वह उस स्वाधीनता को सुरक्षित रख सकता है।

लेकिन अपनी बुद्धि के क्षेत्र में जो लोग 'कर्ताभक्त' हैं, उनका राजनैतिक विभाग में भी 'कर्ताभक्त' होने के अलावा कोई चारा नहीं है। जहाँ विधाता स्वयं अपना अधिकार नहीं जताता वहाँ भी वे 'कर्ता' का सहारा लेते हैं। जहाँ ईश्वर उन्हें सम्मान देने के लिए तैयार है वहाँ भी वे अपनी अवमानना करते हैं। ऐसे लोगों के 'स्व'-राज्य में एक के बाद एक राजा की आमदगी होगी; लेकिन छोटे से 'स्व' को बचाना ही कठिन होगा।

मनुष्य की बुद्धि को भूतों के उपद्रव से, और अद्भुत शक्तियों के शासन से मुक्त करने का भार जिस पर पड़ा है वह चाहे पूर्व का निवासी हो या पश्चिम का, उसकी उस्तादी माननी ही होगी। देवता का अधिकार आध्यात्मिक क्षेत्र में है, दैत्य का आधिभौतिक क्षेत्र में। मैं विश्व की उस शक्ति को दैत्य कहता हूँ जो सूर्य-नक्षत्रों को लेकर आकाश में लट्टू की तरह चक्कर काटती रहती है। उस आधि-भौतिक राज्य की प्रधान विद्या आज शुक्राचार्य के हाथ में है। यही है संजीवनी विद्या। इसी विद्या के ज़ोर से जीवन-रक्षा होती है, जीवन-पोषण होता है, सर्व प्रकार की दुर्गति दूर होती है; अन्न, वस्त्र और स्वास्थ्य के अभाव से छुटकारा मिलता है। इसी विद्या द्वारा जड़त्व के अत्याचार से जीव-जन्तु और मनुष्य के

अत्याचार से, रक्षा होती है। यह विद्या विधिवत् है। इससे जब हमारी बुद्धि का मिलन होगा तभी स्वातन्त्र्य की बुनियाद पड़ेगी, अन्य कोई उपाय नहीं है।

इस शिक्षा से हम कितनी दूर हो गए हैं, इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। हिन्दू कुएँ से यदि मुसलमान पानी निकाले तो वह पानी अपवित्र हो जाता है। यह बड़ी अजीब बात है, क्योंकि पवित्रता आध्यात्मिक राज्य की चीज़ है और कुएँ का पानी वस्तुराज्य की चीज़। यदि कोई कहे कि मुसलमान के घृणा करने से मन अपवित्र होता है तो यह बात समझ में आ सकती है, क्योंकि दोनों चीज़ें आध्यात्मिक क्षेत्र की हैं। लेकिन यह कहना कि मुसलमान के घड़े में अपवित्रता है, तर्क की सीमा से बाहर है। इस बात से बुद्धि को धोखा दिया जाता है। पश्चिमी स्कूलमास्टर के आधुनिक हिन्दू छात्र कहेंगे कि वास्तव में यह प्रश्न स्वास्थ्य-तत्त्व का है। लेकिन स्वास्थ्य-तत्त्व के किसी अध्याय में पवित्रता की चर्चा नहीं की जाती। अंग्रेज़ छात्र कहेंगे, आधिभौतिक बातों पर जिनकी श्रद्धा नहीं है उनसे आध्यात्मिकता की दुहाई देकर ही काम कराया जा सकता है। यह उत्तर बिलकुल ही अच्छा नहीं है। धोखा देकर जिनसे हम काम निकालते हैं उन्हें सर्वदा बाहर से ही काम में लगाया जा सकता है। अपने-आप काम करने की शक्ति उसमें नहीं रहती, इसलिए 'कर्ता' के बगैर उनका काम नहीं चल सकता। और ऐसा धोखा जब सत्य की सहायता देना चाहता है उस समय भी वह सत्य को दबा देता है। 'मुसलमान का घड़ा हिन्दू कुएँ के जल को गन्दा कर देता है'—इसके बदले जब यह कहा जाता है कि 'मुसलमान का घड़ा हिन्दुओं के जल को अपवित्र कर देता है', तब सत्य-निर्णय के सारे मार्ग बन्द हो जाते हैं। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु को अस्वच्छ बनाती है या नहीं, यह प्रश्न प्रमाण-सापेक्ष है। हिन्दू और मुसलमानों के घड़े, उनके कुओं का जल, उनके गाँवों का स्वास्थ्य, इन सबकी नियमानुसार तुलनात्मक परीक्षा की जा सकती है। पवित्रता-सम्बन्धी दोष आन्तरिक हैं, लेकिन स्वास्थ्य-सम्बन्धी दोष बाह्य है; और बाहर से उसका प्रतिकार किया जा सकता है। स्वास्थ्यतत्त्व के अनुसार घड़े को साफ रखने का नियम वैज्ञानिक नियम है। हिन्दू-मुसलमानों के लिए यह नियम एक-सा है। दोनों इस नियम को ग्रहण करें, और एक-दूसरे के कुएँ का उपयोग करें, इस बात के लिए प्रयत्न किया जा सकता हैं। लेकिन जब किसी बाह्य वस्तु को अस्वच्छ न कहकर अपवित्र कहा जाता है तब समस्या को साधारण मनुष्य की बुद्धि और चेष्टा के बाहर निर्वासित किया जाता है। इससे क्या कोई काम सम्पादित हो सकता है? एक ओर बुद्धि को भुलावा देना, और दूसरी ओर मूढ़ता की मदद से अपने-आपको धोखा देकर किसी तरह काम चलाना, यह क्या सफलता का मार्ग है? जो चालित है उसके

प्रति अबुद्धि, और जो चालक है उसके प्रति असत्य -- इन दोनों के योग से क्या कोई कल्याण हो सकता है ? इस तरह की बुद्धिगत कायरता से देश को बचाने के लिए हमें शुक्राचार्य के घर की शरण लेनी होगी। उस घर के द्वार पश्चिम की ओर खुलते हैं, केवल इसीलिए यदि हम उस घर को अपवित्र कहें तो हम अपने-आपको उस विद्या से वंचित करेंगे जो बाह्य जगत् के नियम हमें समझाती है; और साथ-ही-साथ जो विद्या आन्तरिक पवित्रता सिखाती है उस पर भी हीनता का कलंक लगेगा।

यहाँ एक आपत्ति उठ सकती है। बहुत-से लोग पूछेंगे, पश्चिम के लोग जब बर्बर थे, जब वहाँ के लोग पशुचर्म पहनकर शिकार करते थे, तब क्या हमारे देश में अन्न और वस्त्र की व्यवस्था नहीं की गई थी ? जब वे दल बनाकर डाके डालते फिरते थे तब क्या हमने राज्य-शासन-पद्धति का आविष्कार नहीं किया था ? अवश्य किया था ---लेकिन उसका कारण क्या था ? कारण यही था कि उस समय वस्तु-विद्या और नियम-तत्त्व पर उनकी अपेक्षा हमारा अधिक प्रभुत्व था। पशुचर्म पहनने में जितनी विद्या आवश्यक होती है उससे कहीं अधिक विद्या कपड़ा बुनने में लगती है। जंगली प्राणियों को मारकर खाने की अपेक्षा खेती करके अन्न उपजाने में अधिक विद्या की ज़रूरत है। डाका डालने की अपेक्षा राज्यशासन में अधिक विद्या की आवश्यकता होती है। आज यदि पश्चिम की ओर हमारी पारस्परिक अवस्था बिलकुल उलट गई है तो इसमें दैव का कोई दोष नहीं है। कलिंग के राजा को पथ से हटाकर जंगल के शिकारी को आज दैव ने नहीं, विद्या ने ही सिंहासन पर बिठाया है। इसलिए हमारे साथ पश्चिम की प्रतियोगिता किसी बाह्य क्रिया-कलाप से क्षीण नहीं होगी। उसकी विद्या को आत्मसात् करके ही हम संभल सकेंगे। इसका अर्थ यही हुआ कि हमारी मुख्य समस्या शिक्षा की समस्या है। इसलिए शुक्राचार्य के आश्रम में हमें जाना ही होगा।

यहाँ तक पहुँचकर हमारा मन फिर कुछ रुक जाता है। यह प्रश्न सामने आता है : 'सब कुछ माना, लेकिन पश्चिम में जो शक्तिरूप तुमने देखा उससे क्या तुम्हें तृप्ति मिली है ?' नहीं, तृप्ति नहीं मिली। वहाँ भोग का ही रूप दिखाई पड़ा है, आनन्द का नहीं। मैंने सात महीने अमेरिका में बिताए हैं— ऐश्वर्य की दानवपुरी में। यहाँ मैं 'दानव' शब्द का बुरे अर्थ में प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। यदि अंग्रेज़ी में अपना भाव व्यक्त करना होता तो मैं कहता : 'टायटॅनिक वेल्थ'—अर्थात् ऐसा ऐश्वर्य जिसकी शक्ति प्रबल हो, विस्तार दीर्घ हो। होटल की खिड़की के पास मैं अक्सर बैठा रहता, सामने की तीस-पैंतीस मंज़िल वाली इमारत को देखता, और मन-ही मन सोचता, 'लक्ष्मी और कुबेर में कितना फर्क है।' लक्ष्मी के हृदय में

कल्याण की कामना है, उसी कल्याण द्वारा धन को कीर्ति मिलती है। कुबेर के हृदय में संग्रह की इच्छा है, उस संग्रह द्वारा धन को केवल प्राचुर्य मिलता है। प्राचुर्य का कोई चरम अर्थ नहीं है। दो का दुगना चार, चार का दुगना आठ, आठ का दुगना सोलह –अंक मेढ़क की तरह छलाँग मारते चलते हैं। ये छलाँगें लम्बी होती जाती हैं। निरन्तर छलाँग मारने का शौक जिसे लग जाता है उसे ज़िद पड़ जाती है, उसका खून गर्म हो जाता है, बहादुरी के नशे में वह चूर हो जाता है। और बाहर के लोगों को इससे कितनी पीड़ा होती है उसका एक उदाहरण मैं दे सकता हूँ।

एक दिन बरसात की भरी नदी में अपने बजरे की खिड़की के पास मैं बैठा था। पूर्णिमा की संध्या थी। थोड़ी ही दूर तीर पर एक बड़ी नौका के मल्लाह लोग मनोविनोद में व्यस्त थे। किसी के हाथ में ढोल था, किसी के पास करताल। उनके कंठ में स्वर का आभास था, लेकिन भुजाओं में शक्ति यथेष्ट थी। ताल की द्विगुण-चौगुण से लय की गति बढ़ रही थी। रात के ग्यारह बज चुके, लेकिन वह रुकना नहीं चाहते थे; क्योंकि रुकने का कोई गम्भीर कारण नहीं था। साथ में यदि गाना होता तो 'सम' का भी प्रश्न उठता। लेकिन अराजक ताल में केवल गति है शान्ति नहीं, उत्तेजना है तृप्ति नहीं। ताल के नशे में चूर होकर वह लोग निःसंदेह प्रतिक्षण आनन्द का अनुभव कर रहे थे। मैं उस ताडंव के बाहर था, इसलिए मैं समझ सका कि गानहीन ताल की धृष्टता अत्यन्त असह्य होती है। इसी तरह अॅटलांटिक सागर के उस पार, ईंट-पत्थर के विराट् जंगल में बैठ कर, मेरा मन प्रतिदिन पीड़ित हुआ। यहाँ ताल का अन्त नहीं, लेकिन सुर कहाँ है? 'और चाहिए, और चाहिए, और चाहिए'—इन शब्दों में सृष्टि का स्वर नहीं लगता। तभी उस अभ्रभेदी ऐश्वर्य के सामने खड़े होकर धन-मानहीन भारत के एक पुत्र ने धिक्कार के स्वर में कहा : 'ततः किम्!'

यह बात बार-बार कह चुका हूँ और फिर कहता हूँ, कि मैं वैराग्य के नाम पर 'खाली झोली' का समर्थन नहीं करता। मैं तो यह कहता हूँ कि आन्तरिक गान को यदि सत्य होना है तो उसकी साधना के लिए सुर-ताल-रस की संयम-रक्षा करनी पड़ेगी। बाहर का वैराग्य आन्तरिक पूर्णता का साक्षी हो सकता है। कोलाहल के नशे में संयम असम्भव है। यदि आन्तरिक प्रेम सत्य है तो उसकी साधना में भोग को संयत करना होगा, सेवा को विशुद्ध बनाना होगा। इस साधना में सतीत्व आवश्यक है। इस सतीत्व का जो वैराग्य है, अर्थात् संयम है, वही वास्तविक वैराग्य है। अन्नपूर्णा के साथ वैरागी का मिलन ही प्रकृत मिलन है।

जब मैं जापान में था, प्राचीन जापान का रूप मेरे सामने आया और मुझे

बड़ी तृप्ति मिली। निरर्थक बाहुल्य पर वह निर्भर नहीं था। प्राचीन जापान ने अपने हृदय-पद्म के बीच सुन्दर को प्राप्त किया था। उसकी वेश-भूषा, काम-काज, खेल-कूद, रहन-सहन, शिष्टाचार, धर्मानुष्ठान— सभी के ऊपर एक मूल भावना का प्रभाव था जिससे वैचित्र्य के बीच सुन्दर का प्रकाश हो सका, 'एक' का प्रकाशन हो सका। निरी रिक्तता जिस तरह निरर्थक है उसी तरह निरा बाहुल्य भी। प्राचीन जापान का जो रूप मेरे सामने आया उसमें न रिक्तता थी, न बहुलता, बल्कि पूर्णता थी। यही पूर्णता मानव-हृदय को अतिथि बनाती है; उसे आमन्त्रित करती है, ठुकराती नहीं। इसके साथ-ही-साथ हमने आधुनिक जापान का रूप भी देखा—वहाँ मल्लाहों का जमघट है; ताल का प्रचण्ड निनाद है जो सुन्दर के साथ मेल नहीं खाता और पूर्णिमा की चाँदनी का उपहास करता है।

अब तक मैंने जो कहा उससे यह स्पष्ट होता है कि मैं रेलवे टेलीग्राफ, कल-कारखानों को बेकार नहीं मानता। मैं कहता हूँ, इन सबका प्रयोजन है किन्तु इनमें वाणी नहीं। विश्व के किसी स्वर में यह अपना स्वर नहीं मिला सकते, हृदय की किसी पुकार का यह उत्तर नहीं दे सकते। मानव-जीवन में जहाँ अभाव है वहीं उपकरण जमा होते हैं, जहाँ पूर्णता है वहाँ मनुष्य का अमृत-रूप व्यक्त होता है। इस अभाव और उपकरण के पक्ष में ईर्ष्या है, द्वेष है, वहाँ दीवार है, पहरेदार है, वहाँ व्यक्ति अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता है और दूसरे पर आघात करता है। जीवन के इसी क्षेत्र में संघर्ष है। लेकिन जहाँ अमरत्व है, जहाँ मनुष्य वस्तु को नहीं बल्कि आत्मा को व्यक्त करता है, वहाँ वह दूसरों को अपने पास बुलाता है। वहाँ वितरण से भोज की क्षति नहीं होती। इसलिए जीवन के उसी क्षेत्र में शान्ति है।

जब योरोप ने विज्ञान की कुञ्जी से विश्व के रहस्य-निकेतन के द्वार खोलने शुरू किये तब उसने चारों ओर नियम का ही राज्य देखा। सर्वत्र नियम देखने के अभ्यास से योरोप यह विश्वास खो बैठा कि नियम के परे भी कुछ है, जिसके साथ हमारे मनुष्यत्व का आन्तरिक मिलन है। नियम को कार्य में नियुक्त करके हम सफल हो सकते हैं। लेकिन सफल होने के अलावा भी मनुष्य कुछ चाहता है। चाय के बगीचों में मैनेजर कुलियों के ऊपर कड़ा नियम लागू करता है, और चाय-उत्पादन के लिए यह नियम बड़े काम का होता है, लेकिन अपने मित्रों के प्रति मैनेजर कोई नियम नहीं चलाता। यहाँ नियम का प्रश्न ही नहीं उठता; यहाँ चाय का उत्पादन नहीं होता बल्कि चाय खर्च की जाती है। कुलियों के लिए जो नियम है वह आधिभौतिक विश्व नियम की श्रेणी का है। लेकिन यदि कोई कहे कि मैनेजर की मित्रता का सत्य किसी विराट् सत्य का अंग नहीं है तो इस धारणा से

मनुष्यत्व की क्षति होगी। कल-कारखानों को हम आत्मीय नहीं समझ सकते। यदि कारखाने के बाहर कुछ न हो तो हमारी उस आत्मा का क्या होगा जिसे 'आत्मीय' की खोज है ? सर्वदा विज्ञान कीचर्चा करते-करते पाश्चात्य देश आत्मा को दूर हटाते रहते हैं, और आखिर उन्होंने आत्मा के लिए कोई स्थान बाकी नहीं रखा। एकांगी आध्यात्मिकता से हम लोग दारिद्रय और दुर्बलता के शिकार हुए हैं। लेकिन क्या पश्चिम के लोग उतनी ही एकांगी आधिभौतिकता से ग्रस्त नहीं हैं ? एक पाँव से लँगड़ाते हुए क्या वे मनुष्यत्व की सार्थकता तक पहुँच सकते हैं ?

जिन लोगों का विश्व के साथ चाय-बगीचे के मैनेजर-जैसा सम्बन्ध होता है उनसे निपटना सभी के लिए आसान नहीं होता। ये लोग अपने कार्य में निपुण होते हैं। सीधे-सादे आदमी इनके जाल में पकड़े जाते हैं और फिर बाहर निकलने का रास्ता नहीं ढूँढ़ पाते, क्योंकि सीधे-सादे लोगों को नियम-बोध नहीं होता। जहाँ विश्वास नहीं करना चाहिए वहाँ भी वे बिना सोचे-समझे विश्वास कर लेते हैं—चाहे वह बृहस्पतिवार की 'अशुभ घड़ी' हो, या रक्षा का ताबीज़ हो, या चाय-बगीचे की नौकरी का जाल हो। लेकिन सीधे-सादे लोगों के लिए भी कोई ऐसा स्थान होता है जो नियम से ऊपर हो। वहाँ खड़े होकर वे कह सकते हैं : 'हे भगवान्, हम पर दया करो, सात जनम में हमें चाय-बगीचे का मैनेजर न बनाओ।' ये मैनेजर लोग उपकार करना भी जानते हैं। कुलियों की बस्तियों को ऐसी सीधी लाइन में प्रस्तुत कर सकते हैं मानो उन्हें कैंची से काटकर सजाया गया हो। दवा-खाने और बाजार की व्यवस्था वे अच्छी तरह कर सकते हैं। उनकी इस यान्त्रिक निपुणता से उन्हें मुनाफा होता है, दूसरों का भी उपकार हो सकता है। लेकिन 'नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्'।

कोई यह न समझे कि मैं पश्चिम और पूर्व के सम्बन्ध की ही बात सोच रहा हूँ। यान्त्रिकता को अन्दर-बाहर ऊँचा स्थान मिलने से पश्चिमी समाज में मानवीय सम्बन्ध विश्लिष्ट हो गए हैं। स्क्रू से कसे हुए और लेई से जोड़े हुए बन्धन को ही भावना तथा चेष्टा में प्राधान्य दिया गया तो वह सृष्टिशक्ति-सम्पन्न आत्मिक बन्धन, जिससे स्वतःप्रसारित आकर्षण द्वारा मानव-मानव का गम्भीर मिलन हो सकता है, शिथिल हो जाता है। फिर भी मनुष्य को यान्त्रिक नियमों में आबद्ध करके आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की जा सकती है; द्रव्य के ढेर लग सकते हैं, दुनिया-भर में रोज़गार बढ़ाया जा सकता है; अभ्रभेदी अट्टालिकाएँ खड़ी की जा सकती हैं। इस दिशा में नाना प्रकार के हितकर्मों में मनुष्य की विजय हो सकती है—शिक्षा, आरोग्य, जीवन की सुविधाएँ, सभी का उत्कर्ष हो सकता है। पहले ही कह चुका हूँ, विश्व के बाह्य पक्ष में मशीन एक सत्य वस्तु है। इसलिए यान्त्रि-

कता से जिनका मन पोषित होता है उनका फलभोग अत्यन्त तीव्र होता है। जैसे-जैसे लोभ बढ़ता जाता है मनुष्य दूसरों को अपमानित करने में नहीं हिचकता।

लेकिन लोभ कोई तत्त्व नहीं है, वासना-मात्र है। सृष्टि करना वासना का काम नहीं है। इसलिए जब फलभोग को किसी सभ्यता में उच्चासन मिलता है तब उस सभ्यता में मानव-मानव का आन्तरिक योग विश्लिष्ट हो जाता है। वह सभ्यता चाहे जितनी शक्ति या सम्पत्ति प्राप्त करे, उसमें जीवन की सुविधाओं का चाहे जितना विस्तार हो, मनुष्य का आत्मिक सत्य दुर्बल हो जाता है।

एकाकी मनुष्य के जीवन में भयंकर निरर्थकता है। अकेलेपन में ऐक्य नहीं; जब दूसरे हों तभी ऐक्य का प्रश्न उठता है। जो अभागा 'बहु' से विच्छिन्न है वह ऐक्य से भी वंचित है। एक रेखा से चित्र नहीं बनता, अनेक रेखाओं के ऐक्य से बनता है। चित्र की प्रत्येक रेखा अन्य सभी छोटी-बड़ी रेखाओं की आत्मीय होती है—इस आत्मीयता के सामञ्जस्य में ही चित्र की सृष्टि है। इंजीनियर नीले रंग के मोमिया कागज पर मकान का नक्शा खींचता है, लेकिन उसे हम चित्र नहीं कहते; क्योंकि उसमें रेखाओं का आन्तरिक सम्बन्ध नहीं होता, बाह्य व्यावहारिक सम्बन्ध होता है। चित्र का सृजन ही हो सकता है, नक्शे का केवल निर्माण।

इसलिए फललोभ के कारण जब जीवन में व्यावसायिकता प्रबल हो उठती है, मानव-समाज एक प्रकाण्ड 'प्लैन' बन जाता है, उसमें चित्र का कोई गुण बाकी नहीं रहता। फिर मानव के पारस्परिक आत्मीय सम्बन्ध क्षीण हो जाते हैं। ऐसी हालत में धन ही समाज का रथ होता है, धनी उसके रथी, कठोर बन्धनों में जकड़े हुए मनुष्य उस रथ के वाहन। और इस रथ को गड़गड़ाते हुए आगे बढ़ाते जाना, यही है 'सभ्यता की उन्नति'! लेकिन कुबेर की इस रथ-यात्रा में मनुष्य को आनन्द नहीं मिल सकता, क्योंकि कुबेर के प्रति उसकी आन्तरिक भक्ति नहीं है। जहाँ भक्ति नहीं वहाँ केवल रस्सी का बन्धन सम्भव है, नाड़ी का बन्धन नहीं। ऐसे बन्धन में जो ऐक्य है उसे मानव सह नहीं सकता, वह विद्रोह करता है। स्पष्ट है कि आज पाश्चात्य देशों में विद्रोह के काले बादल जमा हो रहे हैं। भारत ने जब आचार-बन्धन से ऐक्य स्थापित करना चाहा, समाज निर्जीव बन गया; और योरोप में व्यवहार-बन्धन के ऐक्य से समाज विश्लिष्ट हो गया। आचार और व्यवहार दोनों ही बाहर की चीज़ें हैं, न कि आन्तरिक तत्त्व; उनका सब कारोबार आत्मा को अलग रखकर होता है।

तत्त्व किसे कहते हैं? ईसा मसीह के शब्द हैं: 'मैं और मेरे पिता एक ही हैं'। यह हुआ तत्त्व! पिता के साथ हमारा ऐक्य सत्य है, मैनेजर के साथ कुली का ऐक्य सत्य नहीं।

चरम तत्त्व उपनिषद् में है :

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।'

पाश्चात्य सभ्यता के आसन पर लोभ का राज्य है। पहले ही उसकी आलोचना कर चुका हूँ। लेकिन वह कौन-सी बात है जिसकी हम निन्दा करते हैं ? इसका उत्तर ईशोपनिषद् के तत्त्व में मिलता है। ऋषि कहते हैं : 'मा गृध :'—लोभ न करो। क्यों न करो ? इसलिए कि लोभ से सत्य नहीं मिलता। कोई कह सकता है—सत्य नहीं मिलता तो न मिले, हम तो भोग करना चाहते हैं। 'भोग न करो' यह तो नहीं कहा गया। 'भुंजीथा'—भोग अवश्य करो। लेकिन सत्य को छोड़कर आनन्द को भोग करने का उपाय ही नहीं है। और सत्य क्या है ? सत्य यह है—'ईशावास्यं सर्वम्'। संसार में प्रत्येक वस्तु ईश्वर से आच्छन्न है। जो कुछ चल रहा है वही चरम सत्य होता, उसके ऊपर और कुछ न होता, तो गतिशील वस्तुओं को यथासाध्य संगृहीत करने में ही मनुष्य की सर्वोच्च साधना होती। तब तो लोभ से ही उसे सबसे बड़ी सफलता मिलती। लेकिन अन्तिम तो यह है कि ईश्वर से सब कुछ परिपूर्ण है; इसलिए आत्मा द्वारा सत्य का भोग करना ही परम साधना है। और 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'—त्याग से ही इस भोग की साधना सम्भव है, लोभ से नहीं। इसके विपरीत जो साधना है उसे भी मैंने देखा है; सात महीने तक अमेरिका की गगनभेदी ऐश्वर्यपुरी में रह आया हूँ। वहाँ 'यत्किञ्च जगत्यां' का ही आविर्भाव है, और 'ईशावस्यमिदं सर्वम्' तो डॉलर की धूल से आच्छन्न है। इसलिए वहाँ 'भुंजीथा' का पालन धन से होता है, सत्य से नहीं; लोभ से होता है, त्याग से नहीं।

ऐक्य से ही सत्य मिलता है। भेदबुद्धि से क्षति ही होती है; वह अन्तरात्मा को शून्य रखती है, पूर्णता को बाहरी दबाव डालकर छीनने की कोशिश करती है। इससे मनुष्य केवल संख्यावृद्धि की दिशा में ही दिन-रात दौड़ता रहता है। 'और, और !" की रट लगाता हुआ, हाँफते-हाँफते, आकांक्षा की आँधी में चक्कर काटता रहता है। यह भूल जाता है कि इसमें और जो कुछ भी मिले, आनन्द नहीं मिलता।

तो फिर साफल्य कहाँ है ? एक दिन भारत के ऋषियों ने इस प्रश्न का उत्तर दिया था, उन्होंने कहा था—साफल्य है परम ऐक्य के बीच। सेब पेड़ से टूटकर नीचे गिरते हैं— एक, दो, तीन, चार। यदि हम समझें कि उनकी अन्तहीन संख्या-गणना में ही सेबों का 'सत्य' मिलेगा, तो प्रत्येक संख्या के साथ हमारे मन को इन शब्दों का धक्का लगेगा : 'ततः किम् ?' न तो मन की दौड़ रुकेगी, न प्रश्न का कभी

उत्तर मिलेगा।

यह तो रहा सेब के टपकने का सत्य! मनुष्य का सत्य कहाँ है? सेन्सस रिपोर्ट में? एक, दो, तीन, चार, पाँच में? मानव का स्वरूप क्या अन्तहीन संख्या में प्रकाशित होता है? उपनिषद् में मानव के वास्तविक प्रकाश का तत्त्व इस तरह बताया गया:

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानः ततो न विजुगुप्सते।'

जो सबको अपनी तरह और अपनी आत्मा को सबके बीच देखते हैं वे प्रच्छन्न नहीं रह सकते। जो अपने ही बीच आबद्ध हैं वे लुप्त रहते हैं; जो अपने को दूसरों में उपलब्ध करते हैं उन्हीं का प्रकाशन होता है। मनुष्यत्व के इस प्रकाशन और प्रच्छन्नता का एक अच्छा दृष्टान्त इतिहास में है। बुद्ध भगवान् ने मैत्रीभाव से सारे मनुष्यों का ऐक्य देखा, उनके इस ऐक्य तत्त्व ने चीन को अमृत प्रदान किया; और जो सौदागर लोभ से प्रेरित होकर चीन पहुँचे, उन्होंने ऐक्य तत्त्व को नहीं माना—उन्होंने चीन को मृत्युदान दिया, तोपों के ज़ोर से दबाव डाला और चीनियों को अफीम का शिकार बनाया। मनुष्यत्व कैसे प्रच्छन्न रहता है और कैसे व्यक्त होता है, इस बात का इतना स्पष्ट उदाहरण इतिहास में और कहीं नहीं मिलता।

मैं जानता हूँ, आज की परिस्थिति में हमारे देश के बहुत से लोग कहेंगे: 'यही बात तो हम बार-बार करते आए हैं। जिनकी भेद-बुद्धि इतनी उग्र है, जो एक-एक ग्रास निगलते-निगलते सारे विश्व को हड़पना चाहते हैं, उनके साथ हमारा कोई कारोबार नहीं चल सकता। वे लोग आध्यात्मिक नहीं हैं, हम आध्यात्मिक हैं; वे केवल अविद्या को मानते हैं, हम विद्या को। ऐसी अवस्था में उनकी सारी शिक्षा-दीक्षा को हमें विष की तरह वर्जित करना चाहिए।' यह भी एक तरह से भेद-बुद्धि का उदाहरण है, और इसमें तो मामूली विषय-बुद्धि भी नहीं है! भारत ने इस मोह का समर्थन नहीं किया। मनु ने कहा है:

'न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया,
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः।'

विषय के त्याग से वैसा नित्य संयमन नहीं हो सकता जैसा कि विषय में नियुक्त होकर ज्ञान द्वारा हो सकता है। विषय की माँग आधिभौतिक विश्व की माँग है, उसकी उपेक्षा करके आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचना सम्भव नहीं है, उसे विशुद्ध रूप से परिपूर्ण करके ही हम ऊपर उठ सकते हैं। तभी उपनिषद् में कहा गया है: 'अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।' अविद्या के पथ पर चलकर मृत्यु से रक्षा

करनी है, फिर विद्या के तीर्थ में अमृत का लाभ होगा। शुक्राचार्य इसी विद्या को लाये—मृत्यु से बचने की विद्या। तभी अमृतलोक के छात्र कच को भी इसे सीखने के लिए दैत्य पाठशाला में भर्ती होना पड़ा।

आत्मिक साधना का एक अंग है जड़ विश्व के अत्याचार से आत्मा को मुक्त करना। पश्चिमी जगत् के लोगों ने साधना के इसी पक्ष पर ज़ोर दिया है। यह साधना का सबसे नीचे का स्तर है, बुनियादी स्तर। इसे पक्का न बनाया गया तो अधिकांश लोगों की शक्ति पेट पालने के ख़ातिर जड़त्व की गुलामी में व्यय होगी। इसलिए पश्चिम आस्तीन चढ़ाकर, हाथ में फावड़ा-कुदाली लेकर, बुनियाद पक्की करने के लिए झुका है—यहाँ तक कि दृष्टि ऊपर उठाने की फ़ुरसत उसे मिलती ही नहीं। इस पक्की नींव पर जब ऊपर की मंज़िलें बनेंगी तभी हवा और रोशनी के प्रेमियों के लिए उचित निवास-स्थान तैयार होगा। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में हमारे ज्ञानियों ने कहा है कि 'न जानना' ही बन्धन का कारण है और जानने में ही मुक्ति है। वस्तुजगत् में भी यही बात लागू होती है। इस जगत् के नियम तत्त्व को जो नहीं जानता वह बद्ध हो जाता है, जो जानता है वह मुक्ति-लाभ करता है। विषय-राज्य में हम जिसे बाह्य बन्धन समझते हैं वह भी माया है; इस माया से निष्कृति मिलती है विज्ञान द्वारा। पश्चिम के देशों ने बाह्य विश्व में माया से मुक्ति पाने की साधना की है। इस साधना से क्षुधा-तृष्णा, सर्दी-गर्मी, रोग-दैन्य की जड़ तक पहुँचकर उस पर आघात किया जाता है। मृत्यु के आक्रमण से मनुष्य को बचाने की यह चेष्टा है; लेकिन पूर्वमहादेश में अन्तरात्मा की साधना यह रही है कि अमरत्व पर कैसे अधिकार प्राप्त किया जाय। इसलिए यदि पूर्व और पश्चिम का चित्त विछिन्न हो जाय, तो दोनों के प्रयास व्यर्थ होंगे। पूर्व-पश्चिम का मिलन मन्त्र भी उपनिषद् में है :

'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

'यत्किचं जगत्यां जगत्'—यहाँ तक तो विज्ञान आवश्यक है; 'ईशावास्यं इदं सर्वम्'—यहाँ तत्त्वज्ञान चाहिए। उपनिषद् के ऋषि इन दोनों को मिलाने की बात कह गए हैं। पूर्व और पश्चिम को मिलना होगा। इस मिलन के अभाव से पूर्व के देश दैन्य से पीड़ित हैं, निर्जीव हैं; और पश्चिम के देश अशान्ति से क्षुब्ध हैं, निरानन्द हैं।

ऐक्य-तत्त्व के सम्बन्ध में मैंने जो कहा उसका ग़लत अर्थ लगाया जा सकता है। इसलिए जिस बात की ओर मैंने संकेत किया है उसे और एक बार स्पष्ट रूप से कहना ठीक होगा। 'एकाकार होना' और 'एक होना' अलग-अलग बातें हैं। जो

स्वतन्त्र हैं वही एक हो सकते हैं। पृथ्वी पर जो अन्य देशों के स्वातन्त्र्य का नाश करता है वह सभी देशों के ऐक्य पर आघात करता है। इम्पीरियलिज़्म है अजगर की ऐक्यनीति; निगल जाने को वह एकीकरण कहता है। पहले ही कह चुका हूँ, आधिभौतिक को यदि आध्यात्मिक अपने-आपमें मिला लें, तो इसे समन्वय नहीं कहते। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों स्वतन्त्र हों तभी समन्वय सत्य हो सकता है। मनुष्य जहाँ स्वतन्त्र है वहाँ उसकी स्वाधीनता स्वीकार की जाय तभी मानवीय ऐक्य को सत्य रूप से प्राप्त किया जा सकता है। महायुद्ध के बाद योरोप जब शान्ति के लिए बेचैन हो उठा तब से वहाँ के छोटे-छोटे देशों में स्वातन्त्र्य की माँग प्रबल हुई है। यदि आज वास्तव में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ है, तो ऐश्वर्य का प्रभाव, साम्राज्य का विस्तार और देशों की गुटबन्दी—इन सभी को टूटना पड़ेगा। वास्तविक स्वातन्त्र्य के आधार पर वास्तविक ऐक्य की स्थापना होगी। जो नवयुवक के साधक हैं उन्हें ऐक्य साधना के लिए ही स्वातन्त्र्य की साधना करनी होगी और यह बात ध्यान में रखनी होगी कि इस साधना में किसी विशेष देश की मुक्ति नहीं, बल्कि मानव-मात्र की मुक्ति है।

जो दूसरों को अपनी तरह जानता है—'न ततो विजुगुप्सते'—उसका प्रकाशन होता है। क्या यह बात केवल धर्मग्रन्थों में ही लिखी है? क्या समस्त मानवीय इतिहास में इसी तत्त्व की निरन्तर अभिव्यक्ति नहीं हुई? इतिहास के आरम्भ से ही हम देखते हैं, पर्वत या समुद्र से सीमित प्रदेशों में मानव-समूह एकत्र हुए। जब लोग एकत्र होकर भी एक नहीं हो पाते तब वे सत्य से वंचित रह जाते हैं। एकत्रित मनुष्य-दलों में, जो यदुवंश के उन्मत्त वीरों की तरह केवल मार-काट मचाते रहे, दूसरों के प्रति अविश्वास दिखाते रहे, परस्पर को हानि पहुँचाते रहे, उनका लोप हो चुका है! लेकिन जिन्होंने एक आत्मा को अपने सबके बीच देखने का प्रयत्न किया उनकी अभिव्यक्ति महान् देशों के इतिहास में हुई।

विज्ञान के कल्याण से आज जल-स्थल, आकाश में कितने नये पथ खुले हैं, कितने रथ धावमान हैं! भौगोलिक बाधाएँ दूर हो गई हैं। आज बहुत-से व्यक्ति ही नहीं, बहुत-से देश एक-दूसरे के निकट आ गए हैं; इसीलिए आज मनुष्य के लिए सत्य की समस्या विशाल हो उठी है। वैज्ञानिक शक्ति ने जिन्हें एकत्रित किया उन्हें एक कौन करेगा? मनुष्यों का 'योग' यदि 'संयोग' हो सका तब तो ठीक है, अन्यथा दुर्गति है। आज महादुर्गति ही दिखाई पड़ रही है। एकत्र होने की बाह्य-शक्ति जोर से आगे बढ़ गई, एक करने की आन्तरिक शक्ति पिछड़ गई। गाड़ी इंजन की शक्ति से आगे बढ़ रही है, बेचारा ड्राइवर 'अरे, अरे, हाँ, हाँ!' कहता पीछे-पीछे दौड़ रहा है, उसको पकड़ नहीं पाता। कुछ लोग इंजन के प्रचण्ड वेग से

खुश होकर कह रहे हैं : 'शाबाश ! इसीको उन्नति कहते हैं !' इधर हम पूर्वनिवासी —धीरे-धीरे पैदल चलने वाले—उन्नति के धक्के से बेबस हो जाते हैं। जो हमारे पास आता है, लेकिन हमसे अलग भी है, वह जब चंचल होता है तो पग-पग पर हमें धक्के देता है। यह धक्कों का मिलन सुखकर नहीं होता, चाहे किसी विशेष अवस्था में वह कल्याणप्रद सिद्ध हो।

कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि आज देश एकत्र हो रहे हैं, लेकिन उनका मिलन नहीं हो रहा। इसी विषम वेदना से सारी पृथ्वी पीड़ित है। इतना दुःख सहकर भी उसका प्रतिकार क्यों नहीं किया जाता ? कारण यही है कि वेष्टन के अन्दर एक होना जिन्होंने सीखा है उन्होंने वेष्टन के बाहर जाकर एक होना नहीं सीखा।

सामायिक और स्थानीय कारणों से मनुष्य सीमा के अन्दर सत्य को देखता है, इसलिए वह सत्य को छोड़कर सीमा की ही पूजा करने लगता है; देवता से अधिक पंडे को मानता है; राजा को भूल जाता है पर दरोगा को कभी नहीं भूलता। पृथ्वी पर नेशन का निर्माण तो सत्य के ज़ोर से हुआ, लेकिन नेशनलिज़्म सत्य नहीं। फिर भी देश के वेष्टन-देवता की पूजा-अनुष्ठान के लिए चारों ओर नरबलि की तलाश है। जब तक बाहर की बलि मिल जाती थी तब तक कोई कठिनाई नहीं थी। अचानक सन् १९१४ में परस्पर को ही बलि देने के लिए यजमानों में संघर्ष शुरू हुआ ! तब से उनके मन में यह संदेह जागा—क्या यही इष्ट दैवत हैं ? यह तो घर-बाहर किसी का विचार नहीं करता ! जब तक वह पूर्वी देशों के कोमल अंगों में दाँत गड़ाता था और उन्हें चबा जाता था—जैसे भिक्षुक गन्ना चबाता है—तब तक तो महाप्रसाद के भोज में खूब मज़ा आता था। लेकिन आज पश्चिम के कुछ देश चिन्तित हैं, सोचते हैं : 'इनकी पूजा से तो हमारे वंश का अकल्याण होगा।'

युद्ध जब ज़ोर से चल रहा था, सब सोचते थे कि युद्ध समाप्त होने पर अकल्याण दूर होगा; जब वह बन्द हुआ तब देखा गया सन्धिपत्र का मुखावरण पहनकर युद्ध लौट आया है। किष्किन्धाकाण्ड में जिसकी पूँछ देखकर विश्वब्रह्माण्ड काँप उड़ा था, आज लंकाकाण्ड के आरम्भ में हम देखते हैं कि उसी पूँछ के ऊपर सन्धिपत्र का स्नेहसक्ति कागज मढ़ा जा रहा है। हम समझ सकते हैं, जब इसमें आग लगेगी किसी का घर बाकी नहीं रहेता। पश्चिम के मनीषी भयभीत होकर कह रहे हैं, जिस दुर्बुद्धि से इतनी बड़ी आफत आई उसकी नाड़ी इतने आघात सहने पर भी सशक्त है। इस दुर्बुद्धि का ही नाम है नेशनलिज़्म, राष्ट्रीय अहंकार। यह है एक इन्द्रिय वृत्ति। ऐक्यतत्त्व के विरुद्ध दिशा में इसका खिंचाव

है। आज विभिन्न देश एकत्रित हो रहे हैं, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। कोई भी प्रबल देश इतने बड़े सत्य को अपने साम्राज्य रथ के नीचे कुचल नहीं सकता। इस ऐक्य तत्त्व के साथ हमें सत्य व्यवहार करना ही पड़ेगा। नेशनलिज़्म के विकार को हम स्थान दें तो शकुनि की तरह कपट द्यूत की डिप्लोमेसी होगी, और इससे बार-बार कुरुक्षेत्र प्रस्तुत होगा।

वर्तमान युग की साधना के साथ आज की शिक्षा सुसंगत होनी चाहिए। राष्ट्रीय वेष्टन-देवता के पुजारी किसी-न-किसी बहाने से शिक्षा से भी राष्ट्रीय अभिमान को बढ़ाना अपना कर्तव्य समझते हैं। जब जर्मनी की शिक्षा-व्यवस्था राजनैतिक भेदबुद्धि की क्रीतदासी बन गई, अन्य पाश्चात्य देशों ने जर्मनी की निन्दा की। लेकिन आज पश्चिम का कौन-सा बड़ा देश है जहाँ यही बात नहीं हुई है? वास्तव में जर्मनी ने सभी दिशाओं में वैज्ञानिक पद्धति पर अन्य देशों की तुलना में अधिक प्रभुत्व प्राप्त किया है। शिक्षाविधि में भी उसने राष्ट्रीयता के अण्डे को सेने के लिए 'इन्क्यूबेटर' तैयार किया। उस अण्डे से जो बच्चा निकला वह अन्य देशों के वैसे ही बच्चों से अधिक शक्तिशाली हुआ—लेकिन विरोधी दल के पक्षियों ने भी अपने बच्चों को शिक्षा वैसी ही दी थी जैसी जर्मनी ने दी। आज इन देशों के अखबारों का मुख्य कार्य क्या है? राष्ट्रीय अहंकार की कुशल कामना करना और इसके लिए असत्य के पीर को नैवेद्य चढ़ाना।

राष्ट्रीय अहमिका से मुक्तिदान की शिक्षा ही आज की प्रधान शिक्षा है। कल इतिहास का नया अध्याय आरम्भ होने वाला है—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगिता का अध्याय। जो प्रवृत्तियाँ, अभ्यासगत, विचार और आचार-पद्धतियाँ इसके प्रतिकूल हैं उन्हें हम आगामी काल के लिए कमज़ोर बना देंगे। स्वदेश का गौरव-बोध मुझे भी है, लेकिन मेरी इच्छा है कि गौरव-बोध के कारण मैं यह बात कभी न भूलूँ कि एक दिन हमारे देश के साधकों ने जिस मन्त्र का प्रचार किया था वह भेदभाव दूर करने का मन्त्र था। मैं सुन पाता हूँ, समुद्र के उस पार मनुष्य आज अपने-आपसे यही प्रश्न कर रहा है : 'हमारी कौन-सी शिक्षा, कौन-से चिन्तन और कर्म में मोह प्रच्छन्न था, जिसके कारण आज हम ऐसा दारुण दुःख भोग रहे हैं?' हमारे देश से ही इस प्रश्न का उत्तर देश-देशान्तर में पहुँचे : 'तुमने अपनी साधना से मनुष्य के एकत्व को दूर रखा था, यही था तुम्हारा मोह, और इसीसे तुम दुःख सह रहे हो' :

> 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः
> तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।'

मैं यह भी सुन पाता हूँ कि समुद्र के उस पार मनुष्य व्याकुल होकर कह रहा है :

'शान्ति चाहिए'। उसे यह बात समझानी होगी कि शान्ति वहीं है जहाँ मंगल, और मंगल वहीं है जहाँ ऐक्य। इसीलिए हमारे पितामहों ने कहा था : 'शान्तं शिवं अद्वैतम्।' अद्वैत ही शान्त है, क्योंकि अद्वैत ही शिव है। स्वदेश का अभिमान मेरे मन में है। तभी इस सम्भावना की कल्पना-मात्र से मैं लज्जित होता हूँ कि बीते हुए युगों की आवर्जना को—जिसे दूर हटाने का आदेश रुद्र देवता ने दिया है—कहीं हम अपने देश के पीठस्थान पर न बिठा दें। पश्चिम ने इस आवर्जना को दूर हटाना आरम्भ किया है, रुद्र के आदेश ने उन्हें जगाया है; कहीं हम आज युगान्तर के उषाकाल में तामसिक पूजाविधि द्वारा उसी आवर्जना की आराधना में न लग जायँ। जो शान्त है, शिव है, जो मानवजाति का परमाश्रय अद्वैत है, उसका ध्यान-मात्र क्या हमारे पास नहीं है ? क्या इसी ध्यान-मात्र से नवयुग की प्रथम प्रभात-किरण मनुष्य के मन में सनातन सत्य का उद्बोधन नहीं करेगी ?

इसीलिए मेरी यह आन्तरिक कामना है कि हमारे देश के विद्यानिकेतन को पूर्व-पश्चिम का मिलन-केन्द्र बनाया जाय। विषय-लाभ के क्षेत्र में विरोध आसानी से नहीं मिटता। लेकिन सत्य-लाभ के क्षेत्र में मिलन के रास्ते में कोई बाधा नहीं है। जो गृहस्थ केवल अपने परिवार की बात सोचता है, आतिथ्य कृपणता दिखाता है, वह दीनात्मा है। गृहस्थ की तरह देश के लिए भी अपनी भोजनशाला में ही पड़े रहना ठीक नहीं है—एक अतिथिशाला की भी आवश्यकता है जहाँ विश्व की अभ्यर्थना करके देश धन्य हो सके। शिक्षा-क्षेत्र ही देश की मुख्य अतिथिशाला है। अभागे भारत में आज शिक्षा के लिए जो कुछ व्यवस्था है वह रुपये में पन्द्रह आने पराये से विद्या-भिक्षा माँगने की व्यवस्था है। जिसकी वृत्ति भीख माँगने की है वह आतिथ्य न कर सकने पर लज्जित नहीं होता। वह कहता है : 'मैं भिक्षुक हूँ, मुझसे आतिथ्य की प्रत्याशा कोई नहीं करता।' लेकिन यह बात सच नहीं हैं। मैंने बार-बार पश्चिम को यह जिज्ञासा करते हुए सुना है : 'भारत की वाणी कौन-सी है' ? और फिर भारत के द्वार पर आकर जब पश्चिम ने कान लगाया है, तो कहा है : 'यह तो हमारी ही वाणी की क्षीण प्रतिध्वनि है, जो व्यंग्य की तरह लगती है।' तभी मैं देखता हूँ, आधुनिक भारत जब मैक्समूलर की पाठशाला से बाहर निकलकर आर्य-सभ्यता की बड़ाई करता है तो उसके गर्वप्रकाशन में पाश्चात्य वाद्य की आवाज़ सुनाई पड़ती है; और जब वह पश्चिम का विरोध करता है तब भी उसके धिक्कार में पाश्चात्य रोग के ही तीव्र स्वर तारसप्तक में बज उठते हैं।

मेरी प्रार्थना है कि आज भारत समस्त पूर्वी जगत् का प्रतिनिधि बनकर सत्य-साधना के लिए अतिथिशाला स्थापित करे। जानता हूँ, उसके पास धन-

सम्पदा नहीं है; लेकिन साधन-सम्पदा तो है। उसीके आधार पर वह विश्व को निमन्त्रित करेगा, और इस तरह विश्व में सर्वत्र आमन्त्रित होने का अधिकार प्राप्त करेगा। उसका आसन विश्व-प्रासाद के दरवाज़े पर नहीं बल्कि अन्दर के कमरे में होगा। लेकिन मैं सोचता हूँ यह मान-सम्मान की बात भी बाहर की चीज़ है, इसकी भी उपेक्षा की जा सकती है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि आन्तरिक उपलब्धि के लिए भी सत्य आवश्यक है और बाह्य अभिव्यक्ति के लिए भी। हमें सत्य चाहिए— केवल किसी सुविधा के लिए नहीं, सम्मान के लिए नहीं, बल्कि मानव-आत्मा को प्रच्छन्नता से मुक्त करने के लिए। मनुष्य के इसी प्रकाशन-तत्त्व को हमारी शिक्षा में प्रचारित करना होगा, तभी सारी मानव-जाति को सम्मानित करके हम स्वयं सम्मान-लाभ करेंगे, नवयुग का उद्‌बोधन करके हम ज़रा मुक्त होंगे। हमारे विद्यापीठों का शिक्षा-मन्त्र यही होना चाहिए :

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति,
सर्वभूतेषु चात्मानः ततो न विजुगुप्सते।'

[असहयोग आन्दोलन के दिनों में गांधीजी की शिक्षा-सम्बन्धी धारणाओं पर लिखित आलोचनात्मक प्रबन्ध। १० अगस्त, १९२१ को यह शान्तिनिकेतन में पढ़ा गया। कलकत्ता में यह पहले १५ अगस्त, १९२१ को यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में पढ़ा गया, फिर एल्फ्रैड थियेटर में १७ अगस्त, १९२१ को।
'सबुज मत्र' (भाद्र १३१८ बं० सं०) में प्रकाशित।
'प्रवासी' कार्यालय से पुस्तिका के रूप में प्रकाशित (आश्विन, १३२८ बं० सं०)
'शिक्षा' (विश्वभारती संस्करण) पुस्तक में समाविष्ट।]

शिक्षा का विस्तार

भोग्य वस्तुओं का भण्डार जमा हा उठे, और रसोईघर में चूल्हे पर बर्तन चढ़ा हो, तो भी उसे भोज नहीं कहा जाता। आँगन में कितनी पत्तल लगी हैं, कितने लोगों को न्योता दिया गया है, इसीमें है भोज की मर्यादा। हम 'ऐज्युकेशन' शब्द को दोहराकर मन-ही-मन खुश होते हैं; लेकिन इसमें भी भण्डार-घर का ही रूप है—बाहर आँगन सूना पड़ा है। स्कूल-कॉलेजों में शिक्षा के आलोक के लिए बड़ी-सी लालटेन जलाई गई है। लेकिन वह आलोक यदि दीवारों से अवरुद्ध हो जाय तो यह हमारा दुर्भाग्य होगा। चित्र की अभिव्यक्ति पटभूमि पर ही होती है; उसी तरह सारे देश की पृष्ठभूमि पर ही शिक्षा परिस्फुट हो सकती है। अपनी व्यापक पृष्ठभूमि से अलग होकर शिक्षा अस्पष्ट और असम्पूर्ण बन जाती है; केवल अभ्यासवश उसके दैन्य की वेदना हमारे मन को प्रभावित नहीं करती। 'एज्युकेशन' के सम्बन्ध में जब हम अन्य देशों के साथ स्वदेश की तुलना करते हैं तो समान बातों पर ही हमारा ध्यान जाता है। हम देखते हैं कि विदेशों में विश्वविद्यालय हैं, हमारे देश में भी इसके प्रतिरूप कुछ विश्वविद्यालय हैं। लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ विद्यालय के बाहर समाज-व्यापी अनौपचारिक शिक्षा की विस्तृत परिधि न हो।

किसी समय हमारे देश में भी ऐसी परिधि थी। मध्ययुगीन योरोप की तरह हमारे देश में भी शास्त्र-शिक्षा ही प्रधान थी। यह शिक्षा विशेष रूप से पाठ-शालाओं में दी जाती थी, लेकिन इस विद्या की पृष्ठभूमि सारे देश में व्याप्त थी। विशिष्ट ज्ञान और साधारण ज्ञान में नित्य आदान-प्रदान था। पण्डित मण्डली और अपण्डित जनता में 'ओसिस' और मरुभूमि-जैसा वैपरीत्य नहीं था। देश का कोई अनादरप्राप्त भाग नहीं था जहाँ रामायण, महाभारत तथा पौरा-णिक कथाओं की धर्मव्याख्या न की जाती हो। यही नहीं, जनसाधारण की चित्त-भूमि ऐसे तत्त्वज्ञान से सिंचित थी जिसके लिए कठिन अध्यवसाय आवश्यक होता है। पेड़ को जो खाद्य दिया जाता है यह यदि पानी से अच्छी तरह तरल हो जाय तभी पेड़ उसे अपनी शाखा-प्रशाखाओं में ग्रहण कर पाता है। किसी दिन हमारे देश में कठिन विद्या भी रस से विगलित थी और सर्वसाधारण का मन उससे संचारित था। सार्वजनिक निर्माण-कार्य धर्म का ही अंग था। गाँव-गाँव में जला-शय बनाये जाते थे; लोग आपस में मिलकर स्वयं अपनी तृष्णा का उपाय करते

थे, उसके लिए सरकारी कमेटी की ज़रूरत नहीं थी। उसी तरह देश की विद्या का भी समाज में अपने-आप वितरण होता था—यदि ऐसा न होता तो आज सारा देश बर्बरता के अन्धकार में निमग्न होता। उस समय विद्या विद्वानों की निजी सम्पत्ति नहीं थी—वह सारे समाज की सम्पदा थी।

एक दिन मुझे एक ऐसे सामान्य गाँव के किसानों ने निमन्त्रित किया जहाँ अखबारों के पन्ने उलटने की आवाज़ तक सुनाई नहीं पड़ती थी। अधिकतर लोग मुसलमान थे। मेरे स्वागतार्थ गाने-बजाने का आयोजन किया गया था। शामियाने में मिट्टी के तेल की लालटेन जल रही थी, बड़े-बूढ़े सभी चुपचाप बैठे थे। 'यात्रा-गान' का मुख्य विषय था गुरु-शिष्य के बीच तत्त्वालोचन—देहतत्त्व, सृष्टितत्त्व, मुक्तितत्त्व। बीच-बीच में नाच-गाने की झंकार सुनाई पड़ती थी। उस गान का एक विशेष अंश आज भी मुझे याद है। यात्री वृन्दावन में प्रवेश करना चाहता है। पहरेदार उसे रोकता है, कहता है: 'तुम चोर हो, तुम्हारे लिए प्रवेश नहीं हैं'। यात्री कहता है: 'वाह जी! कौन-सा माल चुराया है मैंने?' द्वारपाल उत्तर देता है: 'वह जो तुम्हारे वस्त्र के नीचे छिपा हुआ 'अपनापन' है वह तो हमारे राजा का माल है, तुमने उसे चुराकर रख लिया है।' अचानक ढोल ज़ोर से बज उठता है, नाच शुरू हो जाता है, नाचने वाले के कृत्रिम लम्बे बाल हवा में चक्कर काटते हैं—मानो किसी पाठ के मुख्य अंश की ओर अध्यापक महाशय ने पेन्सिल से डबल लकीर खींचकर ध्यान दिलाया हो। रात होने को है, दोपहर से गाना-बजाना चलता रहा है, श्रोतागण चुपचाप सुन रहे हैं। सब बातें समझें या न समझें, एक अजीब स्वाद उन्हें मिलता है जो दैनंदिन जीवन की नीरस तुच्छता को भेदकर एक ऐसा रास्ता खोल देता है जो उन्हें 'चिरन्तन' की ओर ले जाता है।

देश में बहुत प्राचीन काल से यही होता आया है। लोगों ने एक विचित्र रसोपलब्धि के साथ कथाएँ सुनी हैं—ध्रुव-प्रह्लाद की कथा, सीता का वनवास, कर्ण का कवच-दान, हरिश्चन्द्र का सर्वस्व त्याग। कितने ही दुःख थे, अविचार था, जीवन-यात्रा में पग-पग पर अनिश्चितता थी। लेकिन इन सबके साथ-साथ शिक्षा का एक ऐसा प्रवाह भी था जो भाग्य की विमुखता के बीच मनुष्य को अपनी आन्तरिक सम्पत्ति की ओर ले जाता था, जो मनुष्य की उस श्रेष्ठता का उज्ज्वल परिचय देता था जिसे अवस्था की हीनता छोटा नहीं बना सकती। अमरीकी 'टॉकी' द्वारा और कोई काम भले ही हो, यह काम नहीं हो सकता।

अन्य देशों में इधर कुछ दिनों से अनिवार्य शिक्षा का प्रवर्त्तन किया गया है। हमारे देश की जनशिक्षा को अनिवार्य नहीं बल्कि स्वैच्छिक कहा जा सकता है।

ऐसी शिक्षा दीर्घकाल से चली आई है। उसके पीछे कभी कोई क़ानून नहीं रहा, कोई ज़बरदस्ती नहीं रही। उसका स्वतः संचार घर-घर में होता रहा, जैसे सारे शरीर में रक्त प्रवाहित होता है।

समय बदल गया। शिक्षित समाज राज-द्वार की ओर ताकते हुए मन्त्री-सभा में प्रवेश करने का अधिकार माँगने लगा—कभी करुण कण्ठ से, कभी कृत्रिम आक्रोश के साथ। गाँव-गाँव में पीने का पानी पंकिल हो गया—उधर शहरों में द्वार-द्वार पर नल का पानी बहने लगा। हम विस्मित होकर कह उठे, यही है उन्नति। देश का वृहत् रूप हमारी दृष्टि से ओझल हो गया; देश का जो प्राण आलोक की तरह सारे देश में प्रसारित था वह छोटे-छोटे केन्द्रों में प्रतिसंहत हो गया।

आजकल हम जिसे एज्युकेशन कहते हैं उसका आरम्भ शहर में होता है। व्यवसाय और नौकरी उसके पीछे-पीछे आनुषंगिक रूप से चलते हैं। यह विदेशी शिक्षाविधि रेलगाड़ी के डिब्बे में जलने वाले दीप की तरह है—कमरा उज्ज्वल है, लेकिन जिस प्रदेश से रेल गुज़र रही है वह सैकड़ों मीलों तक अन्धकार में लुप्त है। कारखाने में बनी गाड़ी ही मानो सत्य है, और प्राण-वेदना से परिपूर्ण समस्त देश अवास्तविक है।

नगरनिवासियों के एक दल को इस सुयोग से शिक्षा मिली, सम्मान और सम्पत्ति मिली। वे कहलाये, 'आलोकित', 'एन्लाइटेण्ड'। लेकिन उस आलोक के हेतु सारे देश में सम्पूर्ण ग्रहण लग गया। स्कूल के बेंच पर बैठकर जिन्होंने अंग्रेज़ों के सबक दोहराये उनकी आँखें शिक्षादीप्ति से चकाचौंध हो गईं। उनकी दृष्टि में शिक्षित समाज ही पूरा देश है—उनके लिए मोरपंख ही मोर है, हाथीदाँत ही हाथी है। उनका नाट्यमञ्च कान्सवाद्य से मुखरित है, लेकिन नेपथ्य में हैं देश के गाँव, जहाँ रोग और अज्ञान जमा हो गए हैं, जहाँ न पीने को पानी है न चलने को रास्ते। नगरी सुजला-सुफला हो गई है, और वहीं आरोग्यनिकेतन पनप रहे हैं, शिक्षा के लिए प्रासाद खड़े हो रहे हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि देश के प्रान्त-प्रान्त के बीच विच्छेद की ऐसी घातक छुरी अबतक कभी नहीं चलाई गई थी। इसको आधुनिकता का लक्षण कहकर इसकी निन्दा करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि किसी अन्य सभ्य देश में ऐसी हालत नहीं है। दूसरे देशों में आधुनिकता सप्तमी के चन्द्रमा की तरह आलोक और अन्धकार के दो खण्डों में विभाजित नहीं हुई है। जापान में पाश्चात्य विद्या का प्रभाव भारत की तुलना में बहुत अल्पकाल तक रहा है, लेकिन यहाँ वह विद्या जोड़ लगाई हुई पुरानी गुदड़ी नहीं बनी। वहाँ परिव्याप्त विद्या के असर से देश के

मन में चिन्तन-शक्ति का संचार हुआ है। यह चिन्तन एक ही साँचे में ढली हुई चीज़ नहीं। आधुनिक युगलक्षण के ही अनुसार इस चिन्तन में वैचित्र्य भी है, ऐक्य भी। उसका ऐक्य युक्ति पर आधारित है।

कुछ लोगों ने आँकड़ों की सहायता से प्रमाणित किया है कि पहले भारत की ग्रामीण पाठशालाओं में जो प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध थी वह ब्रिटिश शासन-काल में क्रमश: कम होती गई है। लेकिन इससे भी बड़ी क्षति यह हुई है कि जनशिक्षा के सभी सहज मार्ग लुप्त हो गए हैं। सुना जाता है, किसी दिन बंगाल में नहरें काटने का काम बड़ी निपुणता से किया गया था। वर्तमान काल की असावधानी और मूर्खता के कारण ये पुरानी नहरें बेकार हो गई हैं। इसी तरह देश में शिक्षा की नहरें भी बन्द हो गई हैं, और सभी दिशाओं में हीनता तथा दैन्यता का विकास हुआ है। हमारे देश में शिक्षा की एक बड़ी समस्या का समाधान किया गया था; अनुशासन की शिक्षा आनन्द की शिक्षा बनकर देश के हृदय में प्रविष्ट हो गई थी और समस्त समाज की प्राणक्रिया के साथ उसका मिलन हुआ था। देशव्यापी प्राण के इस खाद्य का आज अकाल पड़ा है। पूर्व-संचित थोड़ा-बहुत खाद्य बाकी है, तभी हम इस अकाल की विनाशमूर्ति को नहीं देखते।

मध्य एशिया के रेगिस्तान में जिन पर्यटकों ने प्राचीन युग के अवशेष ढूंढ़े हैं, उन्होंने देखा है कि कितने ही समृद्ध जनपद बालू के नीचे दबकर विलीन हो गए। किसी समय वहाँ विपुल जल-संचय था, नदियों के रेखाचिह्न अब तक दिखाई पड़ते हैं। लेकिन बाद में रसधारा सूख चली, रेत ने धीरे-धीरे पैर बढ़ाये, अपनी शुष्क जिह्वा से प्राण का शोषण किया। आखिर लोकालय के अन्तिम चिह्न एक असीम पीलेपन से लुप्त हो गए। हमारे ग्रामीण देश की मनोभूमि में भी आज रसधारा का अवसान हो रहा है। दीर्घकाल तक जो देश के निम्न स्तर पर विद्यमान था उसका भी शुष्क वायु के उष्ण निःश्वासों से धीरे-धीरे अन्त होगा। प्राणनाशक मरुभूमि प्यासे अजगर की तरह आगे बढ़ेगी और देश को निगलने लगेगी। मरुभूमि के इस आक्रमण को हम नहीं देखते, क्योंकि हमारी दृष्टि केवल शिक्षित समाज पर ही केन्द्रित है।

मैं एक लम्बे अरसे तक बंगाल के गाँवों के निकट संपर्क में रहा हूँ। गर्मी के दिनों में मैंने दुःखद दृश्य देखे हैं। नदी का जल उतर चुका है, किनारे की मिट्टी में दरारें पड़ी हैं, तप्त बालू धधक रही है, तालाबों में कीचड़ के सिवा कुछ नहीं। स्त्रियाँ दूर-दूर से घड़ों में पानी ला रही हैं—उस जल में बंगदेश के अश्रु मिले

हैं। गाँव में आग लगने पर उसे बुझाने का कोई उपाय नहीं, हैजा फैलने पर उसके निवारण का कोई साधन नहीं।

और भी एक दुःख की वेदना से मेरा मन बार-बार काँप उठा है। सन्ध्या हो चली, दिन-भर का काम खत्म करके किसान घर लौट रहे हैं। एक ओर विस्तृत खेत पर अँधेरा छा रहा है, दूसरी ओर बाँस के जंगलों में छोटे-छोटे गाँव हैं—अँधेरे द्वीपों की तरह। वहाँ से ढोल की आवाज़ आ रही है। एक-तारे की संगत पर कीर्तन चल रहा है—एक ही पद को हज़ारों बार तारस्वर से गाया जा रहा है। सुनकर मुझे लगा, यहाँ भी चित्तजलाशय सूख चला है। गर्मी बढ़ रही है, उसे शान्त करने का कोई उपाय नहीं। एक के बाद एक वर्ष गुज़रते जाते हैं, इसी दैत्या-वस्था में। कैसे उनकी रक्षा होगी यदि बीच-बीच में वे अनुभव न करें कि इस मज़दूरी के अलावा मनुष्य के पास 'मन' नाम की भी कोई चीज़ है जहाँ दुर्भाग्य के दासत्व से ऊपर उठकर साँस ली जा सकती है! किसी दिन लोगों को इस तरह की तृप्ति दिलाने के लिए सारे समाज ने यत्न किया था, क्योंकि समाज ने इन साधारण लोगों को अपना समझकर स्वीकार किया था। समाज जानता था कि इनके पतन में सारे देश का पतन है। लेकिन आज उनके मन की भूख मिटाने के लिए कोई मदद नहीं करता। उनके कोई आत्मीय नहीं हैं—बीते हुए युग की तलछट से ही वे बेचारे किसी तरह अपने-आपको सांत्वना देते हैं। कुछ दिनों में यह तलछट भी चुक जायगी। दिन-भर के श्रम और दुःख के बाद उनके निरानन्द मकानों में दीप नहीं जलेगा। गान का स्वर नहीं सुनाई पड़ेगा। बाँस के जंगल में झिल्ली बोलेगी, कभी आस-पास की झाड़ियों में सियार बोलेंगे : और उसी समय नगर के शिक्षाभिमानी लोग बिजली की रोशनी में सिनेमा देखने के लिए भीड़ लगायेंगे।

हमारे देश में एक ओर, सनातन शिक्षा का प्रवाह रुक गया है, जनसाधारण के लिए ज्ञान का अकाल पड़ा है; दूसरी ओर, आधुनिक युग की विद्या का आवि-र्भाव हुआ है। इस विद्या की धारा देश की जनता की ओर नहीं बहती। इसका पानी अलग-अलग जगहों पर जमा हो गया है; पत्थर के कुण्ड बन गए हैं; दूर-दूर से यहाँ आकर पण्डों को दक्षिणा देनी पड़ती है, कितने ही निमय निभाने पड़ते हैं। मन्दाकिनी शिवाजी की जटाओं से नीचे उतरती है, साधारण लोगों के लिए घाट-घाट पर प्रस्तुत होती है, कोई भी अपने घट में उसका प्रसाद भर सकता है। लेकिन हमारे देश की आधुनिक विद्या वैसी नहीं, उसका केवल विशिष्ट रूप है, साधारण रूप नहीं। इसलिए अँग्रेज़ी सीखकर जिन्होंने वैशिष्ट्य प्राप्त किया है उनके मन का सर्वसाधारण के साथ सामञ्जस्य नहीं है। देश में सबसे तीव्र जाति-

भेद इसी क्षेत्र में है, यहाँ श्रेणी-श्रेणी में अस्पृश्यता है।

अँग्रेज़ी भाषा में अवगुण्ठित विद्या हमारे मन की सहवर्तिनी होकर नहीं चल पाती। इसीलिए हममें से अनेक लोग जिस मात्रा में शिक्षा पाते हैं उस मात्रा में विद्या नहीं पाते। चारों ओर के वातावरण से यह विद्या विच्छिन्न है। हमारे घर और स्कूल के बीच ट्राम चलती हैं, मन नहीं चलता। स्कूल के बाहर हमारा देश है; दोनों में कोई सहयोग नहीं, बल्कि विरोध ही है। इस विच्छेद के कारण हमारी भाषा और चिन्तन स्कूल के बच्चों की तरह हो गए हैं। नोट-बुक के शासन से वे मुक्त नहीं हैं। हमारी विचारबुद्धि में साहस का अभाव है; पुस्तकों में दिये हुए दृष्टान्तों के सहारे वह डरते-डरते पग बढ़ाती है। शिक्षा के साथ देश के चित्त का सहज मिलन नहीं है और इस दिशा में कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया। बहू बाप के घर में है, ससुराल नदी के दूसरे तट पर है, और बीच में रेत जमा हो गई है। उस पार ले जाने वाली नौका है कहाँ ?

पार जाने के लिए एक छोटा डोंगा है ज़रूर—उसका नाम है साहित्य। यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक बँगला साहित्य का पालन-पोषण वर्तमान युग के अन्न-वस्त्र से ही हुआ है। इस साहित्य से हमारे मन को आधुनिक युग का स्पर्श मिला है, लेकिन यह नाव भी नदी के दूसरे तीर से यथेष्ट मात्रा में खाद्य-सामग्री नहीं ला पाती। जिस विद्या ने वर्तमान युग की चित्तशक्ति को विचित्र रूपों में व्यक्त किया है, विश्व-रहस्य के नये-नये प्रवेश-द्वार खोल दिए हैं, उस विद्या का हमारे बँगला साहित्य के मोहल्ले में बहुत कम आना-जाना है। जो मन विचार करता है, चिन्तन करता है, बुद्धि और व्यवहार में योग स्थापित करता है, वह तो बीते हुए युग में ही पड़ा है। जो मन रसोपभोग करता है उसने अवश्य आधुनिक भोजनशाला के आँगन में यात्रा करना आरम्भ किया है। स्वभावत: इस रसोपभोगी मन का झुकाव उस दिशा में है जहाँ मदिरा का वितरण होता है, जहाँ की वायु नशीली गन्ध से ओत-प्रोत है।

बँगला साहित्य में अधिकतर कहानी-कविता-नाटक को ही स्थान मिला है। यह उपभोग के आयोजन हैं, शक्ति के नहीं। पाश्चात्य देशों में विविध शक्तियों के सहयोग से ही चित्तोत्कर्ष सम्भव हुआ है। वहाँ देखा जाता है कि मनुष्यत्व शरीर-मन-प्राण सभी दिशाओं में व्याप्त है। इसलिए वहाँ यदि त्रुटियाँ हैं तो हों, एक तरह से परिपूर्ति भी है। वटवृक्ष की कोई डाल चाहे आँधी में टूट गई हो, किसी जगह कीड़ा लग गया हो, किसी साल बारिश कम होने से पेड़ कुछ सूख-सा गया हो—लेकिन इन सबके बावजूद बरगद जमा हुआ है, उसने अपने स्वास्थ्य को, अपनी बलिष्ठता को सँभाला है। पाश्चात्य देशों के मन को उसकी विद्या, शिक्षा,

साहित्य सबने मिलकर क्रियाशील रखा है। इन सबके उत्कर्ष से ही उसकी कर्म-शक्ति अक्लान्त रही है, विकसित हुई है।

हमारे साहित्य में रस का ही प्राधान्य है। जब कोई असंयम या चित्त-विकार अनुकरण के रास्ते से इस साहित्य में प्रवेश करता है तो वही एकान्तिक हो उठता है, कल्पना-शक्ति को रुग्ण विलासिता की ओर ले जाता है। प्रबल प्राण-शक्ति यदि जागृत न हो तो शरीर का क्षुद्र विकार भी विषैले फोड़े का रूप धारण करता है। हमारे देश में इसी बात की आशंका है। इसके लिए जब हमें दोष दिया जाता है तो हम पाश्चात्य सभ्यता का दृष्टान्त देते हैं और कहते हैं: 'आधुनिकतम सभ्यता की यही परिणति है'। लेकिन आधुनिक सभ्यता की जो चिन्तनशील, प्रबल, समग्रता है उसे हम भूल जाते हैं।

मैं जब गाँव में रहता था, साधु-साधकों का वेश धारण किये हुए लोग कभी-कभी मेरे पास आते थे। साधना के नाम पर वे उच्छृंखल इन्द्रिय-चर्चा करते। इसमें उन्हें धर्म का प्रश्रय प्राप्त था। उन्हीं से मैंने सुना है कि शिष्यों की श्रृंखला से यह प्रश्रय शहरों में भी उपलब्ध है। धर्म के नाम पर यह पौरुषघातक लालसा इसीलिए व्याप्त हो पाती है कि हमारे साहित्य और समाज में उन उपादानों का अभाव है जिनसे महान् चिन्तन को तथा बुद्धि की साधना को आश्रय मिल सके, मन को कठिन गवेषणा के लिए उत्सुक रखा जा सके।

अन्ततोगत्वा इसके लिए बंगाल के साहित्यिकों को दोष नहीं दिया जा सकता। यह कहना तो आसान है कि हमारा साहित्य सारगर्भित नहीं है, लेकिन किस तरह उसे सारयुक्त बनाया जा सकता है यह निर्णय करना उतना सहज नहीं। रुचि के सम्बन्ध में लोग सतर्क नहीं हैं, क्योंकि रुचि के क्षेत्र में किसी का शासन नहीं चलता। रस-सामग्री से तो अशिक्षित रुचि भी किसी-न-किसी तरह स्वाद प्राप्त कर लेती है। यदि वह समझे कि उसी का बोध रसानुभूति का चरम आदर्श है तो इस बात पर बहस छेड़ना बेकार है—ऐसी बहस का कोई अन्त नहीं। कविता-कहानी-नाटक के बाज़ार में जिन्हें समझदारों का राजपथ नहीं मिलता वे आखिर देहात में खेत की पगडण्डियों पर चलते हैं जहाँ किसी तरह का महसूल नहीं लगता। लेकिन मनन-योग्य विद्या खेत को नहीं, उस सिंहद्वार को पार करके ही मिलती है जिस पर कड़ा पहरा लगा होता है। जिन देशों से लक्ष्मी और सरस्वती प्रसन्न हैं, वहाँ के लोग इस विद्या तक पहुँचने के लिए नये-नये पथ तैयार करते रहते हैं। दूर और निकट, घर में और घर से बाहर, मूल्यवान वस्तुओं का आदान-प्रदान चलता रहता है। हमारे देश को भी यही करना होगा; अब विलम्ब करने से काम नहीं चलेगा।

बंगाल के आकाश पर दुर्भाग्य के बादल चारों ओर से जमा हो गए हैं। किसी समय राजदरबार में बंगालियों की यथेष्ट प्रतिष्ठा थी। भारत के अन्य प्रदेशों में बंगालियों ने कर्मक्षेत्र में ख्याति प्राप्त की है। वे शिक्षा प्रसारण के अग्रणी रहे हैं। कभी उन्हें लोगों की श्रद्धा और अकुंठित कृतज्ञता प्राप्त थी। आज राजपुरुष उनसे रुष्ट हैं, अन्य प्रदेशों में उनके प्रति जो आतिथ्य भावना थी वह संकुचित हो गई है। द्वार अवरुद्ध है। बंगाल की आर्थिक दुर्गति भी बहुत बढ़ गई है।

अवस्था के दैन्य से और अशिक्षा की आत्मग्लानि से बंगाली कहीं नीचे न झुक जायँ, उनका मन दुर्भाग्य से ऊपर उठ सके, यही चेष्टा हम सबको अपने-आपमें जगानी है। जब मनुष्य का मन छोटा हो जाता है, क्षुद्रता के आघात से सभी उद्योग शिथिल पड़ जाते हैं। बंगदेश में ईर्ष्या, निन्दा, दलबन्दी और परस्पर धिक्कार तो हैं ही; उस पर यदि चित्त का प्रकाश भी मलिन हो चले तो आत्म-श्रद्धा के अभाव से दूसरों को नीचे गिराने का प्रयास और भी घातक बन जायगा। आज हिन्दू-मुसलमानों में जो लज्जास्पद संघर्ष चल रहा है—जो देश को आत्म-विनाश की ओर ले जा रहा है—उसका मूल भी देशव्यापी अबुद्धि में ही है। इस बुद्धहीनता की सहायता से ही अकल्याण हमारे भाग्य की दीवारें गिरा रहा है। इसी अकल्याण ने हमारे आत्मीयजनों को शत्रु बना दिया है और विधाता को भी हमारे पक्ष में नहीं होने दिया। आखिर अपना ही सर्वनाश करने की ज़िद यहाँ तक पहुँच गई है कि बंगाली होते हुए बंगला भाषा को भी विदीर्ण करने की चेष्टा हमारे लिए सम्भव हुई है! शिक्षा और साहित्य के उदार क्षेत्रों में भी—जहाँ सारे मतभेदों के बावजूद देश के लोगों का मिलन-स्थान है—अपने हाथों से काँटें बिछाते हुए हमें लज्जा का बोध नहीं हुआ। हमें दुःख सहना पड़ता है तो इसमें धिक्कारणीय कोई बात नहीं है। लेकिन देश-भर के अशिक्षाग्रस्तों के व्यवहार से हमारा माथा झुक गया है, हमारे सारे महान् उद्यम व्यर्थ हो गए है। राष्ट्रों के बाज़ार में अधि-कारों के लिए हम चाहे जितने उच्च स्वर से मोल-भाव करें, वहाँ गोलमेज़ के बम्बडर में हमारी व्यर्थता का इलाज नहीं मिलेगा। नाव के पेंदे में तख्ते अलग हो रहे हैं, सबसे पहले उनकी ओर ध्यान देना होगा, तख्तों को बाँधना होगा।

सबसे पहले हमें शिक्षित मन की आवश्यकता है। स्कूल-कॉलेज के बाहर शिक्षा के विस्तार का साधन है साहित्य। लेकिन साहित्य को सर्वांगीण रूप से शिक्षा का आधार बनाना है। उसको ग्रहण करने का पथ सबके लिए सुगम बनाना है। इसके लिए हम किस मित्र की मदद ले सकते हैं? मित्र तो आजकल दुर्लभ हो गए हैं। इसीलिए मैं बंगदेश के विश्वविद्यालय के द्वार पर सहायता-याचना कर रहा हूँ।

शरीर के अंग-प्रत्यंग में मस्तिष्क और स्नायुजाल का अविच्छिन्न योग देखा जा सकता है। विश्वविद्यालय को मस्तिष्क का स्थान देकर देश के समस्त शरीर में स्नायुतंत्र को प्रेरणा देनी होगी। प्रश्न यही है कि किस तरह यह बात सम्भव हो सकेगी। मेरा सुझाव है कि एक ही परीक्षा के जाल में देश को समेट लिया जाय। यह व्यवस्था ऐसी सहज और व्यापक होनी चाहिए कि स्कूल-कॉलेज के बाहर भी पाठ्य-पुस्तकों के प्रति उत्साह उत्पन्न हो। विश्वविद्यालय प्रत्येक ज़िले में परीक्षा-केन्द्र स्थापित कर सकता है जहाँ घर की स्त्रियाँ और वे सब पुरुष, जो विभिन्न कारणों से स्कूल में भर्ती नहीं हो सकते, अवकाशकाल में अपनी चेष्टा से अशिक्षा की लज्जा को दूर कर सकें। बहुत-से विषयों को सूत्रबद्ध करके विश्वविद्यालय में डिग्री प्रदान की जाती है। लेकिन मैंने जिस क्षेत्र की स्थापना का सुझाव दिया है वहाँ उपाधि देने के लिए इस तरह की बहुलता ज़रूरी नहीं है। अधिकतर देखा जाता है कि व्यक्ति के मन में किसी विशेष विषय के लिए प्रवणता होती है। उसी विषय पर यदि वह अधिकार प्राप्त कर ले तो उसे समाज में उचित स्थान मिलना चाहिए। इस अधिकार से उसे वंचित रखने का मैं कोई कारण नहीं देखता।

विश्वविद्यालय यदि अपने पीठ स्थान के बाहर भी व्यापक रूप से अपनी सत्ता प्रसारित करे, तो बंगला भाषा में यथोचित संख्या में शिक्षा के लिए पाठ्य-पुस्तकों की रचना सम्भव होगी। अन्यथा बंगला साहित्य का विषय-दैन्य दूर नहीं हो सकता। जिन शिक्षणीय विषयों के ज्ञान की आत्मसम्मान माँग करता है उनके अध्ययन के लिए यदि बाध्य होकर अंग्रेज़ी की शरण लेनी पड़े, तो इस अकिंचनता से मातृभाषा सदा अपमानित रहेगी। जो बंगाली केवल बंगला ही जानते हैं उन्हें क्या शिक्षित समाज में सर्वदा निम्न श्रेणी पर ही रहना होगा? एक ऐसा समय भी था जब अंग्रेज़ी स्कूल की प्रथम कक्षा का विद्यार्थी भी निःसंकोच यह कहता था: 'मैं बंगला नहीं जानता'; और, देश के लोग भी उसका गौरव करते थे। वह दिन बीत चुका है। लेकिन आज भी बंगाल के छात्रों को यह कहते शर्म से सिर झुकाना पड़ता है कि 'मैं केवल बंगला भाषा ही जानता हूँ।' एक ओर राजनीतिक क्षेत्र में हम स्वराज प्राप्त करने के लिए कठोर दुःख सह सकते हैं, लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में स्वराज प्राप्त करने का उत्साह हममें नहीं है। आज भी देश में ऐसे लोग हैं जो सोचते हैं कि शिक्षा को बंगला भाषा के आसन पर बिठाने से उसका मूल्य कम हो जायगा। जब पहले-पहल लोग विलायत की यात्रा करने लगे तो अंग्रेज़ियत का नशा इस तरह चढ़ा कि स्त्रियों के साड़ी पहनने से 'प्रेस्टीज' को चोट पहुँचने लगी! बहुत-से बंगवासी आज भी समझते हैं कि शिक्षा-सरस्वती को साड़ी पह-नाने से मानहानि होगी। लेकिन यह स्पष्ट है कि हमारे घर की देवी साड़ी पहन-

कर ही आराम के साथ चल-फिर सकती है। ऊँची एड़ी के जूते पहनने से उसे पग-पग पर असुविधा होगी।

किसी दिन, जब मेरी आयु अल्प थी पर शक्ति अधिक, मैं अंग्रेज़ी साहित्य के नमूनों को पढ़कर उसी समय उनका बंगला अनुवाद करके लोगों को सुनाता था। मेरे श्रोता अंग्रेज़ी जानते थे। फिर भी उन्होंने स्वीकार किया है कि अंग्रेज़ी साहित्य का संदेश बंगला भाषा के माध्यम से उनके मन तक सहज ही पहुँच सका। वास्तव में आधुनिक शिक्षा 'अंग्रेज़ी भाषा-वाहिनी' है, इसीलिए हमारे मन के प्रवेश-पथ पर उसे रुकावट का सामना करना पड़ता है। अंग्रेज़ी 'डिनर टेबल' की जटिल पद्धति से जो अभ्यस्त नहीं होते, ऐसे बंगाली छात्र जब पी. एण्ड. ओ. जहाज़ से विलायत की यात्रा करते हैं तो उन्हें स्टीमर के भोजनगृह में कठिनाई होती है। जब वे खाने बैठते हैं तो भोज्यवस्तु और रसना के बीच काँटा-छुरी बाधा डालती है, और भरपूर खाद्य-सामग्री होने पर भी उन्हें खाली पेट उठना पड़ता है। हमारी शिक्षा के भोज की भी यही दशा है। है तो सब-कुछ, लेकिन एक बड़ा हिस्सा व्यर्थ हो जाता है। यह मैं कॉलेज यज्ञ के सम्बन्ध में कह रहा हूँ। लेकिन इस समय मेरा आलोच्य विषय यह नहीं है—आज का विषय है सर्वसाधारण की शिक्षा। मैं वहाँ की बात नहीं कर रहा हूँ जहाँ शिक्षा के पानी का नल लगा हुआ है, बल्कि वहाँ की, जहाँ तक पाइप नहीं पहुँचे।

मातृभाषा में यदि शिक्षा की धारा प्रशस्त न हो तो इस विद्याहीन देश में मरुवासी मन का क्या होगा?

बंगला-भाषिणी तृषित मातृभूमि की ओर से बंगदेश के विश्वविद्यालय के पास मैं चातक की तरह उत्कंठित वेदना लेकर आया हूँ और अनुरोध करता हूँ—तुम्हारे अभ्रभेदी शिखरों को घेरकर प्राणवाही श्यामल मेघ जमा हों, उनका प्रसाद तुम्हारी धरती पर बरसे, उसे फल-फूल से भर दे! तुम्हारा उद्यान पल्लवित, कुसुमित हो, मातृभाषा का अपमान दूर हो, युगशिक्षा की तरंगमयी धारा बंगाली चित्त के शुष्क नदी-पथ को प्लावित करे। दोनों किनारे पूर्ण चेतना से जागरित हों, और घाट-घाट पर आनन्दध्वनि गूँज उठे।

[बंगला के प्रोफेसर के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय में फरवरी १९३३ को दिया गया भाषण।
'शिक्षा' (विश्वभारती संस्करण) पुस्तक में समाविष्ट।]

विश्वविद्यालयों का रूप

अपरिचित आसन से एक अनभ्यस्त कर्तव्य पूरा करने के लिए कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने मुझे आमन्त्रित किया है। इसके प्रत्युत्तर में मैं अपना सादर अभिवादन व्यक्त करता हूँ।

ऐसे मौकों पर अपनी त्रुटियों का उल्लेख करना एक आडम्बर-सा हो गया है। लेकिन यह प्रथा और उसके अलंकार वस्तुत: शोभनीय नहीं हैं—और न उससे कोई काम निकलता है। कर्तव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले ही क्षमा-याचना करने से लोगों का मन अपने अनुकूल बनाया जा सकता है, यह आशा व्यर्थ है। और ऐसे व्यर्थ विचार से मैं अपने-आपको भुलावा नहीं देना चाहता। क्षमा-प्रार्थना से अयोग्यता में संशोधन नहीं हो सकता, केवल उसे स्वीकार किया जा सकता है। अनुदार लोग उसे विनय नहीं समझते, आत्मग्लानि ही समझते हैं।

जिस काम के लिए मुझे आमन्त्रित किया गया है उसके सम्बन्ध में मेरी कितनी क्षमता है, यह तो सभी को विदित है। इसलिए मैं समझता हूँ, विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इस कार्य के लिए मेरी उपयुक्तता के बारे में पहले ही विचार कर लिया होगा। इस व्यवस्था में कुछ नयापन है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि विश्वविद्यालय में आजकल किसी नवीन संकल्प का प्रस्ताव हुआ है। सम्भवत: यह नया संकल्प बड़ा महत्त्वपूर्ण है और मैं स्पष्ट रूप से उसको उपलब्ध करना चाहता हूँ।

दीर्घकाल से साधारण लोगों की दृष्टि में मेरा परिचय एक विशेष रूप से होता आया है। मैं साहित्यिक हूँ, इसलिए साहित्यिक की हैसियत से ही मुझे यहाँ बुलाया गया है, यह बात माननी ही पड़ेगी। 'साहित्यिक' की उपाधि मेरे लिए कोई उद्वेगहीन विषय नहीं है, यह बात बहुत दिनों की कठोर अभिज्ञता से मैं जान गया हूँ। साहित्यिकों को जो आदर मिलता है वह रुचि पर निर्भर होता है, युक्ति पर नहीं। यह बुनियाद कहीं मज़बूत है तो कहीं कच्ची, सभी स्थानों पर वह समान-बोझ नहीं उठा सकती। कवि की कीर्ति स्तम्भ की तरह नहीं, नौका की तरह होती है। भँवरों को पार करते हुए काल-स्रोत की सभी परीक्षाओं और संकटों से यदि वह नौका उत्तीर्ण हो सके, और अन्त में यदि उसे लंगर डालने के लिए अच्छा-सा घाट मिल जाय, तभी साहित्य के स्थायी इतिहास-ग्रन्थ के किसी पृष्ठ पर उसका नाम अंकित होता है। तब तक अनुकूल-प्रतिकूल हवा के आघात

सहते-सहते उसे लहरों पर चलते रहना है। महाकाल के दरबार में अन्तिम सुनवाई का क्षण बार-बार नहीं आता। वैतरणी पार करने के बाद ही न्याय-सभा में प्रवेश मिलता है।

विश्वविद्यालय विद्वानों का आसन है, यह बात चिरप्रसिद्ध है। पांडित्य के इस गम्भीर आसन पर अचानक एक साहित्यिक को बिठाया गया है। इस रीति-विपर्यय ने निश्चय ही सबका ध्यान आकृष्ट किया होगा। बहुत-से लोगों की तीक्ष्ण दृष्टि मुझ पर है। ऐसे कठिन मार्ग पर चलना मुझसे कहीं अधिक साहसी व्यक्तियों के लिए दुःसाध्य होगा। यदि मैं विद्वान् होता तो लोगों की सम्मति-असम्मति के द्वन्द्व के बावजूद पथ की बाधाएँ मुझे कठिन न लगतीं। लेकिन स्वभाव और अभ्यास दोनों से मेरा व्यवहार 'अव्यवसायी' है। मैं बाहर से आया हुआ आगंतुक हूँ, इसलिए प्रश्रय की आशा नहीं कर पाता।

लेकिन मुझे दिये गए आमन्त्रण में ही अभयदान प्रच्छन्न है, और इससे मुझे आश्वास मिला है। निस्सन्देह मैं यहाँ ऐसे समय आया हूँ जब ऋतु-परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। पुरातन के साथ मेरी असंगति हो सकती है, लेकिन नवोद्यम शायद मुझे अपने अनुचरों में स्वीकार करते हुए अप्रसन्न न होगा।

विश्वविद्यालय के कर्मक्षेत्र में पदार्पण करते हुए इस बात की चर्चा करना दूसरों के लिए चाहे आवश्यक न हो, विषय का स्पष्टीकरण मेरे अपने लिए ज़रूरी है। मुझको साथ लेकर जो व्रत आरम्भ हुआ है उसकी भूमिका को स्थिर कर लेना मैं आवश्यक समझता हूँ।

विश्वविद्यालय एक विशेष साधना का क्षेत्र है। साधारण रूप से इसे विद्या की साधना कहा जा सकता है। इतना कहने से ही बात स्पष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि 'विद्या' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है और विद्या की साधना वैचित्र्यपूर्ण है।

हमारे देश के विश्वविद्यालयों का एक विशिष्ट आकार क्रमशः परिणत हुआ है। इस आकार का मूल भारत के आधुनिक इतिहास में छिपा है और इसकी विस्तृत चर्चा यहाँ अप्रासंगिक न होगी। बाल्यकाल से जो लोग विद्यालय के निकट सम्पर्क में रहे हैं उनके लिए अपने अभ्यास और ममता के वेष्टन से बाहर निकलकर एक विशाल कालखण्ड की पृष्ठभूमि में विद्यालय को देखना कठिन हो जाता है। लेकिन मेरे साथ यह व्यक्तिगत कठिनाई नहीं है, क्योंकि मेरा विद्यालयों के साथ सामीप्य या अभ्यास का सम्बन्ध नहीं रहा। मेरे अनासक्त मन में विश्वविद्यालय का जो स्वरूप प्रतिभासित हुआ है वह सबके लिए चाहे स्वीकरणीय न हो, विचारणीय अवश्य होगा।

यह कहना न होगा कि जिसे योरोप में 'यूनिवर्सिटी' कहा जाता है वह विशेष रूप से योरोप की ही चीज़ है। यूनिवर्सिटी के जिस रूप के साथ हम आधुनिक काल में परिचित हैं, और जिसके साथ आधुनिक शिक्षित-समाज का व्यावहारिक सम्पर्क है, वह पूर्णतया विदेशी है—उसकी जड़ें भी विलायती हैं और शाखाएँ भी। अपने देश के बहुत-से फलवृक्षों को हम विलायती कहते हैं, लेकिन देशी पेड़ों के साथ उनका केवल 'पारिवारिक' भेद होता है, प्रकृतिगत भेद नहीं होता। लेकिन विश्वविद्यालयों के बारे में हम यह नहीं कह सकते। उनका नामकरण और रूपकरण देश की परम्पराओं के अनुगत नहीं हुआ है। इस देश की जलवायु के साथ उनका स्वाभावीकरण नहीं घटा।

फिर भी यूनिवर्सिटी का प्रथम प्रतिरूप किसी दिन भारत में ही देखा गया था। नालन्दा, विक्रमशिला और तक्षशिला के विद्यालयों की स्थापना कब हुई, इस बात का निश्चित काल-निर्णय अभी तक नहीं किया गया, लेकिन यह तो स्पष्ट है कि योरोप की यूनिवर्सिटियों के बहुत पहले उनका आविर्भाव हुआ था। उनका उद्गम भारत की आन्तरिक प्रेरणा में था, भारतीय स्वभाव के अनिवार्य आवेग में था। उनके पूर्ववर्ती काल में भी विद्या की साधना और शिक्षा भारत में व्याप्त थी; इस साधना के विविध रूप थे, विविध प्रणालियाँ थीं। समाज की यह सर्वत्र-प्रसारित साधना ही केन्द्रीभूत होकर जगह-जगह पर ये विद्यापीठ बने थे।

इनके बारे में सोचते-सोचते हमें वेदव्यास का युग—महाभारत का युग—स्मरण हो उठता है। किसी दिन देश के मन में यह आग्रह जगा था कि दूर-दूर तक बिखरी हुई विद्या, मननधारा और इतिहास-परम्परा को संगृहीत और संहत किया जाय। अपने चित्त के युगव्यापी ऐश्वर्य का यदि स्पष्ट रूप से अवलोकन न किया गया तो धीरे-धीरे उसका अनादर होने लगता है और फिर वह जीर्ण तथा अपरिचित होकर लुप्त हो जाता है। किसी समय इस आशंका के विषय में देश सचेत था, वह अपने विच्छिन्न रत्नों को सूत्रबद्ध करना चाहता था, उनको सर्वलोक और सर्वकाल के व्यवहार में प्रयुक्त करना चाहता था। अपनी विराट्, चिन्मयी प्रकृति को प्रत्यक्ष रूप से समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए भारत उत्सुक था। जो चीज़ कुछ पंडितों के अधिकारों में आबद्ध थी उसे सर्वसाधारण तक पहुँचाने का यह एक आश्चर्यजनक अध्यवसाय था। इसमें एक प्रबल चेष्टा थी, अथक साधना थी, समग्रग्राहिणी दृष्टि थी। 'महाभारत' के नाम से ही प्रमाणित होता है कि इसी गौरवमय उद्योग को देश की शक्तिशाली प्रतिभा ने अपना लक्ष्य बनाया था। भारत का महान् समुज्जवल रूप जिन्होंने ध्यानपूर्वक देखा था उन्होंने ही 'महाभारत' का नामकरण किया। वह रूप विश्वव्यापी होते हुए भी आन्तरिक था—महाभारत-

कर्ताओं ने भारत के मन को अपने मन से देखा था। इस विश्वदृष्टि से आनन्दित होकर उन्होंने भारत में चिरकाल के लिए शिक्षा के योग्य भूमि प्रशस्त की। वह शिक्षा धर्म, कर्म, राजनीति, समाजनीति और तत्त्वज्ञान में व्याप्त थी। बाद में भारत को अपने निष्ठुर इतिहास के हाथों आघात-पर-आघात मिले हैं, उसकी मर्मग्रन्थियाँ बार-बार विश्लिष्ट हुई हैं, दैन्य और अपमान से वह जर्जर हुआ है। फिर भी उस इतिहास-विस्मृत युग की कीर्ति ने इतने दिनों तक लोक-शिक्षा की धाराओं को परिपूर्ण और सचल रखा है। गाँव-गाँव और घर-घर में आज भी उसका प्रभाव विद्यमान है। उस मूल प्रसारण से शिक्षा की धारा यदि लगातार प्रवाहित न हुई होती तो दुःख, दारिद्र्य् और अपमान से पीड़ित देश ने बर्बरता के अन्धकूप में अपना मनुष्यत्व खो दिया होता। उस प्राचीन युग में भारत के अपने सजीव और यथार्थ विश्वविद्यालयों की सृष्टि हुई थी। उसकी जीवनीशक्ति का वेग कितना प्रबल था, इसका स्पष्ट आभास हमें मिलता है। जब हम देखते हैं कि दूर सागर-पार जावाद्वीप में उसी शक्ति ने सर्वसाधारण के समस्त जीवन को व्याप्त करके कैसे अद्भुत कल्पजगत् का निर्माण किया। जावा की अनार्य जाति के चरित्र में, उसकी कल्पना और रूप-रचना में वह शक्ति निरन्तर सक्रिय रही है।

ज्ञान का एक पक्ष वैषयिक होता है। यहाँ पाण्डित्य का अभिमान और ज्ञान का विषय-संग्रह करने का लोभ होता है। यह पक्ष कृपण के भाण्डार की तरह है; उसके सम्मुख किसी महान् प्रेरणा को उत्साह नहीं मिलता। जिस महाभारत-कालीन विश्वविद्यालय-युग का मैंने उल्लेख किया वह तपस्या का युग था। भाण्डार जमा करना उसका लक्ष्य नहीं था; उसका उद्देश्य था सर्वसाधारण के चित्त का उद्दीपन, उद्बोधन, चरित्र-सृष्टि। भारत के मन में परिपूर्ण मनुष्यत्व का जो आदर्श ज्ञान-कर्म-हृदयभाव द्वारा जागृत हो रहा था, उसीको सर्वसाधारण के जीवन में संचारित करना—यही उद्योग उस युग में चल रहा था। यह प्रयास केवल बुद्धि तक सीमित नहीं था, आर्थिक और पारमार्थिक सद्गति की ओर भी उसकी दृष्टि थी।

नालन्दा-विक्रमशिला विद्यालयों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है। उस युग में विद्या के मूल्य को देश के लोगों ने गम्भीर रूप से उपलब्ध किया था। इसमें सन्देह नहीं कि इस मूल्य को सम्पूर्णता से केन्द्रीभूत करके सार्वजनीन ज्ञानसत्र स्थापित करने के लिए भारत का मन उद्यत था। भगवान् बुद्ध का धर्म अपने विविध तत्त्वों को लेकर, अनुशासन और साधन की विविध प्रणालियों को लेकर साधारण चित्त के आन्तरिक स्तर तक प्रवेश कर चुका था। इस बहुशाखायित,

परिव्याप्त जलधारा को सर्वसाधारण के स्नान, पान, और कल्याण के लिए किसी सुनिर्दिष्ट केन्द्रस्थल की ओर बढ़ाना—यही थी देश की प्रबल कामना।

यह इच्छा कितनी सत्य थी, कितनी उदार और वेगवान् थी, इसका प्रमाण हमारे प्राचीन विद्यापीठों के अनुष्ठानों में, उनके अकृपण ऐश्वर्य में मिलता है। विख्यात चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग ने विस्मयभरी भाषा में उन विद्या-निकेतनों का वर्णन किया है, वहाँ के ऐश्वर्य का चित्र खींचा है। इस शब्दचित्र में हम देखते हैं अलंकारजड़ित स्तम्भश्रेणी, अभ्रभेदी प्रासाद-शिखर, धूप-सुगन्धित मन्दिर, छायादार आम्रवन, नीले कमलों से सुशोभित सरोवर। इन विद्यापीठों के ग्रन्थागार तीन बड़े-बड़े भवनों में विभाजित थे—'रत्न सागर', 'रत्नोदधि' और 'रत्नरंजक'। 'रत्नोदधि' की नौ मंज़िलें थीं। यहाँ प्रज्ञापारमितासूत्र और अन्य शास्त्र ग्रन्थ सुरक्षित थे। बहुत-से राजाओं ने क्रमशः इस संघ को विस्तृत बनाया था। चारों ओर उन्नत चैत्य थे, जिनके बीच शिक्षाभवन और तर्क सभा-गृह थे। प्रत्येक सरोवर के किनारों पर वेदियाँ और मन्दिर थे। जगह-जगह शिक्षकों-प्रचारकों के लिए चार मंज़िलों के निवास-स्थान थे। उस युग के गृह-निर्माण के सम्बन्ध में डॉक्टर स्पूनर ने लिखा है कि आजकल जिस तरह की ईंटों और गारे का प्रयोग होता है उससे कहीं अच्छे उपकरण उन दिनों प्रयुक्त हुए, और उस समग्र की योजना-पद्धति भी श्रेष्ठतर थी। ईत्सिग ने लिखा है कि एक विद्यालय की ज़रूरतों को पूण करने के लिए दो सौ से अधिक गाँव अलग कर दिये गए थे। कई हज़ार छात्रों और अध्यापकों के भोजन का प्रचुर प्रबन्ध इन गाँवों के अधिवासी नियमित रूप से करते थे।

इन विद्यापीठों में विद्या का केवल संचय ही नहीं होता था—विद्या का गौरव भी प्रतिष्ठित था। ह्वेनसांग कहता है कि यहाँ पढ़ाने वाले आचार्यों का यश दूर-दूर के देशों तक फैल चुका था। उनका चरित्र विशुद्ध और अनिन्दनीय था। वे धर्म का अनुशासन अकृत्रिम श्रद्धा के साथ निभाते थे। जिस विद्या के प्रचार का भार उन पर था उसके प्रति सारे देश का और विदेशी छात्रों का आदर था। अध्यापकों का दायित्व था इस आदर और सम्मान को बनाये रखना—केवल बुद्धि द्वारा नहीं, जनश्रुतियों द्वारा नहीं, बल्कि चरित्र द्वारा, कठोर तपस्या द्वारा। यह इसीलिए सम्भव हो सका कि सारे देश की श्रद्धा को उनसे इस सात्विक आदर्श की प्रत्याशा थी। आचार्यगण जानते थे कि दूर-दूर के देशों तक ज्ञान पहुँचाने का भार उन पर था; समुद्रों और पर्वतों को पार करके, कठिन दुःख स्वीकार करके विदेशी छात्र उनके पास अपनी ज्ञान-पिपासा लेकर आते थे। सारे देश की श्रद्धा जिस विद्या पर हो उसके वितरण करने वाले अपनी योग्यता के प्रति उदासीन

नहीं रह सकते थे। देश की कला-प्रतिभा ने भी अपनी श्रद्धा का अर्घ्य इन विद्यालयों में अर्पित किया था। देश की शिल्प-कला का उत्कर्ष इन विद्यामन्दिरों की दीवारों पर अंकित है। यहाँ भारत की कला ने भारत की विद्या को प्रणाम किया है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने योग्य है। उस समय राजाओं ने अपने महलों या विलासभवनों को विशेष समारोहों द्वारा इतिहास में स्मरणीय बनाने का यत्न नहीं किया। मैं यह नहीं कहता कि ऐसा प्रयास निन्दनीय है। साधारणत: देश का ऐश्वर्य और गौरव राजा के जीवन को केन्द्र बनाकर ही व्यक्त किया जाता है, प्रजा का सम्मान राजप्रासाद में ही कलानैपुण्य और शोभाप्राचुर्य द्वारा उज्ज्वल हो उठता है। कारण जो कुछ भी रहा हो, प्राचीन भारत में हम ऐसी चेष्टा नहीं देखते। शायद राज्यासन के ही अस्थिर होने से यहाँ विनाश के धूमकेतु ने सब-कुछ धो डाला है! लेकिन नालन्दा और विक्रमशिला-जैसे स्थानों पर स्मृतिरक्षा का प्रयास बराबर किया गया। उनके प्रति देश की भक्ति थी, देश के हृदय में प्रबल वेदना थी।

अपनी सर्वश्रेष्ठ विद्या के लिए सर्वसाधारण की उदार, अकुंठित, अकृत्रिम श्रद्धा ही स्वदेशी विश्वविद्यालय का यथार्थ प्राण-स्रोत थी।

इस बात की आसानी से कल्पना की जा सकती है कि ज्ञान-साधना की इस विराट् यज्ञ-भूमि में मानव-मनों का कैसा निविड़ सम्पर्क रहा होगा, कैसा संघर्ष चलता होगा। इस सम्पर्क से बुद्धि की अग्निशिखा निरन्तर उज्ज्वल रहती थी। छपे हुए टैक्स्टबुक से 'नोट' प्रदान करके नहीं, अन्त:भरण के अविश्राम उद्यम से ही धीशक्ति का संचार होता था। विद्या, बुद्धि और ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ लोग दूर-दूर से आकर यहाँ सम्मिलित होते थे। छात्रगण भी तीक्ष्ण बुद्धि, श्रद्धावान् और योग्य थे; कठिन परीक्षा के बाद ही उन्हें प्रवेशाधिकार मिलता था। ह्वेनसांग कहता है कि इस परीक्षा में दस छात्रों के बीच दो-तीन ही उत्तीर्ण हो पाते—अर्थात् तत्कालीन मैट्रिक्यूलेशन की छलनी के छिद्र बड़े-बड़े नहीं थे! सारी पृथ्वी के सम्मुख आदर्श को विशुद्ध और उन्नत रखने का दायित्व-बोध जागरूक था। लोग सचेत थे, कहीं अयोग्य छात्रों को प्रश्रय देने से विद्या का अध:पतन न हो, देश की मानसिक क्षति न हो। विविध मनोप्रवृत्तियों के लोग यहाँ जमा होते—वे न तो एकजातीय थे, न एकदेशीय। एक ही लक्ष्य को सामने रखकर, एक ही जीवन-प्रणाली में वे परस्पर घनिष्ठ ऐक्य लाभ करते। विद्या के मिलन क्षेत्र में इस ऐक्य का मूल्य कितना था, यह भी ध्यान में रखना चाहिए। उस समय पृथ्वी में और भी बहुत-सी बड़ी सभ्यताओं का उद्भव हो चुका था; लेकिन ज्ञान की

तपस्या के लिए मानव-मन का ऐसा विशाल समवाय कहीं और सम्भव हुआ हो, यह बात सुनने में नहीं आती।

इस सफलता का मूल कारण यह था कि जिनके मन में विश्वजनीन मनुष्यत्व के प्रति गम्भीर श्रद्धा थी, जिन्हें विद्या के प्रति गौरव-बोध था, वे अपनी चित्त-सम्पदा को देश-विदेश में दान करना चाहते थे—इस दान में उन्हें परम आनन्द मिलता था, और इसे वे अपना दायित्व भी समझते थे। आज, जब कि अपने प्रति, मानव के प्रति और अपनी साधना के प्रति आलस्य और अश्रद्धा की भावना है, हमें यह बात विशेष रूप से स्मरण करनी चाहिए कि मानव-इतिहास में सबसे पहले भारत में ही ज्ञान का विश्वदानयज्ञ उदारतापूर्वक प्रवर्तित हुआ था। बंगाल के पक्ष से एक और बात स्मरणीय है—नालन्दा में ह्वेनसांग का गुरु एक बंगाली था, उसका नाम था शीलभद्र। पहले वह बंगाल के किसी प्रदेश का राजा था, राज त्यागकर नालन्दा जा पहुँचा था। नालन्दा के अध्यापकों में केवल शीलभद्र ही ऐसा था जो सभी शास्त्रों और सूत्रों की पूर्ण व्याख्या कर सकता था।

बौद्धकालीन भारत में जगह-जगह संघ थे। इन संघों में साधक, शास्त्रज्ञातत्त्व-वेत्ता, शिष्यगण मिलकर ज्ञान के आलोक को प्रज्वलित रखते थे, विद्या की पुष्टि-साधना करते थे। नालन्दा और विक्रमशिला में हम इसी साधना की स्वाभाविक परिणति देखते हैं, इस साधना का विश्वरूप देखते हैं।

उपनिषदों के युग में भी भारत में इसी तरह के विद्याकेन्द्र स्थापित हुए थे, इसका थोड़ा बहुत प्रमाण मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—'आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देश की 'परिषद्' में जैवालि प्रवाहण के पास गया'। इस 'परिषद्' में देश-देश के बड़े-बड़े ज्ञानी एकत्रित होते थे। यहाँ प्रतियोगिता में विजय प्राप्त करने से बड़ी प्रतिष्ठा मिलती थी। अनुमान किया जा सकता है कि सारे पांचाल देश में उच्चतम शिक्षा की सम्मिलित व्यवस्था के लिए एक प्रतिष्ठान था, जहाँ दूर-दूर से आये हुए लोगों की विद्या-परीक्षा होती थी। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उपनिषद्-युग में आलोचना, ज्ञान-संग्रह और तर्क-वितर्क के लिए जगह-जगह पर विद्या के आश्रय-केन्द्र बने थे।

योरोप के इतिहास में भी यही हुआ। वहाँ ईसाई धर्म के आरम्भ-काल में पुराने और नये धर्म में द्वन्द्व चलता रहा और नवदीक्षितों की भक्ति को निष्ठुर उत्पीड़न की परीक्षा से गुजरना पड़ा। बाद में जब धीरे-धीरे नया धर्म सर्वस्वीकृत हुआ तब पूजा-अनुष्ठानों के साथ-ही-साथ तत्त्व-परम्परा की धारा भी प्रभावित

हुई। यदि इस तरह तात्विक बाँध न बनाया जाय तो व्यक्ति की विशेष प्रकृति से भक्ति का रूप विचित्र और विकृत हो सकता है। इसलिए तर्क और विचार-समीक्षा की आवश्यकता सामने आती है। बुद्धि और ज्ञान की सहायता से ही विश्वास अपने लिए स्थायी और विशुद्ध आधार ढूँढ़ता है। फिर प्रश्न उठता है—'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। भक्ति केवल पूजा का विषय न रहकर विद्या का विषय बन जाती है। ऐसी अवस्था में योरोप में विविध स्थानों पर आचार्यों तथा छात्रों के संघ निर्मित हुए। इनमें से अच्छे-बुरे संघों का चुनाव करना ज़रूरी हो गया। कहाँ की शिक्षा वास्तव में श्रद्धा के योग्य और प्रामाणिक थी, यह स्थिर करने का भार रोम के प्रधान धर्मसंघ पर पड़ा। साथ-ही-साथ राज्य-शासन भी इस प्रश्न के प्रति उदासीन नहीं था।

सभी जानते हैं कि उस समय की विद्या--तर्कशास्त्र को प्रमुख स्थान प्राप्त था। उन दिनों पण्डितों ने स्वीकार किया था कि 'डायलेक्टिक' ही मूल विज्ञान है। इसका कारण स्पष्ट है। शास्त्रों के उपदेश वाक्यों में आबद्ध होते हैं। इन आप्तवाक्यों के सर्वमान्य अर्थ तक पहुँचने के लिए शाब्दिक तर्क अनिवार्य हो जाता है। मध्ययुगीन योरोप में यह युक्तिजाल कैसा सूक्ष्म और जटिल हो उठा, सर्वविदित है। शास्त्रज्ञान की विशुद्धता के लिए ही यह न्यायशास्त्र विकसित हुआ। समाज-रक्षा के लिए और दो विद्याएँ आवश्यक मानी गईं—विधान और चिकित्सा। तत्कालीन योरोपीय विश्वविद्यालयों में इन्ही सब विषयों को प्राधान्य मिला। नालन्दा में हेतुविद्या, चिकित्साशास्त्र और शब्दशास्त्र पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। साथ-ही-साथ तन्त्र भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण विषय था।

योरोप में मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य परिवर्तन के साथ वहाँ के विश्वविद्यालयों में भी दो दिशाओं में मूलगत परिवर्तन हुआ। मनुष्यत्व का धर्मशास्त्र पर अवलम्बन धीरे-धीरे कम हुआ। किसी दिन वहाँ ज्ञान का क्षेत्र धर्मशास्त्र के पूर्णतया अन्तर्गत नहीं तो कम-से-कम उसके अधीन अवश्य था। लम्बे संघर्ष के बाद धर्मशास्त्र के हाथ से यह अधिकार छीन लिया गया। जहाँ विज्ञान के साथ शास्त्र-वाक्य का विरोध है वहाँ आज शास्त्र पराजित है, विज्ञान अपनी स्वतन्त्र वेदी पर प्रतिष्ठित है। भूगोल, इतिहास आदि शिक्षणीय विषय वैज्ञानिक युक्तिपद्धति के अनुगत होकर धर्मशास्त्र के बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं। विश्व के सभी ज्ञातव्य-मन्तव्य विषयों के बारे में मानवीय जिज्ञासा आज विज्ञान-प्रवण है। 'आप्तवाक्यों' का मोह दूर गया है।

दूसरा परिवर्तन भाषा के सम्बन्ध में हुआ है। एक दिन लैटिन भाषा ही सारे

योरोप में शिक्षा की भाषा थी, उसी पर सारी विद्या आधारित थी। उसमें सुविधा यह थी कि सभी योरोपीय देशों के छात्र एक स्थिर और कभी न बदलने वाली भाषा की मदद से शिक्षा-लाभ कर सकते थे। लेकिन उससे नुकसान यह होता था कि विद्या का आलोक पाण्डित्य की दीवारों को पार करके बाहर बहुत कम पहुँच पाता था। जब योरोप के विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी भाषा को शिक्षा के वाहन के रूप में स्वीकार किया तब शिक्षा सर्वसाधारण के बीच व्याप्त हुई। तब विश्वविद्यालय का देश के चित्त से आन्तरिक योग सम्भव हुआ। सुनने में यह बात स्वतः विरोधी लग सकती है, लेकिन वास्तव में भाषा-स्वातन्त्र्य से ही योरोपीय विद्या में सहकारिता का आरम्भ हुआ। इस स्वातन्त्र्य ने योरोप के चित्त को खण्डित नहीं बल्कि संयुक्त किया है। स्वदेशी भाषाओं द्वारा विद्या को जब मुक्ति मिली, योरोप में ज्ञान का ऐश्वर्य वृद्धिगत हुआ, पड़ोसियों और दूर देशों की ज्ञान-साधना से उसका योग स्थापित हुआ—मानो अलग-अलग खेतों का शस्य योरोप के साधारण भाण्डार में एकत्रित हुआ हो। आज वहाँ के विश्वविद्यालय उदार भाव से सभी देशों के होते हुए भी विशेष रूप से अपने-अपने देश के हैं। यह मानव-प्रकृति के अनुगत ही है, क्योंकि मनुष्य यदि सत्यभाव से अपने-आपको उपलब्ध नहीं करता तो अपना उत्सर्ग भी नहीं कर सकता। यदि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का उत्कर्ष न हो तो विश्वजनीनता का वास्तविक दाक्षिण्य असम्भव है। मध्ययुगीन एशिया में तिब्बत, चीन और मंगोलिया ने बौद्ध धर्म को ग्रहण अवश्य किया, लेकिन अपनी भाषाओं में ही उन्होंने इस धर्म को अपनाया। इसीलिए बौद्ध धर्म इन देशों की जनता का आन्तरिक धर्म बन सका और मोह के अन्धकार से उनका उद्धार कर सका।

'युनिवर्सिटी' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। मैं मोटे तौर से यही कहना चाहता हूँ कि देश को विद्या के प्रति जिस विशेष स्नेह, गौरव और दायित्व का बोध होता है उसी की रक्षा और प्रचार के लिए विश्वविद्यालय का निर्माण होता है। उसका उद्भव सारे देश की इच्छा-शक्ति से होता है—इच्छा ही सृष्टि का मूल है। और इच्छा के पीछे शक्ति का ऐश्वर्य रहता है जो अदमनीय है, जो उदारता से अपने-आपको व्यक्त करना चाहता है।

सभी सभ्य देशों में ज्ञान मिलता है। अतिथि को विश्वविद्यालयों में अवारित आतिथ्य मिलता है। अतिथि को वही बुलाता है जिसके पास अतिरिक्त सम्पदा हो। गृहस्थ अपनी अतिथिशाला में सारे विश्व को स्वीकार करता है। नालन्दा में भारत ने अपने ज्ञान का अन्न-सत्र खोला, स्वदेश-विदेश के सभी अभ्यागतों के

लिए। उस दिन भारत ने अनुभव किया था कि उसके पास ऐसी पर्याप्त सम्पदा है जो सारी मानव-जाति को दान किए जाने पर ही चरम सार्थकता लाभ कर सकती है। पश्चिम के अधिकांश देशों में भी ऐसी अतिथिशालाएँ हैं। वहाँ स्वदेशी-विदेशी का भेद नहीं है। वहाँ ज्ञान के विश्व-क्षेत्र में मनुष्य-मात्र को अपनाया जाता है। समाज के दूसरे विभागों में भेद की प्राचीरें उठती रही हैं; केवल ज्ञान ने महातीर्थ में ही मानव-जाति के लिए आमन्त्रण है, क्योंकि यहाँ दैन्य-स्वीकार या कृपणता किसी भी भद्र जाति के लिए सबसे अधिक आत्मलाघव की बात होती है। भाग्यशाली देशों के ज्ञान-प्रांगण सारे विश्व के लिए खुले होते हैं।

हमारे देश में यूनिवर्सिटी का सूत्रपात बाहर से मिले हुए दान से हुआ। इस दान में दाक्षिण्य कम था; उसकी राजानुचित कृपणता से देश आज तक दुखी है। इंग्लैंड के राजद्वार पर लंदन यूनिवर्सिटी की जो अतिथिशाला है, उसी की छोटी-सी शाखा हमारे गरीब देश में खोली गई! यहाँ शुरू से ही यह बात स्वीकार नहीं की गई कि भारतीय विद्या नाम की भी कोई चीज़ है। इसका स्वभाव पृथ्वी की दूसरी सभी यूनिवर्सिटियों के विपरीत रहा है। यहाँ दान का विभाग अवरुद्ध रहता है और ग्रहण विभाग का क्षुधित केवल सर्वदा खुला रहता है। लेकिन जहाँ आदान और प्रदान दोनों न चलते हों वहाँ 'प्राप्त करना' असम्पूर्ण रहता है। इसलिए हमारे विश्वविद्यालय ठीक तरह से कोई चीज़ ग्रहण भी नहीं कर पाते।

आधुनिक युग में जीवन-यात्रा सभी दिशाओं में जटिल हो गई है। तरह-तरह की नई समस्याओं से मन सर्वदा क्षुब्ध रहता है। इन विविध प्रश्नों के विविध उत्तर, वेदनाओं की विविध अभिव्यक्तियाँ समाज में तरंगित रहती हैं, साहित्य में विचित्र रूप धारण करती हैं। विश्वविद्यालयों में युग-युग के स्थायी आदर्शों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाता है, लेकिन प्रचलित साहित्य में प्रवहमान चित्त की चंचलता प्रकाशित होती रहती है। पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में चित्त-मंथन के इस बाह्य स्वरूप के साथ भी योग बना रहता है—वहाँ मानवीय शिक्षा की ये दो धाराएँ गंगा-यमुना की तरह मिल जाती हैं। यह इसलिए सम्भव होता है कि वहाँ समस्त देश का एक ही चित्त देश की विद्या का अविच्छिन्न रूप से निर्माण करता है, जिस तरह पृथ्वी पर जो सृजन-क्रिया चलती रहती है वह जल और स्थल दोनों में सक्रिय होती है।

शायद अधिकतर लोग जानते होंगे कि आजकल इंग्लैंड के विश्वविद्यालय में शिक्षा-विस्तार का विशेष रूप से प्रयास चल रहा है जिससे वर्तमान युग की

उन्नति में विश्वविद्यालय भी अपने कदम मिलाकर आगे बढ़ सकें। पिछले योरोपीय महायुद्ध के बाद ऑक्सफर्ड में दर्शन, राजनीति और अर्थनीति की आधुनिक धाराओं की चर्चा की जाने लगी है। यूनिवर्सिटी का प्रयत्न है कि उन लोगों की सहायता की जाय जो अच्छी तरह यह जानना चाहते हैं कि चारों ओर क्या हो रहा है, समाज किस दिशा में जा रहा है। मैन्चेस्टर यूनिवर्सिटी में आधुनिक अर्थ-शास्त्र और इतिहास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। वर्तमान युग में चिन्तन तथा कर्म दोनों ही क्षेत्रों में जो द्वन्द्व और संघात चल रहा है उसको देखते हुए इस तरह की आधुनिक शिक्षा अत्यन्त उपयुक्त है। इसके फलस्वरूप छात्र-छात्राएं अपने कर्त्तव्य और जीवन-अवस्था के लिए प्रस्तुत हो पाते हैं।

भारत में विदेश से प्राप्त विश्वविद्यालयों के साथ देश का इस तरह आन्तरिक मिलन हो ही नहीं सकता। इसके अलावा योरोपीय विद्या भी हमारे देश में अचल जलाशय की तरह है, उसका गतिशील रूप हम देख नहीं पाते। जिन मतवादों में बहुत ही शीघ्र परिवर्तन आने वाला है, वे भी हमारी दृष्टि में अटल सिद्धान्त हैं। हमारा सनातन मुग्ध मन चन्दन और पुष्प चढ़ाकर उनकी पूजा करता है। योरोपीय विद्या को हम स्थावर रूप में प्राप्त करते है, उसमें से कुछ वाक्यों का चयन करके उनकी आवृत्ति करते रहने को ही हम आधुनिक पाण्डित्य की पद्धति मानते हैं। तभी उस विद्या के सम्बन्ध में नवीन चिन्तन का साहस हममें नहीं होता। देश की जनता के सारे दुरूह प्रश्नों से महत्त्वपूर्ण प्रयोजनों और तीव्र वेद-नाओं से हमारे विश्वविद्यालय विच्छिन्न हैं। यहाँ दूर की विद्या पर हम अधिकार करना चाहते हैं—उसका जड़ पदार्थ की तरह विश्लेषण करके, समग्र की उपलब्धि द्वारा नहीं। हम अलग-अलग वाक्यों को कण्ठस्थ करते हैं और ऐसी खण्डित विद्या के आधार पर परीक्षाएँ पास करके निष्कृति पाते हैं। टैक्स्ट-बुकों से चिपका हुआ हमारा मन पराश्रित प्राणियों की तरह अपना खाद्य अपने-आप संगृहीत करने की शक्ति खो चुका है।

अंग्रेज़ी हमारी प्रयोजन-सिद्धि की भाषा है, इसीलिए हमारी शिक्षा इस विदेशी भाषा के प्रति हमारे लोभ पर केन्द्रित है। यह प्रेमी की प्रीति नहीं, कृपण की आसक्ति है। हम जब अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ते हैं, हमारा मुख्य उद्देश्य होता है अंग्रेज़ी भाषा पर अधिकार प्राप्त करना—अर्थात् हमारा मन फूल के कीड़े की तरह है; मधुकर की तरह नहीं। भीख माँगकर जो दान प्राप्त करते हैं उसकी सूची बनाकर हम इम्तहान में बैठते हैं। यह परीक्षा परिमाणात्मक होती है, गुणात्मक नहीं। ऐसी परीक्षा के लिए वज़न के हिसाब से हम शिक्षार्जन करते हैं। यदि विद्या को बाह्य वस्तु के रूप में ही देखा जाय तो उसे चित्त की सम्पदा समझना अनावश्यक

हो जाता है। ऐसी विद्या के न तो दान में गौरव है, न ग्रहण में। लेकिन इस दैन्यावस्था में कभी-कभी ऐसे शिक्षक देखने में आते हैं जिनके लिए शिक्षादान स्वभावसिद्ध होता है। वे अपने गुण से ही ज्ञान-दान करते हैं, अपने अन्त:करण से शिक्षा को निजी सामग्री बनाते हैं; उनकी प्रेरणा से छात्रों में मनन-शक्ति का संचार होता है। विश्वविद्यालय के बाहर, जीवन के क्षेत्र में, उनके छात्रों की विद्या फलवती होती है।

सार्थक विश्वविद्यालय वही है जो ऐसे शिक्षकों को आकर्षित करता है, जहाँ शिक्षा की सहायता से मनोलोक की सृष्टि होती है। यह सृष्टि ही सभ्यता का मूल है। लेकिन हमारे विश्वविद्यालयों में इस श्रेणी के शिक्षक न होने से भी काम चलता है—शायद और भी अच्छी तरह चलता है। यहाँ परीक्षा-पद्धति की दृष्टि आहरण पर होती है, फलन पर नहीं। दैन्य की निष्ठुर बाध्यता से ऐसी शिक्षा के प्रति देश का मोह है, भक्ति नहीं। इसलिए शिक्षकों-छात्रों के उद्यम को परिपूर्ण रूप से सतर्क रखने का कोई प्रयोजन ही यहाँ नहीं देखा जाता। देश की प्रत्याशा उच्च नहीं है; बाज़ार भाव के हिसाब से परीक्षा में जितने अंकों की माँग की जाती है उनकी कीमत सत्य के निकष पर बहुत सामान्य उतरती है। अमूल्य विद्या को सत्य बनाने के लिए जो श्रद्धा चाहिए उसकी रक्षा करना कठिन हो जाता है, और विश्वविद्यालय की मज्जा में शैथिल्य प्रवेश करता है।

देश के अभाव को दूर करने के लिए विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा की जाती है। इस सम्बन्ध में जापान का उल्लेख किया जा सकता है। जापान ने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि आधुनिक योरोप जिस विद्या के प्रभाव से विश्व-विजयी हुआ है उस पर अधिकार प्राप्त न किया गया तो पराजय अनिवार्य है। यह बात समझते ही जापान ने प्राणपण से प्रयत्न करके अपने नवप्रतिष्ठित विश्वविद्यालय को योरोपीय विद्या का पीठस्थान बनाया। उसकी एकमात्र आकांक्षा यही थी कि विद्या-साधना की दृष्टि से आधुनिक मानव-समाज में वह पीछे न रहे। देश के शिक्षा-दान-कार्य की सिद्धि के आदर्श को छोटा बनाकर अपने-आपको वंचित रखने की कल्पना जापान के लिए असह्य थी। हमारे देश में विद्या की सफलता का आदर्श कृत्रिम है और वह भी बड़े अंश तक परकीयों के हाथ में है। विदेशी शासक अपने उपस्थित प्रयोजनों के हिसाब से शिक्षा के प्रश्न पर थोड़ा-बहुत ध्यान देकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

जापान में विद्या को सत्य बनाने की तीव्र इच्छा इसीसे व्यक्त होती है कि स्वदेशी भाषा को शिक्षा-क्षेत्र में स्वीकार करने में विलम्ब नहीं किया गया। सर्व-साधारण की भाषा के आधार पर जापान ने विश्वविद्यालय को सबके लिए उपयुक्त

संस्था बनाया। इससे शिक्षित और अशिक्षित लोगों के बीच चित्त-प्रसारण का मार्ग प्रशस्त हुआ। तभी आज वहाँ देश-भर में बुद्धि की ज्योति दीप्तिमान है।

हमारे देश में जब मातृभाषा को शिक्षा के आसन पर प्रतिष्ठित करने का सुझाव दिया गया तब अंग्रेज़ी जानने वाले विद्वान् बेचैन हो उठे। उन्हें आशंका थी कि जिन थोड़े-से लोगों को अंग्रेज़ी भाषा का व्यवहार करने का सुयोग प्राप्त है उनका अधिकार कम न हो जाय। दरिद्र की आकांक्षा भी दरिद्र ही होती है!

यह मानना पड़ेगा कि जापान स्वाधीन देश है; वहाँ के लोगों ने विद्या का जो मूल्य स्थिर किया है उसे चुकाने में वहाँ कृपणता नहीं दिखाई जाती। और हमारे अभागे देश में पुलिस और सेना विभागों के भोज की बची हुई उच्छिष्ट सामग्री से ही विद्या का किसी तरह समाधान किया जाता है। हमें अपने कपड़े के छिद्रों को जोड़ लगाकर ढाँकना पड़ता है। गौरव का प्रश्न ही नहीं उठता, बड़ी मुश्किल से लज्जा-निवारण होता है। लोगों के सामने मान-रक्षा करने भर के लिए हमारे पास आवरण है। जीर्ण ही सही, लेकिन कपड़ा है अवश्य!

यह बिलकुल सच बात है। लेकिन इसके विषय में शिकायत करते रहना बेकार है। यदि हम पराधीनता को कोसते रहें और निचेष्ट हो जायें तो इससे कोई काम नहीं निकलेगा। तूफ़ान आने पर जहाज के कर्ण को और भी अधिक सावधानी से सँभालना होता है। जिस विद्या को आज तक हमने विदेशी नीलाम में सस्ते दाम पर खरीदे हुए टूटे-फूटे बेंच पर बिठाए रखा है उसे अब स्वदेश की चित्तवेदी पर आदर का स्थान देना होगा। विश्वविद्यालय को जब हम सही अर्थ में स्वदेशी की सम्पदा बना सकेंगे तभी इस विषय में देश का यह कर्त्तव्य पूर्ण होगा—'श्रद्धया देयम्', श्रद्धा के साथ दान करना चाहिए। श्रद्धा का अन्न प्राणशक्ति को जागृत करता है।

बहुत दिनों तक अंग्रेज़ी भाषा का पिंजरा स्थायी रूप से हमारे राजद्वार पर सुरक्षित था। इसका द्वार खोलकर देश की चित्त शक्ति के लिए नीड़ प्रस्तुत करना होगा। इस बात को सर्वप्रथम समझा आशुतोष ने। अपनी शक्ति से इस जड़त्व को विचलित करने का साहस उनमें था। सनातनपन्थी देश में विश्वविद्यालय की पुरानी प्रथा को छोड़कर बंगला भाषा को स्थान देने का प्रस्ताव उनके ही मन में पहले-पहल उठा। भीरु और लोभी लोगों के तर्क तथा विरोध का सामना उन्हें करना पड़ा। यह सच है कि बंगला अभी तक सम्पूर्ण रूप से शिक्षा की भाषा बनने योग्य नहीं हुई; क्योंकि उसमें उतनी परिपक्वता नहीं है। लेकिन आशुतोष जानते थे कि इस अपरिपक्वता का कारण बंगला का अपना दैन्य नहीं, वरन् उसकी

वर्तमान अवस्था का दैन्य है। श्रद्धा और साहस के साथ यदि उसे शिक्षा का आसन दिया गया तो वह अपने-आपको इस आसन के योग्य बना लेगी। इसे यदि हम बिलकुल ही असम्भव मानें, तब तो विश्वविद्यालय सदा के लिए विलायती 'टब' का पौधा बना रहेगा—वह टब मूल्यवान् हो सकता है, अलंकृत हो सकता है, लेकिन पेड़ को तो वह भारत की मिट्टी से पृथक् ही रखेगा। ऐसी हालत में विश्वविद्यालल देश के लिए एक शौक की चीज़ बनेगी, प्राण की चीज़ नहीं।

इसके अरिरिक्त आशुतोष ने, विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ाने के लिए, परीक्षाओं की अन्तिम सीढ़ी से भी ऊपर अन्वेषण विभाग स्थापित किया—विद्या की फसल जमा करने का नहीं बल्कि उगाने का विभाग! सहायकों की कमी, अर्थ का अभाव, अपने-पराये अनेक लोगों की प्रतिकूलता—कोई बाधा उन्हें रोक न सकी। विश्वविद्यालय में आत्म-श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। आशुतोष को विश्वविद्यालय के प्रति आन्तरिक लगाव था, उस पर उन्हें गर्व था। इसी गर्व से उनमें यह विश्वास जागृत हुआ कि सारा देश इस विश्वविद्यालय को अपनी निजी वस्तु समझेगा।

विश्वविद्यालय और देश के बीच जो दीवार थी उसमें से आवागमन का मार्ग निकालने के लिए आशुतोष प्रयत्नशील थे। उसी प्रवेश-पथ से आज मेरे-जैसे आदमी के लिए यहाँ अकुंठित मन से आना सम्भव हुआ है। मेरा परम सौभाग्य यह है कि विश्वविद्यालय को स्वदेशी भाषा की दीक्षा देने के पुनीत अनुष्ठान में मेरा भी थोड़ा-बहुत हाथ रहा है, और मेरा नाम इसके साथ जुड़ा रहेगा। स्वदेश और विश्वविद्यालय के बीच मिलने हेतु के रूप में ही मुझे यहाँ आमन्त्रित किया गया है। स्वदेशी भाषा की मैंने जो आजीवन साधना की है उसके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए ही विश्वविद्यालय ने आज मुझे अपने आसन पर स्थान दिया है। दो युगों के संधिस्थल पर मुझे एक चिह्न की तरह रखा गया है। मैं देखता हूँ कि मुझे यथारीति 'अध्यापक' की पदवी दी गई है। यह पदवी आदरणीय है, लेकिन मुझे यह पदवी प्रदान करना असंगत लगता है। इसका एक दायित्व है, जिसे मैं स्वीकार नहीं कर पाता। साहित्य की प्राचीन समस्याएँ, शब्दों की उत्पत्ति और विश्लिष्ट उपादान—ये सब बातें मेरी अभिज्ञता से बाहर हैं। मैं केवल साहित्य के अखण्ड रूप का, उसकी गति और इंगित का, अध्ययन करता हूँ।

जब मैं सतरह वर्ष का था, अंग्रेज़ी भाषा की जटिल गुहा में बड़ी मुश्किल से राह टटोल पाता था। फिर लगभग तीन मास के लिए लन्दन यूनिवर्सिटी में साहित्य की क्लास में भर्ती हुआ। हमारे अध्यापक थे शुभ्रकेश, सौम्यमूर्ति हेनरी

मॉर्ले। वे साहित्य पढ़ाते थे, उसके अन्तरतम रस का दान करने के लिए। शेक्सपियर का 'कोरायोलेनस', टॉमस ब्राउन का 'बेरियल अर्न' और मिल्टन का 'पॅरॅडाइज़ रीगेण्ड' हमारे पाठ्यक्रम में थे। नोट्स की सहायता से मैं स्वयं इन पुस्तकों को पढ़कर तब क्लास में आता जिससे अर्थ ग्रहण करना सरल हो सके। अध्यापक क्लास में बैठकर नोटबुक की मूर्ति नहीं बन जाते थे। जिस काव्य की चर्चा करते उसका चित्र उनकी बातों से खिच जाता, वे अत्यन्त सरस भाव से कविता पाठ करते। कविता में शब्दार्थ से कहीं अधिक जो मर्म होता है वह उनके कंठ से व्यक्त होता। बीच-बीच में कठिन पंक्तियों को भी जल्दी-ज़ल्दी समझा देते, पठन-धारा खंडित न हो पाती।

साहित्य-शिक्षा का एक आनुषंगिक लक्ष्य यह भी होता है कि छात्रों में रचना-शक्ति का विकास हो। यह दायित्व भी वे निभाते। साहित्य-शिक्षा का मुख्य कार्य भाषा-तत्त्व सिखाना नहीं, साहित्य के जटिल प्रश्नों का विवेचन नहीं, बल्कि रस का परिचय देना और रचना में भाषा का व्यवहार समझाना है। आर्ट शिक्षा का कार्य आर्कियालॉजी—आइकोनोग्राफी नहीं, आर्ट के आन्तरिक स्वरूप की व्याख्या करना है। सप्ताह में एक दिन हेनरी मॉर्ले अपने छात्रों की रचनाओं की समीक्षा करते—पदच्छेद, पॅरॅग्रॅफ-विभाग, शब्द-प्रयोग की सूक्ष्म त्रुटियाँ और सुन्दरता, इन सबकी आलोचना करते। साहित्य और भाषा का स्वरूप-बोध—उसके 'टेकनीक' का परिचय और विवेचन—साहित्य-शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। यह बात मैंने उन्हीं की क्लास में समझी।

आज यदि मेरी आयु इतनी अधिक न होती, और मैं साहित्य-शिक्षा के कार्य पर नियुक्त होता, तो इसी आदर्श के अनुसार काम करने का मेरा प्रयास होता। सम्भव है, मेरे प्रयत्नों का परिणाम दुःखद होता—मेरे प्रति न तो अधिकारी बहुत दिनों तक सहिष्णु रह पाते, न छात्रगण। लेकिन अब यह संभावना नहीं रही।

आज मेरे जीवन के अन्तिम पर्व में मुझसे किसी रीतिमत कर्म-पद्धति की प्रत्याशा करना अधर्म होगा, उससे अनिष्ट होगा। इस आयु में मुझे बंगला-अध्यापक के सुलभ संस्करण के रूप में प्रयुक्त किया गया तो उससे क्षति होगी। मेरे लिए भी वह स्वास्थ्यप्रद न होगा। मैं जानता हूँ, आज कलकत्ता विश्वविद्यालय को बंगवाणी—सरस्वती के मंदिर-द्वार तक ले जाने का भार मुझ पर है। यह बात ध्यान में रखकर मैं उसका अभिवादन करता हूँ। मेरी कामना है कि आज, जब धूम्र मलिन निशीथ-प्रदीप के बुझने का समय आ गया है, बंगदेश के चित्ताकाश में नव सूर्योदय के आगमन को यथार्थ स्वदेशी विश्वविद्यालय भैरव राग से

घोषित करे, और बंगदेश की प्रतिभा को नवसृष्टि के पथ पर निर्देशित करके उसे अक्षय कीर्तिलोक तक पहुँचा दे।

[बँगला के प्रोफेसर के रूप में दिसम्बर, १९३२ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिया गया भाषण।
कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा जनवरी, १९३३ में प्रकाशित।
'शिक्षा' (विश्वभारती संस्करण) पुस्तक में समाविष्ट।]

पंचम खण्ड

समाज

१. हिन्दू-विश्वविद्यालय
२. भारतवर्षीय विवाह
३. नारी

हिन्दू-विश्वविद्यालय

आधुनिक काल में पृथ्वी के अलग-अलग भाग एक-दूसरे के निकट आ गए हैं। विभिन्न देश कई कारणों से एक-दूसरे का परिचय लाभ कर रहे हैं। इसलिए यह विचार मन में उठ सकता है कि अलग-अलग देश स्वतन्त्र न रहकर उनके मिल जाने का समय आ गया है।

लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि जैसे-जैसे बाहर का दरवाज़ा खुलता है और बीच की दीवारें टूटती हैं उसी मात्रा में देशों और जातियों का स्वातंत्र्य-बोध भी प्रबल होता जाता है। किसी समय यह सोचा जाता था कि विभिन्न लोगों के परस्पर-मिलन का उपाय न होने से ही मानव-मानव में पार्थक्य है। लेकिन आज हम देखते हैं कि मिलन के मार्ग की बाधाएँ दूर होने पर भी पार्थक्य दूर नहीं होता।

योरोप के छोटे-छोटे देश, जो कभी सम्मिलित थे, आज अपना स्वतन्त्र आसन ग्रहण करने के लिए आतुर हैं। नार्वे और स्वीडन अलग हो गए हैं। आयरलैंड अपने स्वतन्त्र अधिकारों को प्राप्त करने के लिए बहुत दिन से अथक प्रयत्न कर रहा है; यहाँ तक कि अपनी विशेष भाषा और साहित्य में जागृति निर्माण करने का प्रयास भी आयरिश लोगों में है। वेल्स निवासियों में भी यही चेष्टा देखी जाती है। बेल्जियम में इतने दिनों तक फ्रेंच भाषा का प्राधान्य था, लेकिन आज फ्लेमिश लोगों में अपनी भाषा के स्वातन्त्र्य के लिए उत्साह है। ऑस्ट्रियन राज्य में बहुत-से छोटे-छोटे देश साथ-साथ रहते आए हैं लेकिन अब यह स्पष्ट हो गया है कि भविष्य में इन देशों को साथ रखना असम्भव है। रशिया फिनलैंड निवासियों को आत्मसात् करने के लिए काफी शक्ति का प्रयोग कर रहा है लेकिन वह यह भी देखता है कि निगलना जितना आसान है उतना आसान पचाना नहीं। तुर्की साम्राज्य की विभिन्न जातियों में काफी रक्तपात हो चुका है, फिर भी उनके भेद चिह्न विलुप्त नहीं हुए।

इंग्लैंड में किसी दिन इम्पीरिअलिज़्म की लहर उठी थी। समुद्र-पार के उपनिवेशों को एक साम्राज्य-तन्त्र में बाँधकर एक विराट् कलेवर धारण करने की प्रबल इच्छा इंग्लैंड के चित्त में थी। लेकिन हाल में उपनिवेशों के शासकों की महासमिति इंग्लैण्ड में बुलाई गई थी, और उसमें जितने बन्धन प्रस्तावित किये गये उनमें से कोई भी स्वीकृत नहीं हुआ। साम्राज्य के एकीकरण से उपनिवेशों

का स्वातन्त्र्य कम होने की जहाँ भी लेशमात्र आशंका थी वहाँ उनकी ओर से प्रबल आपत्ति व्यक्त की गई।

केवल मिलन में ही शक्ति है और बृहत् होने में ही महत्ता है, यह विचार आज के युग का विचार नहीं है। जहाँ पार्थक्य वास्तविक होता है वहाँ केवल सुविधा के लिए, या एक बड़ा दल निर्माण करने के प्रलोभन से, उस पार्थक्य का दमन करने का प्रयत्न सत्य के विरुद्ध है। दबाया हुआ पार्थक्य एक भयानक वस्तु होती है। किसी-न-किसी समय उत्तेजित होकर वह अचानक फूट निकलता है और विप्लव का निर्माण करता है। जो सत्ताएँ सचमुच अलग हैं उनके पार्थक्य का सम्मान करने में ही मिलन की रक्षा का सदुपेय है। मनुष्य जब अपने पार्थक्य को यथार्थ रूप से उपलब्ध करता है तभी वह महान् होने का प्रयत्न करता है। अपने पार्थक्य के प्रति जिसे कोई ममता नहीं है वही हिम्मत हारकर दस लोगों में अपने-आपको विलीन कर देता है। निद्रित मनुष्यों में आपसी भेद नहीं होते, लेकिन जब वे लोग जाग उठते हैं तब प्रत्येक की भिन्नता अलग-अलग तरह से अपने को घोषित करती है। विकास का अर्थ है ऐक्य के बीच पार्थक्य की वृद्धि। बीज में वैचित्र्य नहीं होता। कली में सारी पंखुड़ियाँ एक होकर रहती हैं; जब उनमें भेद निर्माण होता है तभी फूल विकसित होता है। जब प्रत्येक पंखुड़ी अपने-आपको पूर्ण करती है तभी फूल सार्थक होता है। आज परस्पर संघात से पृथ्वी के देशों में जागृति का संचार हुआ है और इसीलिए, विकास के अनिवार्य नियम से, मनुष्य समाज का स्वाभाविक पार्थक्य आत्मरक्षा के लिए सचेष्ट है। अपने को सम्पूर्ण रूप से विलुप्त करके दूसरों के साथ एक होने में कोई भी जागृत सत्ता महत्ता का अनुभव नहीं करती। जो छोटा है वह भी जब अपने स्वातत्र्य के विषय में सचेतन हो जाता है तब उस स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए प्राणपण से प्रयत्न करता है। वह छोटा होकर जीवित रहना चाहता है, बड़ा होकर मरना नहीं चाहता।

यदि फिनलैंड रूस का अंग बन जाय तो बहुत-सी अशान्तियों से उसका परित्राण हो सकता है; एक बड़े देश में शामिल होकर छोटेपन का सारा दुःख दूर हो सकता है। किसी जाति में यदि किसी प्रकार की द्विविधा हो तो उसकी शक्ति का क्षय होता है, इस आशंका से फिनलैंड को बलपूर्वक रशिया में मिलाने की इच्छा रूसियों में है। लेकिन फिनलैंड की भिन्नता भी एक सत्य पदार्थ है। रशिया की सुविधा के लिए वह अपने-आपको बलिदान करना नहीं चाहता। इस भिन्नता को यथोचित उपायों से वश में करने की चेष्टा न्यायसंगत हो सकती है। लेकिन उसे ज़बरदस्ती एक करने की चेष्टा हत्या के ही बराबर अन्याय है। आयरलैंड के

सम्बन्ध में इंगलैण्ड के सामने भी वही संकट है। वहाँ सुविधा और सत्य का संघर्ष चल रहा है। जगह-जगह पर आज यह समस्या दिखाई पड़ती है, और उसका एक-मात्र कारण यह है कि समस्त पृथ्वी में एक नया प्राण संचारित हो रहा है।

हमारे बंगाल के समाज में इधर जो छोटी-मोटी क्रान्तियाँ दिखाई पड़ी हैं उनका मूल कारण भी यही है। अब तक व्यापक रूप से समाज के दो ही भाग थे—ब्राह्मण और शूद्र। ब्राह्मण ऊपर थे, अन्य सब लोग नीचे के स्तर पर पड़े हुए थे। विविध कारणों से देश में जब नया उद्‌बोधन हुआ तब अब्राह्मण जातियों के लोग शूद्रों के साथ हीन स्तर पर रहने से इन्कार करने लगे। आज कायस्थ अपना विशेषत्व अनुभव कर रहे हैं, वे अपने-आपको शूद्रत्व में विलुप्त नहीं कर सकते। उनकी हीनता सत्य नहीं है; तो फिर वे सामाजिक श्रेणी-बन्धन की अति प्राचीन सुविधा को सदा के लिए क्यों मानेंगे? देशाचार यदि उनकी नई भावना के विरुद्ध है तो देशाचार को ही पराभूत होना पड़ेगा। हमारे देश की सभी जातियों में इस तरह की क्रान्ति अपरिहार्य है। मूर्च्छित अवस्था से बाहर निकलते ही मनुष्य सत्य का अनुभव करता है और फिर वह किसी कृत्रिम सुविधा का दासत्व बन्धन स्वीकार नहीं कर सकता। ऐसा करने की अपेक्षा व असुविधा और अशान्ति को श्रेयस्कर समझता है।

इसका तात्पर्य क्या है? तात्पर्य यही है कि स्वातन्त्र्य का गौरव-बोध उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने-आपको 'बड़ा' बनाना चाहता है, चाहे उसे दुःख स्वीकार करना पड़े। और इसी तरह परस्पर मिलन की वास्तविक सामग्री का निर्माण हो सकता है। दीनता का मिलन, अधीनता का मिलन, विशुद्ध मिलन नहीं हो सकता।

मुझे याद है कि मेरे किसी प्रबन्ध को लेकर साहित्य परिषद् की सभा में यह कहा गया था कि बँगला भाषा को यथासम्भव संस्कृत की तरह बना देना चाहिए, जिससे गुजरात, महाराष्ट्र इत्यादि प्रदेशों के लोगों के लिए बँगला भाषा सुगम हो जाय। यह बात माननी पड़ेगी कि बँगला भाषा का जो विशेषत्व है वही अन्य देशवासियों के लिए बँगला समझने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। लेकिन इसी विशेषत्व में भाषा की शक्ति है, उसका सौन्दर्य है। आज भारत के पश्चिमतम प्रान्तवासी गुजराती बँगला पढ़कर बँगला साहित्य का अपनी भाषा में अनुवाद करने लगे हैं। इसका कारण यह नहीं कि बँगला भाषा विशेषत्वहीन है या संस्कृत के कृत्रिम साँचे में ढली है। संथाली लोग यदि बंगाली पाठकों की सुविधा के लिए अपनी भाषा से समस्त संथालीपन वर्जित करें तो क्या उनके साहित्य का हम अधिक सम्मान करेंगे? क्या हमारा मिलन विशेषत्व की बाधा दूर होने की ही

प्रतीक्षा कर रहा है ?

यदि बंगाली अपनी भाषा के विशेषत्व पर अवलम्बित होकर साहित्य को उन्नत बनाये तभी हिन्दीभाषियों के साथ उनका श्रेष्ठ मिलन होगा। यदि बंगाली हिन्दुस्तानियां के साथ सौदा करने के लिए हिन्दी ढंग की बँगला लिखने लगें तो बँगला साहित्य का अधःपात होगा और कोई हिन्दुस्तानी उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेगा। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि किसी दिन एक बुद्धिमान, शिक्षित सज्जन ने मुझसे कहा था : 'बँगला साहित्य की जो उन्नति हो रही है वह हमारे राष्ट्रीय मिलन के रास्ते में रुकावट बन रही है। श्रेष्ठता लाभ करने पर यह साहित्य सर्वदा जीवित रहना चाहेगा; और फिर बँगला भाषा आखिरी दम तक अपना स्थान नहीं छोड़ेगी। ऐसी अवस्था में बँगला भाषा भारत के ऐक्य-साधन में बाधा देगी। इसीलिए बँगला साहित्य की उन्नति भारत के लिए कल्याणकारी नहीं है।' उन दिनों लोग समझते थे कि सब प्रकार के भेद को कूट-कर एक पिण्डाकार पदार्थ बनाना ही राष्ट्रीय उन्नति का चरम परिणाम है। लेकिन वास्तव में विशेषत्व का विसर्जन करके जो सुविधा मिलती है वह दो दिन की मरीचिका है। विशेषत्व को महत्त्व प्रदान करके जिस सुविधा का निर्माण होता है वही सत्य है।

जब भारतीयों में राष्ट्रीय ऐक्य-लाभ की चेष्टा प्रबल हुई, जब अपनी सत्ता के सम्बन्ध में हमारी चेतना विशेष रूप से जागृत हुई, तब हमारे मन में इस इच्छा ने भी जन्म लिया कि सारे मुसलमानों को अपने साथ मिला लें। लेकिन इसमें हमें सफलता नहीं मिली। यदि हम मुसलमानों को अपने साथ एक कर लेते तो हमारे लिए सुविधा अवश्य होती। लेकिन सुविधा होने से ही ऐक्य स्थापित नहीं होता। हिन्दू-मुसलमानों में जो वास्तविक अन्तर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रयोजन साधन के आग्रह से यदि हम इस पार्थक्य को अस्वीकार करें तो वह पार्थक्य भी हमारे प्रयोजन को नहीं मानेगा।

हिन्दू-मुसलमानों में सभी दिशाओं में वास्तविक ऐक्य का निर्माण नहीं हुआ है, इसीलिए राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें एक करने का प्रयास सन्देह और अविश्वास का कारण बन जाता है। इस सन्देह को भित्तिहीन कहकर अस्वीकार करने से काम नहीं चलेगा। हमने जब भी मुसलमानों को पुकारा है, अपने काम में सहायता प्राप्त करने के लिए पुकारा है, उन्हें अपना समझकर नहीं बुलाया। यदि कभी हम यह देखते हैं कि हमारी कार्यसिद्धि के लिए उनकी ज़रूरत नहीं है तो उन्हें बेकार समझकर पीछे हटाने में हमें संकोच नहीं होता। उन्हें हम अपना यथार्थ साथी नहीं समझते, बल्कि हमारी दृष्टि में उनका स्थान आनुषंगिक है। जब दो

पक्षों में असामंजस्य होता है तब उनका मिलन उसी समय तक रहता है जब तक किसी बाह्य बाधा का अतिक्रमण करने के लिए उनका एकत्र रहना आवश्यक हो जाता है। आवश्यकता दूर होते ही बँटवारे के समय दोनों पक्ष एक-दूसरे की प्रतारणा करते हैं।

मुसलमानों के मन में ऐसा ही सन्देह है, इसीलिए वे हमारा नियन्त्रण स्वीकार करने में हिचकते हैं। यदि हम दोनों एकत्र रहें तो व्यापक रूप से लाभ ही होगा। लेकिन लाभ का अंश उनके पक्ष में यथेष्ट होगा, इस विषय में मुसलमानों के मन में शंका है। इसीलिए मुसलमानों का यह कहना असंगत नहीं है कि 'हम अलग रहकर ही आगे बढ़ सकते हैं और इसीमें हमारा लाभ है।'

कुछ दिन पहले तक हिन्दू-मुसलमानों के बीच इस तरह की तीव्र पार्थक्यानुभूति नहीं थी। हम दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे में मिल गए थे और हमारी दृष्टि भिन्नता पर नहीं जाती थी। लेकिन पार्थक्यानुभूति का अभाव एक 'अ-भाव' ही है। वह भावात्मक नहीं है। अर्थात् हम आपसी भेद के विषय में अचेतन थे—इसलिए नहीं कि इसमें वास्तविक ऐक्य था बल्कि इसलिए कि हममें प्राण-शक्ति का अभाव था और हम दोनों ही चैतन्यहीनता से अभिभूत थे। एक ऐसा दिन आया जब हिन्दू अपने हिन्दुत्व को लेकर गौरव करने लगे। उस समय यदि मुसलमान हिन्दुओं का गौरव स्वीकार करके स्वयं चुपचाप पड़े रहते तो हिन्दू बहुत खुश होते, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन जिस कारण से हिन्दुओं का हिन्दुत्व उग्र हो उठा उसी कारण से मुसलमानों के मुस्लिमत्व ने अपना सिर उठाया। आज वे मुसलमानों के रूप में ही प्रबल होना चाहते हैं, हिन्दुओं में विलीन होकर नहीं।

आज दुनिया-भर में समस्या पारस्परिक भेदों को दूर करने की नहीं, वरन् उनकी रक्षा करते हुए मिलन स्थापित करने की है। यह काम कठिन है; क्योंकि उसमें किसी तरह की चतुराई नहीं चल सकती। इस काम में एक-दूसरे के लिए जगह छोड़ देनी होती है। ऐसा करना सहज नहीं, लेकिन जो साध्य है वह सर्वदा सहज नहीं होता। परिणाम की ओर देखने से कठिन काम भी सहज हो जाता है।

आज हमारे देश में मुसलमान स्वतन्त्र रहकर अपने उन्नति-साधन की चेष्टा कर रहे हैं। हमारे लिए वह चाहे जितना अप्रिय हो, इस समय हमें इससे जो कुछ भी असुविधा हो, भविष्य में यथार्थ मिलन-साधन का यही स्वाभाविक उपाय है। बिना धनवान बने दान करना कष्टकर होता है। मनुष्य जब अपने-आपको महान् बनाता है तभी त्याग कर पाता है। जब तक उसमें अभाव और क्षुद्रता है तब तक ईर्ष्या और विरोध दूर नहीं हो सकते। तब तक यदि मनुष्य किसी से मिलता है

तो बाध्य होकर मिलता है। ऐसा मिलन कृत्रिम होता है। छोटा होकर आत्मबोध करने में अकल्याण है, महान् होकर आत्म-विसर्जन करने में ही श्रेय है। आधुनिक शिक्षा के प्रति मनोयोग न रखने से भारत के मुसलमान अनेक विषयों में हिन्दुओं से पीछे रह गए हैं। इस विषमता को दूर करने के लिए मुसलमानों ने सभी दिशाओं में हिन्दुओं से अधिक अधिकार माँगना शुरू कर दिया है। उनके इस दावे के प्रति हमारी आन्तरिक सम्मति होना ही उचित है। पद, मान और शिक्षा में उनका हिन्दुओं के समान स्तर पर उठना स्वयं हिन्दुओं के लिए मंगल-प्रद है।

वास्तव में जो चीज़ बाहर से प्राप्त की जाती है, दूसरों की प्रार्थना करके प्राप्त की जाती है, उसकी एक सीमा होती है। वह सीमा हिन्दू-मुसलमानों के लिए प्राय: एक-सी है। जब तक मन उस सीमा तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसकी यह आशा बनी रहती है कि यही परमार्थ लाभ का पथ है। और तब तक उस पथ का पाथेय किसने अधिक जमा किया है और किसने कम, इस विवाद को लेकर आपस में घोर ईर्ष्या और विरोध चलते रहते हैं।

लेकिन ज़रा दूर से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपने गुण और शक्ति से ही हम अपना स्थयी मंगल अर्जन कर सकते हैं। योग्यता-लाभ के अति-रिक्त अधिकार-लाभ का दूसरा कोई पथ नहीं है। यह बात जितनी ज़ल्दी समझी जाय उतना ही श्रेयस्कर है। इसलिए दूसरों की अनुकूलता लाभ करने का कोई स्वतंत्र-सीधा रास्ता यदि मुसलमान ढूंढ़ लें तो उस रास्ते पर उनकी अव्याहत प्रगति होती रहे,, यही अच्छा है। यदि उनकी प्राप्ति हमसे अधिक हो तो इस विषय में कलह करने की क्षुद्रता हममें नहीं होनी चाहिए। मुसलमानों के लिए पद-सम्मान का मार्ग सुगम होना ही उचित है। इस मार्ग के अन्तिम गम्यस्थान तक पहुँचने में उन्हें विलम्ब न हो, यही कामना हमें प्रसन्न चित्त से करनी चाहिए।

लेकिन बाह्य अवस्था की विषमता पर मैं अधिक ज़ोर नहीं देना चाहता। इस विषमता का दूर होना कठिन नहीं है। इस निबन्ध में मैं जिस बात की चर्चा करना चाहता हूँ वह है आन्तरिक स्वातन्त्र्य का प्रश्न। इस स्वातन्त्र्य का लोप आत्महत्या के समान होगा।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्वतन्त्र विश्वविद्यालय की स्थापना और इस तरह के दूसरे प्रयासों के लिए मुसलमानों में जो उत्साह है उसमें यदि प्रतियोगिता का भाव हो तो वह भाव उनके प्रयास का स्थायी और सत्य पक्ष नहीं है। स्वातन्त्र्य की उपलब्धि ही सत्य पदार्थ है। अपनी प्रकृति के अनुसार महान् हो उठने की

इच्छा ही मुसलमानों की सत्य इच्छा है।

इस तरह का स्वातन्त्र्य प्रबल होते देखकर हमारे मन में पहले तो भय उत्पन्न होता है। हम सोचते हैं, स्वातन्त्र्य के जिस पक्ष में आज विरोध दिखाई पड़ता है उसी को प्रश्रय मिलेगा और वही विकसित होगा, जिससे मनुष्य में परस्पर प्रतिकूलता उग्र हो उठेगी।

एक ऐसा समय था जब यह आशंका निराधार नहीं थी। उस समय प्रत्येक देश अपने ही बीच आबद्ध रहकर अपने विशेषत्व को अपरिमित रूप से बढ़ा रहा था। समस्त मानव-जाति के लिए यह बात एक व्याधि बन गई थी और उसने अकल्याणकर रूप धारण किया था। लेकिन आज ऐसा नहीं हो सकता। आज प्रत्येक मनुष्य सारी मानव-जाति के बीच आ पहुँचा है। आज एक कोने में बैठकर असंगत रूप से अद्भुत सृष्टि करना किसी के लिए सम्भव नहीं है। आधुनिक युग की जो दीक्षा है उसमें प्राच्य और पाश्चात्य सभी देशों का योग है। केवल अपना ही शास्त्र पढ़कर पण्डित होने की आशा कोई नहीं कर सकता। आज मानव-प्रयास की गति जिस दिशा में है वहाँ ज्ञान एक विश्वयज्ञ हो चला है और समस्त मानव-जाति के चित्त-मिलन के लिए क्षेत्र प्रस्तुत कर रहा है। मनुष्य की इसी वृहत् चेष्टा ने आज मुसलमानों और हिन्दुओं के द्वार पर आघात किया है। हम बहुत दिनों तक पूरी तरह से पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करते आए हैं। इस शिक्षा का जब भारत में आरम्भ हुआ तब सर्व प्रकार की प्राच्य विद्या के प्रति उसने अवज्ञा प्रदर्शित की। उसी अवज्ञा के बीच आज तक हमारा विकास हुआ है। इससे सरस्वती माता के घर में विच्छेद उत्पन्न हुआ है। उसके जो बच्चे पूर्व में रहते हैं वे अपने घर की पश्चिम की ओर खुलने वाली खिड़कियाँ बन्द रखते हैं; और जो पश्चिम में रहते हैं वे पूर्व से बहने वाली हवा को अस्वास्थ्यकर समझते हैं और उसका स्पर्श तक सहन नहीं करते।

लेकिन अब समय बदल रहा है। प्राच्य विद्या का अब अनादर नहीं किया जाता। प्रतिदिन इस बात का परिचय प्राप्त होता है कि मानवीय ज्ञान के विकास में प्राच्य विद्या का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। फिर भी हमारी शिक्षा-व्यवस्था पहले की तरह ही चल रही है। हमारे विश्वविद्यालयों में हमारी ही विद्या के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। हिन्दुओं या मुसलमानों के धर्मशास्त्रों के अध्ययन के लिए किसी जर्मन छात्र को जो सुविधा प्राप्त है वह हमारे छात्रों को नहीं है। ऐसी असम्पूर्ण शिक्षा से हमारी क्षति हो रही है, और इस बात का बोध आज के युग धर्म ने ही हमारे मन में जागृत किया है। हम यदि केवल पश्चिम के पढ़ाये हुए पक्षी बनकर सिखाई हुई बातों को दोहराते रहें तो इससे रास्ते के लोगों में कुछ देर के

लिए विस्मय और कौतुक निर्माण हो सकता है, लेकिन इससे किसी का लाभ नहीं हो सकता। हम अपनी वाणी को उपलब्ध करेंगे, यही प्रत्याशा समस्त मानव-जाति को हमसे है। यह आशा यदि हम पूर्ण न कर सके तो मनुष्य-मात्र के सामने हमारा सम्मान नहीं हो सकता। इस सम्मान-लाभ के लिए प्रस्तुत होने का आह्वान आज हमें मिला है। उसीके आयोजन के लिए आज हमें उद्योग करना है। कुछ दिनों से हमारे देश में शिक्षा के उपायों और उसकी प्रणाली में परिवर्तन करने का जो प्रयत्न चल रहा है उसके पीछे भी यही आकांक्षा है। और यह प्रयत्न यदि अच्छी तरह सफल नहीं हो रहा है तो उसका कारण है हमारी आज तक की असम्पूर्ण शिक्षा। जो चीज़ हमने ठीक से प्राप्त नहीं की उसको देने का चाहे जितना प्रयत्न करें, हम दे नहीं सकेंगे।

अपने देश में कोई भी ऐसी विशिष्टता नहीं है जिसका कोई मूल्य हो, ऐसा सोचने वाले लोग भी हैं। लेकिन उनके विषय में मैं कुछ नहीं कह रहा हूँ। विशिष्टता को स्वीकार करते हुए प्रत्यक्ष व्यवहार में उसे अग्राह्य समझने वाले लोगों की संख्या भी छोटी नहीं है। उनमें से अनेक शास्त्रार्थ में निपुण भी हो सकते हैं और कर्मकाण्ड भी निभा सकते हैं; लेकिन जातीय आदर्श को वे अत्यन्त आंशिक भाव से ग्रहण करते हैं; और जितना मुँह से स्वीकार करते हैं उतना भी कार्यान्वित नहीं करते। ऐसे लोग विद्यालय में मुखस्थ की हुई विद्या से आगे बहुत दूर जाना नहीं चाहते।

अन्य एक दल ऐसे लोगों का है जो स्वजाति की विशिष्टता का गौरव करते हैं, लेकिन इस विशिष्टता को अत्यन्त संकीर्ण रूप से देखते हैं। जो प्रचलित है उसीको वे उच्च स्थान देते हैं, जो चिरंतन है उसे नहीं। हमारी दुर्गति के दिन जो विकृतियाँ जमा हुई हैं, जिनसे हमारे और अन्य देशों के बीच विरोध उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने हमें खण्डित और दुर्बल बनाया है और इतिहास में बार-बार जिनके कारण हम लज्जित हुए हैं, उन विकृतियों को ही वे विशेषत्व कहते हैं और उनमें तरह-तरह के काल्पनिक गुण देखते हैं। काल-प्रवाह ने जिसका परित्याग किया है उसीमें वे देश का सत्य परिचय प्राप्त करना चाहते हैं और उसीको चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में चन्द्र-सूर्य की अपेक्षा दूषित वाष्प का वह आलोक ही अधिक सनातन है जो पथिकों को भ्रम में डाल देता है।

हिन्दू और मुसलमानों के लिए स्वतन्त्र विश्वविद्यालयों की स्थापना करते हुए बहुतों को जो डर मालूम होता है, वह निराधार नहीं है। लेकिन फिर भी इस बात पर ज़ोर देना होगा कि जिस शिक्षा में समस्त प्राच्य और पाश्चात्य विद्या का समावेश हो रहा है वह शिक्षा सदा के लिए आतिशय्य की ओर नहीं जा

सकती। जो स्वतन्त्र हैं वे यदि एक-दूसरे के पास आकर खड़े हों तभी उनका एकांगीपन दूर होता है और उनका यथार्थ सत्य व्यक्त होता है। अपने घर में बैठकर हम अपने लिए चाहे जितना बड़ा आसन बनायें, दूसरों के बीच आते ही अपने-आप हमारे लिए उपयुक्त आसन मिल जाता है। हिन्दू या मुस्लिम विश्वविद्यालय में यदि सारे विश्व को स्थान दिया जाय तो फिर साथ-साथ निजी स्वातन्त्र्य को स्थान देने में भी कोई विपद नहीं है। वस्तुतः, इसी तरह स्वातन्त्र्य का यथार्थ मूल्य निर्धारित होगा।

अब तक हम लोग पाश्चात्य शास्त्रों का जिस वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और युक्तिमूलक दृष्टि से अध्ययन करते आए हैं, वैसा अध्ययन हमारे अपने शास्त्रों का नहीं किया गया; मानो दुनिया में सर्वत्र अभिव्यक्ति का नियम काम करता है परन्तु भारत में वह प्रवेश नहीं कर पाता; मानो भारत में सब-कुछ अनादि और इतिहास के परे है। यहाँ किसी देवता ने व्याकरण की सृष्टि की है, किसी ने रसायन की, किसी ने आयुर्वेद की। किसी देवता के मुख-हस्त-पद से चारों वर्ण बाहर निकले हैं। सब-कुछ ऋषियों और देवताओं ने मिलकर अचानक उपस्थित किया है, इस पर और किसी की कोई बात नहीं चल सकती। इसीलिए भारत का इतिहास लिखते समय अद्‌भुत अनैसर्गिक घटनाओं का वर्णन करते हुए हमारी लेखनी को संकोच नहीं होता। शिक्षित लोगों में भी हम यह बात प्रतिदिन देख सकते हैं। हमारे सामाजिक आचार-व्यवहार के क्षेत्र में भी बुद्धि का कोई अधिकार नहीं है; क्योंकि किसी कार्य को हम करें या न करें, उसके कारण की जिज्ञासा करना असंगत माना जाता है। कार्य-कारण का नियम विश्व ब्रह्माण्ड में केवल भारत पर ही लागू नहीं होता; सभी कारण शास्त्रों में निहित हैं। इसलिए समुद्र-यात्रा उचित है या अनुचित, इस बात का निर्णय शास्त्र खोलकर ही किया जाता है। किस व्यक्ति के घर में आने से पवित्र जल का छिड़काव करना चाहिए, यह भी पण्डित महाशय ही निश्चित करते हैं। किसी विशेष व्यक्ति का स्पर्श किया हुआ पानी पीना ही अपराध है लेकिन उसीका स्पर्श किया हुआ दूध, खजूर या गुड़ सेवन करना अपराध नहीं। यवन का दिया हुआ अन्न खाने से जाति भ्रष्ट होती है लेकिन उसकी दी हुई मदिरा को पान करने से नहीं होती। यदि इन सबका कारण कोई पूछे तो उसके लिए धोबी-नाई की सेवा बन्द हो जाय, और उसे चुप रहना पड़े।

शिक्षित समाज में भी जो इस तरह का असंगत व्यवहार चलता है उसका एक कारण यह है कि जहाँ पाश्चात्य शास्त्रों का हम विद्यालय में अध्ययन करते हैं, प्राच्य शास्त्रों को किसी अन्य अवस्था में पढ़ते हैं। इसीलिए दोनों के सम्बन्ध में

हमारे मन में अलग-अलग भावना होती है। अनायास ही हम यह मान लेते हैं कि बुद्धि का नियम इनमें से एक ही स्थान पर लागू होता है और दूसरे स्थान पर केवल व्याकरण का नियम चल सकता है। दोनों को यदि हम एक ही विद्यालय में पढ़ें, एक ही शिक्षा का अंग मानें, तो यह धारणा दूर हो सकती है।

यह प्रश्न उठता है कि आधुनिक शिक्षित समाज में इस भावना का विकास क्यों हो रहा है। मैं यह नहीं मानता कि शिक्षा पाने से बुद्धि के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है। इस भावना के कारण की मैं पहले ही समीक्षा कर चुका हूँ। आज शिक्षित लोगों में स्वातन्त्र्य का अभिमान प्रबल हो रहा है। इस अभिमान के विकास में पहले-पहल विचार नहीं होता, केवल उत्साह होता है। हमारा अपना जो कुछ है उसकी आज तक निर्विचार रूप से अवज्ञा की गई है। अब इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो रही है। अब हम कभी-कभी वैज्ञानिक विचार-धारा का दिखावा करते हैं जो निर्विचार से भी बुरा है। इस तीव्र अभिमान की कालिमा सदा के लिए नहीं रह सकती। जब क्रिया-प्रतिक्रिया का घात-प्रतिघात शान्त होगा तो घर में और बाहर से सत्य को ग्रहण करना हमारे लिए सम्भव होगा।

हिन्दू समाज के पूर्ण विकास की मूर्ति हमारे सामने स्पष्ट रूप से नहीं आती। हिन्दुओं ने क्या किया है और वे क्या कर सकते हैं, इसके विषय में हमारी धारणा धुँधली है। हम जो अपने सामने देखते हैं उसीको प्रबल मानते हैं। लेकिन जो हमारे सामने है वह हिन्दू जाति की यथार्थ प्रकृति और शक्ति को आच्छन्न करके उसका विनाश कर रहा है, यह बात समझना हमारे लिए कठिन है। हमारी दृष्टि में हिन्दू-सभ्यता की मूर्ति वैसी ही है जैसा हमारे पंचांगों में अंकित संक्रांति का चित्र होता है। वह केवल स्नान और जप करती है, व्रत-उपवास से कृश हो गई है, दुनिया की प्रत्येक वस्तु का संस्पर्श त्यागकर अत्यन्त संकोच के साथ एक कोने में खड़ी है। लेकिन एक दिन यही हिन्दू सभ्यता सजीव थी, उसने समुद्र पार किया था, उपनिवेश बसाये थे, दिग्विजय की थी। दूसरों को कुछ दिया था और दूसरों से ग्रहण किया था। उस समय उसका अपना शिल्प था, वाणिज्य था। उसका कर्म-प्रवाह व्यापक और वेगवान था। उसके इतिहास में नये-नये मतों का अभ्युत्थान होता था, उसमें सामाजिक और धार्मिक क्रांति के लिए स्थान था। उस समय स्त्री-समाज में भी वीरत्व, विद्या और तपस्या थी। महाभारत के पृष्ठ-पृष्ठ पर इस बात का परिचय मिलता है कि उस समय आचार-व्यवहार लोहे के साँचे में ढली हुई अचल वस्तु नहीं थी। हिन्दू-समाज एक वृहत्, विचित्र और जागृत चित्तवृत्ति की ताड़ना से नये-नये अध्यवसायों में प्रवृत्त था। वह भ्रान्तियों के बीच से गुज़रते हुए सत्य की ओर यात्रा करता था; परीक्षा के बीच, सिद्धान्त और

साधना के बीच, पूर्णतालाभ करता था। वह श्लोक-संहिता की जटिल रस्सियों से बँधकर कठपुतली की तरह एक निर्जीव नाट्य की पुनरावृत्ति नहीं करता था। बौद्ध और जैन उस समाज के अंग थे। मुसलमान और ईसाई भी उसमें सम्मिलित हो सके थे। उस समाज के एक महापुरुष ने अनार्यों को मित्र रूप में ग्रहण किया था, एक अन्य महापुरुष ने कर्म के आदर्श को वैदिक याग-यज्ञ की संकीर्णता से निकालकर उदार मनुष्यत्व के क्षेत्र में मुक्ति-दान दिया था, और धर्म को बाह्य अनुष्ठान के विधि-निषेध के बीच आबद्ध न करके उसे भक्ति तथा ज्ञान के प्रशस्त मार्ग पर जनसाधारण के लिए सुगम बनाया था। लेकिन ऐसे समाज को आज हम हिन्दू-समाज नहीं कहते। जो अचल है, गतिहीन है, उसीको हम हिन्दू-समाज कहते हैं। प्राण के धर्म को हम हिन्दू-समाज का धर्म नहीं मानते, क्योंकि वह विकास का धर्म है, परिवर्तन का धर्म है, निरन्तर ग्रहण-वर्जन का धर्म है।

इसलिए मन में यह आशंका होती है कि जो लोग हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहते हैं वे हिन्दुत्व की कौन-सी धारणा लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त हुए हैं ? लेकिन केवल इस आशंका से हिम्मत हारना उचित नहीं है। हमें हिन्दुत्व की धारणा को नष्ट नहीं करना है, बल्कि उसे विशाल बनाना है। उसे चालना देने से वह अपने-आप बड़ी होगी; बाँधकर रखने से ही उसका क्षुद्र तथा विकृत होना अनिवार्य है। विश्वविद्यालय ऐसी ही चालना का क्षेत्र है। वहाँ बुद्धि क्रियाशील है और चित्त को सचेतन बनाने का आयोजन है। चेतना-स्रोत यदि प्रवाहित हो तो वह अपने-आप धीरे-धीरे जड़ संस्कार का बन्धन तोड़कर अपने लिए एक प्रशस्त मार्ग तैयार कर लेगा। मानव-मन पर मेरा सम्पूर्ण विश्वास है। हमें प्रयास करना है, चाहे आरम्भ में गलतियाँ ही क्यों न हों। जिस समाज में अचलता को ही परमार्थ समझा जाता है वह समाज अचेतनता को अपना सहायक जानता है और मानव-मन को ही सबसे पहले ज़हर खिलाकर निश्चेष्ट बनाता है। उस समाज में ऐसी व्यवस्था की जाती है जिससे मन बाधा-नियमों में जकड़ा रहे, वह किसी तरह बाहर न निकल सके, उसे सन्देह करने में भय का अनुभव हो। लेकिन किसी विशेष विश्वविद्यालय का उद्देश्य कुछ भी हो वह मन को बाँधकर नहीं रख सकता, क्योंकि मन को गतिशील बनाना ही उसका काम है। इसलिए यदि हिन्दू सचमुच यह समझते हैं कि शास्त्रों के द्वारा सदा के लिए जकड़े रहना और निश्चल होना ही हिन्दू प्रकृति का विशेषत्व है, तब तो उन्हें विश्वविद्यालय की कल्पना को बहुत दूर रखना चाहिए। विचारहीन रूढ़ियों के पालन-पोषण का भार विद्यालय को देना पुत्र को राक्षसी के हाथ में देने के बराबर है।

कुछ लोगों का यह विश्वास है कि हिन्दुत्व में कोई गतिविधि नहीं है, वह

स्थावर पदार्थ है। वर्तमान युग के आघात से कहीं वह विचलित न हो, उसके स्थावर धर्म को चोट न पहुँचे, इस विचार से उसे कसकर बाँध रखना ही वे हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य मानते हैं। ऐसे लोग भी मानव-चित्त को दीवारों से घेरने के बदले उसे विश्व-विद्या की मुक्तवायु के सम्पर्क में लाना चाहते हैं। वे भ्रम या अविवेचना के कारण ऐसा नहीं करते। वास्तव में मनुष्य मुँह से जो कहता है उसी पर उसका सत्य विश्वास सर्वदा नहीं हुआ करता। उसका आन्तरिक सहज बोध कभी-कभी बाह्य विश्वास के विरुद्ध होता है। विशेषतः ऐसे समय जब देश के प्राचीन संस्कारों का नूतन उपलब्धि के साथ संघर्ष चल रहा है, ऋतु-परिवर्तन के सन्धि-काल में हम मुँह से जो कहते हैं उसीको अपने हृदय का प्रकृत सत्य समझ कर ग्रहण नहीं कर सकते। फाल्गुन के महीने में कभी-कभी अचानक उत्तर से हवा बहने लगती है। ऐसा भ्रम होता है मानो पौष मास वापस लौटा है। फिर भी हम यह निश्चयपूर्वक कहते हैं कि उत्तर की हवा फाल्गुन की अपनी विशेषता नहीं है। आम में जो बौर लगा है, नव-किसलयों में जो मृदुलता और यौवन है, उसीमें फाल्गुन का आन्तरिक सत्य व्यक्त होता है। हमारे देश में भी प्राण-समीर बह रहा है। इसलिए हमारी जड़ता दूर हुई है और हम ज़ोर-ज़ोर से कहते हैं कि हमारा जो कुछ है उसको सुरक्षित रखेंगे। हम यह भूल जाते हैं कि जो कुछ है उसे बिलकुल वैसा रखना हो तो पूर्णतया निश्चेष्ट हो जाना ही हमारे लिए उचित होगा। खेत में झाड़-झंखाड़ उगाने के लिए किसी को हल नहीं चलाना पड़ता। अपने बीच जिस संजीवनी-शक्ति का हम अनुभव करते हैं उसके प्रयोग से मृत की रक्षा करना चाहते हैं। लेकिन जीवन-शक्ति का धर्म यह है कि वह अपना प्रयोग वहीं करती है जहाँ जीवन का आभास मिले। किसी वस्तु को अचल बनाकर रखना उसका काम नहीं है। जो वर्धनशील है उसे वह आगे बढ़ाती है और जिसका विकास समाप्त हो चुका है उसका नाश करके उसे दूर हटा देती है। इसीलिए मैंने कहा कि आज के युग का सबसे बड़ा सत्य हमारे बीच जीवन-शक्ति का आविर्भाव है, जो हमें विविध प्रयासों में प्रवृत्त रखती है। यह शक्ति कभी-कभी मृत वस्तु को चिरस्थायी करना चाहती है लेकिन यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह हमारी शक्ति की क्षणिक लीला-मात्र है।

श्री गोखले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी जो बिल पेश किया था उसके विषय में कुछ लोगों ने कहा—'आधुनिक शिक्षा से हमारा सिर तो फिर ही गया है, अब क्या देश की जनता पर भी यह आफत आयेगी?' लेकिन ऐसी बातें करने वाले लोग अपने ही बच्चों को निःसंकोच आधुनिक विद्यालयों में भेजते हैं। ऐसा विचित्र आत्मविरोध हमें क्यों दिखाई पड़ता है? इसका कारण कपट

भाव नहीं। असल बात तो यह है कि हृदय में नव-विश्वास का वसन्त आने पर भी मुँह से पुरातन संस्कारों की साँस चल रही है इसलिए हम जो उचित है वही करते हैं, फिर भी बीते हुए युग की बातें करते हैं। आधुनिक शिक्षा ने चंचलता को जन्म दिया है, लेकिन इसके बावजूद उसमें मंगल है और उस मंगल को हमने मन में उपलब्ध किया है। उसमें जो विपद् है उसे भी हमने स्वीकार किया है। निरापद मृत्यु को वरण करने के लिए अब हम राज़ी नहीं हैं। जीवन की सारी ज़िम्मेदारी और सारे कष्ट को हम वीरतापूर्वक स्वीकार करते हैं। हम जानते हैं कि जीवन में उलट-फेर होगा, हमसे बहुत-सी गलतियाँ होंगी, प्राचीन व्यवस्था को विच्छिन्न करने से हमें विशृंखलता का दुःख भोगना होगा। चिरसंचित धूल से घर को मुक्ति दिलाने के लिए जब हम सफाई करेंगे तो पहले कुछ देर काफ़ी धूल उड़ेगी। लेकिन असुविधा और विपत्ति की आशंका होते हुए भी हमारे हृदय में जो नये प्राण का आवेग है वह हमें निश्चल नहीं रहने देता। हम कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करेंगे, अचल होकर पड़े नहीं रहेंगे—यह है हमारा आन्तरिक भाव जो बार-बार हमारे मौखिक विचारों से आगे निकल जाता है।

जागरण के प्रथम क्षण में हम अपने-आपका अनुभव करते हैं और उसके बाद अपने परिवेश का अनुभव हमें होता है। जातीय उद्‌बोधन की पहली मंज़िल में यदि हम अपने पार्थक्य को ही प्रबलता से उपलब्ध करें तो इसमें डरने की कोई बात नहीं है। उसी जागरण से चारों ओर के बृहत् जगत् की उपलब्धि भी हमें होगी। अपने-आपको पाने के साथ-ही-साथ समस्त को प्राप्त करने की आकांक्षा हममें जागेगी।

आज दुनिया-भर में प्रत्येक देश अपने स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए प्राणपण से यत्न कर रहा है। किसी तरह अन्य देशों में विलीन नहीं होना चाहता। लेकिन साथ-ही-साथ हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक देश बृहत् मानव-समाज से अपना योग अनुभव करता है। इसी अनुभूति की शक्ति से आज दुनिया के सभी देश उन विशेषताओं का त्याग कर रहे हैं जिनसे मनुष्य की बुद्धि, रुचि और धर्म पर आघात होता है, जो कारागृह की प्राचीरों की तरह हैं, जिनके पास विश्व की ओर जाने का या विश्व में प्रवेश करने का कोई पथ नहीं है। आज प्रत्येक देश अपनी निजी सम्पदा को विश्व के बाज़ार में मूल्यांकन के लिए ला रहा है। आँखें बन्द करके अपने निजत्व का गौरव करने में उसकी तृप्ति नहीं होती। अपने ही घर में उच्च-स्वर से अपने विशेषत्व की घोषणा करने में उसे गौरव-बोध नहीं होता। अपने निजत्व को समस्त पृथ्वी का अलंकार बनाने की ही इच्छा प्रत्येक देश के हृदय में है। आज वह दिन आ गया है जब हममें से कोई भी ग्राम्यता को राष्ट्रीयता कह-

कर उस पर गर्व नहीं कर सकता। हमारे व्यवहार के जिन संस्कारों नेह में क्षुद्र बनाकर दूसरों से पृथक् किया है, जिनके कारण हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चिन्तन, कर्म, दान, भ्रमण, ग्रहण—सभी में बाधाएँ निर्माण हुई हैं, उन कृत्रिम विघ्नों को दूर करना ही होगा, अन्यथा मानवता की राजधानी में हमारे लांछन की सीमा नहीं रहेगी। इस बात को हम मुँह से स्वीकार करें या न करें, हमारे हृदय ने इसे समझ लिया है। हम विविध उपायों से अपनी उसी वस्तु को ढूँढ रहे हैं जिसे विश्व का आदर प्राप्त है, जो केवल अपने ही घर में बना हुआ आचार-अनुष्ठान नहीं है। उस वस्तु को उपलब्ध करने से ही हमारी रक्षा होगी। क्योंकि तब सारी दुनिया अपनी ही आवश्यकता से हमारी रक्षा करेगी। यह इच्छा हमारे हृदय में जागृत है इसीलिए आज हम एक कोने में बैठे नहीं रह सकते। आज हम जिन संस्थाओं की स्थापना कर रहे हैं उनमें हमारा स्वातन्त्र्य-बोध और विश्व-बोध साथ-साथ व्यक्त होता है। अब से पचास वर्ष पहले हिन्दू-विश्वविद्यालय की कल्पना भी हमें विचित्र लगती। इस समय भी ऐसे लोग हैं जिन्हें इसकी असंगति कष्टमय लगती है। वे सोचते हैं कि हिन्दू-जाति और विश्व के बीच विरोध है, तभी हिन्दू तरह-तरह से विश्व के सम्पर्क से दूर रहना चाहते हैं; इसीलिए हिन्दू पाठशाला हो सकती है, लेकिन हिन्दू-विश्वविद्यालय नहीं हो सकता। लेकिन इस दल के लोगों की संख्या कम हो रही है। यही नहीं, इनका अपना निजी आचरण देखने से पता चलता है कि जिस बात को वे अपना दृढ़ मत समझते हैं वह वास्तव में, गम्भीर भाव से उनका आन्तरिक विश्वास नहीं है।

जो कुछ भी हो, अपने देश के उच्चतम देवता को हम सदा के लिए मन्दिर के अँधेरे कोने में बिठाकर नहीं रख सकते। आज रथयात्रा का दिन आ गया है। विश्व के राजपथ पर, मानवीय सुख-दुःख और आदान-प्रदान की वीथिका में, हमारा देवता निकल पड़ा है। आज हमें अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार रथ तैयार करना है। किसी का रथ मूल्यवान वस्तुओं से बनेगा, किसी का मामूली होगा। किसी का रथ बीच रास्ते में ही टूट जायगा, किसी का बरसों तक बना रहेगा। लेकिन महत्त्व तो इस बात का है कि रथयात्रा का शुभ मुहूर्त आ गया है। कौन-सा रथ कहाँ तक पहुँचेगा, इसका हिसाब हम नहीं लगा सकते। लेकिन उत्सव हमारे सामने है। हमारे लिए जो सबसे अधिक मूल्यवान है वह पदार्थ आज पुरोहितों के विधि-निषेध में आबद्ध धूप-दीप के वाष्प में छिपा नहीं रह सकता। आज विश्व के आलोक में हमारे लिए जो 'वरेण्य' है वह सबके सामने गोचर होगा। उसका रथ निर्माण करना है। इसका परिणाम क्या होगा हम ठीक नहीं कह सकते, लेकिन सब से अधिक आनन्द की बात यह है कि यह रथ विश्व

के पथ पर चल रहा है, प्रकाश के मार्ग पर निकला है। इसी आनन्द के आवेग से से हम सब मिलकर, जय-जयकार करते हुए, इस रथ की बागडोर पकड़ने के लिए आगे बढ़ रहे हैं।

लेकिन मैं अच्छी तरह देख पाता हूँ कि व्याहारिक लोग इन सब बातों से अप्रसन्न होते हैं। वे कहते हैं : 'हिन्दू विश्वविद्यालय के नाम से जो चीज़ तैयार हो रही है उसे प्रत्यक्ष परिणाम की दृष्टि से देखना चाहिए। हिन्दू नाम देने से ही हिन्दुत्व का गौरव नहीं होता। और विश्वविद्यालय के नाम से ही विश्वविद्या का फ़व्वारा नहीं छूटता। हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा हमारी विद्या का कोई विशेष विस्तार होगा इस बात का प्रमाण अभी तक हम नहीं देखते। दफ़्तर की मेज़ के कौन-से छिद्र से हिन्दुत्व का शतदल कमल खिलेगा, इसका भी अनुमान लगाना कठिन है।'

इस सम्बन्ध में मुझे यही कहना है कि कुंभकार मूर्ति बनाने से पहले मिट्टी को सानकर जो पिण्ड तैयार करता है उसीको देखकर हमें निराश नहीं होना चाहिए। कोई भी चीज़ क्षण-भर में बिलकुल हमारी इच्छा के अनुरूप नहीं हो सकती। यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि यदि कोई चीज़ हमारी इच्छानुरूप नहीं है तो इसमें मुख्य दोष मन का ही है, उपकरणों का नहीं। जिसमें क्षमता नहीं होती वह सोचता है कि सुयोग के अभाव से ही वह अक्षम है। लेकिन जब अवसर मिलता है तो वह देखता है कि इच्छा-शक्ति की कमज़ोरी ही उसकी अक्षमता का कारण है। जिसकी इच्छा ज़ोरदार है वह ज़रा-सा मौका पाते ही अपनी इच्छा को सार्थक बनाता है। हमारे अभागे देश में हम प्रतिदिन ऐसी बातें सुनते हैं : 'यह जगह हमें पसन्द नहीं है, इसलिए हम इसका त्याग करेंगे; वह वस्तु हमारे मन के अनुरूप नहीं इसलिए हम उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे।' विधाता के लाड़ले बच्चे बनकर हम रुपये में सोलह आने इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं; कहीं ज़रा व्यत्यय हुआ तो रूठ जाते हैं। जिसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल और संकल्प अपरिस्फुट है उसकी दुर्गति होती है। हममें यह कहने की शक्ति नहीं है : 'जो अवसर मिलेगा उसीको हम अपनी इच्छा के ज़ोर से अपने मन के अनुकूल बना लेंगे—आज नहीं तो कुछ दिन बाद, अकेले नहीं तो दूसरों से मिलकर, जीवन के मध्य में नहीं तो अन्त में।' हम ऐसा नहीं कह पाते इसीलिए प्रत्येक उद्योग के आरम्भ में ही असन्तुष्ट होकर बैठ जाते हैं। अपनी आन्तरिक दुर्बलता के पाप को बाह्य परिस्थिति पर आरोपित करके हम दूर खड़े रहते हैं और अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। जो मिला है वही यथेष्ट है, बाकी सब-कुछ प्राप्त करना हमारे हाथ में है—यह है पुरुषोचित बात। यदि वास्तव में हमें विश्वास है कि हमारा

ही मत सत्य है तो फिर शुरू से ही उसके सर्वग्राह्य न होने पर हमें कोपभवन में जाकर द्वार बन्द करके नहीं बैठना है, बल्कि अपने मत को सत्य सिद्ध करने के लिए कमर कसनी है। किसी विशेष प्रतिष्ठान के द्वारा हम परमार्थ-लाभ नहीं कर सकते। मनुष्य मशीन से नहीं बनता। यदि हममें मनुष्यत्व हो तभी प्रतिष्ठान की सहायता से हमारा मनोरथ सिद्ध हो सकता है। हिन्दू के हिन्दुत्व को यदि हम स्पष्ट रूप से नहीं देखते तो हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित होने से ही हम उसे नहीं देखेंगे। और यदि हिन्दुत्व हमारी दृष्टि में स्पष्ट है तो बाह्य प्रतिकूलता चाहे जितनी प्रबल हो हम हिन्दुत्व की कल्पना को उपलब्ध करेंगे और कार्यान्वित करेंगे। इसलिए हिन्दू-विश्वविद्यालय का किस तरह से आरम्भ हो रहा है, और वह कैसा रूप धारण कर रहा है, इन प्रश्नों को लेकर मैं अपने मन में संशय नहीं रखना चाहता। यदि संशय हो सकता है तो अपने ही बारे में, यदि सावधान होना है तो अपने आन्तरिक पक्ष की ही ओर से।

लेकिन मेरे मन में कोई द्विधा नहीं है, क्योंकि मैं यह नहीं समझता कि अलादीन का चिराग मिल गया है और न मुझे यह आशा है कि बहुत ही अल्प समय में कोई बड़ी सफलता मिलेगी। मैं देख रहा हूँ कि हमारा चित्त जागृत हो चुका है। मनुष्य के इसी चित्त पर मेरा विश्वास है। या यदि यह भूल करे तब भी मैं इसे अचूक यंत्र से बड़ा मानता हूँ। यह जागृत चित्त जिस काम में भी प्रवृत्त हो रहा है वह हमारे लिए यथार्थ कार्य है।

चित्त के विकास के साथ-ही-साथ कार्य का विकास भी सत्य हो उठेगा। ये सभी काम हमारे जीवनसंगी हैं। जीवन के साथ-साथ ये बढ़ते चलेंगे। इनमें संशोधन होगा। इनका विस्तार होगा। बाधाओं के बीच से गुजरकर ही ये प्रबल होंगे, संकोच के बीच ही विकसित होंगे और भ्रम से उत्तीर्ण होकर ही इनका सत्य सार्थक हो उठेगा।

[२९ सितम्बर, १९११ को रिपन (अब सुरेन्द्रनाथ) कॉलेज में प्रस्तावित बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में पढ़ा गया लेख।

'प्रवासी' (अग्रहायण, १३१८ बं० सं०) नवम्बर १९११ में प्रकाशित।]

भारतवर्षीय विवाह

भारतवर्षीय विवाह के बारे में कुछ लिखने का अनुरोध योरोप से मेरे पास आया है। इसलिए योरोपीय विवाह और हमारे देश के विवाह में जो अन्तर है उस पर ही पहले मेरी दृष्टि जाती है। यह प्रभेद केवल बाह्य अनुष्ठान का नहीं वरन् आन्तरिक अभिप्राय का है।

सभ्य समाज की अन्य संस्थाओं की तरह विवाह भी प्रकृति के अभिप्राय के साथ सन्धि-स्थापन करने का एक प्रयास है। प्रकृति और सभ्यता के अभिप्रायों में विरोध अधिक है या सामंजस्य, इसी बात पर विभिन्न विवाह-पद्धतियाँ निर्भर रहती हैं; इसीके आधार पर उनके रूप और भाव में प्रभेद उत्पन्न होते हैं। मानव-जीवन का निर्देशन दो शासकों द्वारा होता है—जीव-प्रकृति और समाज-प्रकृति। जहाँ समाज जीव-प्रकृति के सैनिकों की उपेक्षा करके चलना चाहता है वहाँ धर्म-विधि, शासन-विधि और आत्मदमन की परम्पराएँ कठोर बन जाती हैं। रसद का सामान प्रकृति के हाथ में है, खजाने की मालिक वही है; इसलिए उसके बिलकुल ही विरुद्ध जाने से मनुष्य को आठों पहर अत्यन्त सावधानी से काम में जुटे रहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में प्रकृति के आवागमन के गुप्त मार्गों पर कड़ा पहरा लगाकर भी मनुष्य निश्चिन्त नहीं हो पाता, क्योंकि प्रकृति के हाथ में सेंध लगाने के औज़ार तो हैं ही, वह घूस देना भी जानती है।

जिस देश में समाज का सम्बन्ध-जाल व्यापक और जटिल होता है, वहाँ व्यक्तिगत इच्छा को तरह-तरह से दबाकर रखना पड़ता है। जीवन-निर्वाह के लिए जहाँ मनुष्य को दूर-दूर जाना पड़ता है वहाँ समाज का बन्धन विस्तृत नहीं हो पाता, वहाँ लोगों के एक-दूसरे पर अधिकार समाज-विधि से निर्धारित नहीं होते, बल्कि स्वेच्छाधीन होते हैं। हमारे देश में छोटी-छोटी बातों पर कृतज्ञता-सूचक वाक्यों का व्यवहार नहीं किया जाता। इसके लिए योरोप के लोग हमारी आलोचना करते हैं, कुछ लोग तो झटपट यह निश्चित कर लेते हैं कि हमारे स्वभाव ही में कृतज्ञता का अभाव है। वास्तव में हमारे समाज की प्रकृति ऐसी है कि सहायता पाने के दायित्व से सहायता देने का दायित्व बड़ा समझा जाता है। जिनके पास विद्या है, वे विद्या-दान करना दायित्व मानते हैं; विद्यार्थियों के प्रति वे अनुग्रह नहीं करते। अकिंचन आगन्तुक का यथा-साध्य आतिथ्य करने में ही गृहकर्ता अपने को सार्थक समझता है। जातकर्म से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार

तक सभी अनुष्ठानों में बाहर के लोगों का हमारे घरों में प्रवेशाधिकार स्वीकार किया जाता है। इसे हम धर्म का निर्देश मानते हैं। ऐसे अवसरों पर आमन्त्रित लोगों के प्रति कृतज्ञता जताना गृहस्थ अपना कर्त्तव्य समझता है।

भारत में आर्य जाति के लोग पहले अरण्य-निवासी थे, फिर ग्रामवासी हुए और उसके बाद नगरवासी। पहले धेनु ही उनकी सम्पदा थी, पशु-पालन ही उनकी जीविका। बाद में आर्यावर्त के ऐतिहासिक रंगमंच से अरण्य का पर्दा धीरे-धीरे उठ गया। उसकी प्रशस्त, नदी-सिंचित, समतलभूमि पर जो कुलपति-शासित परिवार थे उनके स्थान पर नृपति-शासित राज्यों ने पदार्पण किया। अरण्य के बदले खेत दिखाई पड़ने लगे, जहाँ जन-समूह को जीविका के लिए प्रधानतः कृषि पर ही निर्भर होना पड़ा। वैदिक युग की लड़ाइयों का मूल धेनु-हरण में था, रामायण-युग में युद्ध का मूल था सीता-हरण—अर्थात् कृषि-क्षेत्र के प्रति उपद्रव। श्री रामचन्द्र कृषि-धर्म-रक्षक वीरत्व के प्रतीक हैं, यह बात तो उनके श्यामवर्ण से ही प्रमाणित होती है—उनका वर्ण 'नई दूब' जैसा था।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि किसी समय जिसमें कृषि-रक्षा और कृषि-प्रचार का जय-गान था उसी रामायण-कथा को परवर्ती युग में गृह-धर्म-नीति के महिमा-कीर्तन का रूप मिला। कृषि-जीविका मनुष्य को धरती से बाँध देती है। बहुत-से लोगों के समवाय से जो अन्न उत्पन्न होता है उसका उपभोग भी सब लोग मिलकर करते हैं। जब अन्न-संग्रह अनिश्चित नहीं होता, जब अन्न ही लोगों को एक जगह एकत्रित करता है, तब मनुष्य में उन सब हृदय-वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है जिनसे दूसरों के लिए त्याग करना सहज हो जाता है।

रामायणकालीन भारत के इतिहास में हम तीन पक्ष देख सकते हैं—एक आर्यपक्ष, दूसरा वानरपक्ष और तीसरा राक्षसों का पक्ष। वानर बर्बर जाति के प्रतिनिधि हैं, राक्षस सुशिक्षित और प्रबल। एक दिन इनका परस्पर-विरोध ही इतिहास का प्रधान तथ्य था—उस समय निरन्तर युद्ध की अवस्था थी और भारत में सर्वजातीय समाज-बन्धन तैयार नहीं हो सका था। बाद में जब क्षत्रिय राजाओं का प्रभाव बढ़ा, नगरों का विकास हुआ, तब युद्ध की अपेक्षा शान्ति का प्रयोजन और गौरव अधिक माना गया। तब मनुष्यों के शान्तिमय सहयोग का सत्य परिस्फुट हुआ। तभी रामायण में आर्यों के साथ वानरों और राक्षसों का सम्बन्ध-विस्तार ही मुख्य रूप से कीर्तिप्रद विषय है।

शान्ति-नीति का वीरत्व त्याग का वीरत्व होता है, उसमें निवृत्ति की विजय है। जिस देश में त्याग और निवृत्ति का अनुशीलन किया जाता है वहाँ

समाज का मूल उपादान व्यक्ति नहीं बल्कि गृह होता है, और वह गृह प्रशस्त होता है। तभी हम देखते हैं, जब रामायण ने महाकाव्य का रूप लिया तब गृह-धर्म-नीति की गौरव-घोषणा उसका मुख्य विषय बन गया। पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, प्रभु-भृत्य—इन सब सम्बन्धों की रक्षा के लिए जिस एकनिष्ठ, आत्मत्यागमय चरित्र-बल की आवश्यकता होती है उसीका महिमा-गान रामायण में है।

रामायण में एक और नीति की भी प्रशंसा है, जिसे हम 'सत्यरक्षा' की नीति कहते हैं। जिस समाज में वैचित्र्य और विपुलता है, वहाँ परस्पर विश्वास की रक्षा होती है। विश्वास पर ही यह समाज निर्भर होता है। हमारे पुराण-इतिहास में बहुत-सी कथाओं और उपदेशों द्वारा इस नीति को मानव-मन में अंकित करने का प्रयास किया गया है—यहाँ तक कि यदि वचन-पालन के लिए अन्याय और अधर्म हो तो उसे भी स्वीकार करने की सलाह दी गई है।

जहाँ बहुत-से लोग एक जगह एकत्रित होते हैं—दूसरों पर आक्रमण करने के उद्देश्य से नहीं, वरन् परस्पर रक्षा और पालन के लिए—वहाँ स्वभावतः परार्थपर धर्मनीति का उद्‌भव होता है। अर्थात् पहले जो व्यक्ति प्रयोजन-सिद्धि के लिए आता है बाद में उसीका लक्ष्य स्वार्थ का अतिक्रमण करके परमार्थ की ओर झुकता है। हमारे देश में किसी दिन गृहस्थाश्रम को प्रधानतः धर्म-साधन के लिए सम्मान मिला था; उसे मुक्ति-पथ का सोपान माना गया था, केवल विषय-भोग का क्षेत्र नहीं। अपनी स्त्री या अपने पुत्र के प्रति आत्मीय भाव स्वाभाविक है; इससे स्वार्थ-बन्धन शिथिल नहीं वरन् दृढ़ होता हैं। लेकिन जिस घर में दूरसंपर्कीयों को भी अधिकार मिलता है, जहाँ संचय का एक भाग परायों के लिए भी होता है, जहाँ रक्त की माँग और परिचय की माँग दोनों पर ध्यान न देना लज्जा और निन्दा की बात मानी जाती है, वहाँ आत्मीयों के प्रति स्वाभाविक स्नेह के अलावा एक विशेष हृदय-वृत्ति उत्पन्न होती है। यह वृत्ति है कल्याण की इच्छा। भारत ने कभी यह नहीं कहा कि घर केवल अपने प्रभुत्व का स्थान है, अपना 'दुर्ग' है। समय-समय पर, किसी-न-किसी उपलक्ष्य से, हमारे घरों में दूसरों के अधिकार स्वीकार किये गए—चाहे इससे समय या धन की क्षति भी हो। कल्याण को ध्यान में रखा गया है, केवल स्वार्थ को नहीं।

यदि व्यक्ति-विरोध के सुख या सुविधा पर ही गृहस्थी आधारित हो, तो गार्हस्थ्य को स्वीकार करना बिलकुल ही व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करेगा। यदि वह कहे : 'मैं गृह-सुख नहीं चाहता, मैं स्वतन्त्र रहकर खुश हूँ' तो किसी को आपत्ति करने का कारण न होगा। लेकिन हिन्दू भारत में गार्हस्थ्य समाज का

आवश्यक उपादान है, इसलिए विवाह के सम्बन्ध में प्रायः ज़बरदस्ती की जाती है। योरोप में जैसे युद्ध-संकट की आशंका से सार्वत्रिक 'कॉन्सक्रिप्शन' होता है, कुछ उसी तरह भारतीय विवाह है। यदि कोई ब्राह्मण गृह में रहकर भी विवाह नहीं करता, तो उसको दान देने से, या उसका दिया दान ग्रहण करने से नरक में जाना पड़ता है—इस तरह का मत धर्मशास्त्र में है। जो व्यक्ति अविवाहित रहकर गृहवास करता है, उसका अन्न अभक्ष्य माना जाता है। धर्मशास्त्र में गृहस्थाश्रम की तुलना वटवृक्ष के साथ की गई है। समाज के सभी अंग गृह के प्राण से प्राणवान होते हैं। शास्त्र का आदेश है कि राजा को गृहस्थाश्रमी का सम्मान करना चाहिए। जो मनुष्य घर बसाकर अपनी इच्छानुसार रहता है उसीको शास्त्र में 'गृहस्थ' नहीं माना गया :

'गृहस्थोऽपि क्रियायुक्तो न गृहेण गृहाश्रमी।
न चैव पुत्र दारेण स्वकर्म परिवर्जितः ।।'

यहाँ कर्म का मतलब स्वार्थ-साधन नहीं, बल्कि, समाज के प्रति कर्त्तव्य-पालन है।

'तथा तथैव कार्याणि न कामसु विधीयते।
अस्मिन्नेव प्रयुञ्जानोह्यस्मिन्नेव प्रणीयते ।।'

इस संसार के साथ ही हमारा योग है, इस संसार में ही हमारा लोप है। जहाँ जो कर्त्तव्य है वहाँ वही करना चाहिए, सुविधा के हिसाब से काल का विधान करना उचित नहीं।

वस्तुतः गृह-धर्म-पालन को शास्त्र में तपस्या माना गया है। वशिष्ठ कहते हैं :

'गृहम् एव यजते गृहसुस्तप्यते तपः।
चतुर्नामाश्रमानान्तु विशिष्यते ।।'

जिस समाज में गृह व्यक्ति विशेष के सुख-स्वच्छन्दता का ही आश्रय होता है, वहाँ गृहस्थ की विषय सम्पत्ति भी बिलकुल निजी होती है, क्योंकि सम्पत्ति ही गृहतन्त्र का आधार है। यदि सम्पत्ति व्यक्तिगत भोग का उपाय-मात्र हो तो उससे दूसरे लोगों को आनन्द नहीं मिल सकता, बल्कि वह उनकी 'ईर्ष्या' का कारण बन जाती है। यही नहीं, प्रतियोगिता का विष फैलता जाता है, सम्पत्ति-अर्जन में समाज-धर्म की कोई नैतिक बाधा नहीं मानी जाती। प्राचीन भारत में ऐसे लोगों को सम्मान नहीं मिलता था जिनका लक्ष्य केवल धनार्जन था—जो जीविका के प्रयोजनों को पीछे छोड़कर केवल धन के अनुराग से सम्पत्ति-संचय करते थे। आज भी इस वणिक् जाति का स्पर्श किया हुआ फल अपवित्र माना

जाता है। पाश्चात्य समाज में आज कुछ लोग सम्पत्ति को विपत्ति समझते हैं, उसे जड़ से उखाड़कर फेंक देने का प्रयत्न करते हैं। वहाँ विश्व-मानव के साथ विशेष व्यक्तियों का विरोध ही दायित्वहीन सम्पत्ति का आधार है। इस विरोध में वहाँ की राजनीति से सम्पत्ति वालों को ही सहायता मिलती आई है।

मनुष्य के ऐसे कई खाद्य-पदार्थ हैं जो पहले कड़वे थे, हानिप्रद थे। मनुष्य ने उनका त्याग नहीं किया, वरन् अच्छी तरह खेती करके उन्हें स्वास्थ्यकर बनाया। भारत ने सम्पत्ति को अस्वीकार नहीं किया; गृह को धर्मक्षेत्र मानकर सम्पत्ति का विषैलापन दूर किया। सदियों से भारत में व्यक्तिगत सम्पत्ति की सहायता से ही समाज-धर्म टिका हुआ है। अन्न, वस्त्र, शिक्षा, धर्म-कर्म—सभी का सम्पत्ति ने ही वहन किया है। धनिकों के मनमाने दान पर यदि समाज निर्भर हो, तो उस-से समाज-व्यवस्था दोषपूर्ण हो जाती है क्योंकि अविचार से दान ग्रहण करने में दुर्गति है। लेकिन भारत में गृहस्थ का लोक-हित-साधन केवल उसकी दानशीलता पर आधारित नहीं था—लोक-हित-साधन को गृहस्थ अपना वैध कर्त्तव्य मानता था, उससे वह अपने जीवन को सार्थक समझता था। यह दायित्व केवल अमीरों का नहीं था; अपनी हैसियत के अनुसार सभी गृहस्थ श्राद्ध-विवाह इत्यादि क्रिया-कर्म के मौकों पर साधारण लोगों को कुछ-न-कुछ देते थे। मनु ने कहा है: ऋषि-गण, पितृगण, देवगण, और अतिथि, सभी को गृहस्थ से कुछ आशा होती है; ज्ञानी गृहस्थ इस बात को समझकर ही काम करता है। इस तरह बार-बार स्मरण कराया गया है कि दूसरों के प्रति दायित्व की यथाविहित रक्षा करना ही गृहधर्म का लक्ष्य है। इसीलिए मनु कहता है कि जो दुर्बल है वह गृहस्थाश्रम नहीं निभा सकता। जिसको अपनी प्रवृत्तियों पर प्रभुत्व नहीं वह इस आश्रम के लिए अयोग्य है।

भारत का विवाह-तत्त्व जानने के लिए यहाँ के गृहमूलक समाज को ठीक से समझना होगा। भारत का समाज ऐसा है कि विवाह-व्यवस्था का अपने ही अलग मार्ग पर चलना विपत्तिजनक है; यहाँ विवाह के बाँध से ही समाज के बाँध की रक्षा होती है। हिन्दू-विवाह व्यक्ति विशेष की रुचि या स्वातन्त्र्य की परवाह नहीं करता, बल्कि उससे डरता है। यदि कोई योरोपवासी इस मनोभाव को समझना चाहे, तो पिछले युद्ध-काल की अवस्था को स्मरण करे। साधारणत: योरोप के विभिन्न देशों के लोगों में परस्पर विवाह की कोई रोक-टोक नहीं है। लेकिन युद्ध-काल में, जब एक विशेष उद्देश्य की तुलना में मनुष्य के और सारे अभिप्राय गौण हो गए, शत्रुदेशीय से विवाह करना असम्भव हो गया। यहाँ तक कि जिनका विवाह पहले ही हो चुका था उनमें भी आपसी संघर्ष उत्पन्न कराने में समाज को

संकोच नहीं हुआ। प्रत्येक युद्ध-रत देश में उस समय सहयोग की भावना इतनी तीव्र थी कि केवल विवाह ही नहीं आहार-व्यवहार के सम्बन्ध में भी देश के सभी लोगों को एक ही नियम-सूत्र में आबद्ध होना पड़ा। आचरण के स्वातन्त्र्य और वैचित्र्य का लोप हो गया। योरोपीय देशों की इस अवस्था के साथ हमारे देश की अवस्था का बहुत-कुछ सादृश्य है। यहाँ भी सारे देश में सम्मिलित अभिप्राय है, और यह अभिप्राय-बोध अत्यन्त तीव्र है। इसका पालन ही यदि 'धर्म' है तो व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को बार-बार नियन्त्रित करना होगा। भारतवर्ष में मानव-सभ्यता को विशुद्ध रखने के लिए समाज ने लोगों से प्रत्येक क्षेत्र में—विशेषत: विवाह के सम्बन्ध में—इच्छा-स्वातन्त्र्य के दमन की माँग की है।

यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि हिन्दू-समाज में एक स्थायी युद्ध की अवस्था है, क्योंकि देश में यही एक समाज नहीं है। तरह-तरह के भिन्न आचार-व्यवहारों से वह घिरा हुआ है। उनके आक्रमण से अपनी सत्ता की रक्षा करने के लिए उसे अत्यन्त सतर्क रहना पड़ा है, इसलिए इस समाज ने सदा एक दुर्ग में निवास किया है। तभी अपने-पराये के भेद और विरोध के बारे में यह इतना सचेत रहा है। दूसरे किसी सभ्य देश में हिन्दू-समाज-जैसी अवस्था किसी समाज की नहीं है, इसलिए व्यक्तिगत स्वाधीनता का दमन अधिक कहीं नहीं हुआ। हमारे यहाँ खाने-छूने-जैसे तुच्छ विषयों में भी समाज का शासन है—विवाह के सम्बन्ध में तो यह शासन और भी कठोर है, क्योंकि विवाह गृहबन्धन का मूल है, और गृह ही हमारे समाज का आधार है। जो कुछ भी हो, समाज में युद्ध की अवस्था युग-युग से चली आ रही है—इस युद्ध का दुर्ग है गृह और योद्धा गृही।

भारत में समाज की यह अभिव्यक्ति अचानक नहीं हुई, अवस्था-परिवर्तन के साथ-साथ भिन्न परिणामों के बीच होती रही है। पुराने इतिहास की देन आधुनिक काल में भी बहुत दिन तक सजीव थी, इसीलिए गान्धर्व, राक्षस, आसुर और पैशाच विवाह-पद्धतियों को अपनी समाज-विधि में स्थान देना मनु के लिए अनिवार्य हो गया। लेकिन इन सब विवाहों में सामाजिक इच्छा नहीं, व्यक्तिगत इच्छा ही प्रबल है। रुपया देकर वधू को खरीदना आसुर विवाह था, बलपूर्वक ग्रहण करना राक्षस विवाह, सुप्ता या प्रमत्ता कन्या से परिणय पैशाच विवाह। धर्मशास्त्र ने बाध्य होकर इन सबको स्वीकार किया; लेकिन इनकी निन्दा भी की गई है, क्योंकि अर्थबल या इन्द्रिय-प्रवृत्ति का बल स्वभावत: उद्धत होता है, वह किसी का विधान मानना नहीं चाहता।

गान्धर्व विवाह की भी निन्दा की गई, लेकिन बहुत दिनों तक भारतीय समाज में इसका प्रशस्त स्थान था। प्राचीन इतिहास और साहित्य में इसके अनेक प्रमाण

मिलते हैं। किसी स्थितिशील समाज का स्थायी धर्म उस समाज की सभी श्रेणियों के लिए समान रूप से प्रबल नहीं हो सकता। इसलिए क्षात्र-धर्म में निवृत्ति सिद्धान्त सबके लिए एक-जैसा नहीं था। जिन क्षत्रियों की चंचल शक्ति नए-नए क्षेत्रों में साधना कर रही थी उन्हें स्थावर गार्हस्थ्य-नीति के जाल में जकड़ना कठिन था। हमारे धर्म-शास्त्र में समुद्र-पर्यटन निषिद्ध है—इसका कारण यही है कि समाज को अचल विधि-प्रणाली में आबद्ध करने के लिए मनुष्य को भी अचल बनाने का प्रयास किया गया। जो कुछ भी मन को चंचलता प्रदान करता है, अभ्यासगत चिन्तन, विश्वास और व्यवहार को विचलित करता है उस पर हमारे समाज ने आघात किया। समुद्र-पर्यटन ही नहीं, म्लेच्छ देश में निवास भी निषिद्ध और दण्डनीय बताया गया। आजकल पाश्चात्य देशों में हम देखते हैं, 'बॉलशेविक' मतवाद को अपने देश से दूर रखने के लिए तरह-तरह से बल-प्रयोग किया जा रहा है। यह बात समुद्र-पर्यटन-निषेध-जैसी ही है। आज जो भी नीति राष्ट्रस्थिति के प्रतिकूल हो उसके सम्पर्क को तिरस्कृत बनाए रखने के लिए कठोर शासन चल रहा है। इसमें जन-साधारण के मत या आचरण-स्वातन्त्र्य का विचार नहीं किया जाता। हमारे देश का निषिद्ध साहित्य इसी श्रेणी का है। आज फासिज़्म की जो पीड़न-शक्ति पाश्चात्य महादेश में प्रबल हो उठी है वह हमारे समाज में प्रचलित निषेध-नीति का ही प्रतिरूप है। यदि ब्राह्मण के मार्ग पर चलने की स्पर्धा कोई शूद्र करे तो निष्ठुरतापूर्वक उस शूद्र को प्राण-दण्ड देने की व्यवस्था किसी दिन भारत में थी। पाश्चात्य देशों में फासिज़्म, कू-क्लुक्स-क्लॅन, 'लिन्चिग' इत्यादि निष्ठुरताओं के पीछे यही मनोवृत्ति है। समाज के सभी लोगों का मनोभाव और आचरण कुछ मुख्य क्षेत्रों में यदि सदा के लिए अचल हो तो इससे व्यक्ति की वृद्धि और चरित्र विकास में बाधा पड़ती है, लेकिन सामाजिक स्थिरता के लिए यह अनुकूल है, इसमें सन्देह नहीं। जिस समाज में गतिशीलता के प्रति अश्रद्धा नहीं होती वहाँ व्यक्तिगत इच्छा, रुचि और विश्वास-स्वातन्त्र्य का कठोरता से दमन नहीं किया जाता। जो समाज वृक्ष की तरह नहीं, बल्कि मन्दिर की तरह है, अवृद्धिशील स्थावरता ही उसकी सम्पदा होती है—एक ईंट भी इधर-उधर हिलने से उसकी क्षति होती है।

लेकिन निश्चलता के कठिन बन्धन में समाज के सभी लोगों को समान रूप में बाँधा नहीं जा सकता—ऐसा करना मानव-धर्म के विरुद्ध है, प्राण-धर्म के प्रतिकूल है। इसलिए किसी देश में जब तक प्राण-शक्ति सशक्त रहती है, वह निषेधों पर आघात किये बगैर नहीं रह सकती। जब हमारे देश के क्षत्रिय यथार्थ क्षत्रिय थे, नैमित्तिक नीति-पालन के अभ्यास में उन्हें कसकर बाँध रखना सम्भव नहीं था।

इसीलिए उन दिनों भारतीय इतिहास में जो धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति हुई वह क्षत्रियों द्वारा हुई। यह स्मरण रखना होगा कि बुद्ध और महावीर दोनों क्षत्रिय थे। कृष्ण ने जिस यदुवंश में जन्म लिया उसकी रीति-नीति भी बिलकुल शास्त्र-सम्मत नहीं थी। सारे महाभारत को पढ़ने से बार-बार इस बात पर ध्यान जाता है कि प्राचीन काल में सामाजिक बाँध चाहे जितना पक्का रहा हो, ऐसा एक भी विख्यात वंश नहीं था जिसने उस बाँध का उल्लंघन न किया हो। बाद में जब भारत में क्षत्रियों का पराभव हुआ और ब्राह्मणों को ही समाज में मुख्य स्थान मिला, सामाजिक बन्धन इतने कठोर और दृढ़ हो सके। प्राचीन भारत में स्थिति-शील सामाजिक क्षेत्र में ही गतिशील प्राणधारा का प्रवाहित होना बिलकुल असम्भव नहीं था। तभी धर्मशास्त्र को यह कहना पड़ा : 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।'

मनु के अनुसार वर-वधू का परस्पर इच्छा से जो संयोग होता है उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। लेकिन मनु ने इसे कामसम्भव कहकर दोष दिया है। कामना का दीप जिस विवाह का मार्ग दर्शन करता है उस विवाह का मुख्य लक्ष्य समाज-विधि-रक्षा नहीं बल्कि प्रवृत्ति-समाधान है। यहाँ तक कि अपेक्षाकृत शिथिल-बन्धन योरोपीय समाज में भी नर-नारी के मिलन में कामना के आवेग से मानव को पग-पग पर कैसे असामाजिक संकट का सामना करना पड़ा है, सभी जानते हैं। लेकिन वहाँ का समाज गतिशील है, इसलिए इस तरह का संकट सांघातिक नहीं होता, जैसा हमारे देश में होता है। हमारे शास्त्र में ब्राह्म विवाह को श्रेष्ठ माना गया है। इस विवाह की रीति के अनुसार वर की ओर से कन्या 'माँगी' नहीं जानी चाहिए, अयाचक को वर ही कन्यादान करना चाहिए। जिस लड़की को वर स्वयं 'माँगता' है उसकी सामाजिक क्षमता के बारे में वह निरपेक्ष भाव से सोच नहीं सकता। इसलिए विवाह-अनुष्ठान को यदि सामाजिक दृष्टि से विशुद्ध रखना है तो वर-वधू की व्यक्तिगत इच्छा को सतर्कता के साथ अलग रखना होगा। योरोप के राजकुलों में विवाह के नियम जैसे कठिन और संकीर्ण हैं वैसे हमारे यहाँ पूरे समाज में हैं।

भारत में विवाह-नीति जिस मनोभाव पर आधारित है उसे यदि कोई योरोप-निवासी स्पष्ट रूप से समझना चाहे, तो आजकल पाश्चात्य विद्या में जिसे 'यूजेनिक्स' कहा जाता है उसके दृष्टिकोण से विचार करना सुविधाजनक होगा। विज्ञान व्यक्तिगत भावावेग को अधिक महत्त्व देना नहीं चाहता। यदि सुसन्तान ही विवाह का लक्ष्य हो, तो कामना-प्रवर्तित पथ में निष्ठुरतापूर्वक बाधा डालनी होगी। विज्ञान कहता है, स्त्री-पुरुष में यदि कोई आनुवंशिक शारीरिक रोग या

मानसिक विकार हो तो राजदण्ड या समाज-शासन की सहायता से ऐसे विवाह को रोकना हमारा कर्तव्य है। यह बात मान ली जाय तो विवाह को आवेग के क्षेत्र से खींचकर बुद्धि के क्षेत्र में खड़ा करना होगा। आवेग को स्थान देने से समस्या कठिन हो उठेगी, क्योंकि आवेग फलाफल का विचार नहीं करना चाहता। विचार के विरुद्ध आवेग का विद्रोह अनिवार्य है, इसलिए भारत में उसे निर्ममता से अलग कर दिया गया।

योरोपीय समाज की मूल प्रकृति राजनैतिक और आर्थिक है। उसका आयतन और प्रभाव जितना ही बढ़ेगा और प्रबल होगा, उतना ही यह आवश्यक होता जायगा कि समाज के प्रयोजन के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का बलिदान दिया जाय। इसके बहुत-से लक्षण वहाँ दिखाई पड़ते हैं। हमारे देश में समाज की मूल प्रकृति साम्प्रदायिक है। श्रेणी विशेष की आचार-धारा को सुरक्षित रखकर उसके धर्म को विशुद्ध बनाए रखने की व्यवस्था है। किसी दिन इस व्यवस्था की तीव्र आवश्यकता थी, इसलिए व्यक्तिगत विचार और व्यवहार के स्वातन्त्र्य को इस देश में अत्यन्त संकुचित बना दिया गया था। जब बाहर के लोग भारत की समाज-नीति और विवाह-नीति की समीक्षा करते हैं तो उन्हें इस सामाजिक समस्या पर विचार करना चाहिए।

पहले ही कह चुका हूँ, क्षत्रियों ने विवाह के प्रश्न पर कड़े नियमों का शासन नहीं माना। लेकिन उनके इस व्यवहार से सारे समाज को पीड़ा हुई, यह बात कालिदास के काव्य से स्पष्ट हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि समाज-नीति-रक्षा के लिए भारतीय विवाह ने जिस 'सौजात्य' (eugenics) को अपना लक्ष्य बनाया था उसके प्रति कालिदास को बड़ी वेदना थी। लेकिन विश्व की लीलामयी प्राण-प्रकृति में नर-नारी के स्वाभाविक प्रेम-चाञ्चल्य के सौन्दर्य-विकास से भी कवि का चित्त मुग्ध हुआ था। कालिदास के प्रायः सभी बड़े काव्यों में यह द्वन्द्व है। भरत-वंश का जन्म भारतीय इतिहास की एक मुख्य घटना है। इस वंश के आरम्भ में प्रवृत्ति के आकर्षण से स्त्री-पुरुष की आत्म-विस्मृति को यद्यपि कवि ने अपने नाटक में सौन्दर्य-दृष्टि से स्वीकार किया, फिर भी अन्ततः कल्याण-दृष्टि से उसे संशोधित भी किया है। तपोवन में, अरण्य की सहज शोभा के बीच, शकुन्तला का देह-मन तरु-लताओं के साथ-साथ यौवन से हिल्लोलित होता है। वहाँ कोने-कोने में प्रकृति का इंगित है, समाज-शासन अभी तक उसका तिरस्कार नहीं कर पाया है। ऐसी अवस्था में दुष्यंत-शकुंतला का जो मिलन हुआ, उसका सारे राज्य के साथ सामञ्जस्य नहीं था। कवि के अनुसार इसी कारण से उन दोनों के बीच एक अभिशाप की दीवार खड़ी हो गई। यह अभिशाप कर्तव्य की ओर से आत्म-

विस्मृति को दिया गया। शकुन्तला आतिथ्य-धर्म-पालन में भूल कर बैठी। प्रकृति जब अपने उद्देश्य-साधन में लग जाती है तब वह समाज के उद्देश्य की उपेक्षा करती है। यहाँ जैनधर्म के साथ मानव-धर्म का विरोध सामने आता है। राज्यसभा में शकुन्तला के प्रेम पर अपमान का वज्राघात हुआ। उसकी रक्षा का कोई पथ नहीं रह गया।

सातवें अंक में, राजा का तपोवन में तपस्वी कन्या के साथ जो स्थायी मिलन होता है, उसके द्वारा कवि ने प्रकृति की प्राणलीला को आच्छन्न करके तपस्या की कठोर मूर्ति को ही सर्वत्र प्रकाशित किया गया है। वहाँ महर्षि पातिव्रत्य-धर्म की व्याख्या करते हैं। शकुन्तला व्रतधारिणी जननी के रूप में सामने आती है। स्पष्ट है कि नर-नारी-मिलन की दो विरोधी मूर्तियों को कवि ने इस नाटक में दिखाया है। भरत-जन्म की भूमिका को तपस्या की अग्नि में पवित्र करके कवि दिखाता है कि प्रेम की यही वास्तविक सफलता है। जब प्रेम का मार्गदर्शन जैव प्रकृति करती है, तो प्रेम प्रकृति में जकड़ जाता है। लेकिन जब उसकी परिचालना धर्म करता है, प्रेम मुक्त रूप से प्रकाशित होता है। निवृत्ति-शान्त, आत्मत्याग-रत प्रेम का वह अचंचल, मुक्त स्वरूप ही परम सुन्दर होता है। कवि ने शास्त्र-उपदेश के आकार में इस बात को नहीं समझाया, बल्कि 'सुन्दर' की संयत, गम्भीर, कठोर, निर्मल मूर्ति को, मोहावरण से मुक्त करके, अपने नाटक में दिखाया है।

मातृत्व का जो पक्ष शरीरगत है, सन्तान-चालन से सम्बन्धित है, उसमें मानवीय व्यवहार और अन्य प्राणियों के व्यवहार में कोई विशेष अन्तर नहीं। वह साधारण जीव-सृष्टि के अन्तर्गत है। उसमें मानवीय सृष्टि-शक्ति का अधिकार नहीं, प्रकृति की दूती 'प्रवृत्ति' का ही शासन है। लेकिन जब माता अपने भावी पुत्र के लिए तपस्या करती है, स्वाभाविक प्रवृत्तियों को संयत करके शारीरिक क्रियाओं पर मन और आत्मा का अधिकार प्रतिष्ठित करती है, तब मातृत्व उसकी सृष्टि-शक्ति के अधीन हो जाता है। आजकल पाश्चात्य देशों में अक्सर देखा जाता है कि माताएँ मातृत्व में हीनता का अनुभव करती हैं, प्रकृति का स्त्रियों पर जो ज़ोर चलता है उसे वे अपमानजनक समझती हैं। लेकिन इस अपमान से बचने का उपाय मातृत्व का परिहार नहीं, उसे अपने कल्याण के साथ सुसंगत करके आत्मशक्ति द्वारा नियमित करना है। प्राचीन भारत में सुसंतानप्राप्ति साधना का विषय था, स्वेच्छा का नहीं। उस साधना का वर्तमान विज्ञान के नियमों से कहाँ तक सामंजस्य है, यह प्रश्न यहाँ विशेष रूप से जिज्ञासाधीन नहीं है। लेकिन आत्म-संयत मानसिक साधना द्वारा ही मानव-माता अपनी मर्यादा उपलब्ध करती है, यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। कालिदास के अनेक काव्यों में इस मर्यादा

का गौरव वर्णित हुआ है।

'कुमार सम्भव' का यही विषय है। इस काव्य में कवि ने नर-नारी के चिरकालीन प्रेम-सम्बन्ध का पवित्र दैवीस्वरूप दिखाया है। जब दैत्य की विजय और देवता का पराभव होता है, नर-नारी का प्रेम तपस्या द्वारा स्वर्ग का उद्धार करता है। देवताओं को पापविजयी कुमार के जन्म की आकांक्षा थी। इस कुमार को संसार में लाने के लिए कामना के उद्दाम वेग को रोककर निवृत्ति-साधना का आश्रय लेना पड़ा। सिद्धि के इस कठोर रूप में ही यथार्थ सौन्दर्य है। जब उमा से कहा गया कि 'शिव रूपवान नहीं हैं' तो उमा ने भी यही उत्तर दिया। मोह के सौन्दर्य को पुष्प-सज्जित रूप में आना पड़ता है, लेकिन मुक्ति का सौन्दर्य निराभरण होता है।

चाहे हम कालिदास के 'रघुवंश' को देखें, या 'कुमार सम्भव' को या भरत-जन्म के आख्यान पर आधारित 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को, विवाह के सम्बन्ध में भारतीय कवि के मन की बात प्रकाशित होती है। विवाह को उसने तपस्या कहा है। इस तपस्या का उपाय या लक्ष्य आत्म-सुख-भोग नहीं है। इसका उपाय है कामद-मन, और इसका लक्ष्य है कुमार का जन्म—उस कुमार का, जो समस्त 'कु' को मारता है, स्वर्ग-राज्य को विघ्न से बचाता है।

कालिदास के इन तीनों काव्यों में जो वेदना है, उससे हम समझ सकते हैं कि तत्कालीन क्षत्रिय राजाओं ने विवाह के संयत, आर्य आदर्श का उल्लंघन करके कामना का अनुसरण किया था, जिससे समाज अपजनन (degeneracy) की ओर जा रहा था। इस विनाशकारी विपत्ति को दूर करने के लिए विश्व के ज्ञान-नेत्र की क्रोधाग्नि आवश्यक थी; समाज को दैत्यराज्य से बचाने का दूसरा उपाय नहीं था। इसीलिए कवि ने विवाह को मदन के शासन से मुक्त करके शिव के तपोवन में बुलाना चाहा।

कालिदास की इन रचनाओं से भारतीय विवाह का यथार्थ आदर्श जिस तरह स्पष्ट होता है वैसे किसी धर्म-शास्त्र से नहीं होता। कवि ने प्रवृत्ति के आकर्षण के विरुद्ध धर्म के दायित्व का संग्राम दिखाया है। प्रकृति की प्राण-लीला में जो सौन्दर्य है उसकी यत्किंचित् अवज्ञा नहीं की गई है, लेकिन मानवीय तपस्या की महिमा को उसके भी ऊपर का स्थान दिया गया है। मनुष्य को प्रकृति के बन्धन से मुक्त होना है; उस मुक्ति का प्रत्यक्ष रूप ही कुमार है—मुक्ति-संग्राम का विजयी वीर। समाज को वह पाप और पराभव से बचाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है, यदि विवाह से इच्छा को पूर्णतया निर्वासित किया जाय तो दाम्पत्य में प्रेम को कैसे स्थान मिलेगा? जिन लोगों को भारत का यथार्थ

परिचय नहीं है, और जिनकी विवाह-प्रथाएँ हमारी प्रथाओं से बिलकुल ही भिन्न हैं, वे शुरू से ही यह मान लेते हैं कि हमारे देश में विवाह प्रेमहीन होता है। लेकिन यह धारणा बिलकुल मिथ्या है। स्वेच्छासम्मत विवाह में भी विशुद्ध प्रेम सुलभ नहीं होता, इस बात के प्रमाण प्रतिदिन हमारे सामने आते हैं। यदि विवाह को वास्तविक रूप से स्वीकार करना है तो यह मानना पड़ेगा कि ऐसी कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती जिससे विवाह के पहले जो कुछ स्थिर किया गया हो वह सुदीर्घ विवाहित जीवन में अक्षुण्ण सत्य बनकर रहे। इसीलिए बाहर की ओर से लोक-लज्जा और कानून का दबाव अनिवार्य होता है। लेकिन जो सम्बन्ध परस्पर प्रेम के ऊपर ही निर्भर है, उसे बाह्य बन्धनों में कसने से वह अपवित्र हो जाता है—मनुष्य के लिए इससे बड़े दुःख या अपमान की बात दूसरी कोई नहीं हो सकती। सन्तानों के दायित्व का विचार करके मनुष्य इसे भी स्वीकार कर लेता है; फिर भी आज तक कोई समाज यह नहीं कह सका है कि उसने विवाह-समस्या का निर्दोष समाधान प्रस्तुत किया है। परिस्थिति सर्वत्र अनिश्चित ही रहती है—आकस्मिक सुयोग या दुर्योग पर ही सफलता या असफलता बहुत-कुछ निर्भर होती है।

इस समस्या का समाधान ढूँढ़ते हुए, भारत ने कहा कि विवाह में शुरू से ही इच्छा का आवेग स्वीकार न करना श्रेयस्कर है, क्योंकि इच्छा कल्याण का विचार करने में असमर्थ होती है। यह ठीक है; लेकिन जिस इच्छा के विरुद्ध लड़ाई की जाती है, वह प्रकृति का सबसे बड़ा सेनानी है। जब वह अस्त्र चलाने के लिए उद्यत होता है तो उसे कौन रोक सकता है? भारत ने कहा कि जिस इच्छा से स्त्री-पुरुष में आकर्षक द्वन्द्व उत्पन्न होता है उसकी भी एक विशेष आयु होती है; इसलिए यदि विवाह को पूर्णरूप से समाज के अनुगत बनाना है, तो उस आयु के प्राप्त करने से पहले ही विवाह कर देना उचित है। भारत में विवाह अल्प आयु में किया जाता है, उसका मूल कारण यही है।

मुझे याद है, एक बार मैं किसी कृषि-शास्त्रज्ञ से बातें कर रहा था। यह बात उठी कि हमारे देश में पशुओं के चरने की भूमि धीरे-धीरे कम होती जा रही है, जिससे हमारी गाय-भैंसों की अवनति हो रही है। शास्त्रज्ञ ने कहा : 'यह धारणा बिलकुल ग़लत है कि पशुओं को खुले मैदानों में छोड़ देने से उन्हें अपने आप उपयुक्त खाद्य मिल जाता है। वास्तव में आवश्यक खाद्य उपजाकर पशुओं को खिलाना ही विज्ञान-संगत है।' दाम्पत्य-प्रेम-सम्बन्ध में भी हमारे देश में यही सोचा गया। स्वेच्छागत प्रेम पर निर्भर नहीं रहा जा सकता, प्रेम को उत्पन्न करना होगा। उसका आयोजन विवाह के पहले ही करना उचित है। तभी हमारे देश की

बालिकाओं के मन में छोटी आयु से ही 'स्वामी' की धारणा विकसित की जाती है। इस 'स्वामी-भाव' के प्रति भक्ति जागृत होती है; कितनी ही कहानियों द्वारा, व्रत-पूजा इत्यादि की परम्पराओं द्वारा, यह भक्ति-भाव उनकी रग-रग में समा जाता है। जब विवाह हो जाता है, वे पति को व्यक्ति के रूप में नहीं, स्वामी के रूप में देखती हैं। एक बड़े अंश तक यह 'स्वामी' उनके मन की चीज़ होती है, बाहर की नहीं। विचार-बुद्धि के परिणत होने से पहले ही किसी अनिर्दिष्ट व्यक्ति पर स्वामित्व आरोपित करने से धीरे-धीरे पति के सम्बन्ध में संस्कार उनके देह-मन पर अधिकार कर लेते हैं। सेवा और व्यवहार से यह संस्कार प्रबल होते जाते हैं।

हमारे देश में सती-माहात्म्य के बारे में भी एक संस्कार प्रचलित है। स्त्री को साध्वी गृहिणी के रूप में देखने का भक्तिभाव हमारे मन में विकसित किया जाता है। स्त्री-पुरुष का प्रेम एक स्वाभाविक हृदय-वृत्ति है; उसका अतिक्रमण करके दाम्पत्य-प्रेम की एक सामाजिक हृदय-वृत्ति को निर्माण करने का प्रयास हम देखते हैं। लेकिन यह मानना होगा कि स्त्रियों का स्वभाव हृदय-प्रवण (emotional) होने से यह दाम्पत्य-प्रेम उनके लिए जितना सहज होता है उतना पुरुषों के लिए नहीं। पुरुषों के लिए दाम्पत्य एकनिष्ठता के बारे में समाज की ओर से केवल अनुमोदन है, अनुशासन नहीं। यहाँ तक कि पत्नी की उपस्थिति या अनुपस्थिति में इस एकनिष्ठता का अतिक्रमण करने की विधियों का अभाव नहीं है। इसके अतिरिक्त, अवैध मार्गों से अतिक्रमण करने वाले को दण्ड देने की चेष्टा भी नहीं देखी जाती। एक पक्ष के अधिकारों को बहुत कठिन बनाकर दूसरे पक्ष की शिथिलता को आसान बनाया गया है। इसलिए भारतीय विवाह की चर्चा करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्त्री-पुरुष के अधिकारों में समानता नहीं है। यहाँ मैं बाह्य अधिकारों की बात नहीं कर रहा हूँ। इस असाम्य से स्त्रियों के चरित्र में हीनता उत्पन्न होने की आशंका थी—लेकिन ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि स्वामी उनके लिए 'आइडिया' (idea) है। किसी व्यक्ति के सामने स्त्री नतशिर नहीं होती, एक idea के सामने धर्मबल से आत्मसमर्पण करती है। स्वामी में यदि मनुष्यत्व हो तो स्त्री के इस 'आइडियल' प्रेम की शिखा से उसका चित्त भी उज्ज्वल हो जाता है। ऐसे उदाहरण हमारे देखने में आते हैं। यही 'आइडियल' प्रेम यथार्थ मुक्त प्रेम है। यह प्रेम प्रकृति के मोहबन्धन की उपेक्षा करता है।

यह बात ध्यान में रखनी होगी कि भारतीय समाज गृह को भी चरम नहीं मानता। मुक्ति के संधान में एक दिन गृह का भी परित्याग करना है, यही भारत

का उपदेश रहा है; गृह को मुक्ति-पथ का सोपान बनाना ही उसका उद्देश्य रहा है। सन्तानों के वय:प्राप्त हो जाने पर आज भी हमारे देश में बहुत-से गृही घर छोड़कर तीर्थों में जाकर रहते हैं। भारतीय सभ्यता में यह एक स्वगत विरोध है। एक दिशा में यह सभ्यता गृह-प्रधान है, और यह गृह मनुष्य के साथ अपने सम्बन्ध को अत्यन्त व्यापकता से स्वीकार करता है। लेकिन दूसरी दिशा में भारत आत्म-मुक्ति का लक्ष्य सामने रखकर सारे सम्बन्धों को एक के बाद एक विच्छिन्न करने की माँग करता है। सम्बन्धों को इसीलिए स्वीकार किया जाता है कि उनके बीच से गुज़रे बग़ैर उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। मनुष्य के मन में जो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं उनका क्षय तभी हो सकता है, जब उनको व्यवहार में लाया जाय। इस व्यवहार को नियमित करके ही एक दिन प्राकृतिक बन्धनों को अलग किया जा सकता है। बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म में यही अन्तर है। प्रकृति के शासन के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म बिलकुल ही अराजकतावादी (anarchist) है।

भारतीय समाज के सामने कठिनाई यह है कि चारों ओर से यत्नपूर्वक रक्षा न की गई तो यह विश्लिष्ट हो जाता है। इस समाज ने विचार-बुद्धि के प्रति श्रद्धा रखने का साहस नहीं किया। आचार पर ही पूर्णतया अवलम्बित रहा। इसका बंधन प्रधानत: आन्तरिक स्नायु-शिराओं का नहीं, बाह्य जोड़-तोड़ का है। इसीलिए उठने-बैठने के बारे में यह इतना सतर्क है। यह बाह्य जगत् से बहुत डरता है; सोचता है, उसके आघात से कहीं बन्धन-ग्रन्थि खुल न जाये। समुद्र के इस पार रहने वालों को उस पार जाने से रोका जा सकता है; लेकिन जब उस पार के लोग इस पार आ जायँ तो कोई क्या कर सकता है! नूतन शिक्षा, नूतन मतवाद और अभ्यास बाँध को तोड़कर बाढ़ की तरह भारत पर छा गए हैं। जो सब विश्वास समाज के लिए स्तम्भ-जैसे थे उनमें छोटी-बड़ी दरारें पड़ रही हैं। विश्वासों का यह परिवर्तन आन्तरिक है; बाह्य पक्ष में जो आक्रमण हुआ वह आर्थिक है। जब खाने-पीने की वस्तुओं का अभाव होता है, तो एक विस्तृत समाज के नियमों का पालन ठीक तरह नहीं हो पाता। परकीय विश्वासों की धारा हमारे चित्त में प्रवेश करती जा रही है, और जीवन-सामग्री की धारा, विविध शाखाओं में परदेश की ओर जा रही है। इस देश के लोग व्यक्तिगत स्वार्थ का विचार करने पर बाध्य हो गए हैं। प्रत्येक गृह की सामाजिक परिधि क्रमश: संकीर्ण होती जाती है। किसी दिन इस समाज में मनोभावनाओं के विकसित होने के लिए जो अवकाश था, वह आज नहीं है—आज इसीलिए मनोभाव निर्जीव होते जा रहे हैं। लेकिन समाज का ढाँचा अभी तक पूरी तरह नहीं बदला। इसलिए आजकल हम

समाज की समस्त बाधाओं को वहन करते हैं, लेकिन उसके लक्ष्य को स्वीकार नहीं कर पाते। इस बाधाग्रस्त समाज में मनुष्य चिरपराजित होता है। हमारे पारिवारिक बन्धन दूसरे सभी बन्धनों से अधिक भयंकर बन गए हैं। उन्होंने अपने जटिल जाल में मनुष्य को जकड़ रखा है, उसे विश्वक्षेत्र से अलग कर दिया है। जिस मात्रा में हम 'पारिवारिक' हो जाते हैं, उसी मात्रा में विश्व-व्यवहार के लिए अयोग्य बन जाते हैं। आज के युग में जो लड़का घर में ही बैठा रहता है वह उपेक्षित होता है। किसी दिन हम घर छोड़कर बाहर घूमने के लिए मचल गये थे; आज सब-कुछ छोड़कर घर से ही लिपटे रहते हैं। जो लोग स्वातन्त्र्य-प्रेमी हैं, वे स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए ही शक्ति-संचय करते हैं; लेकिन बाद में उसकी शक्ति ही उनके स्वातन्त्र्य की गर्दन पर सवार हो जाती है। हमारे देश में यही हुआ है; मुक्ति के प्रेम से हमने बन्धन स्वीकार किया था, आज बन्धन के प्रेम से हम मुक्ति खो बैठे हैं।

गहरी नदी ही बड़ी नौकाओं के चलने योग्य (navigable) होती है। उसकी गहराई ही हमें उसके पार जाने में मदद देती है। लेकिन यदि पार जाने की कोई व्यवस्था न रहे, तो वही गहराई एक कठिन बाधा बन जाती है। गृह को जब उत्तीर्ण करने की बात थी, गार्हस्थ्य की गम्भीरता हमारे उद्देश्य के अनुकूल थी। लेकिन आज जब उस पार जाना ही बन्द कर दिया गया है यह गम्भीरता हमें सताती है, मुक्ति नहीं देती। गृह की शक्ति, उसकी आशा-आकांक्षा घर की ही कोठरी में बन्द है। किसी दिन भारत के तपस्वी गृही थे, क्योंकि गृह मुक्ति-पथ में बाधा नहीं डालता था; लेकिन आज किसी भी बड़ी तपस्या के लिए गृह छोड़ना आवश्यक हो गया है, क्योंकि गृह एक गड्ढा-सा बन गया है। आज भारत की दुर्गति का मुख्य कारण उसके गृह धर्म की गहनता ही है—गृह की वे प्रबल माँगें जो मानवीय शक्ति और आशा को घाट तक नहीं पहुँचातीं बल्कि डुबा देती हैं। इस गार्हस्थ्य के आवर्त में हमारी बड़ी-बड़ी नौकाएँ डूब जाती हैं, यही हमारी सबसे दुःसह 'ट्रेजिडी' है। उपादान को लक्ष्य बना देने का अर्थ है छोटी चीज़ को बड़ा समझना। जो पथ को ही आलय बनाता है उसके जैसा दरिद्र और कोई नहीं होता। जब तक गृह विश्व को स्वीकार करने के अनुशीलन में लगा था, उसकी माँगें मनुष्य को हीन नहीं बनाती थीं। आज हिन्दू-समाज में वे माँगें स्वयं बहुत बड़ी हो गई हैं और मनुष्य को छोटा बना रही हैं। हमारे त्याग पर वास्तव में विश्वविधाता का अधिकार है, लेकिन घर का उपदेवता उसे चुरा लेता है। इस बात को स्वीकार करके जो निश्चिन्त रहने का आदी हो गया है उसे विश्व-समाज में कौन-सा स्थान मिल सकता है? आज भारतवासी विश्व-समाज में परित्यक्त

हैं, घर की अँधेरी गुहा में निर्वासित हैं। इस गुहा में नारी अपना दीप जला सकती है, अपने देवता की वेदी प्रतिष्ठित कर सकती है, शायद अपनी महिमा की भी रक्षा कर कर सकती है। लेकिन पुरुष यहाँ बन्दी है, यहाँ उसकी निरन्तर आत्मविस्मृति है। पुरुष की आत्म-विस्मृति के अवसाद से सारा भारतवर्ष आज भार-ग्रस्त है।

एक दिन भारत-समाज के जिस आधार पर विवाह-प्रणाली प्रतिष्ठित थी, वह आधार विकृत हो गया है। इसलिए विवाह के मूलगत भाव और व्यवहार बिलकुल असंगत हो गए हैं। कुछ लोग बीते हुए सत्ययुग के लिए विलाप कर रहे हैं, लेकिन सत्ययुग उनका विलाप नहीं सुन पाता। आज नये सिरे से विचार करने का, विज्ञान की मदद लेने का, विश्व के साथ चिन्तन और अभिज्ञता में योग स्थापित करने का समय आ गया है।

नर-नारी के बीच प्रकृति ने जो विच्छेद निर्माण किया है उसमें एक प्रबल शक्ति है। यह शक्ति विचित्र आकर्षण-लीला में प्रवृत्त रहती है। यह शक्ति नाश भी कर सकती है, सृष्टि भी। पर्दे के पीछे से यह शक्ति हमारे चित्त पर उद्बोधन मन्त्र पढ़ती है। इसकी प्रबल क्रिया से यदि हम समाज को वंचित करें तो हम समाज को निरापद अवश्य बना सकते हैं, लेकिन साथ-साथ उसे सम्पदाहीन भी बनाते हैं। पुरुष के चित्त पर नारी का जो प्रभाव है उसे हमारे देश में शक्ति कहा गया है; उसके अभाव से समाज की सृष्टिक्रिया निर्जीव हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य निस्तेज हो जाता है, और प्रचलित मार्ग का अनुसरण करता जाता है; उसे वहुत-सी क्रियाहीन चित्त-वृत्तियों पर अधिकार मिल जाता है, लेकिन वह अपने सक्रिय गुण खो देता है। हमारे देश में जैसी विवाह-व्यवस्था है, नर-नारी के सम्बन्धों को जिस तरह नियमित किया गया है, उससे शक्ति-क्रिया विलुप्त हो गई है। इसका कारण यही है कि हमारा समाज सक्रिय शक्ति से डरता रहा है। वह अचल स्थिति चाहता है। इसलिए अक्रिय गुणों को ही उसने इतने दिनों तक विकसित होने दिया। आज अचानक आँखें खोलकर उसने देखा है कि बाहर के आघात से अपने-आपको बचाने की शक्ति वह खो चुका है। उसमें यह सोचने का सामर्थ्य नहीं है कि दुर्बलता उसमें ही है, किसी आकस्मिक बाह्य कारण में नहीं। सभी सभाओं को, अनेक कारणों से, प्रकृति की व्यवस्था के विरुद्ध लड़ना पड़ता है। मानव-सभ्यता इसी लड़ाई में जीती हुई सम्पदा है। हमारे समाज में यह विरोध बहुत तीव्र हो गया है। मैं यह नहीं कहता कि इसके कारण नहीं थे—लेकिन इन कारणों की ओर निर्देश करके मनुष्य चिरकाल के लिए अपनी रक्षा नहीं कर सकता। जिस बाधा से मनुष्य पथ रोककर बाह्य जगत् को अलग

रखता है उसी बाधा से स्वयं उसका जीवन अवरुद्ध हो जाता है।

आज के युग में मनुष्य सोचने लगा है कि प्रकृति के विरुद्ध निरन्तर युद्ध करके विजयी होने की दुराशा छोड़ देनी चाहिए। उसका संकल्प है संधि करके शान्ति प्राप्त करना, क्योंकि लड़ाई का कोई अन्त दिखाई नहीं पड़ता। इस संधि-स्थापन का भार विज्ञान पर है। सभी समाजों में विवाह-प्रणालियाँ उस समय बनी थीं जब जीवन की पार्लियामेंट में मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध opposition bench पर था और अपने अधिकार घोषित करना चाहता था। प्रकृति ने पग-पग पर इस बात का बदला लिया है। प्रकृति-धर्म के साथ मानव-धर्म का सन्तोषजनक समझौता अभी तक नहीं हुआ। इसलिए विवाह जैसे आत्मीय अनुष्ठान में आन्तरिक त्रुटि को बाह्य बन्धनों द्वारा सुधार लेने का जितना ही उत्कट प्रयत्न किया जाता है उतना ही सत्य का अपमान होता है और मनुष्य के इस महान् सम्बन्ध को दुर्गतिग्रस्त बनाया जाता है।

मानव-जगत् में दो सृष्टिधाराओं का गंगा-यमुना की तरह संगम हुआ है—एक है प्राकृतिक मनुष्य की संतान-सृष्टि और दूसरी सामाजिक मनुष्य की सभ्यता-सृष्टि। एक है प्राण का जगत्, दूसरा मन का जगत्। इन दोनों सृष्टियों में स्त्री और पुरुष दोनों का योग है, क्योंकि जहाँ सृष्टि है वहाँ द्वैत की लीला है। लेकिन इस योग का स्वभाव इन दो सृष्टियों में अलग-अलग प्रकार का है।

संतान-सृष्टि में पुरुष का दायित्व गौण होने पर भी अपरिहार्य है। नारी के अक्रिय बीज को पुरुष का सक्रिय बीज प्राणचंचल बनाता है। उसके बाद गर्भ-धारण और संतान-प्रसव का दीर्घ भार नारी का होता है। कष्ट उसीको स्वीकार करना पड़ता है।

जीव-जनन में पुरुष का दायित्व लघुतर होने से ही कीटराज्य में अक्सर मादा कीट अनावश्यक नर कीटों का संहार करती है। पशुराज्य में भी देखा जाता है कि नर के स्वभाव में जो ईर्ष्यापरायणता और हिंस्रता है उससे नरों की संख्या में ह्रास होता है। इससे प्रमाणित होता है कि जीवप्रकृति की दिशा से सृष्टि-कार्य में पुरुष का प्रयोजन स्त्री की अपेक्षा बहुत सामान्य होता है।

मनुष्य में मनःप्रकृति ने विशाल रूप धारण किया। संसार क्षेत्र में पुरुष को अपना यथार्थ गौरव प्राप्त करने का अवसर मिला। जिस प्राण प्रकृति ने अब तक स्त्री को प्राधान्य दिया था उसीके दायित्व-बन्धन से वह अपने काम में लीन हो गई, आबद्ध हो गई, उधर बन्धनमुक्त पुरुष मनःप्रकृति की उत्तेजना से मानव-सृष्टि के वैचित्र्यपूर्ण अध्यवसाय में प्रवृत्त होने लगा। पुरुष ने अपनी ही आव-

श्यकता का प्रबल रूप से निर्माण किया।

पहले-पहल जब इस सृष्टि को आत्यन्तिक प्राधान्य मिला, सभ्यता के प्राथमिक पर्व में नारी को अपेक्षाकृत अनावश्यक माना गया। यही नहीं, नारी को सृष्टिक्रिया में एक बाधा के रूप में देखा गया, क्योंकि नारी का संसार पुरुष के अन्वेषणशील मन को बाँधकर रखना चाहता है। सभ्यतासृष्टि में नारी की स्वल्प-प्रयोजनीयता का अगौरव आज भी दूर नहीं हुआ है। इसलिए आज विद्रोहिणी नारी, प्राण-प्रकृति के दायित्व की अवज्ञा करके, सामाजिक सृष्टिकार्य में पुरुष के साथ समकक्षता की माँग करती है।

लेकिन बाह्य रूप से, कृत्रिम प्रयत्न द्वारा, अवसर नहीं प्राप्त किया जा सकता। नारी-प्रकृति में हृदय-वृत्ति की जो प्रबलता है, उस पर बाहर से आघात करके उसे अलग नहीं किया जा सकता। यह हृदय-वृत्ति स्वभावत: आगे बढ़ने के लिए उद्यत नहीं होती; रोक रखने की ओर ही इसका झुकाव है। इसलिए स्थिति के बीच जो सम्पदा है उसीकी साधना करके नारी सार्थकता लाभ कर सकती है। गतिशील अध्यवसाय में यदि वह अपनी सारी शक्ति लगाना चाहे तो अपनी प्रकृति के साथ उसका द्वन्द्व होगा। इस निरन्तर द्वन्द्व का विक्षेप सहते हुए नारी पुरुष के साथ प्रतियोगिता में प्रधान स्थान कभी नहीं जीत सकती।

लेकिन जिस तरह पुरुष ने प्राण-प्रकृति के शासन-तन्त्र में दीर्घकाल तक निम्न पद पर रहने के बाद, आखिर मन:प्रकृति के राज्य में प्रधान स्थान प्राप्त किया, जिस तरह अनावश्यक होने की लांछना को वह दूर कर सका, उसी तरह सभ्यता का ऐसा उच्च स्थान नारी के लिए भी है जहाँ वह अपना अगौरव दूर कर सके। उस स्थान को कौन-सा नाम दिया जाय, यह स्थिर करना कठिन है। 'आध्यात्मिक' शब्द की व्याख्या के विषय में काफी तर्क चल सकता है, लेकिन अन्त में हमें लाचार होकर इसी शब्द का प्रयोग करना पड़ता है।

हृदय-वृत्ति की एक आनुषंगिक उपज है जिसे हम माधुर्य कहते हैं। माधुर्य एक शक्ति है—प्रकाश की तरह। उसका स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं किया जा सकता, न इसे नापा जा सकता है। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि माधुर्य का अमृत यदि उसे न मिले तो मन:प्रकृति पूर्ण सफलता-लाभ नहीं कर सकती। पेड़ की जड़ें मिट्टी के सहारे से जीवित रहती हैं, मिट्टी से खाद्य और रस ग्रहण करती हैं, इस बात को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। लेकिन सूर्य के आलोक का इस तरह सुनिर्दिष्ट हिसाब नहीं लगाया जा सकता। फिर भी यदि यह आलोक शक्ति संचारित न करे तो वृक्ष का सारा उद्यम वृथा हो जाय।

पुरुष के सृष्टि-कार्य में नारी-स्वभाव के इस अनिर्वचनीय माधुर्य का सदा

योग रहा है। यह योग अलक्षित होते हुए भी अपरिहार्य है। पुरुष-चित्त को यदि नारी का प्राणवान माधुर्य आन्तरिक रूप से सक्रिय न बनाता रहे तो पुरुष के प्रयास पूर्णतया सफल नहीं हो सकते। वीर की वीरता, कर्मशूर का उद्यम, रूपकार की कलाकृति—सभ्यता की सभी बड़ी-बड़ी चेष्टाओं के पीछे नारी-प्रकृति की गूढ़ प्रवर्त्तना है।

नारी के दो रूप हैं—मातृरूप और प्रेयसीरूप। मातृरूप में नारी की जो साधना है उसके बारे में पहले ही मैं कह चुका हूँ। यह साधना सन्तान-सृष्टि की नहीं, सुसन्तान-सृष्टि की है। सुसन्तान केवल संख्यापूर्ति के लिए नहीं, पाप-अभाव-अपूर्णता पर विजय प्राप्त करने के लिए है। प्रेयसी रूप में नारी की साधना पुरुष की सभी उत्कर्ष चेष्टाओं को प्राणवान् बनाती है। पहले ही कह चुका हूँ, इस माधुर्य को भारतवर्ष शक्ति कहता है। 'आनन्द लहरी' शीर्षक एक काव्य शंकराचार्य के नाम से प्रचलित है। इसमें जिसका स्तवन-गान है, वह है विश्व की मर्मगत नारी-शक्ति। वही शक्ति आनन्द प्रदान करती है। एक ओर हम विश्व को जानते है, व्यवहार में लाते हैं; दूसरी ओर विश्व के साथ हमारा अहैतुक योग होता है—तृप्ति का योग। विश्व को हम जानते हैं, क्योंकि विश्व में सत्य का आविर्भाव है। विश्व में हमारी तृप्ति है, क्योंकि विश्व आनन्द व्यक्त करता है। ऋषियों ने कहा है कि इसी विश्वव्यापी आनन्द का सारे जीव विविध प्रकारों से अलग-अलग मात्रा में उपभोग करते हैं।

'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाशः आनन्दो न स्यात्'—किसी की प्राण-चेष्टा में उत्साह न रहता यदि आकाश आनन्द से भरा-पूरा न होता। अंग्रेज़ी कवि शेली ने intellectual beauty के नाम से जिसका स्तवन किया है वह यही सर्वव्यापी आनन्द है। विंश्वगत आनन्द को 'आनन्द लहरी' के कवि ने नारी रूप में देखा है; अर्थात् उसके मतानुसार मानव-समाज में यह आनन्द-शक्ति विशेष रूप से नारी-प्रकृति में अभिव्यक्त होती है। इस अभिव्यक्ति को हम माधुर्य कहते हैं। माधुर्य का अर्थ लालित्य नहीं है। धैर्य-त्याग-संयम का चरित्र-बल, सहजबुद्धि, सहज नैपुण्य, चिन्तन और व्यवहार में भाव का ऐश्वर्य—इन सब पुण्यों का सम्मिश्रण माधुर्य में है; लेकिन इसके गूढ़ केन्द्रस्थल पर वह आनन्द है जो प्रकाश की तरह स्वभावतः अपने को प्रसारित करता है, अपना दान करता है।

प्रेयसी-रूपिणी नारी की इस आनन्द-शक्ति को पुरुष आज तक अपने लोभ के कारण व्यक्तिगत उपभोग के पथ पर वहन करता रहा है। उसने इस शक्ति को विकृत करके उसे अपनी निजी सम्पत्ति की तरह ईर्ष्याविेष्टित, संकीर्ण व्यवहार में आबद्ध कर दिया है। इसके फलस्वरूप नारी भी अपने अन्तःकरण में अपनी

यथार्थ शक्ति का सम्पूर्ण गौरव उपलब्ध नहीं कर पाती। मनोरंजन-लीला की सामान्य सीमाओं में रहने से पग-पग पर व्यक्ति की हैसियत से उसकी मर्यादा-हानि हुई है। मानव-समाज के बृहत् क्षेत्र में उसे अपना उचित आसान नहीं मिला, तभी आज नारी अपने प्रयास से पौरुष-लाभ करने की दुराकांक्षा में प्रवृत्त है। अन्त:पुर की दीवारों के बाहर आ जाने में ही नारी की वास्तविक मुक्ति नहीं है। उसकी मुक्ति एक ऐसे समाज के निर्माण में है जहाँ उसकी आनन्द-शक्ति अपना सबसे उच्च और प्रशस्त अधिकार प्राप्त कर सके। पुरुष ने जिस तरह अपने व्यक्तिगत व्यवसाय का अतिक्रमण करते हुए भी विश्व-क्षेत्र में अपने-आपको व्यक्त करने का अवसर प्राप्त किया है, उसी तरह नारी भी जव गृहस्थी के बाहर समाज-सृष्टि के कार्य में अपनी विशेष शक्ति का स्वाधीनता से प्रयोग कर सकेगी, तभी मानव-संसार में स्त्री-पुरुष का यथार्थ योग सम्भव होगा। प्राचीन काल से अब तक जो विवाह-प्रणाली चली आ रही है उसमें इस तरह का सम्पूर्ण योग वाधाग्रस्त रहा है। इसीलिए पुरुष-समाज में नारी-शक्ति का अपव्यय हुआ है, वह विकृत हुई है। और इसीलिए पुरुष ने स्त्री को बाँध रखने की कोशिश करते हुए अपने ही लिए एक कठोर बन्धन तैयार किया है। विवाह अभी तक सभी देशों में—न्यूनाधिक परिमाण में—नारी को बन्दी बनाकर रखने के लिए एक कारावास है। उसका पहरेदार—पुरुष—प्रभुत्व का बिल्ला पहनता है। इसीलिए नारी के लिए अपनी स्वाभाविक परिपूर्णता से समाज को जो ऐश्वर्य प्रदान करना सम्भव है वह ऐश्वर्य अब तक किसी समाज में वह नहीं दे सकी। इस अभाव का दैन्यभार प्रत्येक समाज को वहन करना पड़ा है।

यह माधुर्य-शक्ति सभ्यता की अपरिणत अवस्था में अपना काम अगोचर और गौण रूप से करती है। युद्ध और विग्रह के युग में इस शक्ति की क्रिया को स्पष्ट रूप से अनुभव नहीं किया जाता। लेकिन मानव-सभ्यता जब आध्यात्मिक अवस्था तक पहुँचती है, जब परस्पर विच्छेद की तुलना में परस्पर योग ही अधिक मूल्यवान समझा जाने लगता है, तब नारी की माधुर्य-शक्ति को स्पष्ट रूप से अपना काम करने का अवसर मिलता है। तब पुरुष के ज्ञात के साथ नारी के भाव का योग होता है और मानव-संसार को स्थैर्य मिलता है। दोनों में जो पार्थक्य है उसीके द्वारा सभ्यता-सृष्टि के कार्य में दोनों को समान गौरवमय स्थान मिलता है। तब उस पार्थक्य से दोनों के बीच ऊँच-नीच की भावना नहीं उत्पन्न होती।

आज भी मनुष्य ने सभ्यता के इस आध्यात्मिक प्रयोजन को ठीक से स्वीकार नहीं किया है। इसलिए विवाह में आज भी स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सत्य नहीं हुआ।

आज भी इस द्वन्द्व में कहीं-न-कहीं विरोध है, किसी-न-किसी पक्ष की अवमानना है। विवाह में शारीरिक शक्ति ने अभी तक अपना स्थान नहीं छोड़ा, स्त्री-पुरुष अब तक परस्पर ईर्ष्या और सन्देह से विचलित हैं। इसलिए मनुष्य की सबसे बड़ी ग्लानि, सबसे बड़ा अपमान और दुःख विवाह से ही सम्बन्धित है। लेकिन जिन्हें मानव-समाज की आध्यात्मिकता पर विश्वास है वे विवाह-सम्बन्ध को समाज की पाशविक शक्ति के अत्याचार से मुक्त करके समाज की प्रेम-शक्ति को सत्य रूप से विकसित करने का उपाय अवश्य ढूँढ़ेंगे। विवाह-अनुष्ठान में आज भी हम प्रथा, अभ्यास और कानून की दृष्टि से बर्बरता के युग में ही हैं, इसलिए विवाह नर-नारी-मिलन का पूर्ण कल्याणमय रूप व्यक्त नहीं करता, बल्कि उस रूप को आच्छन्न रखता है। हमारे देश में कामिनी-कांचन को द्वन्द्व समास के सूत्र में गूँथ-कर नारी का अपमान करने में पुरुष को संकोच नहीं हुआ। हमारे यहाँ पुरुष समझता है कि वही मनुष्य है, उसीकी मुक्ति मनुष्यत्व का एकमेव लक्ष्य है, नारी को वह कांचन की तरह अपनी इच्छानुसार स्वीकार कर सकता है या उसका त्याग कर सकता है। वह यह नहीं जानता कि नारी का त्याग करना उसके लिए आत्महत्या के बराबर है। नारी का माधुर्य विलास की सामग्री नहीं, मनुष्य की सभी साधनाओं में वह परम सम्पदा है, यह समझने का अवकाश पुरुष को अभी तक नहीं मिला है। हमारी सर्वव्यापी शक्तिहीनता का यह एक मुख्य कारण है।

[भारतीय वैवाहिक आदर्श के सम्बन्ध में काउण्ट कैसरलिंग द्वारा सम्पादित 'दार-एह-बुच' (विवाह-ग्रन्थ) के लिए लिखा गया लेख।
'प्रवासी' (श्रावण, १३२८) अगस्त १९२५ में प्रकाशित। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद जुलाई १९२५ के 'विश्वभारती' त्रैमासिक में प्रकाशित हुआ।]

नारी

मनुष्य की सृष्टि में नारी पुरातनी है। नर-समाज में नारी-शक्ति को आद्या शक्ति कहा जा सकता है। यही वह शक्ति है जो जीवलोक में प्राण को वहन करती है, उसका पोषण करती है।

पृथ्वी को जीवों के रहने योग्य बनाने के लिए कितने ही युगों तक मिस्त्री ढलाई-पिटाई करते रहे। यह कार्य पूरी तरह समाप्त होने से पहले ही प्रकृति ने जीव-सृष्टि शुरू कर दी। पृथ्वी पर वेदना ने पदार्पण किया। प्राण-साधना की वह आदिम वेदना प्रकृति ने नारी को दी है—वह नारी के हृदय में है, रक्त में है। जीव-पालन के प्रवृत्ति-जाल को प्रकृति ने नारी के देह-मन के तन्तुओं से जोड़ा है। इस प्रवृत्ति को स्वभावतः चित्त की अपेक्षा हृदय में ही अधिक गम्भीर और प्रशस्त रूप से स्थान मिला है। यह वही प्रवृत्ति है जो नारी के बीच बन्धन-जाल निर्माण करती है, अपने को और दूसरों को धारण करने के लिए —प्रेम द्वारा, स्नेह द्वारा, करुणामय धैर्य द्वारा। मानव-संसार की रचना इसी आदिम शृंखला से हुई है—यही समाज और सभ्यता का मूल आधार है। संसार में यदि यह बन्धन न होता तो मनुष्य आकार-प्रकारहीन वाष्प की तरह छितर जाता, कहीं भी संहत होकर मिलन-केन्द्र स्थापित न कर पाता। समाज-बन्धन का यह प्रथम कार्य नारी का ही है।

प्रकृति की सृष्टि-प्रक्रिया एक गम्भीर रहस्य है, उसकी स्वतः प्रवर्त्तना द्विधाहीन है। नारी के स्वभाव में ही इस आदिप्राण का सहज प्रवर्त्तन है। इसीलिए नारी-स्वभाव को मनुष्य सर्वदा रहस्यमय कहता आया है। तभी नारी के जीवन में संवेगों का उच्छ्वास, जो अचानक दिखाई पड़ता है, तर्क से परे है। वह प्रयोजन के अनुसार विधिपूर्वक बनाया हुआ जलाशय नहीं है; उस झरने की तरह है जिसका कारण अपने ही अहैतुक रहस्य में छिपा होता है।

प्रेम और स्नेह का रहस्य अति प्राचीन है, दुर्गम है, वह अपनी सार्थकता के लिए तर्क पर निर्भर नहीं होता। अपनी प्रत्येक समस्या का वह अविलम्ब समाधान चाहता है। तभी घर में नारी का प्रवेश गृहिणी का प्रवेश होता है और शिशु गोद में आते ही माता उसके लिए प्रस्तुत रहती है। जीव-राज्य में परिणत बुद्धि का आगमन दीर्घकाल के बाद होता है। संघर्ष और संधान के बाद बुद्धि अपना स्थान प्राप्त करती है। द्विधा को मिटाने में उसे समय लगता है। द्विधा के साथ उसका

तीव्र विरोध है, और इस विरोध में ही बुद्धि शक्ति-लाभ करती है, सफलता-लाभ करती है। द्विधा तरंग का यह उतार-चढ़ाव सदियों चलता रहता है, सांघातिक भ्रम जमा होकर बार-बार मानव-इतिहास को विपर्यस्त कर देता है। पुरुष की सृष्टि विनाश की धूल में मिल जाती है, उसकी कीर्ति का शिलान्यास फिर से करना होता है। मुड़-मुड़कर नई परीक्षाओं के बीच पुरुष का कर्म परिवर्तित होता रहता है। अभिज्ञता का यह नित्य परिक्रमण यदि उसे आगे की ओर ले जाता है तो उसकी रक्षा होती है; लेकिन यदि उसे त्रुटि-संशोधन का अवकाश नहीं मिलता तो जीविका-निर्वाह की खाई बढ़ती जाती है और उसे विलुप्ति के ग्रास में पहुँचा देती है। पुरुष-रचित सभ्यता में बनने-बिगड़ने की यह क्रिया आदिकाल से चली आ रही है। और इसीके बीच प्रकृति की दूरी बनकर नारी प्रेयसी तथा जननी के रूप में अपना काम करती आई है। कभी-कभी वह अपने प्रबल आवेग से संसार-क्षेत्र में अग्निकाण्ड भी लाती है। यह आवेग विश्व-प्रकृति की प्रलय-लीला-जैसा ही है—तूफान की तरह, दावानल की तरह, आकस्मिक, आत्म-घातक।

पुरुष अपनी ही दुनिया में बार-बार अपने को आगन्तुक के रूप में पाता है। आज तक कितनी ही बार वह अपना विधि-विधान निर्माण कर चुका है। विधाता ने उसके जीवन का पथ निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया। कितने देशों में, कितने युगों में, उसे अपना मार्ग तैयार करना पड़ा है। एक युग का पथ दूसरे युग के लिए विपथ सिद्ध हुआ है और उसके इतिहास की धारा उलट गई है। उसका पथ बार-बार विलुप्त हो गया है।

लेकिन नई-नई सभ्यताओं के उलट-फेर में नारी-जीवन की मूल धारा अपने प्रशस्त पथ पर चलती रही है। प्रकृति ने उसे जो हृदय-सम्पदा प्रदान की है उसे कौतूहल-प्रवण बुद्धि की नित नई परीक्षाओं का सामना नहीं करना पड़ा। पुरुष को कितने दफ़्तरों के दरवाज़े खटखटाने पड़ते हैं, कितने स्थानों पर उम्मीदवारी करनी पड़ती है। अधिकतर पुरुषों को जीविका के लिए ऐसे कार्य स्वीकार करने पड़ते हैं जो उनकी इच्छा या क्षमता के अनुकूल नहीं होते। उन्हें कठिन परिश्रम से तरह-तरह के काम सीखने होते हैं, और अधिकांश लोगों को इन कामों में यथोचित सफलता नहीं मिलती। लेकिन माता और गृहिणी की हैसियत से स्त्रियों के काम स्वभावसंगत होते हैं, वे उनके अपने काम होते हैं।

विविध कठिनाइयों का सामना करते हुए, प्रतिकूल अवस्थाओं में, पुरुषों को अपनी हिम्मत से महत्त्व-लाभ करना पड़ता है। इस कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले थोड़े ही होते हैं। लेकिन ऐसी स्त्रियों को हम घर-घर में देख सकते है जो

हृदय की रसधारा से अपने संसार को शस्यशाली बनाती हैं। प्रकृति से उन्होंने सहज ही एक निपुणता प्राप्त की है, माधुर्य के ऐश्वर्य पर उनका स्वाभाविक अधिकार है। यदि किसी स्त्री के हृदय में दुर्भाग्यवश यह रस नहीं है तो शिक्षा द्वारा, या किसी कृत्रिम उपाय से, वह संसार-क्षेत्र में सार्थकता-लाभ नहीं कर सकती।

जो शक्ति अनायास ही मिलती है उसमें विपद् भी होती है। एक तो, यह शक्ति दूसरों के लिए लोभनीय बन जाती है। ऐश्वर्यशाली देश को बलवानों का आक्रमण सहना पड़ता है—अपने प्रयोजन के लिए वे उस देश पर अधिकार करना चाहते हैं। लेकिन जो देश उर्वर नहीं है वह आसानी से स्वाधीन रह सकता है। जिस पक्षी के पंख सुन्दर हैं और कंठ-स्वर मधुर है उसे पिंजरे में बन्द करके मनुष्य एक विशेष गर्व का अनुभव करता है। सम्पत्तिलोलुप मानव यह भूल जाता है कि विहंग का सौन्दर्य सारे अरण्य का है। स्त्रियों के हृदय-माधुर्य और सेवा-नैपुण्य को पुरुष ने सदा अपने व्यक्तिगत अधिकार के कड़े पहरे में बन्द रखा है। और यह बात आसानी से सम्भव भी हुई है, क्योंकि स्त्री-स्वभाव में बन्धनों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति है।

वस्तुत: जीवपालन का कार्य व्यक्तिगत होता है। वह किसी व्यक्ति-निरपेक्ष तत्त्व के अधीन नहीं है, और इसीलिए उसमें जो आनन्द मिलता है वह किसी महान् सिद्धान्त का आनन्द नहीं है। स्त्रियों की निपुणता से रस तो उत्पन्न हुआ है, लेकिन वह निपुणता सृष्टि के कार्य में आज भी यथेष्ट मात्रा में सार्थक नहीं हुई।

नारी की बुद्धि, उसके संस्कार और आचरण युग-युग से निर्दिष्ट सीमाओं में आबद्ध रहे हैं। उसकी शिक्षा और उसके विश्वास को बाह्य जगत् की विशाल अभिज्ञता के बीच सत्यता-लाभ करने का सुयोग नहीं मिला। इसीलिए तरह-तरह के अपकृष्ट देवताओं को नारी के भय और भक्ति का अर्घ्य मिला। यदि हम सारे देश की ओर दृष्टिपात करें तो यह बात सामने आती है कि इस मोहमुग्धता से देश को गहरी चोट पहुँची है।

इस मुग्धता का भार वहन करके उन्नति के दुर्गम पथ पर आगे बढ़ना बहुत ही कठिन सिद्ध हुआ है। मूढ़मति पुरुषों की देश में कभी नहीं है। बाल्यकाल से वे स्त्रियों की सहायता से बड़े हुए हैं, लेकिन उन्हींके द्वारा स्त्रियों पर सबसे अधिक अत्याचार किये गए हैं। देश में चारों ओर पनपने वाले ये जो कलुषित मन के केन्द्र हैं उनका आधार नारी की अन्ध विचार-बुद्धि ही है। इस तरह चित्त के कारागृह से देश व्याप्त होता जा रहा है, और प्रतिदिन इस कारागृह की नींव सुदृढ़ होती

जाती है।

आजकल पृथ्वी के प्राय: सभी देशों में स्त्रियाँ अपने व्यक्तिगत संसार की सीमाओं को पार करके बाहर निकल रही हैं। आधुनिक एशिया में भी इसके लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि आज सर्वत्र सीमाओं को तोड़ने का युग आ पहुँचा है। जो देश अपने भौगोलिक और राजनैतिक प्राचीरों से आबद्ध थे उन्हें पहले की तरह घेरकर रखना आज सम्भव नहीं है। आज वे एक-दूसरे के सामने अपने-आपको प्रकाशित कर रहे हैं। इससे अभिज्ञता का क्षेत्र प्रशस्त हुआ है, दृष्टि-सीमा अभ्यस्त दिगन्त को पीछे छोड़ गई है। बाह्य जगत् से जो संघर्ष हुआ है उससे अवस्था में परिवर्तन हुआ है, नये-नये प्रयोजनों के साथ-ही-साथ अनिवार्य रूप से आचार-विचार भी बदले हैं।

हमारे बाल्यकाल में जब घर से बाहर निकलना होता था तो स्त्रियों के लिए पालकी में बैठना अनिवार्य था। प्रतिष्ठित परिवारों में पालकी के ऊपर पर्दा डाल दिया जाता था। बेथ्यून स्कूल में जो लड़कियाँ सबसे पहले भर्ती हुई थीं उनमें मेरी बड़ी बहन अग्रणी थी। वह खुले दरवाज़े की पालकी में स्कूल जाती थी। उस समय के श्रेष्ठवंशीय आदर्श को इससे काफी धक्का पहुँचा था। 'शेमीज' पहनना उन दिनों निर्लज्जता का लक्षण माना जाता था। शालीनता की प्रचलित धारणाओं की रक्षा करते हुए रेलगाड़ी की यात्रा आसान नहीं थी।

बन्द पालकी का वह युग आज बहुत दूर चला गया है—वह धीरे-धीरे नहीं गया, उसने बड़ी तेज़ी से प्रस्थान किया है। बदलते हुए परिवेश के साथ-साथ ही यह परिवर्तन आया है। उसके लिए किसी को सभा-समिति का आयोजन नहीं करना पड़ा। लड़कियों के विवाह की आयु देखते-ही-देखते आगे बढ़ गई है; यह भी स्वाभाविक रूप से ही हुआ है। जब प्राकृतिक कारणों से नदी की धारा बढ़ जाती है तो तटभूमि की सीमा अपने-आप ही पीछे हटती है। नारी जीवन में आज सभी दिशाओं से तट की सीमा अपने-आप पीछे हट रही है। जीवन की नदी महा-नदी हो उठी है।

बाह्य व्यवहार में जो परिवर्तन होता है उसका प्रभाव बाहर तक ही सीमित नहीं रहता। अन्त:प्रकृति में भी वह काम करता है। स्त्रियों का जो मनोभाव बद्ध संसार में उपयुक्त है वह मुक्त संसार में अचल होकर नहीं रह सकता। जीवन के प्रशस्त मार्ग पर खड़े होकर नारी का मन नये सिरे से विचार करने लगता है, पुराने संस्कारों को जाँचने का काम अपने-आप आरम्भ हो जाता है। इस अवस्था में वह तरह-तरह की गलतियाँ कर सकती है, लेकिन बाधाओं के धक्के खाते-खाते वह गलतियों को सुधार भी लेती है। संकीर्ण सीमाओं में विचार करने की आदत

को यदि न छोड़ा जाय तो चारों दिशाओं में पग-पग पर असामञ्जस्य का सामना करना पड़ता है। अभ्यास-परिवर्तन में दुःख है, विपद् भी है। लेकिन उसके डर से आधुनिक युग की धारा को पीछे नहीं मोड़ा जा सकता।

घर-बार की छोटी परिधि में जब तक स्त्रियों का जीवन आबद्ध था तब तक नारी-मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से सहज ही उनके सब काम सम्पन्न हो जाते थे। गृहस्थी के काम के लिए किसी विशेष शिक्षा की ज़रूरत नहीं थी। इसीलिए एक दिन स्त्री-शिक्षा का इतना विरोध और उपहास किया गया। उस समय पुरुष स्वयं जिन संस्कारों की उपेक्षा करने लगे थे, जिन विचारों पर उन्हें सन्देह होने लगा था, जिस तरह के आचरण का अब वह पालन नहीं करते थे, उन सबको नारी-जीवन में वे सुरक्षित रखना चाहते थे। इस व्यवहार का मूल एक ऐसी मनोवृत्ति में है जो एकेश्वर शासकों की मनोवृत्ति होती है। वे जानते हैं कि अज्ञान और अन्ध-संस्कार की जलवायु निरंकुश शासन के लिए अनुकूल होती है। मानवोचित अधिकारों से वंचित होकर भी सन्तुष्ट रहना ऐसी ही अवस्था में सम्भव होता है। हमारे देश के अनेक पुरुषों के मन में आज भी वही भाव है। लेकिन समय के विरुद्ध संग्राम में आखिर उन्हें हार माननी होगी।

समय के प्रभाव से स्त्रियों का जीवन-क्षेत्र अपने-आप विस्तृत होता जा रहा है, मुक्त संसार में उनका पदार्पण हो रहा है। ऐसा होने से आत्मरक्षा और आत्म-सम्मान के लिए विद्या और बुद्धि का विकास आवश्यक हो गया है। आज भद्र समाज की स्त्रियों के लिए निरक्षरता सबसे बड़ी लज्जा है। किसी समय छाते और जूते का व्यवहार उनके लिए लज्जास्पद था, लेकिन आज उसकी अपेक्षा निरक्षर होना कहीं अधिक लज्जास्पद है। पसीने और कूटने की क्रियाओं में यदि नैपुण्य न हो तो आज वह अख्याति का कारण नहीं है। आज तो विवाह के बाजार में भी यह बात पूरी नहीं मानी जाती कि गृहस्थी के भाव से ही लड़कियों का मूल्यांकन किया जाय। आज वधू-परीक्षा में उस विद्या की ओर ध्यान दिया जाता है जिसका मूल्य सार्वभौमिक है और जो केवल गृहस्थी के प्रयोजनों की सिद्धि तक ही सीमित नहीं है। इस अवस्था में हमारे देश की आधुनिक स्त्रियों का मन घर से बाहर निकलकर विश्व-समाज में प्रवेश कर रहा है।

किसी दिन पृथ्वी अपने तप्त श्वासों के वाष्प से अवगुण्ठित थी। उस समय विराट् आकाश की ग्रह-मण्डली में उसने अपना स्थान उपलब्ध नहीं किया था। लेकिन एक समय ऐसा आया जब सूर्य-किरणों ने उसमें प्रवेश करने का पथ ढूँढ़ा। उस मुक्ति-क्षण से ही पृथ्वी का गौरव-युग आरम्भ हुआ। उसी तरह एक दिन आर्द्रता के घने वाष्पावरण से भारत की स्त्रियों का चित्त आच्छन्न था, निकट-

वर्ती संसार से उसका सम्पर्क नहीं था। आज उस आवरण को भेदकर मुक्त आकाश की आलोक-रश्मि उनके मन में प्रवेश कर रही है। जिस संस्कार-जाल से युग-युग तक उनका चित्त आबद्ध था वह अभी पूरी तरह दूर नहीं हुआ, लेकिन उसमें बहुत-से छिद्र हो गए हैं।

आज पृथ्वी पर सर्वत्र स्त्रियाँ घर की चौखट को पार करके विश्व के उन्मुक्त प्रांगण में प्रवेश कर रही हैं। इस वृहत् संसार का दायित्व आज उन्हें स्वीकार करना ही होगा। ऐसा न करने में ही उनकी अकृतार्थता है। मैं सोचता हूँ आज दुनिया में नया युग आ पहुँचा है। दीर्घकाल तक मानव-सभ्यता की व्यवस्था पुरुषों के हाथ में थी। इस सभ्यता की राजनीति, अर्थनीति और समाज-शासन-तंत्र की रचना पुरुषों ने की। स्त्रियाँ प्रकाशहीन अन्तराल में रहकर घर का काम करती रहीं। यह सभ्यता एकांगी थी, इसमें मानव-चित्त की सम्पदा को क्षति पहुँची है। चित्त की सम्पदा नारी-हृदय के भाण्डार में बन्द पड़ी थी। आज उस भाण्डार का द्वार खुला है।

अति-प्राचीन युग में मनुष्यहीन पृथ्वी पर अरण्य-ही-अरण्य थे। लाखों वर्षों तक यह अरण्य अपने वृक्षों की मज्जा में सूर्य का तेज संचित करते रहे। ये सब अरण्य भूगर्भ में जाकर रूपान्तरित अवस्था में युग-युग तक प्रच्छन्न रहे। लेकिन एक दिन पाताल का द्वार खुला। जो सूर्य-तेज सदियों तक बेकार पड़ा था उसे मनुष्य ने अकस्मात् पत्थर और कोयले के रूप में फिर से प्राप्त किया और अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया। उसी समय नए बल का संचार हुआ और विश्व-विजयी आधुनिक युग का आरम्भ हुआ।

सभ्यता की बाह्य सम्पदा के विषय में किसी दिन जो हुआ था वही आज आन्तरिक सम्पदा के विषय में हो रहा है। एक विशेष खान से चिरसंचित भाण्डार बाहर निकल रहा है। घर की स्त्रियाँ प्रतिदिन बाहर निकलकर विश्व-जीवन में सम्मिलित हो रही हैं। इस नये चित्त के योगदान से मनुष्य की सृष्टिशीलता को तेज मिला है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यह क्रिया आज चल रही है। केवल पुरुष की बनाई हुई सभ्यता में जो विनाशकारी असामंजस्य था वह आज समता की ओर झुक रहा है। पुरानी सभ्यता को बार-बार भूकम्प के धक्के लगे हैं। इस सभ्यता में बहुत दिनों तक विपत्ति के कारण संचित हुए थे। उसे तोड़ने की क्रिया को कोई रोक नहीं सकता। समाधान की बात तो यह है कि नई सभ्यता के रचना-कार्य में दुनिया के प्रत्येक भाग में स्त्रियाँ भी प्रस्तुत हो रही हैं। केवल उनके ललाट से ही घूंघट दूर नहीं हुआ है—उनके मन पर जो आवरण पड़ा हुआ था,

जिससे वे बहिर्जगत् से दूर हो गई थीं, वह भी दूर हो रहा है। जिस मानव-समाज में उनका जन्म हुआ है उस समाज के सभी विभाग आज स्पष्ट रूप से उनकी आँखों के सामने हैं। अन्धसंस्कार के कारखानों में बनी हुई गुड़ियों को लेकर मग्न रहना आज उन्हें शोभा नहीं देता। उनकी स्वाभाविक जीवपालिनी बुद्धि आज केवल घर के लोगों के ही लिए ही नहीं बल्कि सारी मानव-जाति की रक्षा के लिए प्रवृत्त है।

आदिकाल से पुरुष ने अपने सभ्यता-दुर्ग की ईंटों को नरबलि के रक्त से जोड़ा है। किसी भी साधारण नीति को प्रतिष्ठित करने के लिए व्यक्ति का निर्ममता से विनाश किया गया है। धनिकों का धन श्रमिकों के प्राणशोषण से उत्पन्न हुआ है; प्रतापशाली लोगों की प्रतापाग्नि दुर्बलों की आहुति से ज्वलन्त रही है; राष्ट्रीय स्वार्थ का रथ प्रजा को रज्जुबद्ध करके चलाया गया है। क्षमता से ही इस सभ्यता का निर्देशन हुआ, यहाँ ममता का स्थान वहुत अल्प रहा है। शिकार के आमोद की खातिर सभ्यता ने असंख्य निःसहाय प्राणियों का वध किया है। इस सभ्यता ने मनुष्य को मनुष्य के प्रति, और अन्य जीवों के प्रति, अत्यन्त निर्मम बनाया है। बाघ के भय से बाघ उद्विग्न नहीं होता, लेकिन इस सभ्यता में मनुष्य के भय से मनुष्य काँपता है। इस तरह की अस्वाभाविक अवस्था में सभ्यता अपने विनाश की गदा आप ही निर्माण करती है। आज यही क्रिया शुरू हुई है। इसके साथ-ही-साथ भयभीत मानव शान्ति का उपाय ढूँढ़ रहा है। लेकिन जिसके अन्तःकरण में शान्ति के उपकरण नहीं हैं उसे यान्त्रिक रूप से तैयार की गई शान्ति-व्यवस्था से सन्तोष नहीं मिल सकता।

हम यह आशा कर सकते हैं कि सभ्यता का नया युग आरम्भ होगा। यह आशा यदि सफल हो तो इस नई सृष्टि में नारी का कार्य पूरी तरह सम्पन्न होगा, इसमें सन्देह नहीं। नवयुग का यह आह्वान यदि हमारी स्त्रियों के मन तक पहुँचे तो उस रक्षणशील मन के लिए यही उचित है कि युग-युग की अस्वास्थ्यकर आवर्जना के प्रति वह अपनी आसक्ति का त्याग करे। नारी अपने हृदय को उन्मुक्त करे, बुद्धि को उज्ज्वल करे, निष्ठा को ज्ञान की तपस्या में प्रयुक्त करे। वह सदा इस बात को ध्यान में रखे कि निर्विचार, अन्ध, रक्षणशीलता सृजन-शक्ति की विरोधी होती है। नवीन सृष्टि का युग हमारे सामने है। उस युग का अधिकार प्राप्त करना है तो मन को मोहमुक्त और श्रद्धायोग्य बनाना होगा। अज्ञान की जड़ता और सभी तरह के काल्पनिक और वास्तविक भय से निम्नगामी आकर्षण से बचकर अपने-आपको ऊपर उठाना होगा। फल-लाभ का प्रश्न बाद में उठेगा—हो सकता है वह न भी उठे—लेकिन योग्यता-लाभ हमारी प्रथम

आवश्यकता है।

[अखिल बंगीय महिला श्रमिक सम्मेलन, अक्तूबर, १९३६ के लिए लिखित। 'प्रवासी' नवम्बर-दिसम्बर, १९३६ (अग्रहायण १३४३ बं० सं०) में प्रकाशित।]

षष्ठ खण्ड

राजनीति, ग्रामसंस्कार, अर्थ-नीति

स्वदेशी समाज

'सुजला सुफला' बंगभूमि आज प्यासी है। चातक पक्षी की तरह वह आकाश की ओर ताक रही है। सरकारी अधिकारीगण यदि जल की व्यवस्था न करें तो इसका परित्राण नहीं।

मेघगर्जन की धीमी आवाज़ सुनाई पड़ने लगी हैं—सरकार का ध्यान समस्या की ओर खिंचा है। तृष्णा-निवारण का कुछ-न-कुछ उपाय तो होगा ही। इसलिए इस विषय पर मैं उद्वेग व्यक्त नहीं कर रहा हूँ। मुझे चिन्ता तो इस बात की है कि हमारे समाज में पहले जो व्यवस्था थी, जिससे हम अत्यन्त सहज रूप से अपने अभाव मिटाया करते थे, क्या उसका लेश-मात्र भी अब बाकी नहीं रहा।

हमारे देश में विदेशियों ने जिन त्रुटियों का निर्माण किया है, और आज भी कर रहे हैं, उनके निवारण का भार वही सँभालें। भूखे भारतवर्ष में चाय की प्यास जगाने का प्रयत्न कर्ज़न साहब कर रहे हैं तो खुशी से करें; अथवा एण्डर्यूल सम्प्रदाय ही हमारी चाय की प्याली भर दे। चाय से अधिक ज्वालामय जो तरल रस है उसकी तृष्णा भी, प्रलय काल की सूर्यास्त-छटा की तरह, उत्तरोत्तर हमें प्रलुब्ध कर रही है। यह पश्चिम की सामग्री है, और पश्चिम की देवी ही उसके वितरण का भार स्वीकार करे। लेकिन जल की तृष्णा तो देश की विशुद्ध सनातन चीज़ है। ब्रिटिश सरकार के आगमन से पहले भी हमें प्यास लगती थी और उसे बुझाने की क्षमता भी हमारे पास यथोचित थी। इसके लिए शासकों के राजदण्ड को कभी चंचल नहीं होना पड़ा था।

हमारे यहाँ युद्ध, राज्य-रक्षा और विचार-कार्य का दायित्व राजाओं पर था; लेकिन विद्यादान से लेकर जलदान तक सभी काम समाज में आसानी से सम्पन्न होते थे। कितनी सदियाँ गुज़रीं, कितने राजाओं का शासन देश पर तूफ़ान की तरह आया और चला गया, परन्तु किसी ने हमारा धर्म नष्ट करके हमें निःसहाय नहीं बनाया। राजाओं में कितने युद्ध हुए; लेकिन हमारे वेणुकुंजों में, आम और कटहल के बागों में, मन्दिर बनते रहे, अतिथिशालाएँ स्थापित होती रहीं, तालाब खोदे जाते रहे, गुरु महाशय गणित का पाठ रटाते रहे, संस्कृत पाठशालाओं में शास्त्र-शिक्षा चलती रही, चण्डी-मण्डपों में रामायण-पाठ कभी बन्द नहीं हुआ, गाँव के आँगन सर्वदा कीर्तन-ध्वनि से मुखरित रहे। समाज ने न तो कभी बाहर

से सहायता माँगी, और न बाहर के उपद्रव से उसकी अवनति हुई।

देश में यह जो लोकहितकर मंगल कर्म और आनन्दोत्सव अव्याहत रूप से धनी-दरिद्र सभी के यहाँ चले आ रहे हैं, उनके लिए न तो उत्साही लोगों को चन्दे की रसीद-कापियाँ लेकर घर-घर की ठोकरें खानी पड़ी हैं, न राजपुरुषों को लम्बे-चौड़े आदेश जारी करने पड़े हैं। जिस तरह साँस लेने के लिए हमें किसी के पाँव पकड़ने नहीं पड़ते, और रक्त-संचालन के लिए टाउन-हाल में मीटिंग नहीं करनी पड़ती, उसी तरह समाज के सभी आवश्यक काम अत्यन्त स्वाभाविक नियम से होते आए हैं।

आज हमारे देश में जल की कमी है और इसके लिए हम शोक कर रहे हैं। लेकिन यह एक मामूली बात है। इससे कहीं अधिक शोक का विषय यह है कि समाज का मन समाज के अन्दर नहीं है। हमारे समस्त मनोयोग बाहर की दिशा में हैं।

गाँव के किनारे बहने वाली नदी यदि किसी दिन अचानक गाँव को छोड़कर अपने स्रोत के लिए दूसरा पथ ढूँढ़े तो उस गाँव में जल की कमी होगी, फसल नष्ट होगी, स्वास्थ्य गिरेगा, वाणिज्य पर आघात लगेगा। उस गाँव के बगीचों में जंगल उगने लगेगा, उसकी बीती हुई समृद्धि के भग्नावशेष अपनी टूटी दीवारों में बरगद-पीपल की जड़ों को आश्रय देंगे। वह गाँव चिमगादड़ों का विहारस्थल बन जायगा।

मनुष्य का चित्त-स्रोत भी नदी की तरह है। चिरकाल तक उस चित्त-प्रवाह ने बंगाल के छाया-शीतल गाँवों को स्वास्थ्य और आनन्द प्रदान किया है। लेकिन आज बंगालियों की चित्तधारा गाँवों से दूर हट गई है। इसीलिए यहाँ के मन्दिर आज जीर्णप्राय हैं, कोई उनकी मरम्मत करने वाला नहीं है। जलाशय दूषित हो गए हैं, कोई उनमें से कीचड़ निकालने वाला नहीं है। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ परित्यक्त हैं, वहाँ उत्सव की आनन्द-ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। आज जलदान का भार सरकार बहादुर पर है, स्वास्थ्यदान का भार सरकार बहादुर पर है और विद्यादान की व्यवस्था के लिए भी सरकार बहादुर के दरवाज़े पर जाना पड़ता है। जो पेड़ अपने फूल आप ही खिलाता था वह आज अपनी शीर्ण शाखाओं को ऊपर उठाकर आकाश से पुष्प-वृष्टि की प्रार्थना कर रहा है। अगर उसकी प्रार्थना स्वीकृत हो भी जाय तो इन आकाश-कुसुमों को लेकर उसकी क्या सार्थकता हो सकती है?

अंग्रेज़ी में जिसे हम 'स्टेट' कहते हैं उसे हमारे देश की आधुनिक भाषा में 'सरकार' कहा जाता है। यह 'सरकार' प्राचीन भारत में राजशक्ति के रूप में

थी। लेकिन विलायत के 'स्टेट' और हमारी 'राजशक्ति' में बहुत अन्तर है। विलायत में देश ने सारे कल्याणकर्म का भार 'स्टेट' के हाथ में सौंप दिया है। भारतवर्ष ने केवल आंशिक मात्रा में वैसा ही किया था।

देश में जो पूज्य स्थान पर थे, जो बिना वेतन विद्या और धर्म की शिक्षा देते थे, उनका पालन-पोषण करना और उन्हें पुरस्कृत करना राजा का कर्तव्य अवश्य समझा जाता था—लेकिन केवल आंशिक भाव से। साधारणतः यह कर्तव्य प्रत्येक गृही का था। राजा यदि सहायता बन्द कर देता, देश में यदि सहसा अराजकता फैल जाती, तो भी समाज में विद्यार्जन और धर्म-शिक्षा का लोप न होता। प्रजा के लिए राजा तालाब अवश्य खुदवाते थे, लेकिन इसमें कोई विशेष बात नहीं थी। समाज के धनी लोग जो करते थे वही राजा भी करते थे। राजा के औदासीन्य से देश का जल-पात्र कभी रिक्त नहीं होता था।

विलायत में प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ-साधन और आराम के क्षेत्र में स्वाधीन है। वहाँ लोग कर्तव्य के भार से आक्रान्त नहीं हैं; क्योंकि सभी बड़े-बड़े कर्तव्य राजशक्ति ने स्वीकार किये हैं। हमारे देश में राजशक्ति अपेक्षाकृत स्वाधीन थी, और प्रजा सामाजिक कर्तव्यों में आबद्ध थी। राजा चाहे युद्ध करें या शिकार खेलें, शासन पर ध्यान दें या आमोद-प्रमोद में दिन बितायें—इन सबके लिए उन्हें धर्म के सामने जवाब देना पड़ता था। लेकिन जनता अपने मंगल के लिए उन पर निर्भर नहीं थी। समाज-कार्य का आश्चर्यजनक सफलता से विभाजन किया गया था। इसके फलस्वरूप समाज में सर्वत्र उस शक्ति का संचार था जिसे हम धर्म कहते हैं। हमारे समाज में प्रत्येक व्यक्ति को संयम और आत्मत्याग करना पड़ता था और धर्मपालन अनिवार्य था।

इससे हम स्पष्ट देख सकते हैं कि विभिन्न सभ्यताओं की प्राणशक्ति विभिन्न स्थानों पर प्रतिष्ठित होती है। जनता के कल्याण का भार जहाँ केन्द्रित होता है वही देश का मर्मस्थान है, उस पर आघात करने से सारे देश को प्राणान्तक चोट पहुँचती है। विलायत में राजशक्ति यदि विपर्यस्त हो तो सारा देश विनाश की ओर जाता है, इसीलिए योरोप में पॉलिटिक्स को इतना महत्त्व दिया जाता है। हमारे देश में यदि समाज पंगु हो जाय तभी देश में संकट की अवस्था उत्पन्न होती है। इसलिए हमने इतने दिनों तक राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्राणपण से यत्न नहीं किया, लेकिन सामाजिक स्वाधीनता की हम सब प्रकार से रक्षा करते रहे। निर्धन को भिक्षा देने से लेकर जनता को धर्म-शिक्षा देने तक सभी बातों में विलायत की जनता स्टेट के ऊपर निर्भर रहती है। हमारे देश में ये बातें जनसाधारण की धर्मव्यवस्था पर छोड़ दी जाती हैं। इसीलिए जहाँ अंग्रेज़ स्टेट

की रक्षा को ही अपनी रक्षा समझते हैं वहाँ हम धर्मव्यवस्था की रक्षा को ही सब-कुछ जानते हैं।

इंग्लैण्ड में स्टेट को जागृत और सचेष्ट रखने के काम में जनता सर्वदा जुटी रहती है। आजकल हम अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़कर यह समझने लगे हैं कि किसी भी अवस्था में सरकार की आलोचना करके उसका ध्यान आकर्षित कराना ही जनसाधारण का प्रधान कर्तव्य है। हम यह नहीं देखते कि दूसरों के शरीर में लेप लगाते रहने से अपने रोग की चिकित्सा नहीं होती।

हमें तर्क करने में आनन्द किलता है। इसलिए यहाँ यह बहस खड़ी हो सकती है कि जनता का कर्मभार जनता के ही शरीर पर पड़ना चाहिए या 'सरकार' नाम के एक विशिष्ट स्थान पर। मेरा कहना यह है कि इस तरह की बहस कॉलेज के डिबेटिंग क्लब में की जा सकती है, लेकिन इस समय ऐसे तर्क से हमारा कोई काम नहीं निकल सकता।

हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि विलायत में स्टेट सारे समाज की सम्मति पर अविच्छिन्न रूप से प्रतिष्ठित है। उसकी अभिव्यक्ति उस समाज के स्वाभाविक नियम से ही हुई है। केवल तर्क द्वारा हम उसे प्राप्त नहीं कर सकते। चाहे वह कितनी हीं अच्छी चीज़ हो, हमारे लिए अगम्य है।

हमारे देश में सरकार बहादुर का समाज से कोई सम्पर्क नहीं है, वह समाज से बाहर है। इसलिए किसी भी विषय में यदि हम उससे कुछ आशा करते हैं तो स्वाधीनता का मूल्य चुकाकर ही हमारी कामना पूर्ण हो सकती है। समाज जो कर्म सरकार द्वारा कराता है उसके सम्बन्ध में वह अपने-आपको अकर्मण्य बनाता है। ऐसी अकर्मण्यता आज तक हमारे देश के लिए कभी स्वभावसिद्ध नहीं रही। हमने नाना जातियों और शासकों का अधीनतापाश ग्रहण किया है, परन्तु समाज सर्वदा अपने सारे काम सम्पन्न करता रहा है; छोटे-बड़े किसी विषय में समाज ने बाहर से किसी को हस्तक्षेप नहीं करने दिया। इसीलिए जब कभी देश से राजश्री निर्वासित हुई है उस समय भी समाज-लक्ष्मी ने विदा नहीं माँगी।

आज हम समाज के सारे कर्तव्य अपनी ही चेष्टा से एक-एक करके समाज के बाहर स्टेट के हाथ में सौंपने के लिए उद्यत हैं। यहाँ तक की अपनी सामाजिक प्रथाओं को भी अंग्रेज़ी कानून द्वारा हमने अचल रूप से बँधने दिया है—इस बारे में हमने कोई आपत्ति नहीं की। अब तक हिन्दू-समाज के भीतर रहकर कितने ही नये-नये सम्प्रदायों ने अपने विशेष आचार-विचारों का प्रवर्त्तन किया है; हिन्दू-समाज ने उन्हें कभी तिरस्कृत नहीं किया। लेकिन आज सारे आचार-विचार अंग्रेज़ी विधान-प्रणाली में आबद्ध हो रहे हैं; उनमें ज़रा भी परिवर्तन करना हो

तो अपने-आपको अहिन्दू घोषित करना पड़ता है। इससे हम देख सकते हैं कि जो हमारा मर्मस्थल है, जिसकी हमने आन्तरिक रूप से इतने दिनों तक रक्षा की है, वही मर्मस्थल आज अनावृत्त हो गया है और उस पर विकलता आक्रमण कर रही है। वास्तव में यही सबसे बड़ी विपत्ति है, जलकष्ट नहीं।

जो लोग शाही दरबार में प्रभावशाली थे, और जिनकी मंत्रणा तथा सहायता की उम्मीद नवावों को भी लगी रहती थी, वे लोग भी बादशाह के अनुग्रह को यथेष्ट नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में समाज का प्रसाद राजप्रसाद से उच्चतर था। वे प्रतिष्ठा और सम्मान-लाभ के लिए समाज की ओर ताकते थे। राजराजेश्वर की राजधानी दिल्ली उन्हें जो सम्मान नहीं दे सकती थी उसके लिए वे किसी अख्यात गाँव के कुटीर-द्वार पर आकर खड़े होते थे। देश के सामान्य लोग यदि उन्हें महान् व्यक्ति समझते तो यह बात उनके लिए 'राजा', 'महाराजा'-जैसी सरकारदत्त उपाधि से कहीं बड़ी थी। जन्मभूमि के सम्मान का मूल्य उन्होंने आन्तरिक रूप से समझा था। राजधानी का माहात्मय और राजसभा के गौरव से उनका मन अपने गाँव से दूर नहीं हटा था। इसीलिए देश के मामूली गाँव में भी कभी जल की कमी नहीं हुई। प्रत्येक गाँव में जीवन की मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने की व्यवस्था सदा बनी रही।

देश के लोग हमारी प्रशंसा करेंगे, यह विचार आज हमें सुख नहीं पहुँचाता, क्योंकि देश की ओर हमारे प्रयास की स्वाभाविक गति नहीं है। अब हमें या तो सरकार से भिक्षा माँगनी पड़ती है, या तगादा करना पड़ता है। देश के जलकष्ट-निवारण के लिए सरकार हमारे ऊपर उल्टा दबाव डालती है। दोनों तरफ से स्वाभाविक माँगें बन्द हो गई हैं। लोगों में सुयश अर्जन करने को अब महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता। हमारे हृदय ने अंग्रेज़ों की दासता स्वीकार कर ली है, और हमारी रुचि गोरे साहब की दुकान में बिक चुकी है।

लेकिन मेरी बातों का गलत अर्थ लगाया जा सकता है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि सबको अपने-अपने गाँव में ही चुपचाप पड़े रहना चाहिए विद्या और धन-मान-अर्जन के लिए बाहर निकलने की जरूरत नहीं है। जो आकर्षण आज बंगाली जाति को बाहर खींच रहा है उसके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए। उससे बंगालियों की शक्ति उद्‌बोधित हो रही है, उनका कर्म-क्षेत्र व्यापक और चित्त विस्तीर्ण हो रहा है। लेकिन साथ-ही-साथ बंगालियों को बार-बार यह भी स्मरण कराना ज़रूरी है कि घर और बाहर का जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह बना रहना चाहिए। बाहर से हम अर्जन इसीलिए करते हैं कि घर में संचय हो। शक्ति का व्यय हम बाहर करें लेकिन हृदय को घर में ही रखना होगा। बाहर से हमें शिक्षा

मिल सकती है, लेकिन उसका प्रयोग घर में ही करना है। परन्तु आजकल हम—

घर कइनु बाहिर, बाहिर कइनु घर,
पर कइनु आपन, आपन कइनु पर।

घर को हमने 'बाहर' बना दिया है और 'बाहर' को घर; पराये को अपना बना दिया है और अपने को पराया। इसीलिए हम कविवर्णित 'स्रोत के शैवाल' की तरह बहते चले जा रहे हैं।

लेकिन बंगालियों का चित्त आज फिर घर की ओर अभिमुख हुआ है। अलग-अलग दिशाओं से इस बात के प्रमाण हमें मिल रहे हैं। स्वदेश के शास्त्र को हमारी श्रद्धा प्राप्त हो रही है, स्वदेशी भाषा साहित्य से अलंकृत हो रही है। स्वदेश का शिल्प हमें आकर्षित कर रहा है, स्वदेश का इतिहास हमारी अन्वेषण-वृत्ति को जागृत कर रहा है। राजद्वार की भिक्षा-यात्रा के लिए हमने जो पाथेय जमा किया था वह आज हमें अपने गृहद्वार तक वापस पहुँचने में सहायता दे रहा है।

ऐसी अवस्था में हमें यह कहना होगा कि आज देश का वास्तविक कार्य प्रकृत रूप से आरम्भ हुआ है। लेकिन अभी तक बहुत-सी असंगतियों पर हमारी दृष्टि पड़ेगी और उनका संशोधन करना होगा। प्रॉविंशियल कॉन्फरेन्स इस बात का एक उदाहरण है। यह कॉन्फरेन्स देश को मंत्रणा देने के लिए बुलाई गई है, फिर भी इसकी भाषा विदेशी है। हम अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त लोगों को ही अपने निकट के लोग समझते हैं। यह विचार हमारे मन में नहीं उठता कि साधारण लोगों को यदि हम अपने साथ आन्तरिक रूप से एक न कर सकें तो हमारी अपनी भी कोई हस्ती नहीं है। जनसाधारण के साथ हमने एक दुर्भेद पार्थक्य निर्माण किया है। अपने समस्त वार्तालाप-क्षेत्र से उन्हें निर्वासित किया है। विदेश का हृदय आकर्षित करने के लिए हमने कोई छल-बल-कौशल या साज-सरंजाम वाकी नहीं रखा। लेकिन हम यह नहीं सोचते कि अपने देश का हृदय उससे कहीं अधिक मूल्यवान है और उसे आकर्षित करने के लिए भी बड़ी साधना ज़रूरी है।

पोलिटिकल साधना का चरम उद्देश्य है सारे देश के हृदय को एक करना। लेकिन देश की भाषा और प्रथा को छोड़कर विदेशियों का मन बहलाने के विविध आयोजनों को ही हम महोपकारी पोलिटिकल शिक्षा समझते हैं। हमारे ही हतभाग्य देश में ऐसा हो सकता है।

देश के हृदय-लाभ को ही हम यदि चरमलाभ समझें तो अपने साधारण कार्य-कलाप में जिन बातों को आजकल हम अत्यावश्यक समझते हैं उन्हें दूर करना होगा। हमें उन मार्गों पर ध्यान देना होगा जिनके द्वारा हम वास्तव में देश के

निकट पहुँच सकते हैं। यदि प्रॉविंशियल कॉन्फरेन्स को हम देश को मंत्रणा देने के कार्य में यथार्थ रूप से नियुक्त करते तो हम उसे विलायती ढर्रे की सभा न बनाकर एक बहुत बड़ा स्वदेशी मेला बताते। वहाँ गाना-बजाना होता, आमोद-आह्लाद के आयोजन होते और दूर-दूर से लोग एकत्रित होते। वहाँ देशी व्यवसाय और कृषि-सम्बन्धी प्रदर्शनी होती, कत्थक और कीर्तन-मण्डलियों को पुरस्कार दिया जाता। मैजिक लैण्टर्न इत्यादि उपकरणों की मदद से साधारण लोगों को स्वास्थ्य के विषय में उपदेश दिया जाता। और वहाँ हमें जो कुछ कहना है उसे हम छोटे-बड़े सब मिलकर सहज बंगला भाषा में कहते।

हमारे देश के अधिकतर लोग गाँवों में रहते हैं। जब कभी-कभी गाँव की नाड़ी में बाह्य जगत् के रक्त-संचालन का अनुभव प्राप्त करने की उत्सुकता जागृत होती है तब उसके समाधान का एक-मात्र उपाय मेला ही है। हमारे देश के मेलों में बाह्य जगत् को घर के भीतर आमन्त्रित किया जाता है। ऐसे उत्सव में गाँव अपनी सारी संकीर्णता भूल जाता है। उसका हृदय उन्मुक्त होकर ग्रहण करने तथा दान करने के लिए उद्यत होता है। जिस तरह वर्षा ऋतु में सरोवर भर जाते हैं उसी तरह गाँव के हृदय को विश्व-बोध से भरने का अवसर मेलों में ही मिलता है।

मेला देश के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। किसी सभा में यदि साधारण लोगों को बुलाया जाय तो वे अपने साथ संदेश की भावना लेकर आयँगे, उनके मन का द्वार खुलने में समय लगेगा। लेकिन जो लोग मेलों में एकत्रित होते हैं उनका हृदय अवरुद्ध नहीं होता। इसलिए देश के मन को समझने का अवसर हमें मेले में मिलता है।

बंगाल में ऐसा कोई ज़िला नहीं है जहाँ विविध स्थानों पर वर्ष में कई बार मेले न लगते हों। ऐसे मेलों की तालिका और विवरण-संग्रह करना हमारा पहला कर्त्तव्य है। उसके बाद इन मेलों द्वारा जनता के साथ यथार्थ परिचय प्राप्त करने के उपाय हमें अपनाने हैं। प्रत्येक ज़िले के शिक्षित लोग यदि वहाँ के मेलों को नए प्राण से सजीव कर सकें; यदि वहाँ वे हिन्दू-मुसलमानों के बीच सद्भाव स्थापित कर सकें; निष्फल राजनीति से अलग रहकर यदि वे उस ज़िले की प्रत्यक्ष ज़रूरतों को पूरी करने के विषय में परामर्श दे सकें, तो शीघ्र ही स्वदेश को यथार्थ रूप में सचेष्ट बनाना सम्भव होगा।

मेरा विश्वास है कि घूम-घूमकर बंगाल में मेलों का आयोजन करने के लिए यदि कुछ लोग प्रस्तुत हों, यदि वे यात्रा, कीर्तन, कत्थक इत्यादि की व्यवस्था करें और बाइस्कोप, मैजिक लैण्टर्न, जादू के खेल इत्यादि सामग्री साथ लेकर जगह-

जगह जायँ तो उन्हें इस काम में द्रव्य का अभाव नहीं होगा। यदि प्रत्येक मेले के लिए वे ज़मींदार से एक नियमित धनराशि प्राप्त करें और दुकानदार को बिक्री के मुनाफे का एक अंश देने पर राज़ी करा लें तो समस्त आयोजन को वे लाभप्रद बना सकेंगे। जो रकम उनके हाथ लगेगी इसमें से पारिश्रमिक और अन्यान्य खर्च चुकाकर बचे हुए धन को यदि वे देशहित के कार्य में लगायँ तो मेले का आयोजन करने वालों के साथ देश के हृदय का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होगा। वे देश को अत्यन्त निकट से जान सकेंगे और उनके द्वारा देश के कितने ही उपयोगी कार्य सिद्ध हो सकेंगे।

हमारे देश में चिरकाल से आनन्दोत्सव के माध्यम से लोगों को साहित्यरस और धर्मशिक्षा का दान दिया गया है। आजकल विभिन्न कारणों से अधिकांश ज़मींदार शहर की ओर आकृष्ट हुए हैं। लड़के-लड़कियों के विवाह और अन्य आयोजनों में आमोद-आह्लाद की व्यवस्था की जाती है। इन दिनों शहर के धनवान मित्रों को थिएटर और नाच-गाना दिखाकर ही यह काम सम्पन्न किया जाता है। अनेक ज़मींदार क्रिया-कर्म के लिए प्रजा से चन्दा लेने में संकोच नहीं करते। उस समय 'इतरेजनाः' मिष्टान्न के लिए सामग्री प्रस्तुत करते हैं। लेकिन 'मिष्टान्नम्' का कण-मात्र उपभोग करने का अवसर 'इतरेजनाः' को क्यों नहीं मिलता? भोग करते हैं केवल 'बान्धवाः' और 'साहेबाः'। इससे बंगाल के गाँव निरानन्द होते जा रहे हैं और जिन साधनों से देश के आबाल-वृद्ध नर-नारी का मन सरस होता था वे अब साधारण लोगों के लिए दुर्लभ हैं। जिस तरह के मेलों की हमने अभी कल्पना की उनसे यदि हमारे गाँवों में आनन्दस्रोत फिर से प्रवाहित हो तो इस शस्य-श्यामला बंगभूमि का अन्तःकरण शुष्क मरुभूमि नहीं बनेगा, जैसा कि वह आज बन रहा है।

हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि जो बड़े-बड़े जलाशय अब तक जलदान और स्वास्थ्यदान देते थे उनके दूषित हो जाने से केवल जल का ही अभाव नहीं होता बल्कि हमारे बीच रोग और मृत्यु का वितरण होता है। उसी तरह हमारे देश में धर्म के नाम पर जो मेले प्रचलित हैं उनमें से अधिकांश दूषित होकर आज लोकशिक्षा के लिए बेकार ही नहीं हो गए हैं, बल्कि कुशिक्षा का आधार बन गए हैं। उपेक्षित खेत में धान उगना तो बन्द हो ही गया है, काँटे भी पनप रहे हैं। ऐसी अवस्था में कुत्सित आमोद-प्रमोद के स्तर पर गिरे हुए इन मेलों का यदि हम उद्धार न करें तो अपने देश और धर्म के सम्मुख हम अपराधी सिद्ध होंगे।

मेरी यह बात सुनते ही कुछ लोग उत्तेजित होकर कह उठेंगे : 'मेलों के प्रति गवर्नमेंट अत्यन्त उदासीन है, इसलिए हमें सभा करनी चाहिए, अखबारों में लिखना

चाहिए, प्रबल वेग से सरकार को हिलाना चाहिए। जैसे ही मेलों के ऊपर पुलिस कमिश्नर दल-बल सहित टूट पड़ेंगे वैसे ही सब ठीक हो जायगा।' लेकिन हमें उत्तेजित नहीं होना चाहिए। हमें धैर्य रखना होगा—विलम्ब हो सकता है, बाधाएँ भी हैं, लेकिन काम तो हमारा अपना है। चिरकाल से हमारे घरों की सफ़ाई गृहलक्ष्मी ने ही की है, म्युनिसिपैलिटी के मज़दूरों ने नहीं। म्युनिसिपैलिटी का सरकारी ब्रश मकान को साफ़ कर सकता है, लेकिन गृहलक्ष्मी की झाड़ू ही उसे पवित्र कर सकती है, यह बात हम न भूलें।

हमारे 'देशी' लोगों का पारस्परिक मिलन किस तरह के आयोजनों द्वारा हो सकता है, इसका मैंने एक उदाहरण-मात्र दिया है। और पहले जो कुछ कहा गया है उससे इस बात का भी आभास मिलता है कि ऐसे आयोजनों को यदि नियमित रूप दिया गया तो देश का कितना बड़ा मंगल हो सकता है।

जो लोग राजद्वार पर भीख माँगने में देश का मंगल नहीं देखते उन्हें 'पेसिमिस्ट' या निराशावादी कहने वाले लोग भी हैं। जब हम हताश्वास होकर कहते हैं कि राजा से हमें कोई आशा नहीं रखनी चाहिए, तब यह लोग हमारे 'नैराश्य' को निराधार बताते हैं।

मैं एक बात स्पष्ट कहना चाहता हूँ। राजा बीच-बीच में हमें अपने सिंहद्वार से दूर हटाता है इसीलिए बाध्य होकर यदि हम आत्मनिर्भर होना चाहें तो यह सच्ची आत्मनिर्भरता नहीं है। यह तो 'अँगूर खट्टे हैं'-जैसी परिस्थिति है और इससे जो सान्त्वना मिलती है उसका आश्रय मैंने कभी नहीं लिया। दूसरों के अनुग्रह की भीख माँगना ही 'पेसिमिस्ट' का लक्षण है। मैं कभी यह बात स्वीकार नहीं कर सकता कि गले में चादर लटकाकर भिक्षा के लिए निकले बगैर हमारी गति नहीं है। मेरा स्वदेश पर विश्वास है, मैं आत्मशक्ति का आदर करता हूँ। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि किसी-न-किसी उपाय से जिस स्वदेशीय एकता को प्राप्त करने के लिए आज हम उत्सुक हैं उसे यदि हम विदेशियों की क्षणिक प्रसन्नता पर प्रतिष्ठित करें, तो वह भारत की अपनी चीज़ नहीं होगी, वह बार-बार व्यर्थ होगी। भारत के यथार्थ पथ को हमें ढूंढ़ निकालना है।

मनुष्य-मनुष्य में आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करना, यही भारत का मुख्य प्रयास चिरकाल से रहा है। दूर के नातेदारों से भी सम्बन्ध रखना चाहिए, सन्तानों के व्यस्क होने पर भी उनसे सम्बन्ध शिथिल नहीं होने चाहिएँ, गाँव के लोगों के साथ वर्ण या अवस्था का विचार किये बगैर, आत्मीयता की रक्षा करनी चाहिए—यही हमारी परम्परा रही है। गुरु-पुरोहित, अतिथि-भिक्षुक, भूस्वामी-प्रजाभृत्य, सबके साथ यथोचित सम्बन्ध निर्धारित किये गए हैं। ये केवल शास्त्रोक्त

नैतिक सम्बन्ध नहीं, ये हृदय के सम्बन्ध हैं। गाँव में किसी को हम पितातुल्य मानते हैं, किसी को पुत्रतुल्य—कोई हमारे लिए भाई के समान है। जिस किसी के भी साथ हमारा यथार्थ सम्पर्क होता है, उसे हम अपना नातेदार बना लेते हैं। इसीलिए किसी भी अवस्था में हम किसी मनुष्य को अपने कार्य-साधन के लिए उपयुक्त मशीन या मशीन का एक अंग नहीं समझते। इस बात के अच्छे-बुरे दोनों ही पक्ष हो सकते हैं, लेकिन यह हमारी स्वदेशीय परम्परा है—भारत ही नहीं, यह सारे पूर्वी जगत् की परम्परा है।

जापान-युद्ध का दृष्टान्त देकर इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। युद्ध में यान्त्रिकता है, इसमें सन्देह नहीं। सैनिकों को यन्त्रवत् बनना पड़ता है, यन्त्र की तरह चलना पड़ता है। लेकिन इसके बावजूद जापान की सेना यान्त्रिकता के उपर उठ सकी है। उसके सैनिक अन्ध, जड़वस्तु-जैसा व्यवहार नहीं करते, और न वे रक्तोन्मत्त पशुओं की तरह हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति 'मिकाडो' के साथ, और इसी सूत्र से अपने देश के साथ, एक विशिष्ट सम्बन्ध का अनुभव करता है। इसी सम्बन्ध के नाम पर वह अपना बलिदान करने के लिए प्रस्तुत है। इसी तरह प्राचीन भारत में सैनिक अपने राजा या स्वामी के नाम पर शास्त्र-धर्म निभाते हुए आत्मोत्सर्ग करते थे। रणभूमि में वे शतरंज के प्यादों की मौत नहीं मरते थे; मनुष्य की तरह मरते थे—हृदय के सम्बन्ध लेकर, धर्म का गौरव लेकर। इससे युद्ध अक्सर एक विराट् आत्महत्या का रूप ले लेता था, और पश्चिम के लोग इसे देखकर कह उठते थे : 'यह एक अद्भुत चीज़ है—पर यह युद्ध नहीं।' युद्ध में ऐसा ही अद्भुत व्यवहार दिखाकर जापान दुनिया-भर में धन्य हुआ है।

जो कुछ भी हो, हमारी प्रवृत्ति ऐसी ही है। हृदय-सम्बन्ध द्वारा हम प्रयोजन-सम्बन्ध को संशोधित कर लेते हैं, तभी हमारा व्यवहार चलता है। इससे हमें अनावश्यक दायित्व भी ग्रहण करना पड़ता है। प्रयोजन का सम्बन्ध संकीर्ण होता है—ऑफिस तक ही सीमित। यदि दो व्यक्तियों में केवल प्रभु और भृत्य का सम्बन्ध हो तो काम करने और तनखाह बाँटने से ही वह पूरा हो जाता है। लेकिन यदि आत्मीयता का सम्बन्ध भी स्वीकार किया जाय तो उसका दायित्व विवाह-श्राद्ध-जैसे निजी कामों तक पहुँचता है।

जो बात मैं कहना चाहता हूँ उसका एक और आधुनिक दृष्टान्त देखिए। मैं राजशाही और ढाका की प्रादेशिक कॉन्फरेन्सों में उपस्थित था। मैं इन कॉन्फरेन्सों को काफी महत्त्वपूर्ण समझता हूँ, लेकिन मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि इनमें काम की अपेक्षा अतिथि-सत्कार का भाव ही अधिक स्पष्ट था। ऐसा लगता था कि मैं बारात में गया हूँ—आहार-विहार और मनोविनोद के लिए लोगों का

इतना तकाज़ा था कि बेचारे निमन्त्रणकर्त्ता परेशान हो उठे। यदि वे कहते : 'तुम देश-कार्य के लिए आए हो, हमारा सिर खाने नहीं। आखिर खाने-पीने-सोने के बारे में, लेमनेड-सोडावाटर-घोड़ागाड़ी के बारे में, हमसे इतनी अधिक माँग क्यों करते हो', तो अन्याय न होता। लेकिन काम की दुहाई देकर खाली बैठे रहना हमारे-जैसे लोगों की प्रकृति के विरुद्ध है। हम शिक्षित होने के नाते चाहे जितने व्यस्त हो जायँ, आमन्त्रणकर्ताओं को काम के अलावा और भी बहुत-सी बातों पर ध्यान देना पड़ता है। काम को भी हम हृदय के सम्बन्ध से वञ्चित नहीं रखना चाहते। वस्तुतः कॉन्फरेन्स के कार्यपक्ष ने हमारे चित्त को उतना आकर्षित नहीं किया जितना आतिथ्यपक्ष ने। कॉन्फरेन्स अपने विलायती शरीर से इस देशी हृदय को दूर न रख सकी। कॉन्फरेन्स में आने वाले लोगों की आतिथ्यभाव से, आत्मीय-भाव से, संवर्द्धना करना आमन्त्रणकारी अपना कर्तव्य समझते थे। इससे उनका परिश्रम, कष्ट और अर्थव्यय कितना बढ़ गया यह वही लोग समझ सकते हैं जिन्होंने स्वयं अपनी आँखों से सब-कुछ देखा। कांग्रेस में भी जो आतिथ्य का पक्ष है वही स्वदेशी है, और वही देश को प्रभावित करता है। जो काम का पक्ष है वह तो बस तीन दिन की चीज़ है, साल-भर उसका आभास ही नहीं मिलता। अतिथि के प्रति सेवा-सम्बन्ध विशेष रूप से भारतीय प्रकृति के अनुगत होते हैं। इन सम्बन्धों को बड़े पैमाने पर कार्यान्वित करने का जब कोई अवसर मिलता है तो हमारे देश के लोग बहुत खुश होते हैं। जो आतिथ्य घर-घर के व्यवहार-आचार में बरता जाता है उसीको बड़े परिमाण में परितृप्त करने के लिए प्राचीन काल में बड़े-बड़े यज्ञ-अनुष्ठान होते थे। बहुत दिनों से वे सब लुप्त हो गए हैं, लेकिन भारत उन्हें भूला नहीं है, इसलिए जब भी किसी देश-कार्य के उपलक्ष्य में लोग एकत्रित होते हैं, भारतलक्ष्मी अपनी अव्यवहृत अतिथिशाला का द्वार खोलकर अपना प्राचीन आसन ग्रहण करती है। कांग्रेस-कॉन्फरेन्स में विलायती वक्तृताओं की धूम और तालियों के निनाद में—ऐसे कठिन सभास्थल में भी—हमारी माता भारतलक्ष्मी स्मितमुख से अपने घर की सामग्री वितरित करती है। इधर-उधर जो कुछ हो रहा है वह उसके ठीक समझ में भी नहीं आता; वह अपने हाथ से बनाया मिष्टान्न सबको खिलाकर चल देती है। माँ का मुख और भी प्रफुल्लित होता, यदि वह देख सकती कि प्राचीन यज्ञ की तरह इस आधुनिक यज्ञ में भी सब तरह के लोग हैं; केवल पढ़े-लिखे, घड़ी-चैनधारी नहीं; निमन्त्रित-अनिमन्त्रित, छोटे-बड़े सभी एकत्रित हुए हैं। यदि ऐसा होता तो शायद आडम्बर कम हो जाता, सबके हिस्से में भोज्य भी कम पड़ता, लेकिन आनन्द से, मंगल से, माता के आशीर्वाद से, समस्त यज्ञ परिपूर्ण हो जाता।

जो कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष जब काम करने बैठता है तब भी मानव-सम्बन्ध के माधुर्य को भूल नहीं पाता; मानव-सम्बन्ध का सारा दायित्व वह स्वीकार करता है। इस तरह की अनावश्यक ज़िम्मेदारी लेकर ही भारत ने घर-घर में ऊँच-नीच, गृहस्थ और आगन्तुक, सबके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध-व्यवस्था स्थापित की है। इसीलिए हमारे देश में तालाब, सराय, मन्दिर अन्धों-लँगड़ों के प्रतिपालन-गृह इत्यादि के लिए कभी किसी को चिंतित नहीं होना पड़ा, ये चीज़ें सदा उपलब्ध रही हैं। यदि आज ये सामाजिक सम्बन्ध विश्लिष्ट हो जायँ, यदि अन्नदान, जलदान, आश्रयदान, स्वास्थ्यदान और विद्यादान-जैसे सामाजिक कर्त्तव्य समाज से स्खलित हो जायँ, तो भी हम बिलकुल निःसहाय नहीं होंगे।

घर और गाँव के क्षुद्र सम्बन्धों से ऊपर उठकर प्रत्येक व्यक्ति का विश्व के साथ योग सम्पादन करने के लिए हिन्दूधर्म ने पथ दिखाया है। प्रतिदिन पंच-यज्ञ के द्वारा हिन्दूधर्म ने समाज के प्रत्येक सदस्य को इस बात का स्मरण कराया है कि देवता, ऋषि, पितृ-पुरुष, समस्त मानवजाति और पशु-पक्षी के साथ उसका मंगलमय सम्बन्ध है। यदि इस सम्बन्ध का यथार्थ रूप से पालन किया गया तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए और सारे विश्व के लिए वह कल्याणप्रद होगा।

हमारे समाज में आज क्या यह सम्भव नहीं कि इसी उच्च भावना से प्रत्येक व्यक्ति का सारे देश के साथ प्रात्यहिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय? क्या प्रत्येक व्यक्ति देश को स्मरण करके रोज़ एक पैसा, या उससे भी कम—आधी मुट्ठी चावल—नहीं दे सकता? हिन्दूधर्म क्या हम सबको प्रतिदिन इस भारत के साथ—हमारे देवताओं के विहारस्थल, हमारे प्राचीन ऋषियों के इस तपस्याश्रम के साथ—भक्ति के बन्धन से नहीं बाँध सकता? स्वदेश के साथ हमारा मंगलमय सम्बन्ध क्या प्रत्येक व्यक्ति की अपनी चीज़ नहीं होगा? विद्यादान, जलदान इत्यादि मंगल-कर्म विदेशियों के हाथ में सौंपकर हम उन्हें अपने प्रयास से, अपनी चिंता और अपने हृदय से बिलकुल ही विच्छिन्न कर देंगे? सरकार आज बंगाल में जलकष्टनिवारण के लिए पचास हज़ार रुपये दे रही है। मान लीजिये, आन्दोलन के दबाव से सरकार पचास लाख देती है, और जलकष्ट दूर हो जाता है। परिणाम क्या होगा? यही कि सहायता-लाभ, कल्याण-लाभ का सूत्र, जिससे देश के हृदय ने इतने दिनों समाज में काम करके तृप्ति पाई थी, विदेशी के हाथ में समर्पित कर दिया जायगा। जहाँ देश का उपकार होता है वहाँ देश अपना हृदय स्वभावतः अर्पित करता है। हम निरन्तर शिकायत करते रहते हैं कि देश का

रुपया विभिन्न मार्गों से विदेश जा रहा है। लेकिन देश का हृदय यदि जाय, देश के साथ हमारे कल्याण-सम्बन्ध एक-एक करके विदेशी गवर्नमेंट के हाथ में पहुँच जायँ, हमारे पास उनमें से कुछ न रहे, तो क्या यह विदेशगामिनी सम्पत्ति-धारा से कम आपत्तिजनक विषय होगा? हम सभा करते हैं, दरख़ास्त भेजते हैं—लेकिन देश को इस तरह सम्पूर्ण रूप से दूसरे के हाथ सुपुर्द कर देने के प्रयास को क्या हम देश-हितैषिता कह सकते हैं? इसमें देश-कल्याण कभी नहीं हो सकता। इसको देश का प्रश्रय स्थायी रूप से नहीं मिल सकता, क्योंकि यह भारत का धर्म नहीं है। हमने अपने दूर के सम्पर्कियों को, अपने ग़रीब-से-ग़रीब नातेदारों को भी कभी परभिक्षावलम्बित नहीं होने दिया; उन्हें दूर नहीं किया; अपनी सन्तानों की तरह उन्हें आदर का स्थान दिया; बड़े कष्ट से उत्पन्न किये हुए अन्न में हमने सर्वदा दूर कुटुंबियों का हिस्सा लगाया है—इसे हमने कभी असामान्य बात नहीं माना। फिर भी क्या आज हम यह कहेंगे कि जननी-जन्मभूमि का भार हम वहन नहीं कर सकते? क्या विदेशी ही सदा हमारे देश को अन्न-जल और विद्या की भीख देंगे, और हमारा कर्त्तव्य इतना ही है कि भिक्षा की मात्रा कम हो तो चीत्कार करते रहें? कदापि नहीं। स्वदेश का भार हममें से प्रत्येक को प्रतिदिन ग्रहण करना है—इसीमें गौरव है, यही हमारा धर्म है। आज वह समय आ गया है जबकि भारतीय समाज एक विशाल स्वदेशी समाज हो उठेगा और प्रत्येक व्यक्ति समझेगा कि वह अकेला नहीं है; क्षुद्र होने पर भी उसकी कोई उपेक्षा नहीं करेगा और क्षुद्रतम की भी उपेक्षा वह स्वयं नहीं कर सकता।

यह तर्क उठ सकता है कि व्यक्तिगत हृदय का सम्बन्ध एक विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त नहीं हो सकता। किसी छोटे गाँव को हम प्रत्यक्ष रूप से अपना सकते हैं, उसका सारा दायित्व स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन यदि परिधि विस्तीर्ण हो तो 'मशीन' की जरूरत पड़ेगी। सारे देश को हम उस तरह अपना नहीं सकते जैसे कि गाँव को। अव्यवहित भाव से देश-कार्य नहीं किया जा सकता, उसके लिए यंत्र का सहारा लेना ही पड़ेगा; और चूंकि यंत्र हमारी अपनी चीज नहीं है इसलिए उसे विदेश से ही लाना होगा। कारखाने का सारा साज-समान, सारे क़ानून, ग्रहण किये बगैर यंत्र नहीं चल सकता।

यह बात असंगत नहीं है। यंत्रों की स्थापना तो करनी ही होगी, और फिर यंत्र के नियम भी मानने होंगे—चाहे वे किसी भी देश के हों—अन्यथा सब-कुछ व्यर्थ होगा। यह बात पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी कहना पड़ेगा कि भारतवर्ष केवल यंत्र से नहीं चल सकता। जहाँ हमारे व्यक्तिगत हृदय-सम्बन्ध का हमें प्रत्यक्ष रूप से अनुभव न मिले वहाँ हमारी समस्त प्रकृति आकर्षित नहीं हो

सकती। इसे हम अच्छा कहें या बुरा, इसकी निंदा करें या प्रशंसा, यह सत्य है। और यह बात हमें ध्यान में रखनी ही होगी, यदि किसी काम में सफलता प्राप्त करनी है।

हम स्वदेश को किसी विशेष व्यक्ति के बीच उपलब्ध करना चाहते हैं। हम चाहते हैं, कोई ऐसा आदमी हो जिसमें हमें सारे समाज की प्रतिभा दिखाई पड़े। हम सोचते हैं, उसी पर अवलम्बित होकर अपने बृहत् स्वदेशीय समाज की भक्ति करेंगे; सेवा करेंगे; और उसके संयोग से ही समाज के प्रत्येक सदस्य के साथ हमारे योग की रक्षा होगी। किसी समय, जब राष्ट्र और समाज एक-दूसरे से अविच्छिन्न थे, राजा का पद ऐसा ही था। अब राजा समाज के बाहर है, इसलिए समाज शीर्षहीन हो गया है। दीर्घकाल तक गाँवों को खंडित रूप से अपना काम अपने-आप सम्पन्न करना पड़ा है। स्वदेशी समाज का उचित संघटन या विकास नहीं हो सका। हमारे कर्त्तव्य का तो किसी तरह पालन हो रहा है, और इसीलिए आज भी हममें मनुष्यत्व बाकी है—लेकिन हमारा कर्त्तव्य क्षुद्र हो गया है और इसीसे हमारे चरित्र में संकीर्णता ने प्रवेश किया है। संकीर्ण पूर्णता में सदा के लिए आबद्ध रहना स्वास्थ्यकर नहीं होता। जो टूट चुका है उसके लिए हम शोक नहीं करेंगे। बल्कि जिसकी रचना करनी है उसीकी ओर अपने समस्त चित्त को प्रयुक्त करेंगे। आजकल जड़भाव से—बाध्य होकर—जो कुछ किया जा रहा है, उसीको होने देना हमारे लिए कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

इस समय हमें एक समाज-नायक की ज़रूरत है। उसके साथ परिषद् होगी, सहायक होंगे, लेकिन प्रत्यक्ष रूप से वही हमारे समाज का अधिपति होगा। उसीके बीच प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक एकता का बोध होगा। आज यदि किसी से समाज-कार्य करने को कहा जाता है तो 'कैसे करूँ', 'कहाँ करूँ', 'किसके साथ क्या करना होगा'—इन सब प्रश्नों से उसका सिर चकरा जाता है। एक तरह से हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि अधिकांश लोग अपना कर्तव्य स्वयं निर्धारित नहीं करते। ऐसी दशा में व्यक्तिगत प्रयासों को निर्दिष्ट पथ पर ले जाने के लिए एक केन्द्र की ज़रूरत है। हमारे समाज में कोई ऐसा दल नहीं है जो इस केन्द्र का स्थान ले सके। हम कितने ही दलों को देखते हैं, सबकी वही हालत है। उत्साह के पहले धक्के से वे कुछ आगे बढ़ते हैं। उनके कार्यवृक्ष में फूल खिलते हैं, लेकिन फल नहीं लगते। इसके बहुत-से कारण हो सकते हैं; लेकिन मुख्य कारण यही है कि दल का प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपमें दल के ऐक्य को दृढ़ भाव से अनुभव नहीं कर पाता, ऐक्य की रक्षा नहीं कर पाता। दायित्व शिथिल होता है, प्रत्येक के कंधे पर से गिर जाता है और अन्त में दायित्व कोई आश्रय-

स्थान नहीं ढूंढ़ पाता।

अब इस तरह से हमारा समाज नहीं चल सकेगा। बाहर से जो शक्ति समाज पर बराबर अधिकार करती जा रही है वह दृढ़ है, ऐक्यबद्ध है। उसने विद्यालय से लेकर दुकान तक हमारी प्रत्येक वस्तु पर कब्ज़ा करके सर्वत्र अपने एकाधिपत्य का प्रत्यक्ष परिचय दिया है—कभी स्थूल रूप से, तो कभी सूक्ष्म रूप से। यदि समाज को उससे अपनी रक्षा करनी है तो अत्यन्त निश्चित रूप से अपने-आपको संभालना होगा। इसका एक-मात्र उपाय है किसी ऐसे व्यक्ति का चुनाव करना जिसमें समाज का प्रत्येक सदस्य अपने-आपको प्रत्यक्ष कर सके। ऐसे व्यक्ति के एकाधिपत्य को, शासन को, वहन करने में हमें अपमान का बोध नहीं होना चाहिए, बल्कि इस शासन को हमें अपनी स्वाधीनता का ही एक अंग समझना चाहिए। समाजपति कभी अच्छा हो सकता है, कभी बुरा। लेकिन यदि समाज जागृत रहे तो यह व्यक्ति स्थायी अनिष्ट का कारण कभी नहीं हो सकता। वास्तव में इस तरह के अधिपति का अभिषेक समाज को जागृत रखने का अच्छा उपाय है। समाज यदि एक विशेष केन्द्र-स्थान पर अपने ऐक्य को प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध करे तो उसकी शक्ति अजेय होगी। इस एकाधिपति के निर्देशन में देश के विभिन्न भागों में विभिन्न नायकों की नियुक्ति होगी। ये नायक समाज की सभी ज़रूरतें पूरी करेंगे, मंगल कार्यचलना और व्यवस्था-रक्षा का भार इन पर होगा, और समाजपति के सामने ये सभी ज़िम्मेदार होंगे।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यह कुछ-न-कुछ स्वदेश के लिए देना चाहिए, चाहे वह कितने ही अल्प परिमाण में क्यों न हो। विवाह-जैसे शुभ कर्मों के लिए जिस तरह प्रत्येक परिवार में एक 'कोष' खोला जाता है, वैसे ही स्वदेशी समाज की रचना के लिए एक कोष स्थापित करना और उसके लिए धन जमा करना कोई कठिन काम नहीं है। ऐसा संग्रह यदि यथास्थान किया गया तो धन की कमी नहीं रहेगी। हमारे देश में स्वेच्छापूर्वक दिये हुए दान से बड़े-बड़े मठ-मन्दिर चल रहे हैं। क्या समाज अपना आश्रय-स्थान स्वयं नहीं बना सकता? विशेषत: जब यह स्पष्ट है कि ऐसे संग्रह से अन्न, जल, स्वास्थ्य और विद्या के सम्बन्ध में देश का भाग्य सुधारा जा सकता है, हमारी कृतज्ञता-भावना कभी निश्चेष्ट नहीं रहेगी।

इस समय मेरी दृष्टि केवल बंगाल पर ही है। यहाँ समाज का अधिनायक चुनकर यदि हम सामाजिक स्वाधीनता को उज्ज्वल और स्थायी बना सकें, तो भारत के अन्यान्य प्रदेश भी हमारा अनुसरण करेंगे। और इस तरह जब भारत का प्रत्येक भाग अपने-आपमें सुनिर्दिष्ट ऐक्य उपलब्ध करेगा, तब सभी विभागों का

पारस्परिक सहयोग भी आसान होगा। ऐक्य का नियम जब किसी स्थान पर प्रतिष्ठित होता है, तो उसका प्रसारण भी होता है। लेकिन विच्छिन्नता का ढेर बढ़ते-बढ़ते कितना ही बड़ा क्यों न हो, उसमें ऐक्य निर्माण नहीं होता।

जापान इस बात का दृष्टान्त हमारे सामने रखता है कि युग के साथ उदय का सामञ्जस्य कैसे स्थापित हो, राजा के साथ स्वदेश का संयोग-साधन कैसे हो; इस दृष्टान्त पर ध्यान देकर हम अपने स्वदेशी समाज के संगठन और संचालन के लिए समाजपति और समाजतंत्र दोनों के काम का समन्वय करा सकते हैं--एक विशेष व्यक्ति के बीच स्वदेश का प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, और उस व्यक्ति का शासन स्वीकार करके समाज की यथार्थ सेवा भी की जा सकती है।

आत्मशक्ति को एक विशेष स्थान पर संचित करना, इस विशेष स्थान को उपलब्ध करना, और इसके आधार पर ऐसी व्यवस्था-निर्माण करना जिसका सर्वत्र प्रयोग हो सके, हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है। यह बात तो थोड़ा-सा विचार करने पर स्पष्ट देखी जा सकती है। अपनी कार्य-सुविधा के लिए, या किसी और कारण से, गवर्नमेंट बंगाल को दो हिस्सों में बाँटना चाहती है। हमें आशंका है कि इससे बंगदेश दुर्बल होगा। इस आशंका को व्यक्त करने के लिए काफी रोना-पीटना हो चुका है। लेकिन हमारा विलाप यदि वृथा सिद्ध हो तो क्या हमने विलाप करके ही अपना कर्तव्य चुका दिया? देश के विभाजन से जो अमंगल घटेगा उसके प्रतिकार के लिए देश में कहीं कोई व्यवस्था नही की जायगी? व्याधि का बीज बाहर से शरीर में प्रवेश न करे तो अच्छा ही है, लेकिन यदि वह अन्दर पहुँच जाय तो क्या शरीर में व्याधि को रोकने की, स्वास्थ्य को फिर से प्रतिष्ठित करने की कोई शक्ति नहीं रहेगी? ऐसी शक्ति को यदि हम समाज में सुदृढ़ और सुस्पष्ट बनाएँ, तो बाहर से बंगाल को कोई निर्जीव नहीं कर सकेगा। सारे जख्मों को भरना, ऐक्य की रक्षा करना, मूर्छित को सचेतन करना, इसी शक्ति का काम है। आज विदेशी राजपुरुष 'सत्कर्म' के पुरस्कार-स्वरूप हमें उपाधियाँ देते हैं। लेकिन सत्कर्म का आशीर्वाद स्वदेश के हाथों मिले, तभी हम धन्य होंगे। यदि समाज में ऐसी शक्ति स्थापित न की गई जिससे वह हमें भारतीय की हैसियत से पुरस्कृत करे तो हम सदा के लिए अपनी विशेष सार्थकता से वंचित रहेंगे। हमारे देश में कभी-कभी मामूली कारणों से हिन्दू-मुसलमानों में संघर्ष होता है। इस विरोध को मिटाकर दोनों पक्षों में प्रीति और शांति स्थापित करने की क्षमता, दोनों पक्षों के अधिकार नियमित करने की क्षमता, यदि किसी के पास न हो तो समाज बार-बार क्षत-विक्षत होगा और उत्तरोत्तर दुर्बल होगा।

इसलिए किसी एक व्यक्ति का आश्रय लेकर समाज को एक जगह अपना हृदय स्थापित करना होगा, ऐक्य को प्रतिष्ठित करना होगा, वर्ना शैथिल्य और विनाश से बचने का कोई उपाय दिखाई नहीं पड़ता।

बहुत-से लोग मेरी बात को साधारण भाव से स्वीकार करते हुए भी सोचेंगे कि जो मैंने सुझाया है वह असाध्य है। वे पूछेंगे : 'इस समाज-नायक का निर्वाचन कैसे होगा, और निर्वाचित व्यक्ति को सभी लोग स्वीकार क्यों करेंगे ? पहले सम्पूर्ण व्यवस्थातन्त्र को स्थापित करना पड़ेगा, तभी समाजपति की प्रतिष्ठा सम्भव होगी' इत्यादि।

मेरा कहना यह है कि इस तरह की बहस छेड़कर आदि-अन्त की विवेचना करने बैठें, तो कार्य-क्षेत्र में कभी उतर ही नहीं सकेंगे। ऐसे किसी व्यक्ति का नाम लेना कठिन है जिससे कोई भी आदमी या कोई भी दल अप्रसन्न न हो। देश के सभी आदमियों का परामर्श लेकर निर्वाचन करना असम्भव है।

हमारा पहला काम है—जैसे भी हो सके एक समाजनायक चुनना, उसका आदेश स्वीकार करना, और फिर धीरे-धीरे उसके चारों ओर व्यवस्थातन्त्र की रचना करना। यदि यह मान लिया गया कि समाजपति चुनने का प्रस्ताव समयोचित है और राजा समाज के अन्तर्गत न होने से अधिनायक का अभाव खटकता है, यदि विदेशियों से चल रहे संघर्ष में अधिकारच्युत समाज अपने-आपको फिर से संगठित करने के लिए उत्सुक है, तो फिर किसी योग्य व्यक्ति को खड़ा करके कुछ लोग उसके निर्देशन में काम में जुट जायँ। देखते-ही-देखते समाज-राजतन्त्र प्रस्तुत होगा। पहले से हिसाब लगाकर जिसकी हम आशा तक नहीं कर सकते थे वह भी हम प्राप्त करेंगे। समाज की अन्तर्निहित बुद्धि इस क्षेत्र का संचालन-भार अपने-आप ग्रहण कर लेगी।

समाज में सदा ही शक्तिमान् लोग नहीं होते लेकिन देश की शक्ति अलग-अलग स्थानों पर जमा होकर ऐसे लोगों की प्रतीक्षा करती है। जो शक्ति योग्य अधिनायक के अभाव से कार्यशील नहीं हो पाती उसे यदि सुरक्षित स्थान भी न मिले तब तो समाज फूटे घड़े की तरह खाली हो जायगा। यदि समाजपति में पूर्ण योग्यता न भी हो, उस पर अवलम्बित होकर समाज की शक्ति और आत्मचेतना संगठित होगी। बाद में जब सौभाग्यवश इस शक्ति-संचय के साथ योग्यता का मिलन होगा, देश का मंगल आश्चर्यजनक शक्ति के साथ अपने-आपको सर्वत्र विस्तारित करेगा। हम छोटे दूकानदार की तरह समस्त नफ़ा-नुक़सान तुरन्त देखना चाहते हैं, लेकिन बड़े रोज़गार का हिसाब ऐसे नहीं चलता। देश में कभी-कभी ऐसे क्षण आते हैं जब महान् लोग साल-भर का हिसाब तलब करते हैं, और

सारा हिसाब एक बहुत बड़े खाते में लिखकर उनके सामने प्रस्तुत किया जाता है। सम्राट् अशोक के राज्यकाल में बौद्ध-समाज का हिसाब प्रस्तुत किया गया था। इस समय हमें दफ़्तर खुला रखना है, काम चलाते रहना है; जब महापुरुष हिसाब माँगेगा हम अप्रस्तुत न हों, हमें सिर न भुकाना पड़े, हम दिखा सकें कि ख़जाना बिलकुल ही खाली नहीं है।

ऐसा व्यक्ति, जिसे हम समाज में सर्वोच्च स्थान दे सकें, इच्छा करने से ही नहीं मिल जाता। राजा प्रजा से स्वभावतः बड़ा नहीं होता, राज्य ही उसे महान् बनाता है। जापान का मिकाडो जापान के सारे विद्वानों, साधकों और वीरों के ही द्वारा बड़ा हुआ है। हमारा समाजपति भी समाज की महत्ता से ही महान होगा, समाज के सब बड़े आदमी ही उसे बड़ा बनायँगे। मन्दिर का स्वर्ण-शिखर अपने-आप ही ऊँचा नहीं होता, मन्दिर की ऊँचाई से ही वह ऊँचा होता है।

मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे प्रस्ताव को चाहे बहुत-से लोग स्वीकार करें, इसके कार्यान्वित होने में बाधाएँ हैं। प्रस्तावकर्ता की अयोग्यता, और अन्य बहुत-सी प्रासंगिक-अप्रासंगिक त्रुटियों के सम्बन्ध में बहुत-सी स्पष्ट बातें और बहुत-से अस्पष्ट संकेत—यदि सुनाई पड़ें तो आश्चर्य की बात न होगी। मेरा नम्र निवेदन है कि आप मुझे क्षमा कर दें। 'आज की सभा में मैं आत्म-प्रचार के लिए नहीं आया हूँ', यह बात कहने से भी अहंकार व्यक्त होता है! इसीलिए मैं कुंठित हूँ। मैं आज जो कह रहा हूँ उसे कहने के लिए सारे देश ने मुझे उद्यत किया है। यह मेरी अपनी बात नहीं, अपनी सृष्टि नहीं—यह बात केवल मुझसे उच्चरित हुई है। आपके मन में यह सन्देह नहीं होना चाहिए कि मैं अपने अधिकार और योग्यता की सीमाओं को भूलकर स्वदेशी समाज के मंगल-कार्य में अपने-आपको उच्च स्थान पर खड़ा कराने का प्रयत्न करूँगा। मैं तो केवल यही कहूँगा—आओ, हम सब अपने मन को देश के लिए प्रस्तुत करें; क्षुद्र दलबन्दी, कुतर्क, परनिन्दा, संशय और धूर्तता से हृदय को मुक्त करके आज मातृभूमि के विशेष प्रयोजन के दिन जननी के आह्वान के दिन—चित्त को उदार बनायें, कर्म के प्रति अनुकूल बनायें। लक्ष्यहीन, अतिसूक्ष्म युक्तिवाद की व्यर्थता का हम परित्याग करें; आत्माभिमान की शत-सहस्र रक्ततृषार्त्त जड़ों का हृदय की अँधेरी गुहा से उच्चाटन करें; समाज के शून्य आसन पर विनम्र भाव से अपने समाजपति का अभिषेक करें; आश्रयच्युत समाज को सनाथ बनायें। शंख बज उठे, धूप की पवित्र गन्ध प्रसारित होती रहे, देवत्ता की अनिमेष कल्याण-दृष्टि से सारा देश अपने-आपको सर्वतोभाव से सार्थक समझे।

इस अभिषेक के बाद समाजपति किस-किसको अपने पास आकर्षित करेगा, किस तरह से समाज को कार्य-प्रवृत्त करेगा, इस विषय में मुझे कुछ नहीं कहना। निस्सन्देह ऐसी ही व्यवस्था का अवलम्बन करना होगा जो हमारी चिरन्तन समाज-प्रकृति के अनुगत हो। स्वदेश की पुरातन प्रकृति के आधार पर ही वह समाजपति 'नूतन' को यथास्थान यथायोग्य आसन देगा। इसमें भी संदेह नहीं कि हमारे देश में उसे विशिष्ट व्यक्तियों और दलों का विरोध सहना पड़ेगा। लेकिन महान् पद कभी आराम का स्थान नहीं होता। सारे कोलाहल के बीच उसे दृढ़तापूर्वक, अपने गौरव की रक्षा करते हुए अविचलित रहना होगा।

इसलिए जिसे हम समाज के सर्वोच्च सम्मानित स्थान के लिए चुनेंगे वह एक दिन के लिए भी हमसे सुख-स्वच्छन्दता की आशा नहीं कर सकेगा। हमारा उद्धत आधुनिक समाज किसी की हृदय से श्रद्धा नहीं करता और अपने-आप को प्रतिदिन अश्रद्धेय बनाता जाता है। ऐसे समाज के कंटकखचित, ईर्ष्या-संतृप्त आसन पर जो बैठेगा उसे विधाता प्रचुर शक्ति और सहिष्णुता प्रदान करे! अपने अंत:करण में ही वह शांति-लाभ कर सके, अपने कर्म में ही उसे पुरस्कार मिले!

अपनी शक्ति पर आप विश्वास रखें, आप निश्चय समझ सकेंगे कि कुछ करने का समय आ गया है; आप निश्चय जानेंगे कि भारत में एक रचनात्मक धर्म सदा से चला आ रहा है। कितनी ही प्रतिकूल अवस्थाओं में पड़कर भी भारत ने सदा एक व्यवस्था का निर्माण किया है जो आज भी सुरक्षित है। इसी भारत पर हम विश्वास करें—अभी, इसी समय, यह भारत नूतन-पुरातन में आश्चर्यजनक सामञ्जस्य स्थापित कर रहा है, इसमें हम सब योग दे सकें—जड़तावश या विद्रोह की ताड़ना से इसका विरोध न करें!

बाहर के साथ हिंदू समाज का जो संघात चल रहा है, वह नया नहीं है। भारत में प्रवेश करते ही आर्यों का यहाँ के आदिम निवासियों से तीव्र संघर्ष हुआ था। इस संघर्ष में आर्यों को विजय मिली; लेकिन अनार्यों का ऑस्ट्रेलिया-अमेरिका के आदिम निवासियों की तरह अवसान नहीं हुआ। आर्यों के उपनिवेशों से वे बहिष्कृत नहीं हुए। आचार-विचार के सारे पार्थक्य के बावजूद उन्हें समाजतंत्र में एक स्थान मिला। उनको साथ लेकर आर्य-समाज ने वैचित्र्य प्राप्त किया।

और एक बार यह समाज दीर्घकाल तक विश्लिष्ट हुआ था। बौद्ध युग में बौद्ध धर्म के आकर्षण से भारतीयों का विदेशियों से घनिष्ठ संपर्क स्थापित हुआ। विरोध के संपर्क से मिलन का संपर्क कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। विरोध में आत्मरक्षा का प्रयास सदा जागृत रहता है, मिलन की असतर्क अवस्था में सहज ही एकीकरण होता है। बौद्धयुगीन भारत में वैसा ही हुआ। एशियाव्यापी धर्म-

विस्तार के समय विविध देशों के आचार-व्यवहार-क्रिया-कर्म ने हमारे देश में प्रवेश किया, किसी को रोका नहीं गया।

लेकिन इस विशाल उच्छृंखलता के बीच भारत ने अपनी व्यवस्था-स्थापन की प्रतिभा नहीं छोड़ी। जो अपना था, और जो बाहर से आया, दोनों को एकत्रित करके भारत ने फिर समाज को संगठित किया, पहले से भी अधिक वैचित्र्य का लाभ किया। इस विपुल वैचित्र्य में अपना विशिष्ट ऐक्य सर्वदा बनाए रखा। आत्मविरोध और आत्मखंडन के होते हुए भी हिंदू-समाज और हिंदू धर्म में जो ऐक्य है उसका क्या आधार है, इसका स्पष्ट उत्तर देना कठिन है। हिंदू समाज की विशाल परिधि का केंद्र ढूंढ निकालना कठिन है—लेकिन केंद्र तो कहीं-न-कहीं है ही। किसी छोटी गोलाकार वस्तु का गोलत्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है, लेकिन गोल पृथ्वी को जो खंडशः देखता है वह अनुभव करता है कि पृथ्वी सपाट है। इसी तरह हिंदू-समाज ने परस्पर विरोधी बातों का समन्वय करके अपने ऐक्य सूत्र को मज़बूत बनाया है। इस ऐक्य की ओर निर्देश करना कठिन है—लेकिन सारे विरोधों के बीच वह है अवश्य, और उसकी हम उपलब्धि कर सकते हैं।

इसके बाद भारत में मुसलमान आए और उनसे भी संघात हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि इस संघात ने समाज पर कोई आक्रमण नहीं किया। लेकिन हिंदू-समाज में सामञ्जस्य साधन की क्रिया आरंभ हुई। हिंदू और मुसलमान समाजों के बीच एक ऐसे संयोगस्थल की सृष्टि हुई जहाँ दोनों की सीमाएँ एक-दूसरे से आ मिलीं। नानकपंथ, कबीरपंथ और निम्न श्रेणी के वैष्णव समाज इसके दृष्टान्त हैं। हमारे देश में साधारण लोगों के जीवन में धर्म और आचार में जो सब परिवर्तन होते रहते हैं उनकी खबर भी शिक्षित संप्रदाय नहीं रखता। यदि शिक्षित लोग इन परिवर्तनों से बेखबर न होते तो देख पाते कि आज भी सामंजस्य साधन की सजीव प्रक्रिया बन्द नहीं हुई है।

हाल में और एक प्रबल विदेशी सत्ता, और एक धर्म, अपने आचार-व्यवहार और शिक्षा-दीक्षा के साथ हमारे देश में उपस्थित हुआ है। इस तरह पृथ्वी के जिन चार प्रमुख धर्मों पर आधारित चार बृहत् समाज हैं—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और ईसाई—उन सबका भारत की भूमि पर मिलन हुआ है। विधाता ने मानो एक विशाल सामाजिक मिलन के लिए भारत में एक बड़ा रासायनिक कारखाना खोला हो।

यहाँ हमें एक बात स्वीकार करनी होगी—बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव-काल में समाज में जिस मिश्रण और विपर्यस्तता ने प्रवेश किया उससे परवर्ती हिन्दू समाज में भय के लक्षण रह गए हैं। नूतनत्व और परिवर्तन के प्रति आत्यन्तिक सन्देह का

भाव समाज की मज्जा में घर कर गया है। इस तरह के चिरस्थायी भय की अवस्था में समाज आगे नहीं बढ़ पाता। बाह्य प्रतियोगिता में वह विजयी नहीं हो पाता। जिस समाज की शक्ति केवल आत्मरक्षा में ही प्रयुक्त होती है वह चलने-फिरने की व्यवस्था आसानी से नहीं कर सकता। बीच-बीच में विपत्ति और आघात की आशंका को स्वीकार करते हुए भी प्रत्येक समाज को स्थिति के साथ गति की भी व्यवस्था करनी चाहिए अन्यथा वह पंगु हो जाता है, संकीर्णता में आवद्ध हो जाता है; यह तो एक तरह से जीवित मृत्यु है।

बौद्ध परवर्ती हिन्दू समाज ने अपना जो कुछ है या था उसे बचाने के लिए और दूसरों के सम्पर्क से अपने को अलग रखने के लिए, एक जाल में अपने-आपको बन्द कर रखा। इससे भारतवर्ष ने दुनिया में अपना महान् स्थान गँवा दिया। किसी समय भारत को पृथ्वी पर गुरु का आसन प्राप्त था। धर्म, विज्ञान और दर्शन में भारत के चित्त में असीम साहस था। उसका चित्त चारों ओर दुर्गम और दूरवर्ती प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करता था। इस गुरु-सिंहासन से आज भारत को नीचे उतरना पड़ा है, उसे छात्र बनना पड़ा है। इसका कारण है—हमारा मानसिक भय। समुद्र-यात्रा हमने भयभीत होकर बन्द कर दी है—चाहे वह जलमय समुद्र हो या ज्ञानमय समुद्र। कभी हम विश्व के थे, आज हम अपने गाँव के हैं। संचय और रक्षा की जो भीरु स्त्री-शक्ति समाज में है उसने कौतूहल पर, परीक्षारत, साधनशील पुरुष-शक्ति को पराजित करके एकाधिपत्य प्राप्त किया है। इसीलिए ज्ञानराज्य में भी हम संस्कारबद्ध स्त्रैण प्रकृति के अधीन हैं। ज्ञान का वाणिज्य, जिसे भारत ने आरम्भ किया था और जिससे बढ़ते-बढ़ते जागतिक ऐश्वर्य को उन्नत किया था, आज अन्तःपुर में आभूषणों के सन्दूक में है और अपने को निरापद समझता है। वह अब बढ़ता नहीं। जो हम खो रहे हैं वह कहीं से पूरा नहीं होता।

वास्तव में गुरु का पद ही हम खो चुके हैं। राज्याधिकार को कभी हमारे देश में चरम सम्पदा नहीं माना गया। उसने कभी देश की जनता के हृदय पर अधिकार नहीं किया; उसका अभाव हमारे लिए प्राणांतक अभाव नहीं रहा। लेकिन ब्राह्मणत्व का अधिकार—अर्थात् ज्ञान, धर्म और तपस्या का अधिकार—समाज के यथार्थ प्राण का आधार रहा है। जब से आचार-पालन ने तपस्या का स्थान लिया; जब से अपनी ऐतिहासिक मर्यादा को भुलाकर ब्राह्मणेतर लोगों ने शूद्र कहलाना स्वीकार किया; जब से ब्राह्मण—जिन पर नये-नये ऐश्वर्य और नये-नये तपस्याफल के वितरण का भार था—अपना वास्तविक माहात्म्य विसर्जित करके समाजद्वार पर पहरेदार बन गए, तभी से हम दूसरों को कुछ दे नहीं पाते और

अपना जो कुछ था उसे भी विकृत करते हैं।

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक देश विश्व-मानव का अंग है। विश्व-मानव को दान देने की, उसकी सहायता करने की कौन-सी सामग्री वह उत्पन्न करता है, इमी पर प्रत्येक देश की प्रतिष्ठा निर्भर है। जब यह उद्भावन-शक्ति कोई देश खो देता है, तब वह विराट् मानव-कलेवर का पक्षाघातग्रस्त अंग बन जाता है और केवल एक अनावश्यक बोझ के रूप में रहता है। केवल टिके रहने में गौरव नहीं है।

भारत ने राज्य के लिए मार-काट नहीं मचाई, वाणिज्य के लिए छीना-झपटी नहीं की। आज तिब्बत, चीन, जापान योरोपीय अभ्यागतों के डर से खिड़की-दरवाज़े बन्द करना चाहते हैं। लेकिन इन्हीं देशों ने भारत को गुरु समझकर आदर-पूर्वक अपने बीच आमन्त्रित किया था। भारत ने सैन्य या धन के ज़ोर से सारी पृथ्वी की अस्थिमज्जा को कष्ट नहीं दिया, सर्वत्र शान्ति, सान्त्वना और धर्म-व्यवस्था स्थापित करके मानव-मात्र की भक्ति का अधिकार प्राप्त किया। यह गौरव उसने तपस्या द्वारा उपलब्ध किया, और राजचक्रवर्ती के गौरव से वह कहीं बड़ा था।

इस गौरव को खोकर जब हम अपनी गठरी लेकर भयभीत चित्त से एक कोने में बैठे थे उस समय अँग्रेज़ों का आगमन प्रयोजनीय ही था। अँग्रेज़ों के प्रबल आघात से इस भीरु, पलातक समाज की क्षुद्र प्राचीर कई स्थानों पर टूटी। हम 'बाहर' से जितना डरते थे, दूर रहते थे उसी मात्रा में 'बाहर' हमारी गर्दन पर सवार हो गया है। अब उसको दूर कौन रख सकता है? इससे हमारी प्राचीर जब टूटी, हमने दो बातों का आविष्कार किया—हमने देखा कि हमारे पास कैसी आश्चर्यजनक शक्ति थी, और यह देखने में भी हमें बिलम्ब नहीं हुआ कि आज हमारी दुर्बलता कैसी आश्चर्यजनक है।

आज हम अच्छी तरह समझ गए हैं कि अपना शरीर ढाँककर अलग पड़े रहने को ही आत्मरक्षा नहीं कहते। अपनी अन्तर्निहित शक्ति को जागृत और संचालित करना ही आत्मरक्षा का प्रकृत उपाय है, यह विधाता का नियम है। जब तक हमारा चित्त जड़ता का त्याग करके अपनी उद्यमशक्ति का प्रयोग नहीं करता तब तक अँग्रेज़ हमारे मन को पराभूत करते रहेंगे। एक कोने में बैठकर 'हाय, लुट गए' कहते हुए हाहाकार करने से कुछ लाभ नहीं। सभी विषयों में अँग्रेज़ों का अनुसरण करके, छद्मवेश पहनकर अपनी रक्षा करने का प्रयत्न भी बेकार है—अपने को भुलावा देना है। हम असली अँग्रेज़ नहीं बन सकते, नकली अँग्रेज़ बनकर हम अँग्रेज़ को धोखा भी नहीं दे सकते।

हमारी बुद्धि, रुचि, हृदय—सब-कुछ आज पानी के भाव से बिक रहा है। इसका प्रतिकार करने का एक ही उपाय है—हम वास्तव में जो हैं वही बनें। ज्ञानपूर्वक, सरल और सचल भाव से, सम्पूर्ण रूप से हम अपने-आपको प्राप्त करें।

हमारी आबद्ध शक्ति विदेशियों के विरोध से आघात पाकर ही मुक्त होगी, क्योंकि आज पृथ्वी में उसका काम आ पड़ा है। देश के तपस्वियों ने जिस शक्ति का संचय किया है वह बहुमूल्य है। विधाता उसे निष्फल नहीं होने देगा। इसीलिए उचित समय पर उसने निश्चेष्ट भारत को कठोर पीड़ा देकर जागृत किया है।

बहुलता में ऐक्य की उपलब्धि, वैचित्र्य के बीच ऐक्य-स्थापन—यही भारत-वर्ष का अन्तर्निहित धर्म है। भारत पार्थक्य को विरोध नही समझता, परकीय को शत्रु नहीं समझता; बिना किसी का विनाश किये, एक बृहत् व्यवस्था में सभी को स्थान देना चाहता है। सभी पन्थों को वह स्वीकार करता है, अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक का माहात्म्य वह देख पाता है।

भारत का यही गुण है, इसलिए किसी समाज को हम अपना विरोधी समझ-कर भयभीत नहीं होंगे। प्रत्येक नए संघात से अन्ततः हम अपने विस्तार की ही प्रत्याशा करेंगे। हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और ईसाई भारत की भूमि पर युद्ध करके मरेंगे नहीं; यहाँ वे सामंजस्य ढूंढ़ सकेंगे। वह सामंजस्य अहिन्दू नहीं, बल्कि विशेष रूप से हिन्दू होगा। उसके अंग-प्रत्यंग चाहे देश-विदेश के हों, उसका प्राण, उसकी आत्मा भारतीय होगी।

यदि हम भारत के इस विधाता-निर्दिष्ट नियोग को स्मरण करें, तो हमारी लज्जा दूर होगी, लक्ष्य स्थिर होगा; भारत में जो मृत्युहीन शक्ति है उसका संधान हमें मिलेगा। हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि योरोपीय ज्ञान-विज्ञान को हमें सदा छात्र की तरह नहीं ग्रहण करना है। ज्ञान-विज्ञान के सभी पंथों को भारत सरस्वती एक ही शतदलपद्म मे विकसित करेगी, उसकी खंडितावस्था दूर करेगी। हमारे भारतीय मनीषी डाक्टर जगदीशचन्द्र ने वस्तुतत्त्व, उद्भिदतत्त्व और जन्तुतत्त्व को एक ही क्षेत्र की सीमाओं में लाने का प्रयत्न किया है। हो सकता है, किसी दिन मनस्तत्त्व को भी वे इन्हींके बीच लाकर खड़ा कर दें। यह ऐक्य-साधन ही भारतीय प्रतिभा का मुख्य कार्य है। भारत किसी का त्याग करने के, किसी को दूर रखने के पक्ष में नहीं है। वह एक दिन इस विवादरत व्यवधान-संकुल पृथ्वी के सामने ऐक्य-पथ रखेगा जिसके द्वारा सबको स्वीकार और ग्रहण किया जा सके, विराट् ऐक्य के बीच सबकी अपनी-अपनी प्रतिष्ठा उपलब्ध की जा सके।

उस महान् क्षण के आने से पहले "एक बार तुम सब माँ कहकर पुकारो," भारतमाता प्रत्येक को अपने पास बुलाने के लिए, अनैक्य को मिटाने के लिए सबकी रक्षा करने के लिए सर्वदा व्यस्त है। उसने अपने चिरसंचित ज्ञानधर्म को विविध रूपों से, विविध अवसरों पर, हम सबके अन्तःकरण में संचारित किया है और हमारे चित्त को पराधीनता की अँधेरी रात में विनाश से बचाया है। ऐसी माता को मदोद्धत धनिक की यज्ञशाला के एक कोने में स्थान दिलाने के लिए प्राणपण से यत्न करो! देश के बीचोंबीच, सन्तानों से परिवेष्टित यज्ञशाला में, माता को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध करो। जननी के जीर्णगृह का क्या हम संस्कार नहीं कर सकेंगे? कहीं साहब का बिल चुकाने में हमें परेशानी न हो, कहीं हमारे आडम्बर में कोई कमी न रह जाय, इस विचार से क्या हम माता की भोजन-व्यवस्था दूसरे की पाकशाला के द्वार पर करेंगे—उस माता की भोजन-व्यवस्था, जो स्वयं किसी दिन अन्नपूर्णा थी।

हमारे देश ने तो एक दिन धन को तुच्छ समझा था, दारिद्र्य को शोभनीय तथा महिमान्वित करना सीखा था। आज क्या हम धन के सामने साष्टांग धूलि-लुंठित होकर स्वधर्म का अपमान करेंगे? क्या आज फिर हम अपनी पवित्र, संयत, स्वल्पोपकरण जीवन-यात्रा ग्रहण करके तपस्विनी जननी की सेवा में नियुक्त न हो सकेंगे? हमारे देश में केले के पत्ते पर खाना कभी लज्जास्पद नहीं माना गया। अकेले-अकेले खाने में ही हमें सदा लज्जा का बोध हुआ। क्या वह लज्जाबोध हमें फिर से नहीं होगा? क्या आज हम सारे देश की खातिर अपने किसी आराम या आडंबर का परित्याग नहीं कर सकेंगे? जो हमारे लिए किसी दिन सहज था वह क्या आज असाध्य है? कदापि नहीं। आत्यंतिक दुःख के समय भी भारत का निःशब्द, प्रकाण्ड प्रभाव धैर्यपूर्वक विजयी हो सका है। मुझे विश्वास है कि हमारी चार दिन की मुखस्थ विद्या उस चिरंतन प्रभाव का उल्लंघन नहीं कर सकेगी। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि भारतवर्ष का गम्भीर आह्वान हमारे हृदय की गहराइयों में ध्वनित हो रहा है। हम धीरे-धीरे, अनजाने ही, उसी भारत की ओर जा रहे हैं। आज जहाँ रास्ता हमारे मंगल दीपोज्ज्वल गृह की ओर चला गया गया है वहीं खड़े होकर "एक बार तुम सब माँ कहकर पुकारो!", एक बार स्वीकार करो, माता की सेवा अपने हाथ से करने के लिए आज हम प्रस्तुत हैं; एक बार स्वीकार करो, देश के लिए पूजा का नैवेद्य हम प्रतिदिन उत्सर्ग करेंगे; एक बार प्रतिज्ञा करो, जन्म-भूमि के कल्याण को पराये के हाथ बेचकर हम निश्चिन्त मन से अधःपात की सीढ़ियाँ उतरते-उतरते चरम लांछन के गढ़े में नहीं पहुँचेंगे।

[प्रथम बंग-भंग के समय मिनर्वा थियेटर हॉल में २२ जुलाई, १९०४ को पठित लेख। पुनः ३१ जुलाई को कर्जन थियेटर में पठित। बंग-भंग १६ अक्तूबर, १९०५ को हुआ। लेख के परिशिष्ट के रूप में प्रथम रचनात्मक कार्यक्रम का समावेश हुआ।]

पथ और पाथेय

धीवर रोज़ जाल फेंकता था और मछलियाँ पकड़ता था। एक दिन जाल फैलाते ही अचानक एक घड़ा उसमें फँस गया। जब उसका ढक्कन खोला गया, भीतर से चक्राकार धुएँ के रूप में एक दानव बाहर निकला। 'अरेबियन नाइट्स' में इस तरह की एक कहानी है।

हमारे समाचारपत्र प्रतिदिन खबरों को खींच लाते हैं, लेकिन एक दिन उनके जाल में एक घड़ा फँसेगा और उस घड़े के अन्दर से ऐसी भयंकर चीज़ें निकलेंगी, इस बात की हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

अपने गृहद्वार के पास जब यकायक कोई रहस्य प्रकाश में आता है तो मन आन्दोलित हो जाता है। ऐसी उत्तेजना के समय बातचीत या व्यवहार में सचाई की रक्षा करना कठिन होता है। पानी में जब लहरें उठती हैं, परछाईं अपने-आप विकृत हो जाती है। इसके लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। भय और उद्वेग के समय हमारे विचारों में—और हमारी भाषा में भी—विषमता आ जाती है, यद्यपि ऐसे ही समय निर्विकार सत्य की सबसे अधिक ज़रूरत होती है। साधारण परिस्थिति में असत्य या अर्धसत्य से हमारी विशेष क्षति न हो यह सम्भव है; लेकिन संकट-काल में उसके-जैसा दूसरा कोई शत्रु नहीं हो सकता।

ईश्वर करे, आज भय, क्रोध या आकस्मिक विपत्ति के कारण, दुर्बलचित्त के दुःख से हम आत्मविस्मृत न हों। अपने को या दूसरों को मुग्ध करने के लिए व्यर्थ बातों की धूल उड़ाकर चारों दिशाओं में धुँधले आकाश को और भी मलिन न बना दें। उग्र बातों से बेचैनी बढ़ जाती है, सत्य को किसी-न-किसी तरह दबाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए आज यदि हम अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में संयम से काम न लें, यथासम्भव शान्तिपूर्वक वर्तमान घटनाओं पर विचार न करें, सत्य का अन्वेषण और प्रचार न करें, तो हमारी बहस सिर्फ व्यर्थ ही नहीं बल्कि हानिकारक होगी।

हमारी हीन दशा है, इसीलिए आज की उलझन में व्यग्रता से आगे बढ़कर उच्च स्वर से यह कहने की इच्छा होती है: 'मैं इनमें से नहीं हूँ। यह सब अमुक दल का किया-कराया है। यह अमुक दल का अन्याय है। मैं तो पहले ही कह रहा था कि जो हो रहा है अच्छा नहीं है; मैं जानता था यही सब होगा।'

किसी आतंकजनक दुर्घटना के बाद इस तरह के अशोभनीय उद्वेग के साथ दूसरों पर अभियोग लगाना, और अपनी सुबुद्धि पर गर्व करना, दुर्बलता का लक्षण है, लज्जा का विषय है। विशेषतः जब हम एक प्रबल शासन के अधीन हैं, सरकार की नाराज़ी के दिन दूसरों की निन्दा करके अपने को निरपराध सिद्ध करने में हीनता है।

जो अपराधी हैं, गिरफ़्तार हुए हैं, जिन्हें चोट पहुँचाने के लिए निर्मम राज-दण्ड उद्यत है, उनके प्रति बिना सोचे-समझे तीव्रता व्यक्त करना—केवल इसीलिए कि उन्होंने एक आफ़त खड़ी कर दी है—कायरता होगी। उनका न्याय करने का भार ऐसे लोगों पर है जो ममता या दया से विचलित नहीं होंगे। हम भी यदि उनकी आलोचना करने के लिए अग्रसर हों तो यह भीरुता होगी, निर्दयता होगी। हम इस मामले को जितना भी बुरा समझें, अपनी राय देने के लिए औत्सुक्य दिखाना आत्मसम्मान की मर्यादा का उल्लंघन होगा। सारे देश के ऊपर आकाश में रुद्रकोप की लालिमा छा गई है। इस समय हमारी दायित्वहीन उत्तेजना बेकार ही नहीं, बिलकुल असंगत होगी।

हम अपने को चाहे जितना दूरदर्शी समझें, यह मानना होगा कि मामला यहाँ तक बढ़ेगा इस बात की कल्पना देश के अधिकतर लोग नहीं करते थे। बुद्धि तो अल्पाधिक मात्रा में हम सबके पास है—लेकिन चोर के भाग जाने के बाद ही वह खुलकर निकलती है, पहले नहीं।

घटना जब हो चुकी, यह कहना आसान है कि 'इस बात की सम्भावना तो थी ही।' और मौके पर हममें से जो उत्तेजनशील हैं उनकी भर्त्सना करते हुए यह कहना भी आसान है : 'तुम लोग यदि इतना आगे न बढ़ते तो अच्छा होता।'

हम हिन्दू, विशेषतः बंगाली, बातें करने में चाहे जितनी गर्मी दिखायें, किसी दुःसाहस के कार्य में कभी प्रवृत्त नहीं हो सकते—इस तरह का विश्वास अन्य देशों में प्रचलित है। यही कारण है कि 'बाबू संप्रदाय' को अँग्रेज़ दुःसह भाषा में अपमानित करते रहे हैं। हमारे शत्रु और मित्र दोनों का पूर्ण विश्वास रहा है कि बंगाल में उभारने वाली बातें बेखटके कही जा सकती हैं। अब तक सम्भाषण या भाव-भंगिमा में जब भी हमने उग्रता दिखाई है हमसे आत्मीय और परकीय दोनों अप्रसन्न हुए हैं, हमारे असंयम को प्रहसन कहकर उसका उपहास करने में भी किसी को संकोच नहीं हुआ। वस्तुतः किसी बंगला अखबार में, या किसी बंगाली वक्ता के मुँह से, जब भी उत्तेजना व्यक्त हुई है, मुझे इस विचार ने लज्जित किया है कि जो लोग दुःसाहस के लिए विख्यात नहीं उनके शब्दों का तेज देश के

दैन्य को और भी स्पष्ट रूप से प्रकाश में लाता है। बंगनिवासी भीरुता के अभियोग का दुःसह भार झेलते आए हैं। इसीलिए आज की घटनाओं के विषय में न्याय-अन्याय और इष्ट-अनिष्ट का विचार पीछे रह गया है; अपमानमोचन की आशा से बंगालियों के मन में आनन्द उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

यह बात माननी होगी कि बंगाल के मन की ज्वाला ने क्रमशः जो अग्नि-रूप धारण किया है उसे हमारे देश के या किसी अन्य देश के विज्ञ लोगों ने अवश्यम्भावी कभी नहीं समझा था। आज हमारी बुद्धि के आकस्मिक विकास के दिन, जिन्हें हम पसंद नहीं करते, ऐसे लोगों को असावधानी के लिए दोष देना उचित नहीं है। इस समय, जब चारों ओर विक्षोभ और उपद्रव का वातावरण है, मैं भी किसी विशेष दल के विरुद्ध शिकायत नहीं करना चाहता। लेकिन क्या हुआ है और कैसे हुआ है, जो हुआ है उसका परिणाम क्या होगा, इन सब बातों पर निरपेक्ष भाव से विचार करना ही होगा। हो सकता है कि इस प्रयास में किसी व्यक्ति के साथ या कुछ लोगों के साथ, मेरे मतभेद प्रकाश में आयें। लेकिन कृपया विश्वास रखिये कि मेरी बुद्धि चाहे क्षीण हो या सृष्टिशक्ति दुर्बल हो, देशहित के प्रति मैं उदासीन नहीं हूँ। देशहितैषियों के प्रति विरोध की भावना से मैं ग़लत विचारों पर चल रहा हूँ, ऐसा न सोचिए। मेरी बातों को आप चाहे ग्रहण न करें, मेरे अभिप्राय के प्रति धैर्य और श्रद्धा रखिये।

बंगाल में इधर जो कुछ हुआ है, उसके लिए बंगाल के लोग कहाँ तक ज़िम्मेदार हैं, इसका सूक्ष्म रूप से विचार किये बग़ैर भी यह बात कही जा सकती है कि शरीर, मन या वाणी से हमने इन घटनाओं को किसी प्रकार का प्रश्रय अवश्य दिया है। जो चित्तदाह परिमित सीमाओं में आबद्ध नहीं है, जिसकी उत्तेजना का अनुभव हम सबने किया है, उसीका एक परिणाम यदि इस तरह की गुप्त क्रांति का रूप ले तो उसका दायित्व और दुःख सभी बंगालियों को स्वीकार करना पड़ेगा। जब ज्वर ने सारे शरीर पर अधिकार कर लिया हो, तो यह कहकर कि हथेली माथे की अपेक्षा ठंडी है, मृत्यु के क्षण माथे को ही विपत्ति की जड़ समझने से हमारी रक्षा नहीं होगी। हमें क्या करना है और हम क्या करना चाहते हैं, इस बात का हम स्पष्ट रूप से विचार नहीं करते; इतना जानते हैं कि हमारे मन में आग लगी थी जिससे भीगी लकड़ियाँ धुआँ देने लगीं और सूखी लकड़ियाँ जल उठीं। घर के कोने में कहीं केरोसीन रखा था, वह अपने-आपको रोक न सका, टीन का शासन भंग करके उसने विभीषिका का रूप धारण किया।

जो भी हो, कार्य-कारण की व्याप्ति जैसी भी रही हो, यह तो मतभेद का

विषय नहीं हो सकता कि जब आग भड़क उठे तो तर्क को अलग रखकर पहले आग बुझानी होगी।

इन घटनाओं का कारण अभी देश से दूर नहीं हुआ है। लोगों के मन उत्तेजित हुए हैं। उत्तेजना इतनी तीव्र है कि जो विनाशकारी व्यवहार हमारे देश में असंभव समझा जाता था वह भी संभव सिद्ध हुआ है। विरोध-भावना इतनी गहरी है और उसका विस्तार इतना अधिक है कि जब शासकगण विशिष्ट स्थानों पर उसका दमन करना चाहते हैं तो उस भावना का नाश नहीं होता बल्कि वह और भी प्रबल बन जाती है।

वर्तमान संकट में शासकों को क्या करना चाहिए, इस बात की मीमांसा की भी जाये तो हमें यह विश्वास नहीं है कि वे उस पर ध्यान देंगे। उनकी दंडशाला के द्वार पर बैठकर उन्हें राजनैतिक पाठ सिखाने की दुराशा हम नहीं करते। जो बात हमें कहनी है वह बहुत पुरानी है, उसे सुनकर यही कहा जायगा कि हम भयभीत होकर बातें कर रहे हैं। लेकिन सत्य पुराना हो तो भी सत्य ही है, उसे गलत समझा गया तो भी वह सत्य ही रहेगा। हम कहना यह चाहते हैं—शक्तस्य भूषणं क्षमा। क्षमा शक्तिवान का भूषण ही नहीं है, विशेष अवसरों पर वह शक्तिवान् का ब्रह्मास्त्र भी होता है। लेकिन चूंकि हम शक्तिशालियों के दल में नहीं है, यह सात्विक उपदेश बार-बार देना हमें शोभा नहीं देता।

परिस्थिति के दो पक्ष हैं, और उनमें परस्पर के प्रति समझ-बूझ की प्रवृत्ति नहीं है—ऐसी प्रवृत्ति जगने की संभावना क्षीण है—एक ओर, प्रजा की भावनाओं की उपेक्षा करते हुए बल उग्र रूप धारण कर रहा है; दूसरी ओर, दुर्बल का मनोरथ सफलता का कोई मार्ग न देखकर हताश हो रहा है। इस अवस्था में समस्या छोटी नहीं है। इन दो पक्षों में से एक के ही व्यवहार के विषय में हम कुछ कर सकते हैं। यही हमारा एक-मात्र संबल है। तूफ़ान के समय कर्णधार अपनी ही धुन में है, वाध्य होकर हमें अपने-आप नौका की रक्षा करनी है। यदि माझी की सहायता मिले तो अच्छा ही है; न मिले तो दुःसाध्य को साध्य बनाने के प्रयत्न में जुट जाना होगा, क्योंकि डूबते समय दूसरे की निंदा करने से सांत्वना नहीं मिल सकती।

ऐसे दुःसमय में सत्य को छिपाना प्रलय-क्षेत्र में बैठकर खिलवाड़ करना होगा। कुछ लोग सरकार को यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि जो कुछ हुआ है दो-चार लोगों के बचकाने का परिचय-मात्र देता है, उसका कोई महत्त्व नहीं है। मैं ऐसे शून्य सांत्वना-वाक्यों में कोई सार्थकता नहीं देखता। ऐसी बातों से हम सरकार की पालिसी बनाने वालों को एक इंच भी हिला नहीं सकते। इसके

अलावा, देश की वर्तमान अवस्था में किस जगह क्या हो रहा है, यह कोई निश्चित रूप से नहीं जानता। विपत्ति की संभावना को स्वीकार करते हुए हमें काम करना होगा। दायित्वबोधहीन बातों से किसी वास्तविक संकट को दूर नहीं रखा जा सकता। इस समय केवल सत्य की ही ज़रूरत है।

हितसाधन की अकपट इच्छा से प्रेरित होकर आज देशवासियों से स्पष्ट कहना होगा कि सरकार की शासन-नीति जो भी मार्ग अपनाए, और भारत में अँग्रेज़ों के व्यक्तिगत व्यवहार से हमारे चित्त को चाहे जितना क्षोभ हो, अपने-आपको भूलकर आत्महत्या करना प्रतिकार का मार्ग नहीं है।

समय ऐसा आ पड़ा है कि धर्म की दुहाई देना बेकार है। राजनीति में धर्म का भी स्थान है, इस बात पर जो व्यक्ति अपना संपूर्ण विश्वास प्रकट करता है उसे आज व्यवहार बुद्धिशून्य और नीति-वायुग्रस्त कहा जाता है; उसकी अवज्ञा की जाती है। प्रबल पक्ष समझता है कि प्रयोजन के समय धर्म को मान्य करना कार्यविरोधी दीनता है। पश्चिमी जगत् में इसके कितने ही उदाहरण हैं। फिर भी प्रयोजन साधन के समय यदि हम दुर्बल पक्ष को धर्म पर चलने का उपदेश दें, तो आज के उत्तेजनापूर्ण वातावरण में हमें उत्तर मिलेगा : 'यह धर्म को नहीं, भय को मानने का उपदेश है।'

हाल में जो बोअर-युद्ध हुआ था उसमें जयलक्ष्मी ने धर्मबुद्धि का साथ नहीं दिया, यह बात कुछ धर्मभीरु अँग्रेज़ों के मुँह से सुनी गई है। युद्धकाल में शत्रु-पक्ष के मन को भयभीत करने के लिए उनके गाँवों को उजाड़ देना, घरों को जला देना, खाद्य-वस्तुओं को लूटना और असंख्य बेकसूर स्त्री-पुरुषों को निराश्रित बना देना युद्ध के स्वाभाविक अंग माने गए हैं।

'मार्शल लॉ' का अर्थ है आवश्यकतानुसार न्यायबुद्धि को एक परम विघ्न समझकर निर्वासित करने की विधि, और उसके स्थान पर प्रतिहिंसापरायण मानव-प्रकृति की पाशविकता को प्रयोजन-साधन का मुख्य सहायक घोषित करना। 'प्यूनिटिव पुलिस' की मदद से निस्सहाय गाँव वालों को बलपूर्वक भाराक्रांत करना भी इसी बर्बरता का एक रूप है। इन सब उपायों से यही घोषित किया जाता है कि राजनीति में विशुद्ध न्यायधर्म कार्य-सम्पादन के लिए पर्याप्त नहीं होता।

योरोप की यह अविश्वासी राजनीति पृथ्वी पर सर्वत्र धर्मबुद्धि को विषाक्त बना रही है। ऐसी दशा में कोई अधीन देश यदि किसी विशेष घटनाओं के कारण अपनी दासता की भयानक मूर्ति देखकर पीड़ित हो, अपनी बेबसी के अपमान से उत्तप्त हो, और उस देश के कुछ अधीर, असहिष्णु लोग गुप्त षड्यन्त्र का मार्ग

अपनाकर धर्मबुद्धि के साथ-साथ कर्मबुद्धि का भी विसर्जन करें, तो इन आन्दोलनकारियों को सारी परिस्थिति के लिए पूर्णतया ज़िम्मेदार ठहराना अपनी ताकत से अंधे लोगों की मूढ़ता है।

इसलिए जिन्होंने यह स्थिर किया है कि गुप्तमार्ग ही राष्ट्रहितसाधन का एकमेव मार्ग है, उनकी निन्दा करने से कोई लाभ नहीं होगा। उन्हें धर्मोपदेश दिया गया तो वे उसकी हँसी उड़ायेंगे। यह बात सभी देख सकते हैं कि हमारे युग में धर्म राष्ट्रीय स्वार्थ के सामने दृढ़तापूर्वक डटा नहीं रहता, वह भयभीत होकर पीछे हटता है। धर्मभ्रंशता का यह दुःख सभी को किसी-न-किसी रूप में वहन करना पड़ेगा; राजा-प्रजा, प्रबल-दुर्बल, धनी-श्रमिक कोई उससे बच नहीं सकता। राजा प्रयोजनसिद्धि के लिए प्रजा पर दुर्नीति से आघात करेगा, और प्रजा भी दुर्नीति से ही राजा को क्षति पहुँचाने का प्रयत्न करेगी। तृतीय पक्ष के जो लोग प्रत्यक्ष रूप से इस विरोध में उलझे नहीं हैं, उन्हें भी इस अधर्म-संघर्ष का अग्निदाह सहना होगा। संकट में पड़कर मनुष्य जब अच्छी तरह समझ लेता है कि अधर्म को वेतन देने से वह एक पक्ष की गुलामी नहीं करता—दोनों पक्षों का नमक खाकर दोनों के लिए समान रूप से भयंकर हो उठता है—तब अधर्म की सहायता पर विश्वास बाकी नहीं रहता; और तब विपन्न समाज में दोनों पक्ष अधर्म को निर्वासित करने के लिए आपस में समझौता करते हैं। इसी उपाय से धर्मराज निदारुण संघर्ष के बीच धर्म को विजय दिलाता है, धर्म का उद्धार करता है। जब तक धर्मराज का यह प्रयास पूर्ण न हो, सन्देह के साथ सन्देह का, द्वेष के साथ द्वेष का, कपटनीति के साथ कपटनीति का संग्राम चलता रहेगा और मानव-समाज उत्तप्त होता रहेगा।

इसलिए आज की हालत में हमारे देश के विचलित लोगों से जो कुछ कहना है, प्रयोजन की दिशा से ही कहना होगा। उन्हें यही बात अच्छी तरह समझानी होगी कि आवश्यकता कितनी ही तीव्र क्यों न हो, प्रशस्त पथ पर चलकर ही उसकी पूर्ति सम्भव है; किसी संकीर्ण मार्ग से कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने का प्रयत्न किया गया तो हम रास्ता भूल जायँगे। केवल इसीलिए कि हमारा मन उतावला है दुनिया में कभी रास्ता अपने-आप छोटा नहीं हो जाता, और न समय का विस्तार कम होता है।

किसी सामयिक दुःख से हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि देशहित का आयोजन कितना विस्तृत है और उसकी असंख्य शाखा-प्रशाखाएँ कहाँ तक फैल गई हैं। भारतवर्ष-जैसे वैचित्र्यपूर्ण और विरोधग्रस्त देश में तो राष्ट्रकल्याण की समस्या बहुत ही दुरूह है। ईश्वर ने हमारे ऊपर एक ऐसे महान् कार्य का भार रखा है,

मानव-समाज के एक ऐसे प्रकाण्ड जाल से शतसहस्र ग्रन्थिछेदन का आदेश मिला है, कि उसका माहात्म्य क्षण-भर के लिए भी भूलकर अस्थिर हो जाना उचित नहीं है। आदिकाल से दुनिया में जितनी बड़ी-बड़ी शक्तियों के प्रवाह जागृत हुए हैं, उन सबका किसी-न-किसी रूप में भारतवर्ष में आकर मिलन हुआ है। किसी रहस्यमय प्रयोजन की प्रेरणा से, ऐतिहासिक स्मृति के अतीतकाल में, आर्य-जाति गिरिगुहामुक्त स्रोतस्विनी की तरह अकस्मात् विश्व-पथ पर निकल पड़ी। उसीकी एक शाखा के लोगों ने वेदमन्त्र उच्चारित करते हुए भारत के छायादार अरण्यों में यज्ञ की अग्नि प्रज्ज्वलित की। उस दिन भारत की भूमि पर, आर्य-अनार्य के मिलन-क्षेत्र में, जिस महान् इतिहास की उपक्रमणिका हुई उसका गान क्या समाप्त होने से पहले ही रुक गया है? क्या विधाता ने उसे, बच्चों द्वारा बनाए गए मिट्टी के घरौंदे की तरह तोड़ दिया है? इसी भारत से बौद्ध धर्म के मिलनमन्त्र ने करुणाजल-भाराविन्त मेघ की तरह मन्द्रध्वनित होकर पूर्वसागर-तीरवासी मंगोलीय देशों को जागरित किया; ब्रह्मदेश से लेकर सुदूर जापान तक विभिन्न-भाषी अनात्मीयों को धर्मसूत्र से भारत के साथ संयुक्त किया। जिस महान् शक्ति का भारत में अभ्युदय हुआ, वह क्या भारत-भूमि पर ही निष्फलता में विलीन हो गई है? उसके बाद एशिया के पश्चिमतम प्रान्त में दैवबल की प्रेरणा से मानव की एक और शक्ति जागृत हुई; ऐक्यमन्त्र से पृथ्वी को सिंचित करने के लिए द्रुतगति से अग्रसर हुई। उस शक्ति-स्रोत के विधाता ने भारत को आह्वान ही नहीं दिया, बल्कि उसे सदा के लिए आश्रय भी प्रदान किया है। हमारे देश में जो हुआ है वह क्या केवल एक आकस्मिक उत्पात है? क्या इसमें नित्य सत्य का परिचय नहीं है; योरोप के महाक्षेत्र में मानव-शक्ति प्राण की प्रबलता से, विज्ञान के कौतूहल से, पण्य संग्रह की आकांक्षा से विश्वाभिमुख हुई; उसी शक्ति की एक शाखा भारत में आकर, विधाता का आह्वान हम तक पहुँचा रही है, आघात के द्वारा हमें जागृत कर रही है।

भारत में बौद्ध-धर्म की बाढ़ उतरने पर जब अलग-अलग प्रदेशों के अलग-अलग धर्म-सम्प्रदायों ने चारों दिशाओं को विरोध-विच्छिन्नता से कलंकित किया, तब शंकराचार्य ने उस विच्छेद और क्षुद्रता को मिटाकर एक अखण्ड ऐक्य की स्थापना करने का प्रयत्न किया, और इस तरह भारत की प्रतिभा का परिचय दिया। अन्त में जब दार्शनिक ज्ञान की साधना भारत को ज्ञानी-अज्ञानी, अधिकारी-अनधिकारी में विभाजित करने लगी तब चैतन्य, नानक, दादू, कबीर-जैसे सन्तों ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में भक्ति के ऐक्य का अमृत बरसाया। भारत के प्रादेशिक धर्मों में जो विच्छेद के भाव थे, उन्हें प्रेम के अंजन से भरने

का ही प्रयत्न उन्होंनेन हीं किया, वल्कि हिन्दू और मुसलमानों के स्वभावों के बीच धर्मसेतु का भी निर्माण किया। भारतवर्ष आज भी निश्चेष्ट नहीं है; राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और शिवनारायण स्वामी[1] ने भी अनैक्य के बीच एक को क्षुद्रता के बीच भूमा को प्रतिष्ठित करने के लिए अपनी जीवन-साधना भारत के हाथ में समर्पित की है। प्राचीन काल से अब तक भारतीय इतिहास के इन अध्यायों को विच्छिन्न रूप में नहीं देखना चाहिए। ये इतिहास का प्रलाप नहीं करते। ये आपस में जुड़े हुए हैं। इनमें से कोई प्रयास स्वप्न की तरह अचानक विलुप्त नहीं हुआ। ये सब सुरक्षित हैं। सन्धि हो या संग्राम, ये घात-प्रतिघात के द्वारा विधाता के अभिप्राय को अपूर्व वैचित्र्य के साथ सफल बनाते हैं। पृथ्वी के अन्य किसी देश में रचना का इतना विशाल आयोजन नहीं हुआ; इतनी जातियों, धर्मों और शक्तियों का किसी तीर्थस्थल पर ऐसा मिलन नहीं हुआ; विभिन्नता और वैचित्र्य का प्रकाण्ड समन्वय करके, विरोध के बीच मिलन के आदर्श को दुनिया-भर में विजयी कराने का ऐसा सुस्पष्ट आदेश और कहीं ध्वनित नहीं हुआ। पृथ्वी के अन्य भागों में मनुष्य चाहे राज्य-विस्तार करे, पुण्य विस्तार करे, भारत में मनुष्य को दुःसह तपस्या द्वारा ज्ञान, प्रेम और कर्म में, सारे अनैक्य और विरोध के बीच ब्रह्म को, 'एक' को, स्वीकार करना है; कर्मशाला की कठोर संकीर्णता के बीच मुक्ति का उदार, निर्मल आलोक प्रसारित करना है—यही अनुशासन हमें इतिहास के प्रारम्भिक युगों से बराबर मिला है। श्वेत और कृष्णवर्ण, मुसलमान और ईसाई, पूर्व और पश्चिम, कोई हमारे विरुद्ध नहीं; भारत के पुण्यक्षेत्र में ही सारे विरोध मिटाने के लिए शताब्दियों तक कठोर साधना की गई है। उसके लिए अति प्राचीन काल में हमारे तपोवन में 'एकम्' के तत्त्व का प्रचार उपनिषदों में किया गया। इतिहास अब तक इस तत्त्व की व्याख्या करता रहा है।

इसीलिए मेरा अनुरोध है, दूसरे देशों में मनुष्यत्व का जो आंशिक विकास हुआ है उसके दृष्टान्त देकर भारतीय इतिहास को संकीर्ण रूप से न देखिए। हमारे इतिहास में जो स्वगत-विरोध दिखाई पड़ते हैं उनसे होकर किसी क्षुद्रचेष्टा में अपने-आपको आँखें बन्द करके नियुक्त न कीजिए; यदि आपने ऐसा किया तो आप कृतकार्य नहीं हो सकते। विधाता की इच्छा के साथ अपनी इच्छा को संयुक्त

---

१. ये बंगाल के एक धर्मगुरु थे। इनका जन्म १८०४ में हुआ था। यद्यपि ये एकेश्वरवादी थे, फिर भी कर्मकाण्ड में भी थोड़ा-बहुत विश्वास रखते थे। शिक्षित वर्ग के बहुत-से लोग इनके शिष्यथे।

करना ही सफलता का एकमेव उपाय है। यदि हम उसके विरुद्ध विद्रोह करें, तो क्षणिक कार्य-सिद्धि हमें छलेगी और आखिर वह भयंकर व्यर्थता में डुबो देगी।

जो भारत मानव की सारी महान् शक्तियों से एक विराट् रूप धारण कर रहा है, जिस भारत को सारे आघात-अपमान-दुःख एक परम आविर्भाव की ओर ले जा रहे हैं, उस भारत की सेवा सज्ञान और सचेतन भाव से कौन करेगा ? अविचलित भक्ति के साथ, समस्त लोभ-अधीरता-अहंकार को इस महासाधना में विलीन करके, भारत-विधाता के चरणों में अपने निर्मल जीवन का अर्घ्य कौन अर्पित करेगा ? भारत के महान् राष्ट्रीय उद्‌बोधन के पुरोहित कहाँ हैं ? वे जहाँ-कहीं भी हों, आप विश्वास रखें कि वे चंचल नहीं हैं, उन्नत नहीं हैं, वे कर्म-निर्देश-शून्य धृष्टता द्वारा लोगों के हृदयावेग को संक्रामक रोग में परिणत नहीं करते। उनमें बुद्धि, हृदय और कर्मनिष्ठा का सरल समन्वय हुआ है; उनमें ज्ञान की गम्भीर शान्ति तथा धैर्य और इच्छा-शक्ति के अपराजित वेग तथा अध्यवसाय का महान् सामंजस्य है।

लेकिन जब किसी विशेष घटना से उत्तेजित होकर, सामयिक विरोध से क्षुब्ध होकर कुछ लोग देश-हित की इच्छा से सहसा तेजी से दौड़ने लगते हैं, तो यही कहना पड़ता है कि वे कठिन रास्ते पर केवल हृदयावेग के पाथेय के सहारे निकल पड़े हैं। देश के स्थायी और विस्तीर्ण कल्याण का शान्तभाव से, सत्यभाव से, विचार करना उनके लिए सम्भव नहीं होता। उपस्थित वेदना का ही वे इतना तीव्र अनुभव करते हैं, और उसके प्रतिकार का ही प्रयोग उसके मन में इतना उत्कट हो जाता है कि वे आत्मसंयमन नहीं कर सकते और उनके कामों से देश के समग्र हित पर आघात तक हो सकता है।

इतिहास के पाठ को ठीक से जाँचकर समझना कठिन होता है। सभी देशों के इतिहास में देखा जाता है कि जब कोई बड़ी घटना सामने आती है तो उसके पहले लोगों पर किसी प्रबल आघात का प्रभाव पड़ चुका होता है, और लोगों के मन आन्दोलित हो चुके होते हैं। राष्ट्र या समाज में असामञ्जस्य का बोझ धीरे-धीरे चुपचाप जमा होता रहता है और एक दिन अचानक धक्का लगते ही क्रांति भड़क उठती है। उस समय यदि देश में अनुकूल उपकरण प्रस्तुत हों, पहले से ही उसके भाण्डार में ज्ञान और शक्ति का संबल संचित किया गया हो, तभी उस क्रांति के दारुण आघात को झेलकर वह देश अपने नये जीवन को नया सामञ्जस्य प्रदान कर पाता है। देश का यह आन्तरिक प्राण-संबल हम देख नहीं पाते और समझते हैं कि क्रांति के द्वारा ही देश सफल हुआ है, क्रांति ही समस्त मंगल का मूल कारण तथा मूल उपाय है।

इतिहास को इस तरह बाह्य रूप से देखकर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस देश के मर्मस्थल में सृजन-शक्ति क्षीण हो वह प्रलय के आघात को झेलकर कभी ऊपर नहीं उठ सकता। जिसके पास बाँधने और रचना करने की स्वाभाविक सजीव प्रकृति होती है उसके जीवन-धर्म को, उसकी सृजन-शक्ति को, विध्वंसकारी क्रांति और भी सचेष्ट एवं सचेतन बनाती है। प्रलय का गौरव इसीमें है कि वह सृष्टि को नए बल की उत्तेजना देता है। विशुद्ध विध्वंस, निर्विचार क्रांति, किसी हालत में कल्याणप्रद नहीं हो सकती।

जो जहाज़ हवा का ज़ोरदार झोंका लगते ही जड़त्व त्यागकर आगे बढ़ता है, उसके विषय में हम कह सकते हैं कि उसमें और कोई गुण हों या न हों, कम-से-कम उसके निचले हिस्से के तख्तों में कोई दरार नहीं है; और यदि पहले रही हो, तो निश्चय ही जहाज़ के मिस्त्रियों ने अँधेरी कोठरी में बैठकर उसकी मरम्मत की है। लेकिन जिस जीर्ण जहाज़ में ज़रा-सा धक्का लगते ही तख्ते एक-दूसरे से टकराने लगते हैं, उसके लिए तेज़ हवा का ज़ोरदार झोंका क्या विनाशकारी नहीं सिद्ध होगा ? हमारे देश में क्या ज़रा-ज़रा-सी बातों से हिन्दू-मुसलमान का संघर्ष, उच्चवर्ण और निम्नवर्ण का संघर्ष नहीं होता ? जब भीतर दरार पड़ चुकी हो तो आँधी-तूफ़ान से बचकर स्वराज्य के बन्दरगाह तक पहुँचने का क्या यही प्रशस्त उपाय है कि उत्तेजना को उन्माद में परिणत होने दिया जाय ?

जब देश बाहर से अपमानित होता है, जब अपने अधिकारों को बढ़ाने की इच्छा व्यक्त करते ही शासक हम पर अयोग्यता का आरोप लगाते हैं, तो हमारे लिए स्वदेश की किसी त्रुटि या दुर्बलता को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। उस समय हम केवल परकीयों के सामने इज्ज़त बचाने के लिए अपनी बड़ाई करते हों, यह बात नहीं; आहत अभिमान के कारण, अपनी अवस्था के कारण अपनी अवस्था के सम्बन्ध में हमारी बुद्धि भी अन्धी हो जाती है। हमारी अवज्ञा नहीं की जा सकती, यह प्रमाणित करने के लिए हम आतुर हो जाते हैं। हम सब-कुछ कर सकते हैं, हमारे पास सब-कुछ है, केवल बाह्य बाधाओं ने हमें अक्षम बना दिया है—इस तरह की बातें हम अस्वाभाविक उच्च कंठ से कहते हैं; यही नहीं, इन बातों पर विश्वास करके कार्य में प्रवृत्त होने के लिए हमारा लांछित हृदय बेचैन हो उठता है। ऐसे आत्यंतिक चित्तक्षोभ की अवस्था में हम इतिहास को गलत तरीके से पढ़ते हैं। हम यह स्थिर कर लेते हैं कि प्रत्येक पराधीन देश, जिसने स्वाधीनता प्राप्त की है, क्रांति के द्वारा ही सफल हुआ है। इस स्वाधीनता पर अधिकार करने और उसकी रक्षा करने के लिए अन्य गुणों की भी आवश्यकता है या नहीं, इस बात पर या तो हम स्पष्ट रूप से विचार ही नहीं करना चाहते

या झटपट यह मान लेते हैं कि वे गुण हममें विद्यमान हैं, अथवा ज़रूरत पड़ने पर वे गुण अपने-आप हममें विकसित होंगे।

इस तरह मानव-चित्त जब अपमान से आहत होकर अपना गौरव प्रमाणित करना चाहता है, सारी कठिनाइयों को अस्वीकार करके असाध्य काम में लगते हुए आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होता है, तब उससे अधिक करुणावह चीज़ और कौन-सी हो सकती है ? इस तरह की दुश्चेष्टा का व्यर्थता में अन्त होना अनिवार्य है। फिर भी हम इसका परिहास नहीं कर सकते। इसमें मानव-प्रकृति का जो परम दुःखकर अध्यवसाय है वह पृथ्वी में सर्वत्र, सभी युगों में, विविध कारणों से, विविध असम्भव आशाओं को लेकर व्यक्त हुआ है। यह अध्यवसाय बार-बार उस पतंगे की तरह, जिसके पंख जल गए हों, अन्धभाव से निश्चित पराजय की अग्निशिखा से टकराता है।

जिस तरह से भी हो, शक्ति का अभिमान बाहर से आघात पाकर जाग उठा है, और यह बात देश के लिए अनिष्टकर नहीं कही जा सकती। लेकिन हमारा यह यह उद्यम विरोध के क्रुद्ध आवेग से आविर्भूत हुआ है; इसलिए कुछ लोग अपने मन में इस दुर्बुद्धि का पोषण करते हैं कि देश की सारी शक्ति विरोधमूर्ति द्वारा ही व्यक्त की जाय। लेकिन जो लोग कभी सहज अवस्था में, स्वाभाविक अनुराग द्वारा, देश-हित के काम से अभ्यस्त नहीं हुए, जिन्होंने उच्च संकल्प को धैर्य के साथ विविध उपकरणों से और अनेक बाधाओं के बीच विकसित नहीं किया, दीर्घकाल तक राष्ट्रचालना के बृहत् कार्य-क्षेत्र से दुर्भाग्यवश वंचित होकर जो लोग क्षुद्र स्वार्थ का संकीर्ण भाव से अनुसरण करते आए हैं; ऐसे लोग अचानक उत्तेजित होकर देश का बहुत बड़ा कल्याण कर सकेंगे यह असम्भव बात है। जो आदमी जन्म-भर नौका के पास नहीं गया वह तूफ़ान आते ही अचानक कर्णधार बनकर देश-विदेश में ख्याति अर्जन करता है, यह घटना स्वप्न में ही सम्भव है। इसलिए हमें देश का काम शुरू से ही करना होगा। उसमें विलम्ब लग सकता है, लेकिन विपरीत उपाय अपनाने से अन्ततः और भी अधिक विलम्ब लगेगा।

मनुष्य बृहत् मंगल सृष्टि तपस्या द्वारा ही करता है। काम-क्रोध से तपस्या भंग हो जाती है, तपस्या का फल क्षण-भर में नष्ट हो जाता है। हमारे देश में भी कल्याणमय प्रयास की तपस्या अप्रकाशित रूप से चलती रही है; उसमें शीघ्र फलप्राप्ति का लोभ नहीं रहा; सामयिक आशाभंग से उत्पन्न क्रोध को उसने संयत किया है। ऐसे समय अचानक अधीर उन्मत्तता यज्ञक्षेत्र में रक्त वृष्टि करके देश की बहुदुःखसंचित तपस्या के फल को कलुषित कर रही है, नष्ट कर रही है।

क्रोध के आवेग को तपस्या पर विश्वास ही नहीं होता। वह तपस्या को

निश्चेष्टता समझता है, अपनी सामयिक उद्देश्य सिद्धि के मार्ग की मुख्य बाधा समझकर उससे घृणा करता है, उत्पात के द्वारा तप-साधन को विचलित और निष्फल करने के लिए प्रवृत्त होता है। उसकी दृष्टि में फल को परिपक्व होने देना औदासीन्य है, फल को तोड़ लेना ही पौरुष है। वह सोचता है कि जो माली प्रति-दिन पेड़ की जड़ में पानी देता है उसे पेड़ पर चढ़ने का साहस नहीं है। पानी देने को वह छोटा काम समझता है और माली से नाराज़ होता है। उत्तेजित अवस्था में मनुष्य उत्तेजना को ही दुनिया का सबसे बड़ा सत्य समझता है; जहाँ उत्तेजना का अभाव हो, वहाँ वह कोई सार्थकता नहीं देखता।

लेकिन उत्तेजना और शक्ति में उतना ही अन्तर है जितना चिनगारी और ज्वाला में। चकमक पत्थरों को रगड़ने से जो चिनगारी बाहर निकलती है उससे घर का अन्धकार दूर नहीं होता। उसका आयोजन जितना छोटा होता है उतना ही अल्प उसका प्रयोजन भी होता है। दीप जलाने के लिए बहुत-कुछ करना पड़ता है--तेल भरना, बाती बनाना, दीप के लिए आधार प्रस्तुत करना। जब यथार्थ मूल्य चुकाकर सब सामान खरीदा जाता है, और परिश्रम करके दीप को तैयार किया जाता है, तभी प्रयोजन होने पर चिनगारी दीपक में पहुँचकर स्थायी शिखा बन जाती है और घर को आलोकित करती है। जब आवश्यक प्रयास द्वारा प्रदीप-रचना का आयोजन नहीं किया जाता, जब चकमक पत्थरों को रगड़ने की चंचलता से ही सब लोग आनन्दित हो जाते हैं, तब घर में प्रदीप नहीं जलता; हाँ, आग अवश्य लग सकती है।

लेकिन शक्ति को सुलभ बनाने की इच्छा से मनुष्य उत्तेजना का आश्रय लेता है। वह यह भूल जाता है कि अस्वाभाविक सुलभता से एक ओर हमारी बचत होती है लेकिन दूसरी ओर से हमें भारी कीमत चुकानी पड़ती है। पहले से ही वस्तु का महँगापन स्वीकार कर लेते तो उसका मिलना अपेक्षाकृत सुलभ होता।

हमारे देश में भी जब देशहितबुद्धि नामक दुर्लभ, बहुमूल्य वस्तु आकस्मिक उत्तेजना से प्रत्येक देशवासी के बीच प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ी तब हमारा दरिद्र देश आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा। उस समय हमने यह नहीं सोचा कि इतनी अच्छी वस्तु की इतनी सुलभता अस्वाभाविक है। इस व्यापक वस्तु को कार्य के शासन में बाँधकर संयत न किया गया तो इसकी वास्तविक सार्थकता सम्भव नहीं है। यदि रास्ते पर चलते हुए कोई भी ऐरे-ग़ैरे लोग युद्ध के लिए आतुर हों, और हम खुश होकर उन्हें सैनिक समझ लें, उन्हें सुलभता से काम पर नियुक्त कर लें, तो वास्तविक युद्ध छिड़ने पर इस सस्तेपन का हमें धन-प्राण देकर भारी मूल्य

चुकाना पड़ेगा।

असल बात यह है कि जिस तरह मदिरा के नशे में चूर होकर मनुष्य अपनी और अपने साथियों की मस्ती को और भी बढ़ाना चाहता है, उसी तरह आजकल हम भी उत्तेजन का उन्माद असंयत रूप से बढ़ाते जा रहे हैं। लेकिन हम स्वीकार नहीं करते कि यह एक नशा है। हम कहते हैं : शुरू-शुरू में उत्तेजना बहुत आवश्यक है। जब वह परिपक्व होगी तो अपने-आप कार्य में प्रवृत्त होगी। जो लोग दिन-रात काम की रट लगाते हैं उनकी दृष्टि संकीर्ण है, उनमें भावुकता नहीं है। हम देश को भावना में चूर कर देंगे। देश-भर में हमने भावना का भैरवी चक्र स्थापित किया है। हमारा मंत्र यही है :

'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पुनः पतति भूतले
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्मो न विद्यते।'

प्रयत्न नहीं, कर्म नहीं, किसी चीज़ की रचना नहीं—केवल भावोच्छ्वास ही साधना है, केवल उन्माद ही मुक्ति है !

हमने बहुतों को आह्वान दिया, बहुतों को एकत्रित किया, विशाल जनसमुदाय को देखकर हम आनन्दित हुए। लेकिन हमने कोई कार्य-क्षेत्र प्रस्तुत नहीं किया जिससे लोगों की उद्बोधित शक्ति सार्थक हो सके। हम देशवासियों को उत्साह ही दे सके, काम नहीं। मानव-मन के लिए इससे अधिक अस्वास्थ्यकर बात कोई नहीं हो सकती। हमने सोचा, उत्साह मनुष्य को निर्भीक बनाता है और निर्भीक मनुष्य सारी बाधा-विपत्तियों के ऊपर छलाँग मारकर निकल जाता है। लेकिन इस तरह छलाँग मारने का आवेश कर्मसाधना का मुख्य अंग नहीं है। स्थिरबुद्धि से विचार करने की शक्ति, संयत होकर रचना करने की शक्ति इससे कहीं बड़ी है। नशे की हालत में आदमी खून कर सकता है, युद्ध नहीं कर सकता। युद्ध में भी नशा है, लेकिन युद्ध की चालना उन्माद से नहीं होती। आज उत्तेजना के समय, देश एक स्थिरबुद्धि, दूरदर्शी, कर्मोत्साही अग्रणी को ढूँढ़ रहा है, पुकार रहा है। लेकिन इस अभागे देश को ऐसे अग्रणी की पदध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। हम पात्र में मदिरा ढालते जा रहे हैं, इंजन में स्टीम बढ़ाते जा रहे हैं। जब यह प्रश्न उठता है कि रास्ते को समतल करके रेल की पटरियाँ कौन बिछायेगा, तब हम कहते हैं : इन सब छोटे कामों का हिसाब करके अपना सिर खपाने की ज़रूरत नहीं है; समय आने पर अपने-आप सब ठीक हो जायगा; मज़दूरों का काम मज़दूर ही करेंगे; हम चालक हैं, हमें तो इंजन का ही दम बढ़ाना है।

अब तक जिन्होंने धैर्य से मेरी बातें सुनी हैं वे अब शायद मुझसे पूछेंगे : 'तब क्या बंगाल की जनता में जिस उत्तेजना का उद्रेक हुआ है उससे किसी शुभ फल

की प्रत्याशा नहीं की जा सकती ?'

मैं यह नहीं कहता कि इससे कोई फल नहीं मिलेगा। सोई हुई शक्ति को सचेष्ट और सचेतन करने के लिए इस आवेश की ज़रूरत थी। लेकिन सचेतन होने के बाद क्या करना है ? उस शक्ति से काम करना है या उसे उन्मत्त बनाना है ? किसी मात्रा तक उन्माद से क्षीण प्राण कार्योपयोगी बन सकता है; लेकिन वही उन्माद अगर बहुत बढ़ जाय तो कार्योपयोगिता नष्ट कर देता है। उन्मत्त मनुष्य की अभिरुचि उन सब सत्य कर्मों से विमुख होती है जिनमें धैर्य और अध्यवसाय की आवश्यकता हो। धीरे-धीरे आवेश ही उसका लक्ष्य बन जाता है और कार्य के नाम से वह ऐसे अकाज निर्माण करता है जो उसके नशे के अनुकूल हों। उत्पात को वह एक मादक वस्तु की तरह व्यवहार में लाता है, लेकिन उसे स्वदेश हित का नाम देकर उत्तेजता की तीव्रता बनाये रखता है। हृदयावेग यदि उपयुक्त कार्य की प्रेरणा से बहिर्मुख न हो, अन्दर ही संचित और वर्धित होता रहे, तो वह विष की तरह बन जाता है। उसके वृथा उद्यम से स्नायुमंडल विकृत हो जाता है और कर्मसभा नृत्यसभा बन जाती है।

नींद से जागकर, अपनी सचल शक्ति को स्वीकार करने के लिए उत्तेजना का आघात प्रयोजनीय था। अब तक हम सोचते थे कि अँग्रेज़ अपने जन्म-जन्मान्तर के पुण्य से, और अपने शुभ ग्रहों से, हमारे कर्महीन हाथों में अपने-आप समस्त मंगल रख देंगे। कभी इस सौभाग्य की वंदना करके, तो कभी इससे झगड़ा करके हम अपना समय बिताते थे। यही करते-करते मध्याह्न वेला में, जब सारा जगत कार्य में लीन होता है, हम सुखनिद्रा में निमग्न थे। अचानक कहीं से आघात लगा, नींद उचट गई, पहले की तरह सुख-स्वप्न देखने की इच्छा नहीं रही। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि हमारे उस स्वप्न के साथ हमारे जागरण का एक विषय में सादृश्य रह गया।

पहले हम निश्चित थे, सोचते थे बिना प्रयास किये ही हमको प्रयास का फल मिल सकता है; आज भी हम सोचते हैं कि फल पाने के लिए प्रयास के पथ को हम बहुत ही छोटा बना सकते हैं। स्वप्नावस्था में हम असम्भव आशा से लिपटे रहते थे, आज जागृतावस्था में भी हम वैसा ही कर रहे हैं। शक्ति की उत्तेजना हममें इतनी बढ़ गई है कि जो विलम्ब अनिवार्य है उसे भी अनावश्यक समझते हैं। बाहर चिरपुरातन दैन्य ज्यों-का-त्यों है, अन्दर नवजागृत शक्ति का अभिमान है—इन दोनों में सामंजस्य कैसे स्थापित हो ? धीरे-धीरे ? बीच में जो प्रकाण्ड गह्वर है उसके ऊपर सेतु बनाकर ? लेकिन अभिमान तो विलम्ब को सहन कर नहीं सकता; उन्माद कहता है: 'मुझे सीढ़ी की ज़रूरत नहीं है, मैं उड़

सकता हूँ'। यथोचित समय लगाकर सुसाध्य काम तो सभी कर सकते हैं, हम असाध्य करके दुनिया को विस्मित करेंगे—इस कल्पना से हम उन्मत्त हो गए हैं।

जब प्रेम जागता है, वह शुरू से सब काम करना चाहता है, छोटे-बड़े किसी काम की उपेक्षा नहीं करता, उसे बराबर यह चिंता लगी रहती है कि कहीं कोई कर्त्तव्य अधूरा न रह जाय। प्रेम अपने को सार्थक करना चाहता है, अपने को प्रमाणित करने के लिए वह आतुर नहीं होता। लेकिन जब अपमान की ताड़ना से केवल आत्माभिमान ही जाग उठता है, तब वह छाती फुलाकर कहता है: 'मैं चलूँगा नहीं, छलाँगे भरूँगा।' दुनिया में और सब लोगों को जिन चीज़ों की ज़रूरत है उन्हें आत्माभिमान अनावश्यक समझता है—न उसे धैर्य की ज़रूरत है, न अध्यवसाय की, और न वह सुदूर उद्देश्य को ध्यान में रखकर सुदीर्घ उपायों को अपनाने का प्रयोजन देखता है।

इसीलिए हम देखते हैं किसी दिन हम जिस तरह अन्धभाव से दूसरों की शक्ति पर निर्भर थे, आज उतने ही अन्धभाव से अपनी शक्ति पर घमण्ड करते हैं। उस समय हम आवश्यक कर्म को टालने की कोशिश करते थे, आज भी हमारा यही प्रयत्न है। एक कहानी है कि किसी किसान के आलसी लड़के बाप के जीवन-काल में खेत के पास नहीं फटकते थे; बाप खेती करता, वे मज़े से खाते। जब बाप की मृत्यु हुई, उन्हें खेत में आना पड़ा— खेती करने के लिए नहीं, बल्कि इस आशा से कि गड़ी हुई सम्पत्ति उनके हाथ लगेगी। अच्छी फसल ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है, यह बात सीखने में उन्हें काफी समय नष्ट करना पड़ा। सम्पत्ति किसी अद्‌भुत उपाय से गुप्त स्थान पर नहीं मिलती, अन्य लोग जिस तरह उसे अर्जित करते हैं और उपभोग करते हैं वैसे ही हमें भी करना होगा—यह बात हमें भी सीखनी है। यदि हम इसे सहज ही न सीखें तो हम पर और भी आघात लगेंगे, हमारा दुःख बढ़ेगा; विपथ पर हम जितना ही अग्रसर होंगे लौटने का पथ हमारे लिए उतना ही लम्बा और कठिन हो उठेगा।

अधीरता या अज्ञान के कारण स्वाभाविक मार्ग के प्रति अविश्वास दिखाकर किसी असामान्य वस्तु को निर्माण करने की इच्छा जब बहुत बढ़ जाती है, तब मनुष्य की धर्मबुद्धि का नाश होता है। तब वह किसी भी उपकरण या उपाय को अग्राह्य नहीं समझता; छोटे-छोटे बालकों की निर्ममता से बलि देने में भी उसकी उन्मत्त इच्छा नहीं हिचकती। महाभारत के सोमक राजा की तरह हमने असामान्य उपाय से सिद्धि-लाभ करने के प्रलोभन से, अपने सुकुमार लड़कों को यज्ञ की अग्नि में समर्पित कर दिया है। इस विचारहीन निष्ठुरता का पाप चित्रगुप्त की दृष्टि से छिपा नहीं रहेगा। उसका प्रायश्चित अभी से आरम्भ हो चुका है, बालकों के

शोक से सारे देश का हृदय विदीर्ण हो रहा है। अभी और कितना दु:ख सहना होगा, हम नहीं जानते।

दुः ख सहन करना उतना कठिन नहीं है जितना दुर्बुद्धि का दमन करना। जब एक बार हम अत्याचार या अन्याय को कर्मसाधना में अपना सहायक मानते हैं, तो अन्तःकरण को विकृति से बचाने की स्वाभाविक शक्ति हम खो देते हैं। न्याय-धर्म के ध्रुव केन्द्र को जब हम एक बार छोड़ देते हैं, तो बुद्धि क्षीण हो जाती है, कर्म में स्थिरता नहीं रहती। ऐसी दशा में विश्वव्यापी धर्मव्यवस्था के साथ अपने भ्रष्ट जीवन का फिर से सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रचण्ड संघर्ष करना पड़ता है।

हमें दु:ख के साथ मानना ही पड़ेगा कि हमारे देश में कुछ दिनों से यही प्रक्रिया चल रही है। यह बात हमें बड़ी अप्रिय लगती है, लेकिन इसे छिपाकर, इसके विषय में चुप रहकर या अत्युक्ति के आवरण से इसे ढाँककर, अनिष्ट को बढ़ने देना हमारे कर्तव्य के विरुद्ध है।

जहाँ तक संभव है, विलायती वस्तुओं का व्यवहार छोड़कर हमें देशी शिल्प की रक्षा और उन्नति के लिए प्रयत्न करना है; इस बात के विरुद्ध मैं कुछ कहूँगा, ऐसी आशंका आपको नहीं होनी चाहिए। बहुत दिनों पहले मैंने जब लिखा था :

अपने हाथों से परोसा हुआ
साग-भात भी हमें स्वादु लगे !
अपने हाथों से बुना हुआ
मोटा कपड़ा भी हमें संतोष प्रदान करे !

उस समय लॉर्ड कर्जन पर नाराज़ होने का हमारे पास कोई कारण नहीं था। और उससे भी पहले जब मैंने 'स्वदेशी भंडार'[1] स्थापित करके देशी वस्तुओं को प्रचलित करने का यत्न किया था उस समय मुझे लोगों की प्रतिकूलता का सामना करना पड़ा था।

लेकिन विदेशी वस्तुओं के बदले स्वदेशी वस्तुओं का प्रचलन चाहे जितना बड़ा काम हो, उसके समर्थन में लेश-मात्र अन्याय का प्रयोग मैं स्वीकार नहीं कर सकता। विलम्ब हो, विरोध हो, तो कोई हर्ज नहीं —उससे बुनियाद पक्की होती है, कार्य की परिणति होती है। लेकिन ऐसा कोई इन्द्रजाल अच्छा नहीं होता जो

---

१. स्वदेशी भण्डार का यह प्रयोग बंगाल में सन् १९०५ के बहिष्कार-आन्दोलन के समय कलकत्ता में किया गया था।

रात-भर में महल खड़ा कर दे और कहे कि उसका नक़द मूल्य चुकाना ज़रूरी नहीं है। हमारे मन में यह भय है कि यदि मैन्चेस्टर की मिलों को फौरन बन्द न करा दें तो जो दीर्घ और कठिन प्रयास करना पड़ेगा, जिस दुःसाध्य उद्देश्य के प्रति दीर्घ-काल तक निष्ठा रखनी पड़ेगी, उसे निभाने के लिए हमारे पास यथोचित शक्ति नही है। इसलिए जल्दी-जल्दी बंग-विभाजन का बदला लेने की प्रेरणा से हम पथ-विपथ का विचार न करते हुए आगे बढ़ते हैं। इस तरह चारों ओर से सामयिक उत्तेजना का शोर हमारे कानों को बहरा बना देता है। हम विभ्रान्त होकर अपने प्रति विश्वास खो देते हैं, अपने स्वभाव के प्रति अश्रद्धा दिखाते हैं, शुभ बुद्धि को अमान्य करके शीघ्रातिशीघ्र लाभ प्राप्त करना चाहते हैं और बाद में दीर्घकाल तक उसका हिसाब लगाते हैं। मंगल को पीड़ित करके मंगल प्राप्त करेंगे, स्वाधीनता की जड़ पर आघात करके स्वाधीनता मिलेगी, यह बात कितनी असम्भव है इस पर हम ध्यान ही नहीं देना चाहते।

बायकॉट आन्दोलन कई स्थानों पर देशबांधवों के प्रति अत्याचार करके सफल हुआ है, इस बात को बहुत-से लोग अच्छी तरह जानते ही नहीं और अन्य बहुत-से लोग स्वीकार नहीं करना चाहते। जिस बात को हम ठीक समझते हैं उसे दृष्टान्त और उपदेश द्वारा दूसरों को समझाने में विलम्ब लगता है। उस विलम्ब को हम यदि सहन न कर सकें, दूसरों के उचित अधिकार में बलपूर्वक हस्तक्षेप करना अन्याय है यह भावना यदि देश में न रहे, तब तो हमारे असंयम की कोई सीमा ही नहीं होगी। यदि कर्तव्य के नाम पर अकर्तव्य प्रबल हो उठे तो देखते-ही-देखते सारे देश का वातावरण अप्राकृतिक हो जायगा। स्वाधीनता की दुहाई देकर हम यथार्थ स्वाधीनता-धर्म के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। समस्त मतभेद और विरोध को डंडे के ज़ोर से एकाकार करना चाहिए, इस तरह की दुर्मति का आज देश में प्रादुर्भाव हुआ है। जो हम करते हैं वही सबको करना होगा, जो हम कहते हैं वही दूसरों को भी करना होगा, इस तरह की ज़बरदस्ती से इच्छा, मन और आचरण के वैचित्र्य का नाश करके जो निर्जीवता उत्पन्न होती है उसे हम राष्ट्रीय ऐक्य कहते हैं। हमसे असहमत होने वालों को हम समाज में उत्पीड़ित करते हैं, अखबारों में उनके प्रति कुत्सित भाषा का प्रयोग करते हैं, यहाँ तक कि शारीरिक आघात द्वारा उन्हें सबक सिखाने की धमकी देते हैं। आप सब जानते हैं, और मैं तो बहुत अच्छी तरह जानता हूँ, कि इस तरह के गुमनाम पत्र बहुतों को भेजे गए हैं, और देश के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भी अपमान से रक्षा नहीं हो सकी। दुनिया में कितने ही महापुरुषों ने विरुद्ध सम्प्रदाय में अपना मत प्रचारित करके प्राण तक का बलिदान दिया है। हम भी अपने मत का प्रचार करना चाहते हैं, लेकिन इतिहास

के अन्य सब उदाहरणों को छोड़कर हमने मूर्तिभंजक काला पहाड़[1] को ही अपने एकमेव गुरु के रूप में चुना है।

पहले ही कह चुका हूँ, जिसमें रचना-शक्ति न हो, उसके लिए विध्वंसक कार्य मृत्यु की तरह है। मैं पूछता हूँ, आज हमारे देश में रचना-तत्त्व कहाँ प्रकाशित हो रहा है ? कौन-सी ऐसी सृजन-शक्ति है जो हमारे प्रभेदों के बीच काम करते हुए हमें ऐक्यसूत्र में बाँध रही हो ? चारों ओर केवल भेद के ही लक्षण दिखाई पड़ते हैं। हममें जब इतनी विच्छिन्नता है, तो अपने अधिकारों को हम किसी तरह प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। और ऐसी स्थिति में दूसरे हमारे ऊपर अधिकार जमायँगे ही; उन्हें हम रोक नहीं सकते। बहुत-से लोग सोचते हैं कि देश की पराधीनता सिरदर्द की तरह हमारे अन्दर की व्याधि नहीं बल्कि हमारे सिर पर अँग्रेज़ सरकार द्वारा बाहर से लदा हुआ बोझ है; यदि किसी तरकीब से सरकार को धक्का देकर सिर से बोझ हटा दें तो हमें आराम मिलेगा। लेकिन बात इतनी सरल नहीं है। अँग्रेज़ सरकार हमारी पराधीनता नहीं है, वह तो केवल हमारी गम्भीरतर पराधीनता का एक प्रमाण है।

लेकिन गम्भीरतर कारणों की समीक्षा करने के लिए हमारे पास आजकल न उचित मनोभाव है, न अवकाश। जब यह पूछा जाता है कि भारत में, इतने जातिगत विभागों के बावजूद, एक महान् राष्ट्र की स्वराज्य-प्रतिष्ठा कैसे सम्भव है, तो जो लोग त्वरित फल चाहते हैं वे प्रश्न को यह कहकर टालते हैं: 'स्विटज़रलैण्ड में भी तो अनेक जातियाँ हैं, लेकिन उनसे स्वराज्य के रास्ते में कौन-सी बाधा पड़ी है ?'

इस तरह के दृष्टान्त देकर हम अपने-आपको धोखा दे सकते हैं, लेकिन विधाता की आँखों में धूल नहीं झोंक सकते। वास्तव में तर्क का विषय यह नहीं है कि जाति-वैचित्र्य के बावजूद स्वराज्य-प्राप्ति कहाँ तक सम्भव है। वैचित्र्य तो कितने ही प्रकार के होते हैं—एक बड़े परिवार में भी दस तरह के आदमी होते हैं। मुख्य प्रश्न यह है कि वैचित्र्य के बीच ऐक्यतत्व काम कर रहा है या नहीं। स्विटज़रलैण्ड में यदि विविध जातियों का ऐक्य हुआ है तो उससे यही पता चलता है कि वहाँ वैचित्र्य-तत्त्व पर ऐक्यतत्त्व ने अधिकार कर लिया है। वहाँ के समाज में निश्चय ही एक ऐक्यधर्म है। हमारे देश में केवल वैचित्र्य है; ऐक्यधर्म के अभाव से विश्लिष्टता भाषा, जाति, धर्म और लोकाचार के

---

१. पठान सुलतान कर्नानी के काल का एक धर्म-च्युत हिन्दू, जो मुसलमान हो गया था। वह कट्टर मूर्ति-भंजक था। सन् १५८० में अकबर के सेनापति मुनीमखाँ ने उसका वध कर डाला था।

विविध रूप धारण करके इस वृहत् देश को छोटे-बड़े सैकड़ों हिस्सों में विच्छिन्न रखती है।

इसलिए दूसरे देश का उदाहरण देकर निश्चेष्ट बैठे रहना ग़लत है। यदि आँखें बन्द करके हम कहते रहें कि 'सब-कुछ ठीक है, केवल अँग्रेज़ों के जाने की देर है, फिर बंगाली-पंजाबी-महाराष्ट्रीय-मद्रासी सब मिलकर, हिन्दू-मुसलमान एकत्रित होकर मन-प्राण-स्वार्थ का ऐक्य प्रस्थापित होगा और हम स्वाधीन होंगे', तो हमारी विवेक-बुद्धि इस बात से सन्तुष्ट नहीं होगी।

आज भारत में जिस ऐक्य को देखकर हम समझ रहे हैं कि सिद्धिलाभ अति-शीघ्र होने वाला है, वह ऐक्य यान्त्रिक है, जैविक नहीं। भारत की विभिन्न जातियों में जीवन-धर्म की प्रेरणा से ऐक्य स्थापित नहीं हुआ है; परकीय जाति के एकाधिपत्य ने हमें बाह्य बन्धन से एकत्रित किया है।

सजीव पदार्थ कभी-कभी यान्त्रिक रूप से एकत्रित होकर धीरे-धीरे जैविक ऐक्य भी प्राप्त कर लेता है। इसी तरह अलग-अलग प्रकार की डालों में क़लम लगाई जा सकती है। लेकिन जब तक काल-क्रम से वह जोड़ सजीवतापूर्वक पेड़ में न मिल जाय, तब तक बाहर का कठिन बन्धन खोला नहीं जा सकता। रस्सी पेड़ का अंग नहीं होती, इसलिए वह चाहे जैसे रहे, चाहे जितना उपकार करे, पेड़ को कष्ट देगी ही; लेकिन जब विभिन्नता का अतिक्रमण करके एक कलेवर निर्माण करना है, तो रस्सी को स्वीकार करना ही पड़ेगा। हो सकता है कि रस्सी ज़रूरत से ज़्यादा कस दी गई है; लेकिन इसका एक-मात्र प्रतिकार यही है कि पेड़ आन्तरिक रूप से जोड़ में अपना रस मिलाकर, उससे प्राणमय योग स्थापित करके, उसे आत्मसात् कर ले। जब जोड़ पेड़ में घुल-मिल जायगा, माली बाहर से बँधी हुई रस्सी को काटकर फेंक देगा।

अँग्रेज़ी शासन के बाह्य बन्धन को स्वीकार करते हुए भी उस पर हमें निर्भर नहीं रहना है। सेवा और प्रीति के द्वारा, सारे कृत्रिम व्यवधानों को दूर करके, भारतवर्ष में प्राणगत ऐक्य स्थापित करना है। ऐसे अनेक संगठन-मूलक सृजन-कार्य हैं जिनसे भौगोलिक भूखण्ड को अपने हाथ से स्वदेश का रूप दिया जा सकता है। वियुक्त जन-समूह को हमें अपने प्रयत्न से स्वजाति में परिवर्तित करना है।

सुना है, कुछ लोग यह भी कहते हैं: अँग्रेज़ों के प्रति देश की जनता में जो द्वेष है वही हमें ऐक्य प्रदान करेगा। प्राच्य परजाति के प्रति अँग्रेज़ों में स्वाभाविक निर्ममता है, जिसके कारण वे भारत के सभी लोगों को अपने औदासीन्य और अपने उद्धत व्यवहार से व्यथित कर रहे हैं। इस वेदना का शूल प्रतिदिन हमारी

प्रकृति में और भी गहरा धँसता चला जाता है। इस नित्य विस्तारशील ऐक्य से ही भारत की विभिन्न जातियों का मिलन हो रहा है। इसीलिए इसी द्वेष को हमें अपना मुख्य आश्रय समझना चाहिए और उस पर अवलम्बित होना चाहिए।

यदि यह बात सच भी हो, तो जब विद्वेष का कारण दूर होगा—अँग्रेज भारत से विदा होंगे—तो हमारा कृत्रिम ऐक्य-सूत्र क्षण-भर में विच्छिन्न होगा। तब द्वेष का कोई दूसरा विषय कहाँ से प्राप्त करेंगे? हमें दूर नहीं जाना पड़ेगा, कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना होगा; अपनी रक्त-पिपासु विद्वेषबुद्धि से हम एक-दूसरे को ही क्षत-विक्षत करने लगेंगे।

कुछ लोग कहते हैं: 'तब तक कोई-न-कोई सुयोग मिल ही जायगा, यही मानकर हमें चलना चाहिए।' ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि देश केवल उनकी ही सम्पत्ति नहीं है। व्यक्तिगत राग-द्वेष और इच्छा-अनिच्छा लेकर वे चल देंगे लेकिन देश तो फिर भी रहेगा। कोई ट्रस्ट उचित मार्ग छोड़कर मनमानी तौर से धन को काम में नहीं ला सकता। उसी तरह देश सब लोगों और सब युगों का होता है; उसके मंगल को, किसी सामयिक क्षोभ से अदूरदर्शिता की संशयापन्न व्यवस्था के हाथ में सौंपने का अधिकार किसी को नहीं है। किसी सामयिक उद्वेग के वश में आकर हमें ऐसे निर्विचार काम नहीं करने हैं जिनसे देश का भविष्य भारग्रस्त हो जाय। कर्म का फल हम में से किसी अकेले व्यक्ति का नहीं है, सभी को भुगतना पड़ेगा।

इसीलिए मैंने बार-बार कहा है और फिर कहूँगा—शत्रुता के भाव को अहोरात्र बाहर की ओर उद्यत रखने के लिए उत्तेजना की अग्नि में अपने सारे चिरसंचित संबल की आहुति न दो; अपनी अप्रसन्न आँखों को दूसरों पर न जमाओ। आषाढ़ में जिस तरह मेघ तापशुष्क, प्यासी मिट्टी पर वर्षा के रूप में आता है, उसी तरह देश के सभी वर्गों के सभी लोगों के बीच उतरो। विविध दिशाओं में उन्मुख मंगल प्रयासों के बृहत् जाल में स्वदेश को समेटो। कर्म-क्षेत्र को सर्वत्र विस्तृत बनाओ—इतनी उदारतापूर्वक कि देश के उच्च-नीच, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी के हृदय और प्रयास का मिलन हो सके। शासकों के हमारे प्रति सन्देह और प्रतिकूलता से हम बार-बार प्रतिहत होंगे, लेकिन उससे हमारी पराजय नहीं होगी। हम विजयी होंगे, बाधाओं से सिर टकराकर नहीं, अटल अध्यवसाय से धीरे-धीरे उनका अतिक्रमण करके। हम केवल विजयी ही नहीं होंगे, कार्य-सिद्धि की सत्य साधना को देश में सदा के लिए संचित करेंगे। वंशजों के लिए शक्ति-चालना के समस्त पथ एक-एक करके उद्घाटित करेंगे।

आज बन्दीशाला में लौह श्रृंखलाओं की कठोर झंकार सुनाई पड़ती है, दंडधारियों की पदध्वनि से राजपथ कंपित और मुखरित है—लेकिन इन बातों को बहुत महत्त्वपूर्ण न समझो। यदि अच्छी तरह सुनोगे तो काल के महासंगीत में ये दुखदायी स्वर विलुप्त हो जायँगे। कितने युगों से क्रान्ति के आवर्त्त, अत्याचार के मंथन, और देश के सिंहद्वार पर बड़े-बड़े राजाओं के प्रवेश-प्रस्थान के बीच भारत की परिपूर्णता अभिव्यक्त होती रही है। आज का क्षुद्र इतिहास कुछ ही दिनों बाद समग्र में विलीन होकर अगोचर हो जायगा। हम भयभीत नहीं होंगे, क्षुब्ध नहीं होंगे। भारत की जो परम महिमा कठोर दुःख-संघर्ष के बीच विश्वकवि के सृजनानन्द को वहन करती आई है, उसीकी अखंड मूर्ति हम भक्त और साधक अपने प्रशान्त ध्यान नेत्रों से देखेंगे। चारी ओर के कोलाहल और चित्त-विक्षेप के बीच साधना को महान् लक्ष्य के प्रति अभिमुख रखेंगे। हम विश्वास रखेंगे कि इस भारत में, जहाँ युग-युगान्तर तक मानव-चित्त की सारी आकांक्षाओं का मिलन हुआ है, ज्ञान के साथ-साथ ज्ञान का मंथन होगा, जाति-जाति का समन्वय होगा। यहाँ जटिल वैचित्र्य है, प्रबल विच्छेद है। इतनी बहुलता, वेदना और संघात इतने दीर्घकाल तक वहन करके अन्य कोई देश बच न सकता; लेकिन एक वृहत् समन्वय के अभिप्राय ने भारत में सारे विरोधों को धारण किया है, परस्पर आघात से किसी का विनाश नहीं होने दिया। काल-कालान्तर और देश-देशान्तर के जो विचित्र उपकरण यहाँ संग्रहीत होते रहे हैं उन पर यदि हम अपनी क्षुद्र शक्ति द्वारा आघात करें तो हम स्वयं आहत होंगे। बाहर से अन्याय और अपमान हमारी ऐसी प्रवृत्ति को उत्तेजित कर रहे हैं जो केवल आघात करना जानती है, जो अधीर है, विनाश स्वीकार करते हुए भी अपनी ही सफलता को सब-कुछ समझती है। लेकिन इस आत्माभिमान के प्रमाद को शान्त करने के लिए हमारे अन्तःकरण में गम्भीर आत्मगौरव की शक्ति क्या भारतवर्ष संचारित नहीं करेगा? जो पास आकर हमारा परिचय प्राप्त नहीं करना चाहते, दूर से ही कटु शब्दों में विद्वेष व्यक्त करते हैं, ऐसे समाचारपत्रों की मर्मरध्वनि—विलायत के 'टाइम्स' और यहाँ के 'टाइम्स आफ इंडिया' की वाणी—क्या अंकुश की तरह हमें विरोध-पथ पर अंधभाव से चलाती रहेगी? इससे अधिक सत्य और नित्य वाणी क्या हमारे पितामहों के मुख से उच्चरित नहीं हुई है? ऐसी वाणी जो दूर को निकट और परकीय को आत्मीय बनाने का आह्वान देती है? क्या वे सब शान्त, गम्भीर, सनातन कल्याण वाक्य आज विस्मृत होंगे? भारत में हम मिलेंगे और मिलायँगे, दुःसाध्य की साधना करेंगे, जिससे शत्रु-मित्र का भेद लुप्त हो जाय। जो सत्य सर्वोच्च है, जो पवित्रता के तेज से, क्षमा के वीर्य से, प्रेम की

अजेय शक्ति से परिपूर्ण है, उसीको हम मंगल समझकर शिरोधार्य करेंगे। दुखः-वेदना की पीड़ा के बीच यात्रा करते हुए हम उदार आनन्द के साथ सारे विद्रोह-भाव को मन से दूर करेंगे। विविध धर्मों, शास्त्रों और जातियों के मिलन द्वारा भारत की भूमि पर विश्व-मानव मनुष्यत्व के आश्चर्यजनक मन्दिर का निर्माण कर रहा है; उसकी साधना में हम योगदान करेंगे। अपने अन्तःकरण की सारी शक्तियों को सृजनशक्ति में परिणत करेंगे और रचना-कार्य में प्रवृत्त होंगे। यदि हम यह कर सकें, यदि ज्ञान-प्रेम-कर्म से भारत के इस अभिप्राय में नियुक्त हो सकें, तो हमारी मोहमुक्त पवित्र दृष्टि स्वदेश के इतिहास में उस अक्षय, अद्वैत सत्य को देखेगी जिसके बारे में ऋषियों ने कहा है :

'स सेतुर्विधृरिषां लोकानाम्'

वही समस्त लोकों की विधृति है, सारे विच्छेदों का सेतु है। इसी सत्य के सम्बन्ध में कहा गया है :

'तस्य हवा एतस्य ब्रह्मणोनाम सत्यम्'

उस ब्रह्म का ही नाम 'सत्य' है, निखिल के सारे प्रभेदों के बीच ऐक्य-रक्षा का वह जो सेतु है, उसीका नाम 'सत्य' है।

[मुजफ़्फ़रपुर (बिहार) में प्रथम बम-काण्ड के पश्चात् २५ मई, १९०८ को चैतन्य लायब्रेरी हाल में पठित। बम-काण्ड में दो अँग्रेज़ महिलाएँ मारी गई थीं। दो क्रान्तिकारियों में से एक ने आत्महत्या कर ली थी तथा दूसरा पुलिस द्वारा पकड़ लिया गया था। इसके तुरन्त बाद ही कलकत्ता की मानिकतल्ला बम फैक्टरी पकड़ी गई थी। 'बंगदर्शन' मई-जून, १९०८ (ज्येष्ठ, १३०८ बं० सं०) में प्रकाशित।]

कर्ता की इच्छा

जहाँ ज़रा बारिश शुरू हुई, हमारी गली पानी से भर जाती। सदर रास्ते तक पानी-ही-पानी होता। रास्ता चलने वालों के जूते छाते की तरह शिरोधार्य हो जाते। गली के लोग जीवन-यात्रा के लिए उभचर जीवों से अधिक योग्य नहीं हैं—इस बात को घर के बरामदे से मैं प्रतिवर्ष देखता आया हूँ। बचपन से यही देखते-देखते आज मेरे बाल पक गए हैं।

इसी बीच साठ बरस पार कर चुका हूँ। उन दिनों वाष्प ही यंत्र-युग का प्रधान वाहन था; आज बिजली उसका उपहास कर रही है; उन दिनों परमाणु अदृश्यता तक पहुँचा था, आज वह अकल्पनीय हो गया है। उधर मरणप्राय चींटी की तरह मनुष्य आकाश में पंख फड़फड़ा रहा है। एक दिन आकाश का भी विभाजन होगा और इन विभागों के स्वामित्व के लिए मुकदमे चलेंगे—वकील उस दिन की बाट जोह रहे हैं। चीनियों ने अपनी सनातन चुटिया कटवा दी है, और जापान ने काल सागर पर ऐसी छलाँग मारी है कि वह पचास वर्ष में पाँच शताब्दियाँ पार कर गया है। लेकिन वर्षा की जलधारा के सम्बन्ध में हमारी गली का आतिथ्य जैसा था वैसा ही है। जब कांग्रेस की नींव भी नहीं पड़ी थी, उस समय भी इस रास्ते की पथिक वधुएँ यही वर्षा-गीत गाती थीं :

'कत काल-परे पदचारि ओरे
दुःख सागर साँतरि पार ह'बे ?'

'ओ पदचारी, तू दुःख-सागर को कितने समय बाद पार करेगा ?' और आज, जब 'होमरूल' का पक्का फल हमारे होठों तक पहुँचने ही को है, वही ज्ञान सुना जाता है—मेघमल्लार रागेण, यतितालाभ्याम्।

बचपन से हम देखते आ रहे है, इसलिए परिस्थिति हमारी समझ से बाहर नहीं है। जो बात जानी समझी हुई है, उसके विषय में कोई चिन्ता नहीं करता। हम भी चिन्ता नहीं करते, केवल सहते जाते हैं। लेकिन पत्र के वे वाक्य जिन्हें हम सरसरी दृष्टि से पढ़ जाते हैं, विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, यदि उनके नीचे लाइन काट दी गई हो। उसी तरह हमारे जलमग्न रास्ते के नीचे दो लाइनों को कटा हुआ देखकर मेरे मन को ही नहीं, गाड़ी के पहिए को भी धक्का लगा। वर्षा रुक गई थी, ट्रामलाइन की मरम्मत हो रही थी। न्यायशास्त्र कहता है कि जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी है; लेकिन ट्राम वालों के अन्याय

शास्त्र में मरम्मत का अन्त मैं नहीं देखता। इसीलिए कटी हुई लाइन के सहयोग से जब मैंने चितपुर रोड[1] पर जलस्रोत के साथ जनस्रोत का द्वन्द्व देखा, और देह-मन आर्द्र होने लगा, तब बहुत दिनों के बाद अचानक मैंने सोचा :

'आखिर मैं क्यों सहन करूँ ?'

सहन न करने से भी काम निकलता है, बल्कि अधिक अच्छी तरह निकलता है, यह तो चौरंगी में पैर बढ़ाते ही समझ में आ जाता है। एक ही शहर है, एक ही म्युनिसिपैलिटी—अन्तर केवल इतना है कि हम सह लेते हैं, चौरंगी वाले नहीं सहते। यदि चौरंगी के रास्तों का अधिकतर हिस्सा ट्राम के लिए होता, और रास्ता खोदकर लाइन की मरम्मत करने का काम ऐसा ही सुमधुर गजगति से चलता, तो आज ट्राम कम्पनी वालों को न दिन में भोजन मिलता, न रात को निद्रा।

हममें जो निरीह 'भले आदमी' हैं वे कहते हैं : 'ये कैसी बात है ? हमें थोड़ी असुविधा होती है, इसलिए क्या ट्राम के रास्ते की मरम्मत नहीं होगी ?'

'होगी, अवश्य होगी—लेकिन उसमें इतना समय नहीं लगना चाहिए।'

भले आदमी फिर कहेंगे : 'यह कैसे सम्भव है !'

जो हो रहा है उससे अच्छा कुछ हो सकता है, इस बात का विश्वास 'भले आदमियों' को नहीं है। इसीलिए उनकी आँखों से रात-दिन जल टपकता है, और उनके मोहल्ले की सड़कों की भी यही दशा है। इस तरह हम अपने सारे शरीर में दुःख का लेप लगाते हैं और कोलतार के पीपे की तरह लुढ़काकर उस दुःख को चारों ओर बिखेर देते हैं।

बात सुनने में छोटी लगती है, लेकिन वास्तव में छोटी नहीं है। कहीं हमारा कोई अधिकार भी है, यह बात हम पूरी तरह नहीं समझते। एक मछली शीशे के टब में थी। कई बार सिर पटकने के बाद उसकी समझ में आया कि काँच पानी नहीं है। बाद में उसे झील में छोड़ दिया गया—लेकिन उसे यह सोचने की हिम्मत नहीं हुई कि पानी काँच नहीं है; एक संकीर्ण दायरे में ही वह चक्कर लगाने लगी। सिर टकराने का भय हमारी रग-रग में समा गया है, इसलिए जहाँ तैरना सम्भव है वहाँ भी हम नहीं जाते—हमें डर मालूम होता है। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह में प्रवेश करने की विद्या मातृगर्भ में ही सीख ली थी, लेकिन व्यूह से बाहर निकलने की विद्या नहीं सीखी थी, तभी सप्तरथियों से वह पराजित हुआ। हमने भी जन्म से

---

१. उत्तरी कलकत्ता की वह सड़क जिससे जोड़ासाँको भवन की गली फूटती है। किसी समय में यह कलकत्ता की हलचलों की केन्द्र और व्यापार की सबसे बड़ी मण्डी थी। यह सड़क सँकरी है और बड़ी गन्दी रहती है।

पहले ही बँध जाने की विद्या सीखी है, गाँठ खोलने की विद्या नहीं सीखी। बुद्धि से लेकर चलने-फिरने तक प्रत्येक क्षेत्र में हमने अपने-आपको कसकर बँध जाने दिया है, तभी दुनिया के रथी ही नहीं, पैदल चलने वाले सिपाही भी हमें मारते हैं। मनुष्य को, पोथी को, इशारे को बिना कुछ कहे-सुने मान लेने का हमें इतना अभ्यास हो गया है, कि दुनिया में कहीं हमें अपना अधिकार नहीं दिखाई पड़ता; जब हमारे अधिकार ठोस रूप में सामने आते हैं तब भी हम उन्हें नहीं देखते—विलायती चश्मा पहनकर भी नहीं।

मानव-जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि कर्तृत्व का अधिकार ही मनुष्यत्व का अधिकार है। तरह-तरह के मन्त्रों, श्लोकों और विधियों से जहाँ इस सत्य का दमन किया जाता है, कहीं विचार करने में भी ज़रा भी ग़लती न हो, इसलिए मनुष्य जहाँ अपने-आपको आचार-प्रणाली में बाँध लेता है, जहाँ भटक जाने के डर से मनुष्य अपना रास्ता ही तोड़ देता है, उस देश में धर्म के नाम पर मनुष्य के मन में अपने प्रति असीम अविश्वास जगाया जाता है। ऐसे देश में दासों को तैयार करने के लिए एक बहुत बड़ा कारखाना खोल दिया जाता है।

हमारे शासक भी गम्भीरता से यह कहा करते हैं: 'तुम लोगों से ग़लतियाँ होंगी, तुम लोग कुछ कर नहीं सकोगे। इसलिए तुम्हारे हाथों में अधिकार देने से काम नहीं चलेगा।'

और जो कुछ भी हो, मनु-पाराशर की यह वाणी जब अँग्रेज़ों के गले से निकलती है, तब वह बड़ी बेसुरी लगती है। इसलिए हम जो उत्तर देते हैं वह उन्हींके सहज स्वरों में होता है। हम कहते हैं: 'भूल करने में उतना सर्वनाश नहीं है जितना स्वतन्त्र अधिकार न पाने में। जब भूल करने की स्वाधीनता होती है तभी सत्य प्राप्त करना भी सम्भव होता है। विशुद्ध अमोघत्व पाने के लिए यदि हमें निर्जीव होना पड़ेगा, तो भूल करना ही श्रेयस्कर है।'

हम और भी कुछ कह सकते हैं। हम शासकों को स्मरण करा सकते हैं कि: 'यद्यपि आज तुम अधिकारों की मोटरगाड़ी चला रहे हो, कभी तुमने भी बैलगाड़ी से यात्रा शुरू की थी; और टेढ़ी-मेढ़ी सड़कों पर तुम्हारी उस बैलगाड़ी की आवाज़ जयध्वनि नहीं लगती थी। आखिर पार्लियामेंट भी एकदम नहीं आई, स्टीम-रोलर से तैयार की गई पक्की सड़क से उसका पदार्पण नहीं हुआ। पार्लियामेंट भी दाएँ-बाएँ धक्के खाते-खाते अग्रसर हुई है। कितने संघर्ष, दलबन्दी, अविचार और अव्यवस्था के बीच उसे गुज़रना पड़ा है। कभी राजा, कभी चर्च, कभी ज़मींदार—सबके स्वार्थ का उसे सामना करना पड़ा है। एक ऐसा समय था जब पार्लियामेंट के सदस्य केवल जुर्माने या दण्ड के भय से सभागृह में जाते थे। और यदि भूलों

का उल्लेख करना हो तो आयरलैण्ड-अमेरिका से ब्रिटेन के जो सम्बन्ध रहे हैं वहाँ से आरम्भ करके बोअर युद्ध और डार्डनेलीज़-मेसोपोटेमिया की घटनाओं तक ग़लतियों की एक लम्बी सूची बनाई जा सकती है। 'भारत विभाग' की ही भूलों की फहरिस्त छोटी नहीं है, लेकिन उस बात को अभी हम नहीं उठाते। अमेरिका में कुबेर के अनुचरों ने जो कुकीर्ति प्राप्त की है वह भी सामान्य नहीं है। ड्रेफस के मामले में फ्रांस की राजनीति में सैनिक गुट का जो अन्याय प्रकाशित हुआ उसमें भी तो कुप्रकृति की अंधशक्ति ही दिखाई पड़ती है। इन सब बातों के बावजूद आज किसी को इसमें तिल-मात्र सन्देह नहीं है कि आत्मकर्तृत्व की गतिशीलता से ही मनुष्य भूल करते-करते भूल सुधार लेता है, अन्याय के गड्ढे में गिरकर भी अपने प्रयत्न से ऊपर उठता है। इसलिए मनुष्य के हाथों को पीठ से बाँधकर उसके मुँह में मिठाई ठूँसने से अच्छा है उसे स्वाधीन होकर अन्न उपजाने देना, चाहे इस क्रिया में उसे फ़ाके ही क्यों न करने पड़ें।

इससे भी बड़ी एक बात हमें कहनी है; वह यह है : 'राष्ट्रीय अधिकारों से केवल सुव्यवस्था या दायित्व-बोध का ही जन्म नहीं होता, उससे मानव-मन का आयतन भी विस्तृत होता है। जिनका मन गाँव में या छोटे-सामाजिक श्रेणी-विभागों में आबद्ध है, उन्हें भी राष्ट्रीय अधिकार प्राप्त करते ही मनुष्य को विशाल परिधि में देखने का अवसर मिलता है। इस अवसर के अभाव से प्रत्येक व्यक्ति, मनुष्य की हैसियत से छोटा हो जाता है। इस अवस्था में वह अपने जीवन को मनुष्यत्व की बृहत् पार्श्वभूमि पर नहीं देखता, इसलिए उसका चिंतन, उसकी शक्ति और आशा, उसका आत्मविश्वास सभी कुछ संकीर्ण हो जाता है। मानव-आत्मा का यह लघुत्व प्राण-हानि से कहीं बड़ा अमंगल है। 'भूमैव-सुखं, नाल्पे सुखमस्ति'। 'भूल करने की सारी आशंकाओं को स्वीकार करते हुए भी हम अधिकार माँगते हैं। हम गिर-गिरकर ही चलना सीखेंगे। तुम्हारी दुहाई है! तुम केवल हमारा गिरना देखकर हमारे चलने में बाधा न दो।'

यही सत्य उत्तर होगा। यदि कोई ज़िद्दी आदमी यह जवाब देकर शासक वर्ग को तंग करे, तो सरकार की ओर से उसे 'इन्टर्न्ड' कर दिया जायगा, लेकिन देश उसकी प्रशंसा करेगा। लेकिन यदि हम ठीक यही उत्तर अपने समाज-शासकों को दें—यदि हम कहें : 'तुम कहते हो यह कलियुग है, हमारी बुद्धि अल्प है, विचार-स्वातन्त्र्य मिलने से हम ग़लतियाँ करेंगे, व्यवहार-स्वातन्त्र्य से अपराध करेंगे, इसलिए हमारा सिर केवल पोथियों को शिरोधार्य करने के लिए बना है—लेकिन हम यह अपमान नहीं सहेंगे'—तो चण्डी-मण्डप की आँखें लाल होंगी और समाज-कर्ता फौरन हमारे 'इण्टर्नमेंट' का आदेश ज़ारी करेंगे। राजनैतिक आकाश में उड़ने

के लिए जो लोग पंख फड़फड़ा रहे हैं वही लोग सामाजिक क्षेत्र में कठोर जंजीरों से पाँव को जकड़ रखते हैं।

वास्तव में जिस कर्ण से नौका को दाहिनी ओर चलाया जाता है उसीसे बाईं ओर भी चलाया जाता है। मूल सिद्धान्त पर अधिकार करने से मनुष्य समाज में भी सत्य हो उठता है और राजनीति में भी। भूल धारणा के विषय में ही चितपुर और चौरंगी में इतना अन्तर है। चितपुर ने यह स्थिर कर लिया है कि ऊपर वालों के ही हाथ में सब-कुछ है। अपने खाली हाथों को लेकर वह चित हो गया है। चौरंगी का कहना है: 'यदि हमारे हाथ में कुछ न होता तो हमारे पास दो हाथ ही न होते।' ऊपर वालों के साथ हमारे हाथ का अविच्छिन्न योग है, इस बात को मानने से ही चौरंगी ने दुनिया में कुछ अधिकार प्राप्त किया है; और इसे न मानने के कारण ही चितपुर ने दुनिया से अपना हाथ खींच लिया है और उसकी आँखें पथरा गई हैं।

यदि हम अपने घर के बने हुए—बाह्य जगत् से घबराने वाले—नियम को ही सबसे वड़ा मान लें तब तो हमें आँख मूँदकर बैठना होगा। जब हम अच्छी तरह आँखें खोलकर देखते हैं, तो समझ पाते हैं कि विश्व में आदि से अन्त तक एक बृहत् नियम है। अपनी चेष्टा से उस नियम पर अधिकार प्राप्त करना ही शक्ति-लाभ है, समृद्धि-लाभ है, दुःख से परित्राण-लाभ है। इस सत्य का निश्चित बोध ही वर्तमान योरोपीय सभ्यता का आधार है। व्यक्ति की सफलता किसी विशेष विधान से नहीं, विश्व-विधान से ही सम्भव है—इसे अच्छी तरह जानकर ही शक्ति-क्षेत्र में योरोप को इतनी वड़ी मुक्ति मिली है।

लेकिन हम हाथ-पर-हाथ धरे दीर्घ निश्वास के साथ कहते हैं: 'कर्ता की इच्छा से ही हमारा कर्म होगा'। उस 'कर्ता' को हज़ारों नाम दिये गए हैं—बाप-दादा, पुलिस का दरोगा, पंडा, पुरोहित, शीतलादेवी, ओला बीबी,[1] शनि-मंगल, राहु-केतु। इस तरह हम अपनी शक्ति को हज़ार टुकड़े करके आकाश में उड़ा देते हैं।

कॉलेज जाने वाले पाठक कहेंगे: 'हम तो इन सबको नहीं मानते। हम तो चेचक का टीका लगवाते हैं; हैजा होने पर खारे पानी की पिचकारी लेते हैं; मच्छर से फैलने वाले मलेरिया को हम किसी देवी का प्रताप नहीं समझते, बल्कि उसे कीटाणु-जाति का मानते हैं'—लेकिन उन्हें यह भी कहना होगा कि 'इन सब बातों के साथ-साथ हम मन्त्रयुक्त ताबीज़ भी लटकाते हैं।

---

१. हिन्दू और मुसलमानों द्वारा पूजित एक देवी। उन देहातों में, जहाँ मुसलमानों की संख्या काफ़ी है, इनके मन्दिर पाए जाते हैं।

हम मुँह से क्या मानते हैं और क्या नहीं मानते, इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। लेकिन इस 'मानने' के विष से ही हमारा मन जर्जर हो गया है। यह मानसिक कायरता एक अनिश्चित सर्वव्यापी भय पर आधारित है। अखंड विश्व-नियम में जो अखंड विश्व-शक्ति व्यक्त होती है उसे हम नहीं मानते, इसीलिए तरह-तरह की काल्पनिक आशंकाओं से बुद्धि को अलग कर देते हैं। भय यही कहता है :

'मुझे क्या मालूम! मुझसे क्या मतलब!'—भय चीज़ ही ऐसी है। अपने शास्त्रों के व्यवहार में भी हम देखते हैं कि उनके शासन के किसी छिद्र में से यदि भय ने प्रवेश किया, तो वे अपने पाश्चात्य धर्म को भूल जाते हैं, जिस स्थायी विधान पर उनकी शक्ति निर्भर है, उसी पर कुल्हाड़ी चलाते हैं। उस समय न्याय-रक्षा पर उनका विश्वास नहीं रहता—प्रेस्टिज रक्षा को वे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। और अपने को विधाता से भी बड़ा समझकर वे सोचते हैं कि जनता के आँसुओं को यदि ज़बरदस्ती रोक दिया जाय, तो मिर्च का धुआँ भी सुखकर लगेगा। यही है विश्व-विधान के प्रति अविश्वास, अपने ही विशेष विधान पर विश्वास। इसका मूल है कोई छोटा-सा भय, छोटा-सा लोभ, या काम को सरल बताने में कोई छोटा-सा चातुर्य। हम भी अन्ध भय की ताड़ना से मनुष्य-धर्म को विसर्जित करने के लिए तैयार हो जाते हैं; संभ्रान्त होकर वास्तविक-अवास्तविक प्रत्येक चीज़ को हाथ जोड़कर मान लेते हैं। इसीलिए हम चाहे जीव-विज्ञान और वस्तु-विज्ञान का अध्ययन करें, चाहे राष्ट्रतन्त्र के इतिहास में परीक्षा पास करें, 'कर्ता की इच्छा से कर्म' का बीजमंत्र हम अपने मन से निकाल नहीं पाते। हमारे देश में आज बहुत-से सार्वजनिक कार्यों का आरम्भ हुआ है। लेकिन पिछले युगों में जो काम दस आदमी मिलकर करते थे वे उत्तरोत्तर व्यक्तिगत कार्य बनते जा रहे हैं। प्रत्येक बात में कहीं-न-कहीं से एक कर्त्ता या 'मालिक' उपस्थित हो जाता है। इसका एक-मात्र कारण यह है कि साधारण लोग प्रत्येक काम 'मालिक' की इच्छा से करने के अभ्यस्त हो गए हैं। उनका उठना-बैठना, भोजन करना, विवाह करना, चिता पर चढ़ना, और पिंड के लिए हाथ फैलाना, सब-कुछ 'कर्ता' की इच्छा से होता है। किस काम में पाप है, किसमें पुण्य; किसके आगमन पर हुक्के का पानी फेंक देना चाहिए; जिस कुएँ के जल से स्नान करना है उसका घेर कितना हो; भोक्ता की धर्म-रक्षा की दृष्टि से हलवाई के हाथ की पूरी और रोटी के गुणों में क्या अन्तर है; म्लेच्छ द्वारा बनाए मद्य और उसके स्पर्श किये हुए पानी में पवित्रता की दृष्टि से क्या अन्तर है—इन बातों पर बुद्धि द्वारा विचार नहीं किया गया, बल्कि 'कर्ता' की इच्छा पर इन्हें छोड़ दिया गया है। यदि हम

कहें कि पानीपाँड़े गंदे घड़े से बाल्टी में पानी डालता है, इसलिए वह पानी पीने योग्य नहीं है, और पानीमियाँ 'फिल्टर' से जो पानी लाता है वह स्वास्थ्यकर है, तो हमें उत्तर मिलेगा 'यह तो तुच्छ युक्तिवाद है - कर्ता की इच्छा यह नहीं है।' यदि हम फिर कहें : 'कर्ता की इच्छा न सही', तो हमारे लिए घर में निमन्त्रण बन्द! अतिथि-सत्कार ही नहीं, अन्त्येष्टि सत्कार भी अटल है। ऐसे निष्ठुर संस्कारों से जिनके सामान्य खाने-पीने-छूने के अधिकार पग-पग पर निर्धारित होते हैं, और जो लोग इसमें कल्याण देखते हैं, उन्हें राजनैतिक क्षेत्र में निर्बाध अधिकार माँगते हुए संकोच क्यों नहीं होता?

जब अपनी शक्ति के मूलधन से जनसाधारण का काम नहीं चलता तब प्रत्येक बात में मनुष्य दैव के सामने, ग्रह के सामने, किसी दूसरे व्यक्ति के सामने हाथ फैलाता है और घबराहट में दिन बिताता है। इस भाव की वर्णना यदि कहीं बिलकुल स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है तो बंगला के प्राचीन मंगल-काव्य में। चाँद सौदागर[1] के मन में महान् आदर्श था; इसलिए वह निकृष्ट देवता को मानना नहीं चाहता था; लेकिन बहुत दुःख सहने के बाद इसी देवता की शक्ति के सामने उसे हार माननी पड़ी। इसी शक्ति के साथ ज्ञान या न्याय-धर्म का योग नहीं है। जिसको माना जाता है वह जितना स्वेच्छाचारी उतना ही भयंकर होता है और उतनी ही उसके सामने नम्रता दिखाई जाती है। उस युग में इस धारणा के साथ राजनैतिक अधिकार की धारणा का योग था। कवि कंकण[2] की भूमिका से ही इस बात का परिचय मिलता है। कानून नहीं, विचार नहीं—जिसका ज़ोर है उसीकी भूमि। प्रबल व्यक्ति के अत्याचार को रोकने का कोई वैध मार्ग नहीं है—दुर्बल के लिए एक-मात्र उपाय है स्तुति-गान, घूसखोरी या अन्ततः पलायन। देवचरित्र की कल्पना में जो देखा जाता है वही समाज में भी—और राष्ट्रतन्त्र का भी वही रूप है।

लेकिन एक दिन उपनिषद् में विधाता के विषय में कहा गया था : 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः'—उसका विधान यथातर्थ है, उसमें अव्यवस्था नहीं; और वह शाश्वत है। वह नित्यकाल से, नित्यकाल के लिए, विहित है; इसलिए उसे प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान के द्वारा समझ सकता है, कार्य

१. चाँद सौदागर के चरित्र का वर्णन मध्ययुगीन बंगला काव्य 'चण्डी मंगल' और 'मनसा मंगल' में मिलता है। उसने अनार्य देवी मनसा को शीस झुकाने से इन्कार कर दिया था, जिसके फलस्वरूप मनसा ने उसे बड़े कष्ट दिए।

२. 'चण्डी मंगल' काव्य के रचयिता महाकवि मुकुन्दराम की उपाधि। उनका काल सोलहवीं शताब्दी माना जाता है।

के द्वारा अपना सकता है। जिस मात्रा में हम उसे प्राप्त करते हैं, नई-नई बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए अग्रसर होते हैं; क्योंकि जिस विधान में नित्यता है वह कहीं रुक नहीं सकता। वह बाधाओं पर विजय प्राप्त करेगा ही। इस नित्य और यथातथ विधान को यथातथ रूप से जानना ही विज्ञान है। इस विज्ञान के ही ज़ोर से योरोप के मन में इतना बड़ा आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ है और वह कह रहा है 'मलेरिया का हम नाश करेंगे ही। किसी रोग को हम टिकने नहीं देंगे। ज्ञान का अभाव, अन्न का अभाव, दूर होगा ही। जो भी मनुष्य के घर जन्म लेगा वह देह-मन से स्वस्थ और सबल होगा। राजनीति में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ विश्व-कल्याण का पूर्ण सामञ्जस्य होगा।'

आध्यात्मिक अर्थ में भारत ने एक दिन कहा था कि अविद्या में ही बन्धन है, ज्ञान में मुक्ति है; सत्य-प्राप्ति में ही परित्राण है। असत्य किसे कहते हैं; अपने को पूर्णतया विच्छिन्न रूप में जानना ही असत्य है। सबके साथ आत्मा का ऐक्य जान-कर परमात्मा के साथ अपना आध्यात्मिक योग समझना ही सत्य ज्ञान है। इतने बड़े सत्य को मन में स्थान देना कितनी आश्चर्यजनक बात है, यह आज हम नहीं समझ सकते।

इधर आधिभौतिक क्षेत्र में योरोप जो मुक्ति-साधना कर रहा है उसका मूल सूत्र भी यही है। यहाँ भी देखा जाता है कि अविद्या में बन्धन है, सत्य-प्राप्ति में मुक्ति। यह वैज्ञानिक सत्य मानव-मन को विच्छिन्नता से विश्व-योग की ओर ले जा रहा है और उसी मार्ग से मनुष्य की विशेष शक्ति को विश्व-शक्ति से संयुक्त कर रहा है।

भारत से ऋषियों का युग—अर्थात् गृहस्थ तपस्वियों का युग—धीरे-धीरे चला गया। फिर बौद्ध संन्यासियों का युग आया। भारत ने जो महान् सत्य प्राप्त किया था वह जीवन के व्यवहार पथ से अलग हो गया। फलस्वरूप देश में विद्या के साथ अविद्या का एक समझौता-सा हो गया—दोनों ने क्षेत्र-विभाजन कर लिया और बीच में दीवार खड़ी हो गई। तब से धर्म-कर्म और आचार-विचार में चाहे जितनी संकीर्णता हो, स्थूलता और मूढ़ता हो, उच्चतम सत्य की ओर से उसका कोई प्रतिवाद नहीं किया जाता, बल्कि उसे समर्थन ही मिलता है। वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञानी कहता है: 'जो मनुष्य अपने को सबके बीच और सबको अपने बीच एक रूप में देखता है, वह सत्य को देखता है'; यह सुनकर संसारी का हृदय पिघल जाता है और ज्ञानी की झोली भर जाती है। उधर संसारी अपने दालान में बैठा कहता है: 'जो आदमी सब लोगों को यथासम्भव दूर नहीं रखता उसके लिए धोबी-नाई बन्द'; और ज्ञानी आकर उसके माथे पर पद-धूलि रखता है, आशीर्वाद

देता है : 'जीते रहो !' इसीलिए हमारे देश में कर्म-संसार में विच्छिन्नता और जड़ता पग-पग पर आगे बढ़ती गई, कहीं उसे बाधा नहीं दी गई। तभी सदियों तक कर्म-संसार में हमारा अपमान हुआ है, पराजय हुई है।

योरोप में ठीक इसका उल्टा हुआ। वहाँ सत्य-साधना का क्षेत्र केवल ज्ञान में नहीं, व्यवहार में भी है। वहाँ राज्य-शासन या समाज में यदि कोई त्रुटि या दोष देखा जाता है, तो सत्य की रोशनी में सब लोग मिलकर उसका विचार करते हैं, सत्य की सहायता से उसका संशोधन किया जाता है। इसलिए उस सत्य से जो बल और मुक्ति मिलती है उस पर सभी लोगों का अधिकार होता है, वह सबको आशा दिलाता है, हिम्मत दिलाता है, उसका विकास तन्त्र-मन्त्र के कुहरे से ढँका नहीं होता; निर्बाद्ध आलोक में वह विकसित होता है और सबको विकसित करता है।

हमने कर्म-संसार में सदियों तक जो अपमान सहा है उसने राष्ट्रीय पराधीनता का रूप लिया है। शरीर के जिस हिस्से में दर्द हो रहा हो वहीं सबसे पहले हाथ जाता है। जिस योरोपीय जाति ने हमारे ऊपर प्रभुत्व प्राप्त किया उसीकी राष्ट्रव्यवस्था ने हमारे सम्पूर्ण मन को आकर्षित किया। और सब-कुछ भूलकर हम केवल यही कह रहे हैं कि भारत के शासन-तन्त्र में हमारी इच्छा का योग साधन हो; ऐसी स्थिति रहे कि ऊपर से नियम लागू किया जाय और बिना अपनी खुशी के हम उसको मानते रहें। अधिकार की गठरी को कंधों पर रखने से वह बोझ हो उठती है—उसे एक ठेले पर रख दिया जाय ताकि हम अपने हाथों से उसे खींच सकें।

आज यह इच्छा सभी देशों में जगी है कि बाहरी 'कर्ता' के निरंकुश एकांगी शासन से मनुष्य को मुक्ति मिले। इस प्रार्थना में जब हम योग देते हैं तो यह युग-धर्म के अनुगत ही है; यदि हम योग न देते, यदि कहते कि 'राजनैतिक क्षेत्र में हम सदा कर्ताभक्त बने रहें', तो हमारे लिए बड़ी लज्जास्पद बात होती। अन्ततः सत्य हमें दिखाई देता है—एक छोटे-से झरोखे से ही क्यों न हो—और यह शुभ लक्षण है।

सत्य दिखाई पड़ा है, इसलिए आज हम कह सकते हैं कि देश का जो आत्माभिमान हमारी शक्ति को आगे बढ़ाता है वह प्रशंसनीय है; लेकिन जो आत्माभिमान हमें पीछे खींचता है, हमें बलिदान के बकरे की तरह खूंटे से बाँधता है, धिक्कारणीय है। उसी आत्माभिमान से हम बाहर की ओर देखकर कहते हैं कि शासन-तन्त्र की कार्यसभा में हमारा आसन होना चाहिए; लेकिन घर की ओर देखकर उसी आत्माभिमान के कारण हम कहते हैं : 'खबरदार ! धर्मतन्त्र, समाजतन्त्र

में—यहाँ तक कि व्यक्तिगत व्यवहार में भी, कर्ता की आज्ञा के बगैर एक कदम भी आगे न बढ़ना।' यही है 'हिन्दुत्व का पुनरुज्जीवन'! देशाभिमान की ओर से आदेश मिला है कि हमारी एक आँख जागती रहे, एक सोती रहे। ऐसे आदेश का पालन करना ही विपत्तिजनक है।

विधाता की शास्ति से जब हमारी पीठ पर बेंत पड़ते हैं, तो देशाभिमान अस्थिर होकर बोल उठता है: 'उखाड़ फेंको उस बेंत के जंगल को!' वह भूल जाता है कि बेंत का जंगल न रहे तो बाँस का जंगल रहेगा। अपराध न बेंत का है न बाँस का—अपराध हमारे ही बीच है। अपराध यह है कि सत्य के बदले हम 'कर्ता' को मानते हैं; आँख से अधिक हम आँख पर पड़ी हुई पट्टी की श्रद्धा करते हैं—यह हमारा पुराना अभ्यास है। जब तक यह होता रहेगा तब तक कहीं-न-कहीं हमारे लिए बेंत का जंगल बना रहेगा।

एक दिन योरोप में भी समाज के सारे विभागों में धर्मतन्त्र का शासन प्रबल था। उसके जाल को काटकर जब योरोप बाहर निकला तभी से वहाँ की जनता अपने अधिकारों का पथ प्रशस्त करके आगे बढ़ सकी। अँग्रेज़ों के लिए द्वीपनिवासी होना एक बड़ा सुयोग सिद्ध हुआ। योरोपीय धर्मतन्त्र का मुख्य आसन रोम में था; इंग्लैंड के लिए—भौगोलिक दृष्टि से अलग होने के कारण—रोम का पूर्ण प्रभाव अस्वीकार करना कठिन नहीं था। मैं यह नहीं कहता कि इंग्लैंड में आज धर्मतन्त्र के चिह्न बाकी नहीं हैं—लेकिन बड़े घर की गृहिणी जब विधवा हो जाती है तब उसकी जैसी दशा होती है वैसी ही दशा इंग्लैंड में धर्मतन्त्र की है। एक दिन जिन्हें डाँटती-फटकारती थी, आज वह उन्हींकी इच्छानुसार रहती है, चाहे उसे न्याय मिले या अन्याय। उसे सामने का नहीं, घर के पीछे का एक मामूली-सा कमरा दिया जाता है। अन्न-वस्त्र के लिए उसे एक छोटी-सी रकम प्रतिमास मिलती है। सप्ताह में एक बार बच्चे आते हैं और रीति के अनुसार बुढ़िया को प्रणाम करते हैं; लेकिन उसकी आज्ञा नहीं मानते। यदि गृहिणी का दरबार पहले-जैसा रहता तो इन लड़के-लड़कियों की चूं करने की भी हिम्मत न होती।

इस बुढ़िया के शासन से इंग्लैंड कब का आज़ाद हो चुका, लेकिन स्पेन अभी तक पूरी तरह से आज़ाद नहीं हुआ। एक दिन स्पेन के पाल में खूब ज़ोर से हवा का झोंका लगा था, पृथ्वी में घाट-घाट पर उसने अपनी जयध्वजा फहराई थी। लेकिन उसकी नौका का कर्ण इसी बुढ़िया के हाथ में था, इसलिए आज वह बिलकुल ही पिछड़ गया है। पहले ही दम में उसने काफी लम्बी दौड़ लगाई; लेकिन थोड़ी ही देर में उसकी साँस फूलने लगी—इसका कारण यही था कि बुढ़िया उसके

कंधों पर सवार थी। जब स्पेन के राजा फिलिप के विरुद्ध इंग्लैंड का जल युद्ध हुआ तभी स्पेन की शिथिलता स्पष्ट हो गई। अचानक दुनिया ने देखा कि स्पेन के धर्म-विश्वास की तरह उसकी जलयुद्धविद्या भी सनातन प्रथाओं में जकड़ी हुई थी! इंग्लैंड की युद्धनौकाओं को चंचल सागर के नियम अच्छी तरह अवगत थे, लेकिन स्पेन के जहाज़ अपनी अचल धारणाओं को छोड़ नहीं सके। इंग्लैंड के जहाज़ों को निपुण कप्तानों के सुपुर्द किया जाता था, चाहे वे कुलीन वंश के हों या न हों। लेकिन स्पेन के जहाज़ों पर केवल उच्च परिवार के अफसरों का अधिकार था।

आज योरोप में छोटे-बड़े सभी देशों में जन-साधारण का माथा ऊँचा उठा है, क्योंकि सर्वत्र धर्मतंत्र का अंध अधिकार दूर हो गया है और मनुष्य ने अपने ही ऊपर श्रद्धा रखना सीख लिया है। जहाँ ऐसी श्रद्धा नहीं थी—जैसे ज़ार-शासित रशिया में—वहाँ समाज लावारिस खेत की तरह हो गया; तरह-तरह के जंगली पेड़ और काँटेदार झाड़ियाँ वहाँ पनपी हैं। वहाँ आज के सिपाही से लेकर कल की पोथी तक जो चाहता है मनुष्यत्व का अपमान करता है और अन्याय का खज़ाना लुटाता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि धर्म और धर्मतंत्र अलग-अलग चीज़ें हैं—आग और राख की तरह। धर्मतंत्र के कारण जब धर्म छोटा हो जाता है, नदी की बालू नदी के जल पर हुकूमत करती है, फिर स्रोत बहता नहीं, तपती हुई मरुभूमि निकल आती है। और इस अचलता को लेकर यदि मनुष्य गर्व से सीना फुलाता फिरे, तब तो 'गण्डस्योपरि विस्फोटक:'।

धर्म कहता है, यदि मनुष्य पर श्रद्धा न हो तो अपमानित और अपमानकर्ता दोनों का अकल्याण है। लेकिन धर्मतंत्र कहता है, मनुष्य के प्रति निर्दय अश्रद्धा दिखाने के लिए एक विस्तृत, विशुद्ध नियमावली जो स्वीकार नहीं करेगा वह धर्म भ्रष्ट होगा। धर्म कहता है, जो किसी जीव को निरर्थक कष्ट देता है वह आत्मा का ही हनन करता है। लेकिन धर्मतंत्र कहता है किसी विधवा स्त्री को यदि माँ-बाप किसी विशेष तिथि को अन्न-जल दें तो वे पाप का पोषण करते हैं, चाहे उस स्त्री को कितना ही असह्य कष्ट क्यों न हो रहा हो। धर्म कहता है, कल्याणकर्म और पश्चात्ताप द्वारा पाप दूर होता है। पर धर्मतंत्र कहता है, ग्रहण के दिन किसी विशेष नदी में डुबकी लगाकर अपने-आपको ही नहीं अपनी चौदह पीढ़ियों को पापमुक्त किया जा सकता है। धर्म कहता है, समुद्र और पर्वतराशि को पार करके दुनिया में भ्रमण करो, इससे मानसिक विकास होगा। धर्मतंत्र कहता है, यदि समुद्र पार करोगे तो तुमको घोर प्रायश्चित करना होगा। धर्म कहता है, जो व्यक्ति यथार्थ मनुष्य है वह पूजनीय है, चाहे उसका जन्म किसी भी घर में हुआ हो।

धर्मतंत्र कहता है, जो ब्राह्मण के घर जन्म लेता है वह वंदनीय है, चाहे वह कितना ही बड़ा अपात्र क्यों न हो। अर्थात् धर्म मुक्ति का मंत्र पढ़ता है और धर्मतंत्र दासता का।

एक दिन एक राजा कलकत्ता में किसी दूसरे राजा से मिलने गया। जिसके घर गया वह सुशिक्षित व्यक्ति था। कॉलेज के इम्तहान पास कर चुका था। अतिथि जब वापस लौटते समय गाड़ी पर चढ़ने लगा, गृहस्वामी ने उसकी चादर खींचकर स्मरण कराया, 'अरे, आपके मुँह में तो पान है!' अतिथि ने बाध्य होकर मुँह से पान गिरा दिया, क्योंकि गाड़ीवान मुसलमान था। यह पूछने का अधिकार ही नहीं है कि 'गाड़ीवान चाहे कोई भी हो, मुँह से पान क्यों गिराया जाय?' धर्म-बुद्धि या कर्मबुद्धि की ओर से कोई आपत्ति न होने पर भी गाड़ी में बैठकर पान खाने की आज़ादी जिस देश में अनायास ही वर्जित समझी जाती है, वहाँ के लोग स्वाधीनता का अन्त्येष्टि-संस्कार कर चुके हैं। फिर भी हम देखते हैं कि जो लोग पहले आग लगाते हैं वही बाद में आग पर पानी डालने के लिए बेचैन हैं।

निष्ठा की एक अपनी शोभा होती है। कुछ विदेशी भारत में आकर इस शोभा का वर्णन करते हैं। वे बाहर से इसे देखते हैं—उस आर्टिस्ट की तरह जो किसी पुराने मकान को 'चित्रयोग्यता' की दृष्टि से देखता है, निवास-योग्यता की दृष्टि से नहीं। स्नान-यात्रा के पर्व में बारिसाल से कलकत्ता आने वाले यात्री मैंने देखे। उनमें स्त्रियों की संख्या अधिक थी। स्टीमर के घाट-घाट पर, रेल के प्रत्येक स्टेशन पर उन्होंने असीम कष्ट और अपमान सहे। बाहर से देखने पर लगता है कि इस व्याकुल सहिष्णुता में भी सौंदर्य है। लेकिन हमारे देश के अंतर्यामी ने इस अंध-निष्ठा का सौंदर्य नहीं देखा; उसे पुरस्कृत नहीं किया, उसके लिए दण्ड ही दिया। दुःख बढ़ता गया। इन स्त्रियों ने बड़ी-बड़ी मानताओं को पूरा करके जिन बच्चों को पाला-पोसा, वे बड़े होकर इहकाल की सभी वस्तुओं के सामने सिर झुकाते हैं और परकाल की छाया पर सिर पटकते हैं। अपनी कठिनाइयों को रास्ते के हर मोड़ पर गाड़ देना ही इनका काम है। अपने मार्ग की बाधाओं को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने को ही ये उन्नति समझते हैं। सत्य के लिए कष्ट सहन करना 'सुन्दर' है, लेकिन कानी बुद्धि या लंगड़ी शक्ति के हाथों यदि मनुष्य लेश-मात्र कष्ट सहन करे तो इसमें सौन्दर्य नहीं, कुरूपता है। ऐसा कष्ट हमारी सबसे बड़ी विधिदत्त सम्पत्ति का-त्याग के वीरत्व का अपव्यय है। आज हमारा देश इसी अपव्यय का हिसाब चुका रहा है। मैंने अपनी आँखों से देखा है, हज़ारों स्त्री-पुरुष पुण्य कमाने के लिए जिस रास्ते से स्नान करने जा रहे थे उसी रास्ते के किनारे एक विदेशी रोगी दम तोड़ रहा था; उसकी जाति का पता नहीं था इसलिए किसी ने उसे स्पर्श नहीं

किया। यही है ऋणी के दिवालियेपन का लक्षण। इन कष्ट सहने वाले पुण्याकांक्षियों की निष्ठा देखने में सुन्दर लगती है; लेकिन यह अत्यन्त हानिप्रद है। जिस अन्धता से मनुष्य पुण्य कमाने के लिए स्नान करने को उद्यत होता है, वही अन्धता उसे मरणासन्न विदेशी की सेवा करने से रोकती है। एकलव्य ने परम निष्ठुर द्रोणाचार्य को अपना अंगूठा काटकर दिया; लेकिन अन्धनिष्ठा द्वारा उसने अपनी आजीवन तपस्या के फल से अपने ही बाँधवों को वंचित रखा। इस मूढ़ निष्ठा में निष्फलता है, विधाता उसका आदर नहीं करता, क्यों यह उसके दिये हुए दान का अपमान है। गया तीर्थ में देखा जाता है कि जिस पंडे के पास न विद्या है न चारित्र्य, उसीको राशि-राशि धन देकर स्त्रियाँ उसके पाँव पूजती हैं। उनकी भक्ति-विह्वलता भावुक आँखों को सुन्दर लगती है। लेकिन क्या यह अटल निष्ठा, यह असीम दानशीलता, इन स्त्रियों को सत्य-दया के मार्ग पर ज़रा भी आगे बढ़ाती है? इस प्रश्न का एक उत्तर यह हो सकता है: 'कुछ भी हो, वे रुपया खर्च करती हैं। यदि वे पंडे को पवित्र समझतीं, तो रुपया बिलकुल ही खर्च न करतीं, या अपने ही ऊपर करतीं।' यह बात सही है—लेकिन यदि रुपये का व्यय न होता, या उन्हींके लिए होता, तो इस व्यय को धर्म का नाम देकर अपने-आपको वे धोखा न देतीं—कम-से-कम मोह के दासत्व से तो उनका मन मुक्त रहता। इस मानसिक मुक्ति के अभाव से ही देश की शक्ति आज बाहर नहीं निकलने पाती; जिसे आँखें बन्द करके चलने का अभ्यास कराया गया है, उसके लिए आँखें खोलकर चलना कठिन हो जाता है। अनुगत दास की तरह जिसने केवल मालिक के लिए प्राण देना ही सीखा है, वह स्वयं मालिक बनकर अपनी इच्छा से न्याय धर्म के लिए प्राण नहीं दे सकता।

इसीलिए आज हमारे गाँवों में अन्न, जल, स्वास्थ्य, शिक्षा और आनन्द अवसानोन्मुख हैं। यह सोचकर कि आत्मशक्ति के बग़ैर गाँव वालों का उद्धार असम्भव है, मैंने एक विशेष गाँव में अपना कल्याण अपने-आप संपादन करने की प्रवृत्ति जगाने का प्रयत्न किया था। एक बार गाँव में आग लगी, आस-पास कहीं पानी नहीं था, गाँव वाले खड़े-खड़े हाय-हाय कर रहे थे। बाद में मैंने उनसे कहा: 'यदि अपने-आप मेहनत करके गाँव में एक कुआँ खोद सकते हो तो उसको पक्का बनाने का खर्च मैं दूंगा।' उन्होंने सोचा: 'वाह! पुण्य मिले इस चतुर को, और मज़दूरी हम करें!' कुआँ नहीं खोदा गया, जल-कष्ट बना रहा, उस गाँव में आग के लिए स्थायी निमन्त्रण है।

इस दुर्दशा का कारण यही है कि गाँव में आज तक जो भी कार्य पूर्ण हुआ है वह पुण्य के प्रलोभन से हुआ है। इसीलिए मनुष्य का प्रत्येक अभाव दूर करने

की ज़िम्मेदारी या तो विधाता पर रही है या किसी आगंतुक पर। यदि कोई पुण्य का उम्मीदवार उपस्थित न हो तो ये लोग चाहे प्यास से मर जायँ अपने हाथ से कुछ नहीं करेंगे, क्योंकि ये अभी तक उसी बुढ़िया की गोद में बैठे हैं जिसने जाति-कुल, धर्म-कर्म, अच्छा-बुरा, उठना-बैठना, सब-कुछ बाहर से निर्धारित कर रखा है। हम इन्हें दोष नहीं दे सकते, क्योंकि बुढ़िया ने इन्हें अफ़ीम खिलाकर सुला दिया है। लेकिन आश्चर्य तब होता है जब हम देखते हैं कि आधुनिक सुशिक्षित नवयुवक—यहाँ तक कि कालेज के तरुण छात्र भी—उसी बुढ़िया के शासन का गुण-गान करते हैं। भारत को इस सनातनधात्री की गोद में देखकर इन्हें गर्व होता है। कहते हैं: 'यह बड़ा उच्च स्थान है, यहाँ पैर में मिट्टी नहीं लगती।' कहते हैं: 'उस बुढ़िया की गोद में बैठकर ही यदि हम अधिकार का राजदंड हाथ में पकड़े रहें तो बड़ा शोभनीय होगा।'

हम स्पष्ट देखते हैं, दुःख के बाद दुःख, दुर्भिक्ष के बाद दुर्भिक्ष—यमराज के जितने अनुचर हैं हमारे घर आकर बस गए हैं। शेर या डाकू यदि हमला करे, तब भी हमें अस्त्र उपयोग करने की आज्ञा नहीं है; उसी तरह ये सब अमंगल यदि कन्धों पर सवार होकर हमारे शरीर में दाँत गड़ा दें तब भी सामाजिक बन्दूक का लाइसेन्स हमारे पास नहीं है। इन अमंगलों को भगाया जा सकता है ज्ञान के अस्त्र से, बुद्धि के अस्त्र से। बुढ़िया के शासन पर जिनकी अटल भक्ति है वे कहते हैं: 'क्या हमारे पास ये अस्त्र नहीं हैं? हम भी साइन्स सीखेंगे और यथासम्भव उसका प्रयोग करेंगे।' अस्त्र बिलकुल ही नहीं हैं, यह कहना अत्युक्ति होगी। लेकिन अस्त्रों के लाइसेन्स का कानून बड़ा सख्त है। अस्त्र के उपयोग की इजाज़त मुश्किल से मिलती है। व्यवहार एक वेष्टन में बँधा हुआ है, ज़रा इधर-उधर किया तो दण्ड मिलता है। गुरु-पुरोहित, तागा-ताबीज, संस्कृत-श्लोक और मंत्र-तंत्र—इन सबके भय से अत्यन्त सावधानी से चलना पड़ता है। यदि गाँव में डाका पड़े तो डाकुओं से अधिक विपत्तिजनक यह अनभ्यस्त बन्दूक होती है।

जब यही आशीर्वाद मिला है कि: 'पाँव की बेड़ी अक्षय हो!' तब दयालु लोगों को यह भी कहना पड़ता है: 'दूसरों के कन्धों पर बैठकर चलने-फिरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।' यदि जात-पात और आचार-व्यवहार की शृंखलाओं की मरम्मत करना ही पुनरुज्जीवन है, यदि इस तरह जीवन-क्षेत्र को बाधाग्रस्त और बुद्धि-क्षेत्र को संकीर्ण करने में ही हमारा गौरव है, तब तो यह बात भी कहनी होगी: 'इन दुर्बल, शृंखला-पीड़ित लोगों को बचाने के लिए तैयार हो जाओ। लेकिन जकड़ना और बचाना विरोधी क्रियाएँ हैं।' दो विपरीत किनारों की एक साथ रक्षा करना किसी शक्तिमान पुरुष के लिए भी संभव नहीं होता। प्यासे

लोगों के घड़ों को तोड़ डालना, और फिर चलनी में पानी लाने के लिए घाट-घाट, घर-घर दौड़ना यह युक्तिहीन व्यवहार विधाता सह नहीं सकता। बहुत-से लोग कहते हैं, देश के दुःख-दारिद्र्य का मूल कारण यह है कि संपूर्ण शासन-भार विदेशियों पर है। इस बात पर विचार करना आवश्यक है।

अँग्रेज़ों की राज्य-नीति का मूल तत्त्व है शासनतन्त्र के साथ प्रजाशक्ति का योग। इस शासनतन्त्र ने सर्वदा निरंकुश एकाधिपत्य का विरोध किया है, यह बात हमसे भी छिपी नहीं है। इसी नीति के विषय में हम सरकारी विद्यालयों में पढ़ते है, और पढ़कर इम्तहान पास करते हैं। इसे अब हमसे छीन लेने का सरकार के पास कोई उपाय नहीं है।

कांग्रेस हो या लीग, दोनों का मूल यहीं है। जिस तरह योरोपीय साइन्स पर हम सबकी अधिकार-प्राप्ति उस साइन्स के लिए ही प्रकृतिगत है, उसी तरह अँग्रेज़ी राज्यशास्त्र पर भारतीय जनता का अधिकार उस राज्यशास्त्र के जीवन-धर्म में ही निहित है। पाँच-दस अँग्रेज या सौ-दो सौ अँग्रेज़, यह कहते होंगे कि भारतीय छात्रों को साइन्स सीखने का अवसर न देना ही अच्छा है। लेकिन स्वयं साइन्स इन सौ-दो सौ अंग्रेज़ों का धिक्कार करेगा और वज्र-स्वर से कहेगा: 'आओ, तुम्हारा वर्ण जो भी हो, मुझे ग्रहण करके शक्तिलाभ करो।' उसी तरह अँग्रेज़ों में से कुछ लोग राजसभा में या अखबारों में, यह कह सकते हैं कि भारतीय शासन-तन्त्र में भारतीय जनता को अधिकार न देना ही अच्छा है। लेकिन अँग्रेज़ों का राज्यशास्त्र इन लोगों का तिरस्कार करता है और कहता है: 'आओ, तुम सब आओ। तुम्हारा वर्ण या प्रदेश जो भी हो, भारत के शासनतन्त्र में भारतीय जनता का अधिकार है, उसे ग्रहण करो।'

लेकिन यह आपत्ति सुनी जा सकती है कि अँग्रेज़ों का राज्यशास्त्र हमारे ऊपर लागू नहीं होता। यह उसी प्रकार की बात है जैसी भारत के ब्राह्मण कहते थे: 'उच्चतर ज्ञान, धर्म और कर्म में शूद्रों को अधिकार नहीं है।' लेकिन ब्राह्मणों ने अधिकार-भेद की इस व्यवस्था को शुरू से आखिर तक मज़बूत बना रखा था, जिसको बाहर से पंगु बनाया था उनके मन को भी बलहीन बनाया था। ज्ञान की जड़ कट जाय तो कर्म की पत्तियाँ अपने-आप मुरझा जाती हैं। शूद्रों के साथ ऐसा ही किया गया—उनके ज्ञान का आधार नष्ट कर दिया गया, जिससे उनका माथा अपने-आप ब्राह्मणों की पदरज में आ झुका। अँग्रेज़ों ने हमारे ज्ञान का द्वार बन्द नहीं किया; और यही है मुक्ति का सिंहद्वार। शायद इसके लिए शासक मन-ही-मन दुखी भी होते हैं; धीरे-धीरे विद्यालयों के दो-एक दरवाज़े बन्द करने की प्रवृत्ति भी देखी गई है। फिर भी वह इसको कभी पूर्णतया नहीं भूल सकते कि

सुविधा के लिए अपने मनुष्यत्व पर आघात करना आत्महत्या करने के बराबर है।

भारत-शासन में हमारे न्याय अधिकार अँग्रेज़ों के मनस्तत्त्व में ही निहित हैं, इस आशाप्रद सत्य को यदि हम शक्तिपूर्वक ग्रहण करें तो घोर दुःख सहना और त्याग करना हमारे लिए सहज होगा। यदि अपने दुर्बल अभ्यास से यही कहते रहें : 'कर्ता की इच्छा से ही सब कर्म होते हैं; अन्यथा कुछ नहीं हो सकता', तो गंभीर निराशा उत्पन्न होगी। यह निराशा दो दिशाओं में व्यक्त होती है—या तो हम गुप्त षड्यन्त्र से आकस्मिक उपद्रव प्रस्तुत करते हैं, या घर के कोने में बैठकर एक-दूसरे के कान में फुसफुसाते हैं कि अमुक लाट साहब अच्छा है या बुरा, अमुक व्यक्ति के मंत्री-सभा में रहने से हमारा अकल्याण होगा, मॉर्ले साहब के भारत-सचिव हो जाने में हमारा सौभाग्य है अन्यथा हमारा सर्वनाश होगा। इस तरह नैराश्य के कारण या तो हम ज़मीन के नीचे सुरंग लगाकर अपनी शक्ति को विकृत करते हैं या घर के कोने में बैठकर शक्ति को व्यर्थ कर देते हैं। नैराश्य से या तो हम विक्षिप्त हो जाते हैं, या गूंगे।

लेकिन हम मनुष्यत्व पर विश्वास करेंगे—और यह मानकर चलेंगे कि अँग्रेज़ों की राजनीति में केवल शक्ति ही सत्य नहीं है, नीति भी सत्य है। इस विश्वास के प्रतिकूल बातें भी हम प्रतिदिन देखेंगे—स्वार्थपरता, अधिकार-लोभ, क्रोध, अहंकार। लेकिन मनुष्य की ये निम्न प्रवृत्तियाँ हमको तभी क्षति पहुँचाती हैं जब हमारे अन्दर भी उनका वास्तव्य होता है; जब हम भी क्षुद्र भय से पीड़ित, क्षुद्र लोभ से लुब्ध होते हैं; जब हममें परस्पर के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और अविश्वास होता है। जहाँ हम महान् हैं; वीर, त्यागी, तपस्वी, श्रद्धावान हैं, वहाँ दूसरों की महत्ता के साथ ही हमारा सत्य-योग होता है; वहाँ दूसरों की बुरी प्रवृत्तियों से पीड़ित होने पर भी हम विजयी होते हैं—बाह्य रूप से न हो, पर आन्तरिक रूप से अवश्य विजयी होते हैं। हम यदि डरपोक या हीन हो जायँ, तब हम अँग्रेज़ सरकार की नीतिमत्ता को कम महत्त्व देंगे, उसकी कुप्रवृत्तियों को ही बढ़ा-चढ़ा-कर देखेंगे। जहाँ दो पक्षों का संपर्क होता है, वहाँ शक्ति के योग से ही शक्ति का उत्कर्ष होता है, और दुर्बलता के मिलन से परम दुर्बलता उत्पन्न होती है। जब अब्राह्मणों ने हाथ जोड़कर अधिकारहीनता स्वीकार कर ली, ब्राह्मणों के अधः-पतन का गड्ढा भी गहरा हो गया। प्रबल व्यक्ति दुर्बल का जितना बड़ा शत्रु है उतना ही बड़ा शत्रु दुर्बल प्रबल का है।

एक बार किसी उच्च अँग्रेज़ अधिकारी ने मुझसे कहा था : 'तुम लोग अक्सर कहते हो कि पुलिस तुम पर अत्याचार करती है। मैं इस बात को ग़लत नहीं

कहता; लेकिन तुम लोग इसका प्रमाण नहीं देते।' उन्होंने यह नहीं कहा कि 'पुलिस के साथ झगड़ा और मार-पीट करो। लेकिन अन्याय के विरुद्ध लड़ाई शारीरिक शक्ति से ही नहीं की जाती; वह तेज की लड़ाई होती है—और तेज होता है कर्त्तव्य-बुद्धि का। देश को निरन्तर पीड़ित होने से बचाने के लिए ऐसे लोगों की ज़रूरत है जिनमें अन्याय को प्रकाश में लाने की हिम्मत हो, जो निर्भयता से अन्याय को प्रमाणित कर सकें। मैं जानता हूँ पुलिस का कोई मामूली चौकीदार भी अकेला नहीं होता, उसके पीछे प्रकाण्ड शक्ति होती है—एक पुलिस कॉन्स्टेबल को बचाने के लिए सरकार मुक़दमे पर हज़ारों रुपये खर्च करती है। अदालत का महासमुद्र पार करने के लिए कॉन्स्टेबल के पास सरकारी स्टीमर है, लेकिन ग़रीब फरियादी के पास केले का कटा हुआ पेड़ तक नहीं है, उसे तैरकर ही सागर को पार करना है। इसका मतलब फरियादी के लिए यही हुआ : 'यदि तुम पर मार पड़े, तो चुपचाप मर जाना ही स्वास्थ्यकर है, शिकायत मत करो!' इसके बाद कोई क्या कर सकता है? प्रेस्टीज! इससे तो हमारी पुरानी पहचान है। यही तो मालिक है; यही हमारे कविकंकण की चण्डी है; यही 'मनसा' है; न्याय-धर्म सबके ऊपर इसीकी पूजा करनी होगी, वरना हमारी हड्डियाँ टूटेंगी। अतएव :

या देवी राज्यशासने प्रेस्टीज रूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।

लेकिन यही तो अविद्या है, यही तो माया है। स्थूल आँखों से जो दिखाई पड़ता है, क्या वही सत्य है? वास्तविक सत्य यह है कि हम पर ही गवर्नमेण्ट आधारित है। यह सत्य हमारे शासकों से बड़ा है। इसी सत्य से अँग्रेज़ प्रबल है; और हमारी शक्ति भी इसीमें है। यदि इस सत्य का बल हममें न रहे तो अँग्रेज़ सरकार भी इस सत्य को खो देगी। यदि हम भीरु हो जायँ, अंग्रेज़ों के राज्यशास्त्र पर हमें श्रद्धा न रहे, तब पुलिस का अत्याचार होगा, मजिस्ट्रेट के लिए सुविचार कठिन होगा, प्रेस्टीज-देवता नर-बलि माँगता रहेगा, और अँग्रेज़ी शासन अँग्रेज़ों के ही चिरकालीन ऐतिहासिक धर्म के विरुद्ध होगा।

इसके उत्तर में यह कहा जायगा : 'राज्यशास्त्र की नीति राजकीय शक्ति से अधिक सत्य है, यह बात पारमार्थिक भाव से मानी जा सकती है, लेकिन व्यावहारिक भाव से इसे मानना विपदाजनक है, इसलिए हमें या तो गुप्त रूप से गर्मपंथ का अवलम्बन करना है या प्रेस-एक्ट के पंजे में चुपचाप पड़े रहकर नर्मपंथ का अवलम्बन।'

'हाँ, विपद् तो है। लेकिन जो ज्ञान में सत्य है उसे हम व्यवहार में भी सत्य बनायँगे।'

'लेकिन हमारे देशवासी ही भय या लोभ के कारण न्याय-पक्ष का साथ नहीं देंगे, विरोध ही करेंगे।'

'यह बात भी ठीक है। फिर भी सत्य को ही मानकर चलना होगा।'

'लेकिन हमारे देश के लोग ही प्रशंसा या पुरस्कार के लालच से किसी पेड़ के पीछे छिपकर हमारे सिर पर लाठी मारेंगे।'

'यह भी हो सकता है। फिर भी सत्य को मानना होगा।'

'क्या इतनी आशा की जा सकती है ?'

'हाँ, इतनी आशा करनी ही होगी, इससे कम नहीं।' गवर्नमेंट से हमारी माँग बहुत बड़ी होगी, लेकिन अपने-आपसे हम जो दावा करेंगे वह इससे भी बड़ा होगा। मानता हूँ, सभी लोग बलिष्ठ नहीं होते, बहुत-से दुर्बल भी होते हैं; लेकिन सभी देशों में—प्रत्येक युग में—ऐसे मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं; जो समस्त मानव-जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं; जो सबके दुःख को वहन करते हैं; सबके मार्ग को अपने परिश्रम से सरल बनाते हैं, विरोध के बावजूद मनुष्यत्व में विश्वास रखते हैं और व्यर्थता के घने अन्धकार में भी अरुणोदय की प्रतीक्षा करते हुए जागृत रहते हैं। वे अविश्वासग्रस्त लोगों के परिहास की उपेक्षा करते हैं और ज़ोरदार शब्दों में कहते हैं : 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' केन्द्रस्थल पर यदि स्वल्पमात्र धर्म हो, तो परिधि की राशि-राशि विपतियों से कोई डर नहीं। राज्यशास्त्र में नीति यदि थोड़ी भी हो तो उसीको नमस्कार करना है, भय को नहीं। धर्म विद्यमान है; आजीवन उसीको मानना होगा।

मान लीजिए, मेरा लड़का सख्त बीमार है। दूर से अँग्रेज़ सिविलसर्जन को बुला लाया हूँ। खर्च में कुछ उठा नहीं रखा। यदि मैं अचानक देखूँ कि वह भूत भगाने वाले ओझा की तरह झाड़-फूंक शुरू करता है, तो डाक्टर से यही कहूँगा : 'दुहाई है डाक्टर साहब ! भूत झाड़ने का प्रयत्न मत कीजिए, रोग का इलाज कीजिए।' हो सकता है वह नाराज़ होकर कहे : 'तुम कौन होते हो मुझे सिखाने वाले। डाक्टर मैं हूँ। मैं जो कुछ भी करूँ, वही डाक्टरी है।' यदि भय से मेरी बुद्धि आहत नहीं हुई है, तो मुझे यह कहने का अधिकार है : 'जिस डाक्टरी विद्या को लेकर तुम डाक्टर हो, उसको मैं तुमसे बड़ा समझता हूँ—उसके मूल्य से ही तुम्हारा मूल्य है।'

मेरा यह अधिकार डाक्टरों के ही शास्त्र से, उन्हींकी धर्मनीति से, मुझे मिला है। डाक्टर चाहे जितना घमण्ड दिखाए, विज्ञान और नीति को यदि वह न माने तो उसे लज्जित होना ही पड़ेगा। यहाँ तक कि नाराज़ होकर वह हमें घूँसा भी मार सकता है; लेकिन हमारे सलाम और सलामी को पॉकेट में रखकर गाड़ी में

चढ़ने की अपेक्षा हमें लगाए हुए उस घूँसे का मूल्य उसे अधिक देना पड़ेगा। घूँसे से वह जितना हमको मारता है उससे अधिक अपने-आपको मारता है। तभी मैं कहता हूँ, जो बात अँग्रेज़ जाति की नहीं, केवल कुछ अँग्रेज़ अफ़सरों की है, उसका विरोध करने से आज हमें शायद दुःख उठाने पड़ें, लेकिन कल हमारा दुःख दूर होगा।

डेढ़ सौ वर्ष के अँग्रेज़ी शासन के बाद आज इस तरह की बात सुनी गई कि मद्रास सरकार चाहे भला करे या बुरा, उसके लिए आहें भरने का अधिकार बंगालियों को नहीं है। अब तक मैं यह समझता था कि अँग्रेज़ों के अखण्ड शासन में मद्रास, बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, सब भीतर-बाहर से एक हो गए हैं, यह गौरव ही अंग्रेज़ी साम्राज्य के मुकुट का कोहनूर हीरा है। बेल्जियम और फ्रांस की दुर्गति को अपनी दुर्गति जानकर इंग्लैण्ड युद्धक्षेत्र में उतरा है। जब समुद्र के उस पार यह नीति हो, तो इस पार क्या एक दिन भी इसके विपरीति नीति चलेगी ? इस पार यह कहा जायगा कि मद्रास के सुख-दुःख, अच्छे-बुरे से उसका कोई सरोकार नहीं है ? क्या ऐसा आदेश हम सिर झुकाकर मान लेंगे ? क्या हम यह निश्चित रूप से नहीं जानते कि मुँह से चाहे यह हुक्म कितने ही ज़ोर से जारी किया जाय, इसके पीछे अन्तःकरण में लज्जा है ? अपने अन्याय पर अँग्रेज़ों की यह छिपी हुई लज्जा, और हमारा खुला साहस—इन दोनों में सन्धि करानी होगी। अँग्रेज़ भारत के सामने सत्य से बँधे हुए हैं, वे योरोपीय सभ्यता का दायित्व लेकर पूर्व जगत् में आए हैं। इस सभ्यता की वाणी से ही वे प्रतिज्ञा-बद्ध हैं। इसी दलील को हम सबसे बड़ी दलील समझेंगे—हम अंग्रेजों को कभी यह नहीं कहने देंगे : 'भारत के टुकड़े-टुकड़े करने के लिए ही हम समुद्र पार से आए हैं।'

कोई देश जब भी कोई बड़ी सम्पदा पाता है तो देश-देश में दान करने के लिए ही पाता है। यदि वह कृपणता दिखाए तो स्वयं वंचित होगा। योरोप की प्रधान सम्पदा है विज्ञान, और जनसाधारण का ऐक्यबोध तथा आत्मकर्तृत्व लाभ। यह सम्पदा, यह शक्ति, भारत को देने का महान् दायित्व ही अँग्रेज़ी शासन को विधाता का प्रदान किया हुआ राज-परवाना है। शासकों को इस बात की याद दिलाने का भार हमारे ऊपर भी है, क्योंकि यदि दोनों पक्षों में योग न हो तो विस्मृति और विकार की आशंका रहती है।

अँग्रेज़ अपने इतिहास की दुहाई देकर यह कह सकते हैं : 'जनसाधारण के अधिकार का महत्त्व हमने कितनी ही क्रान्तियों के बीच से गुज़रने के बाद समझा है, और दीर्घ-साधना के बाद हमने इन अधिकारों का निर्माण किया है।' हम यह

बात मानते हैं। दुनिया में अलग-अलग अग्रगामी दल अपने-अपने विशेष सत्य का आविष्कार करते हैं। उस आविष्कार के आरम्भिक काल में कितनी ही गलतियाँ होती हैं, दुःख और त्याग सहना पड़ता है। लेकिन उसका फल जिन्हें मिलता है उन्हें भूल और दुःख का वही लम्बा रास्ता फिर से नहीं चलना पड़ता। हमने देखा है कि बंगाली लड़के अमेरिका में जाकर अपने हाथ से तरह-तरह के इंजन बनाते हैं और उन इंजनों का तत्त्व भी सीख लेते हैं; लेकिन आग पर केतली रखने से स्टीम इंजन बनाने तक का लम्बा रास्ता यदि उन्हें फिर से तै करना पड़ता तो सत्ययुग-जैसी दीर्घ आयु आवश्यक होती। योरोप में जो पौधा कई युगों की धूप, हवा और वर्षा प्राप्त करके अंकुरित हो सका, वह जापान में बहुत ही शीघ्र विकसित हुआ। यदि हमारे चरित्र और अभ्यास में कार्यशक्ति का विशेष अभाव है, तो स्वायत्त अधिकार की हमको ही और भी अधिक आवश्यकता है। यदि शुरू से ही यह मान लिया जाय कि व्यक्ति विशेष में कुछ नहीं है, तो उसमें जो कुछ है भी उसका अविष्कार नहीं होगा। हम अँग्रेज़ों से कहते हैं: 'हमें अधिकार दो, जिससे हमारे अन्दर शक्ति-आविष्कार के नये-नये पथ खुले रहें। उन्हें यदि बन्द रखोगे, स्वयं हमारी अवज्ञा करोगे और विश्व के सामने हमें अवज्ञा-पात्र बना दोगे, तो इससे बड़ी शत्रुता दूसरी नहीं हो सकती। दाएँ-बाएँ पैर बढ़ाते ही जिसका सिर दीवार से टकरा जाता है, उसके मन में क्या वह श्रेष्ठ आशा टिक सकती है जिसके ज़ोर से मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में अपने महत्त्व को प्रमाणित करने के लिए प्राण तक दे देता है?

इतिहास में जब प्रभात का आगमन होता है, सूर्य तो पूर्व में ही उदित होता है, लेकिन साथ-ही-साथ उत्तर, दक्षिण, पश्चिम में भी आलोक प्रसारित होता है। यदि एक-एक इंच आगे सरकते-सरकते ही देश की उन्नति सम्भव होती, तो महाकाल को भी हार माननी पड़ती। 'मनुष्य को पहले पूर्णतया योग्य बनना है, उसके बाद ही उसे सुयोग मिलेगा'—यह यदि सत्य है, तो आज पृथ्वी पर किसी भी देश को पूर्णतया स्वाधीनता के योग्य नहीं कहा जा सकता। अँग्रेज डिमॉक्रेसी पर गर्व करते हैं, लेकिन योरोप की जनता में आज भी बहुत-सी बीभत्सताएँ हैं। उन कलंकमयी बातों को कुरेदने की इच्छा नहीं होती। यदि कोई कर्णधार कहे कि जब तक ये बातें हैं तब तक डिमॉक्रेसी को कोई अधिकार नहीं मिलेगा, तो बीभत्सता भी रहेगी और पाप का स्वाभाविक प्रतिकार भी हाथ से चला जायगा।

उसी तरह हमारे समाज में, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की हमारी धारणा में काफी दुर्बलता है, यह बात छिपाई नहीं जा सकती। फिर भी हम अधिकार माँगते हैं।

अँधेरे घर के एक कोने में यदि दिया टिमटिमा रहा हो, तो इसका मतलब यह नहीं कि दूसरे कोने में दूसरा दीप जलाने की माँग नहीं की जा सकती। जिस स्थान पर भी हो, जिस बत्ती से भी हो, हमें दीप जलाते जाना है। आज मनुष्यत्व के दीपावली-उत्सव में कोई देश अपने सब दीप पूरी तरह नहीं जला पाता, फिर भी उत्सव तो चल ही रहा है। हमारे घर का दीप कुछ समय से बुझा हुआ है। यदि हम तुम्हारे घर की दीपशिखा से उसे जलाना चाहें तो इस पर अप्रसन्न होना उचित नहीं। इससे तुम्हारे घर का आलोक कम नहीं होगा, बल्कि उत्सव का आलोक बढ़ जायगा।

उत्सव-देवता आज हमें पुकार रहा है। क्या पंडे का निषेध हमें रोक सकेगा? वह तो केवल धनी यजमान को देखकर गद्‌गद्‌ हो उठता है, कनाडा-आस्ट्रेलिया का नाम सुनकर स्टेशन की दौड़ लगाता है, लेकिन गरीबों के लिए उसका व्यवहार इसके उल्टा होता है। यह असह्य बात है। देवता देख रहा है। यदि अन्तर्यामी को हम लज्जारूप में अपने अन्दर न देख सकें तो वह क्रोध रूप में हमारे बाहर दिखाई पड़ेगा।

लेकिन आशा का कारण उन लोगों में भी है, हम लोगों में भी। मैं बंगवासियों की श्रद्धा करता हूँ। मैं जानता हूँ, हमारे तरुणों का यौवन-धर्म बार्धक्य का मुखावरण पहनकर विज्ञ नहीं बनेगा। और मैंने अँग्रेज़ों में भी ऐसे कई महात्मा देखे है जो अपने देशवासियों की लांछना सहकर भी इंग्लैंड के इतिहास-वृक्ष का अमृत फल भारतवासियों तक पहुँचाने के लिए उत्सुक हैं। अपने बीच भी हम ऐसे यथार्थ मनुष्य चाहते हैं जो बाह्य दुःख और देश-बांधवों का धिक्कार सहने के लिए प्रस्तुत हों, जो विफलता की आशंका छोड़कर मनुष्यत्व का प्रकाशन करने के लिए व्यग्र हों।

भारत का चिरजागृत, चिरतरुण भगवान्, आज हमारी आत्मा को आह्वान दे रहा है—उस आत्मा का जो अपरिमेय है, अपराजित है, जिसका अमृतलोक पर अनन्त अधिकार है, लेकिन जो आज अंधप्रथा और प्रभुत्व के अपमान से धूल में मुँह छिपा रही है। आघात-पर-आघात, वेदना-पर-वेदना देकर आज वह भगवान् पुकार रहा है: 'आत्मानं विद्धि'—अपने-आपको जानो।

आज हमने अपने सामने देखा है कि मनुष्य की पृथ्वी बृहत् है, मनुष्य का इतिहास महान् है। मनुष्य के बीच हम भूमा को प्रत्यक्ष करते हैं। शक्तिरथ पर बैठकर वह राजपथ पर निकला है, रोग-ताप-विपद्-मृत्यु किसी की बाधा उसे रोक नहीं सकी। विश्व-प्रकृति ने उस भूमा को वरमाला पहनाई है, ज्ञान के ज्योतिर्मय तिलक से उसका उच्च ललाट उज्ज्वल है, सुदूर भविष्य के शिखर पर

उसके लिए प्रभात रागिनी बज रही है। वही भूमा आज हमारे बीच भी अपना आसन ढूँढ रहा है। हे अकाल-जरा-जर्जरित-आत्म-अविश्वासी कायर! हे असत्य भारावनत मूढ़! आज अपने घर के लोगों से क्षुद्र ईर्ष्या और द्वेष के कारण कलह करने का दिन नहीं है। आज तुच्छ आशा और पद-मान के लिए भिखारियों की तरह आपस में छीना-झपटी करने का समय नहीं। आज हम उस मिथ्या अहंकार से अपने को धोखे में नहीं रखेंगे जो अपने ही घर के अँधेरे कोने में बढ़ता है, जो विराट् विश्व-सभा में उपहास का पात्र गिना जाता है। दूसरों की निन्दा करके सुख-लाभ का प्रयत्न दुर्बलों का मनोविनोद है, हमें ऐसी निन्दा से कुछ काम नहीं। युग-युग तक हमारे राशि-राशि अपराध जमा हुए हैं, उनके भार से हमारा पौरुष दलित है, विचार-बुद्धि मुमूर्षु है—शताब्दियों की इस आवर्जना का आज शक्ति के साथ तिरस्कार करने का दिन है। आगे बढ़ने के रास्ते की हमारी सबसे बड़ी रुकावट हमारे पीछे है। हमारे अतीत ने अपने सम्मोहन-बाण से हमारे भविष्य पर आक्रमण किया है। अतीत की धूल ने, उसके सूखे पत्तों ने, नवयुग के प्रभात सूर्य को मलिन कर दिया है। हमारे अध्यवसायशील यौवन-धर्म को अभिभूत कर दिया है। आज हमें पूरी ताकत से अपनी पीठ को अतीत के बोझ से बचाना है, तभी नित्य पुरोगामी महान् मनुष्यत्व के साथ योगदान करके हम व्यर्थता की लज्जा से बचेंगे। हमारा योगदान उस मनुष्यत्व से होगा जो मृत्युंजयी है, चिर जागरूक और चिर संधानरत है, जो ज्ञानज्योति से उज्ज्वल सत्यपथ का चिरयात्री है, जिसकी जयध्वनि युग-युग के नये तोरण द्वारों पर उच्छ्वसित होकर देश-देशान्तर में प्रतिध्वनित होती है।

बाहर का दुःख श्रावण की धाराओं की तरह हम पर वर्षित हुआ है—इस दुःख भोग की जो तामसिक अपवित्रता है उसका आज प्रायश्चित करना ही होगा। उसका प्रायश्चित कैसे हो? अपने ही बीच अपनी इच्छा से दुःख को स्वीकार करके। वह दुःख ही पवित्र होमाग्नि है। उस अग्नि में पाप जल जाता है, मूढ़ता वाष्प बनकर उड़ जाती है, जड़ता राख बनकर मिट्टी में मिल जाती है। आओ, प्रभु! तुम दीन के प्रभु नहीं हो। हमारे बीच जो सशक्त है, अमर है, जो ईश्वर है, हे महेश्वर! तुम उसीके प्रभु हो। उसे आज अपने राज-सिंहासन के पास बुला लो। दीन लज्जित हो, दास लांछित हो, मूढ़ तिरस्कृत होकर सदा के लिए निर्वासित हो।

[४ अगस्त १९१७ को राममोहन लायब्रेरी में श्रीमती एनी बेसेण्ट तथा

उनके दो साथियों की नज़रबन्दी पर आयोजित विरोध सभा में पढ़ा गया लेख। पुनः अल्फ्रेड थियेटर में ११ अगस्त को पठित। पुस्तिका के रूप में प्रकाशित, तथा 'प्रवासी' (भाद्र १३२४ बं० सं०) अगस्त, १९१७ में प्रकाशित।]

सत्य का आह्वान

परजीवी कीट या जन्तु दूसरे का रक्त-शोषण करके जीवित रहता है! उसका देह-यन्त्र तो सदा बेचैन रहता है—चाहता है अपनी शक्ति द्वारा खाद्य को अपने शरीर का उपकरण बना लेना। लेकिन ऐसा न करने से प्राणी-लोक में इन जन्तुओं का अध:पतन होता है—यह इनके आलस्य-पाप का दण्ड है। मनुष्य के इतिहास में भी यही बात लागू होती है। लेकिन परजीवी मनुष्य केवल वह नहीं है जो जड़भाव से दूसरे पर निर्भर रहे। जो व्यक्ति परम्परागत वस्तुओं से जकड़ा रहता है, जो बहती हुई धारा में निष्क्रिय भाव से आत्म-समर्पण करता है, वह भी परजीवी है। हमारे आन्तरिक पक्ष के लिए बाह्य-जगत् 'पराया' है। जब यह बाह्य-जगत् अभ्यास के ज़ोर से हमें चलाता है तो हमारा अन्त:करण निरुद्यम हो जाता है। ऐसी हालत में, मनुष्य में जो असाध्य को साध्य बनाने की आकांक्षा है, वह पूर्ण नहीं होती।

इस तरह के परासक्त प्राणी दुनिया में हैं। प्रचलित धारा में उनका शरीर तैरता रहता है। वे प्राकृतिक निर्वाचन सिद्धान्त के अनुसार जीवित रहते हैं या मर जाते हैं, आगे बढ़ते हैं या पीछे हटते हैं। उनके अन्त:करण का विकास नहीं होता। वह सिकुड़ा हुआ रहता है। लाखों बरसों तक मधुमक्खी जिस तरह छत्ता बनाती आई है वैसे ही बनाती है—उसमें लेश-मात्र फेर-फार करना उसके लिए सम्भव नहीं हैं। छत्ता तो त्रुटिहीन बनता है, लेकिन मधुमक्खी अपने अभ्यास के दायरे में आबद्ध हो जाती है। इस तरह के सभी प्राणियों के सम्बन्ध में प्रकृति के व्यवहार में साहस का अभाव दिखाई पड़ता है—ऐसा लगता है कि प्रकृति ने उन्हें अपने आँचल में सुरक्षित रखा है; उन्हें विपत्तियों से बचाने के लिए उनकी आन्तरिक गतिशीलता को ही प्रकृति ने घटा दिया है।

लेकिन सृष्टिकर्त्ता ने मनुष्य की जीवन-रचना में साहस का परिचय दिया है। उसके मानव के अन्त:करण को बाधाहीन बनाया है; बाह्य रूप से उसे विवस्त्र, निरस्त्र और दुर्बल बनाकर उसके चित्त को स्वच्छन्दता प्रदान की है। इस मुक्ति से आनन्दित होकर मनुष्य कहता है: 'हम असाध्य को सम्भव बनायेंगे'—अर्थात् 'जो सदा से होता आया है और होता रहेगा, उससे हम सन्तुष्ट नहीं रहेंगे। जो कभी नहीं हुआ, वह हमारे द्वारा होगा।' इसीलिए मनुष्य ने अपने इतिहास के प्रथम युग में जब प्रचंडकाय प्राणियों के भीषण नखदन्तों का सामना किया तो

उसने हिरन की तरह पलायन करना नहीं चाहा, न कछुए की तरह छिपना चाहा। उसने असाध्य लगने वाले कार्य को सिद्ध किया—पत्थरों को काटकर भीषणतर नखदन्त निर्माण किये। प्राणियों के नखदन्त की उन्नति केवल प्राकृतिक निर्वाचन पर निर्भर होती है। लेकिन मनुष्य के ये भीषणतर नखदन्त उसकी अपनी सृष्टि-क्रिया से बने थे। इसलिए पत्थर की चट्टानों पर ही वह निर्भर रहा—पत्थर के हथियारों को छोड़कर उसने लोहे के हथियार बनाये। इससे प्रमाणित होता है कि मानवीय अन्त:करण संधानशील है, उसके चारों ओर जो कुछ है उस पर ही वह आसक्त नहीं हो जाता। जो उसके हाथ में नहीं है उस पर वह अधिकार करना चाहता है। पत्थर उसके सामने रखा है; लेकिन पत्थर से वह संतुष्ट नहीं। लोहा है धरती के नीचे, वहाँ से मानव उसे बाहर निकालता है। पत्थर को घिस-माँजकर हथियार बनाना आसान है, लेकिन उससे मानव को सन्तोष नहीं होता। लोहे को आग में गलाकर, साँचे में ढालकर, हथौड़े से पीटकर—सब बाधाओं को पार करके—उसने अपने अधीन बनाया। मनुष्य के अन्त:करण का धर्म यही है कि वह परिश्रम से केवल सफलता नहीं बल्कि आनन्द भी प्राप्त करता है। वह ऊपरी सतह से गहराइयों तक पहुँचना चाहता है; प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष तक, सहज से कठिन तक, परनिर्भरता से आत्मकर्तृत्व तक, प्रवृत्ति की ताड़ना से विचार की व्यवस्था तक पहुँचना चाहता है। इसी तरह वह विजयी होता है।

यदि कुछ लोग ऐसा कहें : 'यह पत्थर का फलक हमारे दादा-परदादाओं का फलक है, इसको यदि हम छोड़ दें तो हमारी जाति नष्ट होगी'—तो इन शब्दों से उनके मनुष्यत्व की जड़ पर आघात लगेगा। उनके विचारों से जिसको वे 'जाति-रक्षा' कहते हैं वह सम्भव हो भी सकती है, लेकिन सबसे महान् 'जाति'—अर्थात् मनुष्य जाति की कुलीनता को चोट लगती है। जो लोग आज भी 'पत्थर के फलक' से ही सन्तुष्ट हैं उनको मनुष्य ने जाति से बाहर कर दिया है—वे जंगलों में छिपकर जीवन व्यतीत करते हैं। वे बाह्य परिस्थिति पर पूर्णतया निर्भर हैं, परम्परा की लगाम में जकड़े हुए हैं, उनकी आँखों पर पट्टी पड़ी है। उन्हें आन्तरिक स्वराज्य नहीं मिला, इसीलिए बाह्य स्वराज्य के अधिकार से भी वे वंचित हैं। वे यह नहीं जानते कि मनुष्य को अपनी शक्ति से असाध्य को साध्य बनाना है; जो हुआ है उसीके बीच आबद्ध नहीं रहना है, वरन् जो नहीं हुआ उसकी ओर कदम बढ़ाना है—ताल ठोंककर, छाती फुलाकर नहीं, आन्तरिक साधना की शक्ति से, आत्मशक्ति के उद्बोधन से।

तीस वर्ष पहले जब मैं 'साधना' पत्रिका[1] में लिखा करता था, अपने देशवासियों से यही बात कहने की मेरी चेष्टा थी। उन दिनों अँग्रेज़ी-शिक्षित भारतवासी दूसरों से अधिकारों की भिक्षा माँगने में व्यस्त थे। उस समय मैंने बार-बार यह समझाने का प्रयत्न किया था कि मनुष्य को अधिकार माँगना नहीं होता, अधिकार की सृष्टि करनी होती है। आन्तरिक पक्ष में ही मनुष्य कर्त्ता है, बाहर के लाभ से अन्दर की हानि हो सकती है। मैंने कहा था कि अधिकार से वंचित रहने का दुःख उतना भारी नहीं है जितना भारी हमारे सिर पर रखा हुआ आवेदन-पत्रिकाओं का थाल है। फिर जब 'बंगदर्शन'[2] के अंक हमारे हाथों में आये, बंग-विभाजन के आर्त्तनाद-स्वर से सारी बंगभूमि विचलित थी। क्षोभग्रस्त बंगाली उन दिनों मैन्चेस्टर-निर्मित कपड़ों का परित्याग करके बम्बई के सौदागरों के लोभ को बढ़ावा दे रहे थे। अँग्रेज़ी सरकार के प्रति अप्रसन्नता ही इस 'वस्त्रवर्जन' का आधार था। इस आन्दोलन का प्रत्यक्ष लक्ष्य इंग्लैंड था—भारत तो केवल उपलक्ष्य था; इसकी मूल उत्तेजना देशवासियों के प्रति प्रेम नहीं बल्कि विदेशियों के प्रति नाराज़ी थी। उस समय लोगों को सावधान करने के लिए यह समझाना ज़रूरी था कि भारत में अँग्रेज़ों का राज्य एक बाहरी घटना है, लेकिन देश का अपना अस्तित्व-एक आन्तरिक सत्य है। यही चिरसत्य है, बाहर की घटना तो 'माया' है। माया तभी विशाल रूप धारण करती है जब हम उसकी ओर समस्त मन-प्राण से ताकते रहते हैं—चाहे इस एकाग्रता के पीछे क्रोध हो या अनुराग। भक्तिभाव से किसी के पाँव पकड़ना आसक्ति ही है, लेकिन क्रोध से किसी के पाँव में दाँत गड़ाना भी तो आसक्ति ही है। 'नहीं चाहते, नहीं चाहते' कहते हुए हम किसी के ध्यान में लगे रहें तो भी हमारा हृदय रक्तवर्ण हो उठता है। माया अंधकार की तरह है, बाह्यशक्ति से उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। उसको पानी से धोने का प्रयत्न करें तो 'सात समुद्र तेरह नदी' सूखने पर भी कोई असर नहीं होगा। सत्य आलोक की तरह है, उसकी शिखा जलते ही हम देख पाते हैं कि माया का अस्तित्व वास्तविक नहीं है। तभी शास्त्र में कहा है:

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

भय है मन की नास्तिकता। उसे नकारात्मक रूप से परास्त नहीं किया जा

१. ठाकुर-परिबार के युवक सदस्यों द्वारा संचालित बंगला मासिक पत्रिका।

२. इसके प्रकाशन के चौथे और अन्तिम वर्ष सन् १८९४ में इसका सम्पादन रवीन्द्रनाथ ने किया था। इन चार वर्षों में प्रत्रिका में रवीन्द्रनाथ की लिखी एक तिहाई से भी अधिक कहानियाँ छपी थीं। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा स्थापित बंगला की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका।

सकता। उसका एक कारण समाप्त होते ही दूसरा उत्पन्न होता है और वह जीवित रहता है। धर्म सत्य है, मन की आस्तिकता है। उसके अल्पमात्र प्रभाव से प्रकाण्ड 'नहीं' की पराजय होती है। भारत में अँग्रेज़ों का आविर्भाव एक ऐसी सत्ता है जिसके कितने ही रूप हो सकते हैं। आज वह अँग्रेज़ की मूर्ति धारण कर रही है; कल किसी अन्य विदेशी का रूप और परसों स्वयं भारतवासी का निदारुण रूप उसमें देखा जा सकता है। यदि इस परतन्त्रता का हम तीर-कमान हाथ में लेकर पीछा करें, तो अपने आवरण बदल-बदल कर वह हमें थका देगी। लेकिन जब हम अपने देश के अस्तित्व को ही सत्य समझें और उसे प्राप्त करें तो बाहर की माया अपने-आप दूर होगी।

अपने देश में विश्वास एक ऐसी आस्तिकता है जिसके लिए साधना आवश्यक है। देश में जन्म लेने से ही देश को अपना समझना उन्हीं लोगों का काम है जो विश्व के बाह्य व्यवहार में दूसरों पर निर्भर हैं। मनुष्य का यथार्थ स्वरूप उसकी आत्म-शक्ति-सम्पन्न अन्तःप्रकृति में है। इसलिए मनुष्य अपने ज्ञान, कर्म, प्रेम और बुद्धि द्वारा जिस देश की सृष्टि करता है, वही उसका स्वदेश है। सन् १९०५ में मैंने बंगालियों को पुकारकर यही बात कही थी: 'आत्मशक्ति द्वारा देश का निर्माण करो। सृष्टि से जो उपलब्ध किया जाता है वही सत्य है।' विश्वकर्मा अपनी सृष्टि से अपने-आपको प्राप्त करता है। देश को पाने का अर्थ है देश के बीच अपनी आत्मा को व्यापक भाव से उपलब्ध करना। जब हम चिन्तन, कर्म और सेवा द्वारा देश का निर्माण करते हैं तभी आत्मा को देश के बीच सत्य रूप से देख पाते हैं। देश मनुष्य के चित्त की सृष्टि है, इसीलिए देश में आत्मा की व्याप्ति है, उसकी अभिव्यक्ति है।

'स्वदेशी समाज' शीर्षक लेख में कई वर्ष पहले मैं इस प्रश्न की विस्तृत समीक्षा कर चुका हूँ कि जिस देश में हमने जन्म-ग्रहण किया है उसे सम्पूर्ण रूप से 'अपना' बनाने का क्या उपाय है। उस समीक्षा में त्रुटियाँ हो सकती हैं, लेकिन उसमें यह बात ज़ोरदार शब्दों में कही गई है कि देश को दूसरों के हाथ से नहीं, बल्कि अपने ही औदासीन्य और अकर्मण्यता से बचाना है। देश की उन्नति के लिए हम सर्वदा अँग्रेज़ सरकार के दरवाज़े पर खड़े रहते है, तभी हमारी अकर्मण्यता बढ़ती रही है। अँग्रेज़ी सरकार की कीर्ति हमारी कीर्ति नहीं। वह वाह्य रूप से हमारा जो कुछ भी उपकार करे, आन्तरिक पक्ष से उससे हम अपने देश को खो देते हैं; आत्मा का मूल्य देकर हम सफलता प्राप्त करते हैं। याज्ञवल्क्य के शब्द हैं:

'न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति ।
आत्मनस्तु कायायः पुत्र प्रियो भवति ।।'

देश के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। देश हमारी आत्मा है, इसलिए ही वह हमें प्रिय है—जब यह बात हम जान लेते हैं, देश के सृष्टि-कार्य में पराये का मुँह जोहना हमें असह्य लगता है।

उस दिन मैंने देश के सामने जो बात कहने का प्रयत्न किया वह कोई नई बात नहीं थी, और न उसमें कुछ ऐसा था जो स्वदेश-हितैषियों के कानों को कटु लगता। किन्तु, चाहे और लोग भूल गए हों मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरी बातों से लोग बहुत नाराज़ हुए थे। मैं उन साहित्यिक गुण्डों का उल्लेख नहीं कर रहा हूँ जिनके लिए कटुभाषा एक व्यवसाय-सा हो गया है। कुछ गण्यमान्य, शिष्ट, शान्त लोग भी मेरी बातों से अधीर हो उठे थे। इसके दो कारण थे—एक क्रोध, और दूसरा लोभ। क्रोध की तृप्ति का साधन एक तरह का भोगसुख ही होता है। उन दिनों इस भोगसुख के नशे में हम चूर थे। हमने अपने मानसिक आनन्द के लिए कपड़ा जलाया, 'पिकेटिंग' की, जो लोग हमारे मार्ग पर नहीं चले उनका रास्ता रोका, और अपनी भाषा में संयम का त्याग किया। इस अशिष्टता-प्रदर्शन के कुछ समय बाद एक जापानी सज्जन ने मुझसे पूछा : 'आप लोग शान्ति और दृढ़ता से, धैर्यपूर्वक काम क्यों नहीं कर पाते ? शक्ति को बेकार ही खर्च करना तो उद्देश्य-साधन का सदुपाय नहीं है ?' इसके उत्तर में मुझे यही कहना पड़ा था कि उद्देश्य-साधन की उज्ज्वल भावना जब मन में होती है तो मनुष्य स्वभावतः आत्मसंयम करता है और अपनी समस्त शक्ति को उद्देश्य की दिशा में प्रयुक्त करता है। लेकिन जब क्रोध-तृप्ति की उन्मत्तता तार सप्तक तक पहुँचती है और उद्देश्य-साधन पीछे रह जाता है तब हम शक्ति बेकार खर्च कर डालते हैं और दिवालिये बन जाते हैं। जो कुछ भी हो, उन दिनों जब बंगाल के लोग कुछ समय के लिए क्रोध-तृप्ति का सुख भोग रहे थे, मैंने एक दूसरे पथ की बातें कीं, जिससे मुझे लोगों की नाराज़ी सहनी पड़ी। इसके अलावा लोगों में लोभ भी था। इतिहास में सभी देशों ने दुर्गम मार्ग पर चलकर दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त किया है, लेकिन हमें हर चीज़ आसानी से मिलेगी; हाथ जोड़कर, भीख माँगकर नहीं, आँखें लाल करके, अप्रसन्नता दिखाकर—इस भ्रम के आनन्द में उन दिनों हमारा देश चूर था। अँग्रेज़ दूकानदार जिसे reduced price sale कहते हैं, वही सस्ते दाम का माल उस समय बंगालियों के भाग्य में था। जिसका सामर्थ्य कम होता है वह सस्तेपन का उल्लेख सुनते ही खुश हो जाता है; माल कैसा है, किस हालत में है, वह नहीं देखता; और यदि कोई व्यक्ति सन्देह व्यक्त करता है तो बसे वह

मारने दौड़ता है। असल बात यह है कि उन दिनों हमारा ध्यान बाहर की माया पर केन्द्रित था। तभी उस समय के एक नेता ने कहा था : 'हमारा एक हाथ अँग्रेज़ सरकार की गरदन पर है, दूसरा हाथ उसके पाँव पर।' अर्थात् देश-कार्य के लिए कोई हाथ खाली नहीं था। उस समय और उसके परवर्ती युग में शायद यह द्विधा मिट गई है--कुछ लोगों के दोनों हाथ सरकार की गरदन पर है, अन्य लोगों के दोनों हाथ सरकार के पैरों पर। लेकिन इनमें से कोई पथ माया से मुक्ति नहीं दिलाता। कोई अँग्रेज़ों के दाहिने ओर है, कोई बाईं ओर। कोई 'हाँ' कहता है, कोई 'नही'—लेकिन दृष्टि दोनों की अँग्रेज़ों पर ही है।

उस दिन चारों ओर से बंगदेश के हृदयावेग को ही उत्तेजित किया गया। लेकिन केवल हृदयावेग आग की तरह जलाकर खाक कर सकता है, सृष्टि नहीं कर सकता। मनुष्य का अन्तःकरण धैर्य, निपुणता और दूरदर्शिता के साथ इस आग में कठिन उपादानों को गलाकर अपने प्रयोजन की सामग्री तैयार करता है। देश के इस सृष्टिशील अन्तःकरण को उस दिन जागरित नहीं किया गया। इसीलिए इतने तीव्र हृदयावेग से कोई स्थायी परिणाम नहीं निकल सका।

यह जो हुआ उसका कारण बाहर नहीं, हमारे भीतर ही है। दीर्घकाल से हमारे धर्म और कर्म के एक ओर हृदयावेग रहा है, दूसरी ओर अभ्यस्त आचार। हमारा अन्तःकरण बहुत दिनों से निष्क्रिय रहा है, उसे डरा-धमकाकर दबाया गया है। इसलिए जब भी हमसे किसी ठोस काम की माँग की जाती है, हम झटपट हृदयावेग की शरण लेते हैं और तरह-तरह के जादू-मन्त्रों की आवृत्ति से मन को मुग्ध करते हैं। मतलब यह हुआ कि देश-भर में एक ऐसी अवस्था निर्माण की जाती है जो अन्तःकरण की सक्रियता के बिलकुल प्रतिकूल होती है।

अन्तःकरण की जड़ता से जो क्षति होती है उसे पूरा करना संभव नहीं होता—जब हम क्षतिपूर्ति करना चाहते हैं तो मोह का सहारा लेते हैं। कमज़ोर मन का लोभ अलादीन के चिराग़ का चमत्कार सुनते ही फड़क उठता है सभी मानेंगे कि अलादीन के चिराग़-जैसी सुविधाजनक वस्तु दूसरी कोई नहीं हो सकती। इसमें केवल एक ही असुविधा है—यह वस्तु कहीं मिलती नहीं ! लेकिन जिस व्यक्ति में लोभ अधिक और सामर्थ्य कम है, वह स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कह पाता कि 'ऐसी कोई वस्तु नहीं है।' जैसे ही अलादीन के चिराग़ के अस्तित्व का विश्वास उसे कोई दिलाता है, उसका उद्यम जाग उठता है। उसका विश्वास यदि हम उससे छीनना चाहें तो वह चीत्कार करता है, कहता है कि उसका सब-कुछ लुट गया।

बंग-विभाजन के उन उत्तेजनापूर्ण दिनों में युवकों के एक दल ने राष्ट्र-क्रांति

द्वारा देश में युगान्तर लाने का प्रयत्न किया। और जो कुछ भी हो, इस प्रलय यज्ञ में उन्होंने अपनी आहुति दी, इसके लिए वे वंदनीय हैं—केवल हमारे देश में ही नहीं, सभी देशों में। उनकी निष्फलता भी आत्मा की दीप्ति से उज्ज्वल है। परम त्याग और दुःख सहकर उन्होंने यह स्पष्ट देखा है कि जब तक राष्ट्र तैयार नहीं है तब तक क्रान्ति का प्रयत्न करना ग़लत मार्ग पर चलना है। यह मार्ग उचित मार्ग की तुलना में छोटा है, लेकिन उस पर चलकर हम लक्ष्य तक नहीं पहुँचते, रास्ते में दोनों पाँव काँटों से ज़ख्मी हो जाते हैं। प्रत्येक वस्तु का पूरा दाम देना होता है—यदि आधा ही दाम दिया गया तो रुपया भी जाता है और वस्तु भी नहीं मिलती। वे दुःसाहसी युवक समझते थे कि सारे देश के लिए यदि कुछ लोग आत्मोत्सर्ग करें तो क्रान्ति सफल होगी। उनके लिए इसमें सर्वनाश था, देश के लिए एक सस्ती बात। देश का उद्धार समस्त देश के अन्तःकरण से होना चाहिए, उसके एक अंश से नहीं। रेलगाड़ी के फर्स्ट क्लास का मूल्य कितना ही हो, वह कितना ही सुन्दर हो, अपने साथ के थर्ड क्लास को वह आगे नहीं बढ़ा सकता। मैं सोचता हूँ, ये युवक अब समझ गए हैं कि राष्ट्र की सृष्टि देश के समग्र लोगों के सम्मिलित प्रयास से होती है—इस सृष्टि में सारे देश की हृदय-वृत्ति, बुद्धि और इच्छा-शक्ति व्यक्त होती है, यह योगलब्ध धन है। इस योग के द्वारा मनुष्य की सारी वृत्तियाँ अपनी सृष्टि के बीच संहत होकर रूपलाभ करती हैं। केवल राजनैतिक योग या आर्थिक योग सम्पूर्ण योग नहीं है—सभी शक्तियों का योग ज़रूरी है। दूसरे देशों के इतिहास में हम राजनैतिक घोड़े को ही सबसे आगे देखते हैं और सोचते हैं, इसी चतुष्पद के ज़ोर से सब लोग आगे बढ़ रहे हैं। हम यह भूल जाते हैं कि उसके पीछे 'देश' नाम की जो गाड़ी है उसके पहियों में पारस्परिक सामंजस्य है। उसके सभी हिस्सों को अच्छी तरह एक-दूसरों से जोड़ा गया है। इस गाड़ी के तैयार करने में केवल आग, हथौड़ी और पेंच-कब्ज़े ही नहीं लगे, इसके पीछे बहुत-से लोगों का दीर्घ चिन्तन, साधना और त्याग भी है।

ऐसे भी देश हैं जो बाह्यतः स्वाधीन हैं, लेकिन जब पोलिटिकल वाहन उनको घसीटता है तो उनकी गाड़ी की गड़गड़ाहट से मोहल्ले भर की नींद उचट जाती है; धक्के के ज़ोर से सवारी की पीठ में कीलें चुभती रहती हैं; रास्ते में गाड़ी टूट जाती है; रस्सी से उसे बार-बार बाँधना पड़ता है। अच्छी हो या बुरी, उसके स्क्रू चाहे ढीले हों और पहिये टेढ़े हों, है तो यह भी गाड़ी। लेकिन जो चीज़ घर-बाहर दोनों ही जगह टूट रही है, जिसमें समग्रता तो है ही नहीं, बल्कि स्वगत-विरोध है, उसे क्रोध, लोभ या और किसी प्रवृत्ति के बन्धन से बाँधकर ज़बरदस्ती खींचा जाय तो कुछ देर तक आगे बढ़ाया जा सकता है; लेकिन क्या ऐसी यात्रा को हम

राष्ट्रदेवता की रथयात्रा कहेंगे ? प्रवृत्ति के बन्धन में कुछ दम भी है ? घोड़े को अस्तबल में ही रखकर गाड़ी को ठीक करना ही क्या प्रथम आवश्यकता नहीं है ? यमराज के द्वार से जो बंगाली युवक घर लौटे हैं उनकी बातें सुनकर और उनके लेख पढ़कर मुझे लगता है कि वे भी अब बात समझ गए हैं। अब वे कहते हैं, सबसे पहले हमें योग-साधना की ज़रूरत है--देश की चित्त की सारी शक्तियों का मिलन, उनकी परिपूर्णता-साधना का योग आवश्यक है। किसी बाह्य दबाव द्वारा यह सम्भव नहीं है, आन्तरिक प्रेरणा से, ज्ञानालोकित चित्त की आत्मोपलब्धि द्वारा ही सम्भव है। जो कुछ भी देश के अन्तःकरण से उद्‌बोधित और अभिभूत नहीं है उससे इस काम में बाधा पड़ेगी।

अपनी सृष्टि-शक्ति से देश को अपना बनाने का आह्वान बहुत बड़ा आह्वान है। वह किसी बाह्य अनुष्ठान की माँग नहीं है। मैं पहले ही कह चुका हूँ, मनुष्य मधुमक्खी की तरह नहीं है जो एक ही तरह का छत्ता बनाती है, न वह मकड़ी की तरह है जो एक ही 'पैटर्न' का जाल बुनती है। उसकी सबसे बड़ी शक्ति है उसका अन्तःकरण। मनुष्य का पूरा दायित्व अन्तःकरण के सामने है, अभ्यासपरता के सामने नहीं। यदि किसी लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य से हम कहें : 'तुम विचार न करो, केवल काम करो', तो उसी मोह को हम प्रश्रय देंगे जिससे आज हमारे देश का विनाश हो रहा है। मानव-मन के सर्वोच्च अधिकार, अर्थात् विचार करने के अधिकार को अनुशासन और प्रथा के हाथों बेचकर इतने दिन तक हम आलसियों की तरह निश्चिन्त बैठे रहे। हमने कहा : 'हम समुद्र-पार नहीं जायँगे, क्योंकि मनु ने इसका निषेध किया है, मुसलमान के पास बैठकर भोजन नहीं करेंगे, क्योंकि यह शास्त्र के विरुद्ध है।' अर्थात् जिस प्रणाली में मानव-मन की ज़रूरत नहीं पड़ती, विचारहीन अभ्यासनिष्ठता से ही काम चल जाता है, उसी प्रणाली से हमारी जीवन-यात्रा का अधिकतर भाग सम्पन्न होता रहा है। जो मनुष्य सदा बाह्य आचार से ही चालित होता है उसकी पंगुता वैसी ही होती है जैसी कि प्रत्येक विषय में दास पर निर्भर रहने वाले मालिक की। आन्तरिक मनुष्य ही स्वामी है, वह जब बाह्य प्रथा पर पूर्णतया अवलम्बित होता है तब उसकी दुर्गति का कोई अन्त नहीं होता। आचार-संचालित मनुष्य कठपुतली की तरह है, बाध्यता की चरम सीमा तक वह पहुँच चुका है। परतन्त्रता के कारखाने में उसका निर्माण हुआ है; इसलिए जब उसे एक चालक के हाथ से निष्कृति मिलती है तो किसी और चालक के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ता है। पदार्थ-विद्या में जिसे 'इनर्शिया' कहते हैं, उसीकी साधना को जो पवित्र समझता है, ऐसे मनुष्य के लिए स्थावरता और जंगमता समान है; दोनों में से किसी में भी उसका अपना कर्तृत्व नहीं है।

अन्तःकरण का जो जड़त्व सर्व प्रकार की क्षमता का कारण है उससे मुक्ति-लाभ का उपाय न तो परावलम्बन है न बाह्यानुष्ठान।

आज देश में जो आन्दोलन चल रहा है वह बंगविभाजन के आन्दोलन से बहुत बड़ा है। उसका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर पड़ रहा है। बहुत दिन तक हमारे नेताओं ने अँग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त लोगों के अतिरिक्त किसी की ओर दृष्टिपात नहीं किया; उनके लिए 'देश' नाम की वस्तु वही थी जो अँग्रेज़ी इतिहास पुस्तकों में मिलती है। वह देश अँग्रेज़ी भाषा की वाष्प से निर्मित एक मरीचिका-जैसा था। उस मरीचिका में बर्क, ग्लड्स्टन, मेज़िनी, गैरीबाल्डी की अस्पष्ट प्रतिमाएँ ही दिखाई पड़ती थीं। उसमें प्रकृत आत्मयोग या देश के लोगों के प्रति यथार्थ सहानुभूति नहीं थी। ऐसे समय महात्मा गांधी भारत के कोटि-कोटि ग़रीबों के द्वार पर आकर खड़े हुए। उन्होंने लोगों से उनकी अपनी भाषा में उनकी अपनी बातें कहीं। यह एक सत्य वस्तु थी, इसमें पुस्तकीय 'दृष्टान्त' नहीं थे। इसलिए उन्हें जो महात्मा का नाम दिया गया है वह सत्य नाम है। भारत के इतने लोगों को अपना आत्मीय समझने वाला और कौन है? आत्मा में जो शक्ति का भण्डार है वह सत्य का स्पर्श लगते ही उन्मुक्त हो जाता है। जैसे ही सत्य, प्रेम भारतवासियों के अवरुद्ध द्वार पर खड़ा होता है, वह द्वार खुल जाता है। चातुर्य पर आधारित राजनीति वन्ध्या है—इस बात की शिक्षा हमारे लिए बहुत दिन तक आवश्यक रही है। महात्मा के प्रसाद से आज हमने प्रत्यक्ष देखा हैं कि सत्य में कितनी शक्ति है। लेकिन चातुर्य है भीरु और दुर्बल लोगों का सहज धर्म—उसका विनाश करना हो तो उसे जड़ से काटना पड़ता है। आजकल बहुत-से बुद्धिमान लोग महात्मा के प्रयत्न को भी अपने राजनैतिक खेल की गुप्त चालों में शामिल करना चाहते हैं। उनका मन, जो मिथ्या से जीर्ण हो गया है, यह नहीं समझ पाता कि महात्मा के प्रेम से देश के हृदय में जो प्रेम छलक उठा वह कोई अवान्तर चीज़ नहीं है—उसमें ही मुक्ति हैं, उसमें ही देश अपने-आपको प्राप्त कर सकता है; अँग्रेजों का यहाँ होना-न-होना इस प्रेम के लिए गौण है। यह प्रेम स्वयं प्रकाश है, यह 'हाँ' है, किसी 'नहीं' के साथ यह बहस नहीं करना चाहता, क्योंकि उसे बहस करने की ज़रूरत नहीं है।

प्रेम की पुकार से भारत के हृदय में यह जो आश्चर्यजनक उद्‌बोधन हुआ है, उसका स्वर मैं भी समुद्र पार थोड़ा-बहुत सुन पाया था। बड़े आनन्द के साथ मैंने सोचा, इस उद्‌बोधन के दरबार में सभी को बुलाया जायगा, भारत की चित्तशक्ति के जो विचित्र रूप प्रच्छन्न हैं वे प्रकाशित होंगे। इसीको मैं मुक्ति समझता हूँ—प्रकाशन ही मुक्ति है। एक दिन भारत में बुद्धदेव ने सर्वभूतों के प्रति मैत्री का मंत्र

अपनी सत्यसाधना से प्रकाशित किया था। उसके परिणामस्वरूप, सत्य की प्रेरणा से, भारत का मनुष्यत्व-शिल्प-कला और विज्ञान के ऐश्वर्य में व्यक्त हुआ था। राजनैतिक पक्ष में उस दिन भी भारत ऐक्य-साधन के क्षणिक प्रयत्नों के बाद बार-बार विच्छिन्न हुआ था; लेकिन उसके चित्त को निद्रा और प्रच्छन्नता से मुक्ति मिली थी। इस मुक्ति में इतना बल था कि भारत अपने-आपको देश की छोटी सीमाओं से आबद्ध न रख सका। समुद्र और पर्वत-राशि के पार जिस दूर-देश को भी उसने स्पर्श किया उसीके चित्त को ऐश्वर्य प्रदान किया। आज कोई वणिक् या सैनिक यह काम नहीं कर सकता—ये पृथ्वी के जिस हिस्से को स्पर्श करते हैं वहाँ विरोध, पीड़ा और अपमान जगाते हैं, विश्व-प्रकृति की सम्पदा नष्ट कर देते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि लोभ सत्य नहीं, प्रेम ही सत्य है। प्रेम जो मुक्ति देता है वह आन्तरिक पक्ष से देता है; लेकिन लोभ जब स्वातन्त्र्य के लिए चेष्टा करता है, बल-पूर्वक अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए अस्थिर हो उठता है। बंग-विभाजन के दिनों में यह बात हमने देखी—उस समय हमने ग़रीबों को त्याग और दुःख स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, प्रेम द्वारा नहीं, बल्कि तरह-तरह के बाह्य दबाव डालकर। लोभ अल्प समय में ही एक विशिष्ट संकीर्ण फल प्राप्त करना चाहता है; लेकिन प्रेम का फल एक दिन का नहीं होता, कुछ दिनों का भी नहीं होता, प्रेम के फल की सार्थकता प्रेम के ही बीच होती है।

मैं इसी कल्पना के साथ घर लौटा कि बहुत दिनों के बाद हमारे देश में मुक्ति की वायु बहने लगी है। लेकिन यहाँ एक बात से मैं हताश हो गया हूँ; मैं देखता हूँ देश के मन पर एक विषम भार है। किसी बाह्य शक्ति की ताड़ना से सबको एक बात कहने और एक काम करने के लिए कठोर आदेश मिला है।

जब मैं कोई सवाल करना चाहता हूँ, सोचना चाहता हूँ, मेरे हितैषी व्याकुल होकर मेरा मुँह बन्द करते हैं और कहते हैं: 'इस समय तुम कुछ मत कहो।' देश के वातावरण में एक प्रबल उत्पीड़न है—वह लाठी-छुरी का उत्पीड़न नहीं, उससे भी भयंकर है, क्योंकि वह अदृश्य है। आजकल जो किया जा रहा है उसके बारे में किसी के मन में तिल-मात्र संशय हो, और डरते-डरते वह अपना संदेह व्यक्त करे, तो फौरन उसके विरुद्ध एक दमन-शक्ति तैयार हो उठती है। किसी अखबार में एक दिन विदेशी कपड़ा जलाने के सम्बन्ध में कुछ लिखा गया था। लेखक ने अत्यन्त मृदुल भाषा में अपनी आपत्ति का आभास-मात्र दिया था। सम्पादक का कहना है कि दूसरे ही दिन पाठक-मण्डली की अस्थिरता से वह स्वयं विचलित हो गया।

जिस आग ने कपड़ा जलाया उसे कागज जलाने में कितनी देर लगती ! मैं देखता हूँ, एक पक्ष के लोग अत्यन्त व्यस्त हैं, दूसरे पक्ष के लोग अत्यन्त त्रस्त। लोग कह रहे हैं, सारे देश की बुद्धि पर पर्दा डालना चाहिए, और समस्त विद्या पर भी। केवल आज्ञाकारिता को पकड़े रहना चाहिए। लेकिन किसके प्रति आज्ञाकारिता ? मन्त्र के प्रति ? या अन्धविश्वास के प्रति ?

आखिर आज्ञाकारिता क्यों ? फिर वही बात उठती है, लोभ और इन्द्रिय-प्रवृत्ति की बात। थोड़े समय में और सस्ते दाम पर अतिदुर्लभ धन प्राप्त करने का विश्वास देश में जाग रहा है। यह संन्यासी की मन्त्र-शक्ति से सोना उत्पन्न करने के विश्वास-जैसा है। इस विश्वास के प्रलोभन से मनुष्य अपनी विचार-बुद्धि पर अनायास ही तिलांजलि दे सकता है, और जो ऐसा करने के लिए राज़ी नहीं हैं उन पर क्रुद्ध होता है। बाहर के स्वातन्त्र्य के नाम पर मनुष्य के आन्तरिक स्वातन्त्र्य को इस तरह विलुप्त करना आसान हो जाता है। सबसे अधिक शोचनीय बात तो यह है कि सभी लोगों के मन में यह विश्वास नहीं होता, फिर भी वे कहते हैं कि इस प्रलोभन से देशवासियों के एक विशेष दल को प्रेरित करके एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। इनके अनुसार जिस भारत का मन्त्र है 'सत्यमेव जयते नानृतम्', वह भारत स्वराज नहीं प्राप्त कर सकता। और मुश्किल यह है कि इस लोभ को एक नाम दिया गया है, पर उसकी व्याख्या नहीं की गई। भय का कारण अस्पष्ट हो तो भय और भी बढ़ जाता है; उसी तरह लोभ का विषय अस्पष्ट होने से लोभ अधिक तीव्र हो जाता है क्योंकि इस अवस्था में कल्पना स्वच्छन्द होती है और प्रत्येक व्यक्ति उस लोभ विषय को अपनी इच्छानुसार रूप देता है। जिज्ञासा द्वारा उसे पकड़ने की कोशिश की जाय तो वह एक आवरण से हटकर दूसरे आवरण में जा छिपता है। इस तरह एक ओर लोभ के लक्ष्य को अनिर्दिष्टता द्वारा विशाल बनाया गया है और दूसरी ओर लक्ष्य-प्राप्ति की साधना को समय और उपाय की अत्यन्त संकीर्ण सीमाओं में निर्दिष्ट किया गया है। व्यक्ति के मन को मोहाविष्ट करके जब उससे कहा जाता है : 'अपनी बुद्धि-विद्या, प्रश्न-विचार सब छोड़ दो—केवल आज्ञाकारिता रहने दो', तब उसके राज़ी होने में देर नहीं लगती। किसी विशेष बाह्यानुष्ठान द्वारा शीघ्र ही स्वराज्य मिलेगा—एक विशेष महीने की विशेष तारीख को मिलेगा—यह बात देश के अधिकांश लोगों ने आसानी से, बिना तर्क किये, स्वीकार कर ली; हाथ में गदा लेकर तर्क को पराजित करने के लिए वे प्रवृत्त हुए; अर्थात् अपना बुद्धि-स्वातन्त्र्य विसर्जित करके दूसरे के बुद्धि-स्वातन्त्र्य को छीनने के लिए उद्यत हुए—यह क्या अत्यन्त चिन्ताजनक बात नहीं है ? क्या इसी भूत को भगाने के लिए हमने ओझा को नहीं

ढूँढ़ा है ? लेकिन भूत जब स्वयं ओझा के रूप में दिखाई देने लगे तब तो हमारी विपद् की सीमा न रहेगी।

महात्मा ने अपने सत्य प्रेम से भारत का हृदय जीत लिया है और इसके लिए हम सब उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। इस सत्य की शक्ति को प्रत्यक्ष देखकर आज हम कृतार्थ हैं। चिरन्तन सत्य के बारे में हम पुस्तकों में पढ़ते हैं, उसकी चर्चा करते हैं, लेकिन जब उसे अपने सामने देखते हैं वह हमारे लिए पुण्य क्षण है। बहुत दिनों के बाद अकस्मात् हमें यह सुयोग मिला है। कांग्रेस तो हम रोज़ बना सकते हैं और भंग कर सकते हैं, भारत के प्रदेश-प्रदेश में अँग्रेज़ी भाषा में राजनैतिक भाषण देना भी हमारे लिए सरल है, लेकिन सत्य प्रेम का वह स्वर्णदण्ड जिसके स्पर्श से सदियों के बाद चित्त जाग उठता, मोहल्ले की सुनार की दुकान में नहीं बनता। जिनके हाथ में यह दुर्लभ वस्तु देखी उन्हें हम प्रणाम करते हैं।

लेकिन सत्य को प्रत्यक्ष देखने के बाद भी यदि उसके प्रति हमारी निष्ठा दृढ़ न हुई तो हमें फल क्या मिला ? जिस तरह एक ओर हम प्रेम के सत्य को मानते हैं उसी तरह दूसरी ओर बुद्धि के सत्य को भी मानना होगा। कांग्रेस के द्वारा, या अन्य किसी बाह्य अनुष्ठान के द्वारा, देश का हृदय नहीं जागा—महान् अन्तःकरण के अकृत्रिम प्रेमस्पर्श से ही जागा है। आन्तरिक सत्य का यह प्रभाव जब आज तक हम स्पष्ट देख सकते हैं, तो स्वराज्य प्राप्ति के समय भी क्या उसी सत्य पर हमारा विश्वास नहीं होगा ? उद्बोधन के क्षण जिसे हमने माना उसे क्या कार्य-सम्पादन के समय हम विसर्जित कर देंगे ?

मान लीजिए, मैं वीणा के उस्ताद को ढूँढ रहा हूँ। पूर्व-पश्चिम कितने ही लोगों की परीक्षा की, लेकिन हृदय तृप्त नहीं हुआ। वे बातें खूब करते हैं, उनके पास कौशल काफी है, रोज़गार भी यथेष्ट करते हैं—लेकिन उनकी बहादुरी से मन में प्रशंसा जाग सकती है, प्रेम नहीं। आखिर एक दिन अचानक ऐसा व्यक्ति मिलता है जिसके दो-चार मींड लगाते ही अन्तःकरण का आनन्द-स्रोत, जो अब तक बन्द था, क्षण-भर में फूट निकलता है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए कि उस्ताद के हृदय में जो आनन्दमयी शक्ति है वह सत्य वस्तु है; वह अपनी आनन्द-शिखा से हृदय-हृदय में आनन्द-दीप जलाती है। मैं समझ गया, यही उस्ताद है; मैंने उसे मान लिया। इसके बाद एक वीणा तैयार करना आवश्यक हो गया। लेकिन वीणा बनाने के लिए एक-दूसरे ही प्रकार का सत्य ज़रूरी है। उसके पीछे भी विचार, शिक्षा, वस्तुतत्त्व है, बड़ा अध्यवसाय है। इस समय यदि उस्ताद मेरी दीन अवस्था पर तरस खाकर कहे : 'बेटा, वीणा बनाना एक बड़ा

आयोजन है, तुमसे वह नहीं होगा। इससे अच्छा तुम इस लकड़ी में तार बाँधकर उसीसे झंकार उत्पन्न करते रहो। अमुक महीने की अमुक तारीख को यह लकड़ी ही वीणा बनकर बजने लगेगी'; तो यह बात मैं नहीं मान सकता। वास्तव में मेरी अक्षमता पर दया प्रकट करना उस्ताद के लिए उचित नहीं है। उन्हें यही कहना चाहिए : 'इतनी आसानी से यह काम नहीं हो सकता।' वही तो मुझे समझा सकते हैं कि वीणा में एक ही तार नहीं होता, उसके उपकरण बहुत-से होते हैं, रचना-प्रणाली सूक्ष्म होती है, नियम में ज़रा-सी त्रुटि हो जाने पर वीणा बेसुरी बजती है; इसलिए तत्त्व और नियम का विचारपूर्वक पालन करना होगा। देश के हृदय की गहराई से प्रतिक्रिया बाहर निकालना ही उस्ताद का वीणा-वादन है। इस विद्या में प्रेम का सत्य कितना बड़ा है यह हमने महात्माजी से विशुद्ध रूप से सीखा है और इस सम्बन्ध में उनके प्रति हमारी श्रद्धा सदा अक्षुण्ण रहे। लेकिन स्वराज्य-निर्माण का तत्त्व बहुत विस्तृत है, उसकी प्रणाली दुःसाध्य है, उसमें दीर्घ समय लगता है, उसमें आकांक्षा और हृदयावेग के साथ-ही-साथ तथ्यानुसंधान और विचार-बुद्धि की ज़रूरत है। उसके लिए अर्थशास्त्रज्ञों को विचार करना होगा, यन्त्रशास्त्रज्ञों को परिश्रम करना होगा, शिक्षातत्त्व और राज्यशास्त्र के विद्वानों को ध्यान देना होगा, काम करना होगा। अर्थात् देश के अन्तःकरण को सभी दिशाओं से पूर्ण उद्यम में जागृत होना पड़ेगा। देश के लोगों की जिज्ञासा-वृत्ति का निर्मल और स्वतन्त्र रहना ज़रूरी है, किसी कठोर शासन से बुद्धि को भीरु और निश्चेष्ट नहीं होने देना है। इस तरह देश की वैचित्र्यपूर्ण शक्ति को समेटना और उसे काम में लगाना किसके लिए संभव है? सभी लोगों की पुकार तो देश नहीं सुनता, इस बात की परीक्षा कई बार हो चुकी है। देश की पूरी शक्ति को देश-निर्माण के कार्य में आज तक कोई नियुक्त नहीं कर सका, इसीलिए हमारा इतना समय व्यर्थ गया। तभी इतने दिनों तक हम आशा करते रहे कि जिसके पास देश के लोगों को पुकारने का सत्य अधिकार है ऐसा व्यक्ति आकर प्रत्येक मनुष्य की आत्मशक्ति को कार्य में नियुक्त करेगा। किसी दिन भारत के तपोवन में हमारे दीक्षागुरु ने सत्यज्ञान के अधिकार से देश के सारे ब्रह्मचारियों को पुकारा था और कहा था :

> 'यथापः प्रवतायन्ति यथा मासा अहर्जरम्।
> एवं मा ब्रह्मचारिणो धात आयन्तु सर्वतः स्वाहा॥'

जिस तरह समस्त जल निम्न स्तर की ओर जाता है, जिस तरह सारे महीने संवत्सर की ओर जाते हैं, उसी तरह सभी दिशाओं से ब्रह्मचारीगण मेरे पास आयें, स्वाहा! उस दिन की इस सत्यदीक्षा का फल अब तक पृथ्वी पर अमर है

और उसका आह्वान अब तक विश्व के कानों तक पहुँचता है। आज हमारे कर्मगुरु उसी तरह देश की सारी कर्मशक्ति को आह्वान क्यों नहीं देंगे? क्यों नहीं कहेंगे—'आयन्तु सर्वतः स्वाहा', चारों दिशाओं से मेरे पास आओ? देश की समस्त शक्ति के जागरण में ही देश का जागरण है, और उसीमें मुक्ति है। महात्माजी को विधाता ने सबको पुकारने की शक्ति दी है, क्योंकि उनमें सत्य है। यही तो हमारा शुभ अवसर है। लेकिन उन्होंने एक संकीर्ण क्षेत्र में लोगों को पुकारा। उन्होंने कहा: सब मिलकर केवल सूत कातो, कपड़ा बुनो। क्या यह पुकार 'आयन्तु सर्वतः स्वाहा'—जैसी है? क्या वह नवयुग की महासृष्टि की पुकार है? विश्व-प्रकृति ने जब मधुमक्खी को छत्ते की संकीर्ण जीवन-यात्रा में आमन्त्रित किया तब लाखों मधुमक्खियों ने कर्म की सुविधा के लिए अपने-आपको कमज़ोर बना दिया। अपने को छोटा करके जो आत्मत्याग उन्होंने किया उसके द्वारा उन्होंने मुक्ति के विपरीत दिशा में जाने वाला पथ अपनाया, तब किसी देश के बहु-संख्यक लोग किसी लोभ या अनुशासन के कारण अन्धभाव से अपने-आपको कमज़ोर बनाते हैं, तब उनकी पराधीनता उनके अपने अन्तःकरण में होती है। चरखा चलाना बहुत सरल है, तभी सबके लिए वह साध्य है। लेकिन सरलता की पुकार मनुष्य के लिए नहीं, मधुमक्खी के लिए है। मनुष्य से जब उसकी समस्त शक्ति माँगी जाती है तभी वह आत्मप्रकाश का ऐश्वर्य प्रदर्शित कर पाता है। स्पार्टा ने विशेष लक्ष्य की ओर दृष्टि जमाकर, मनुष्य की शक्ति को संकीर्ण क्षेत्र में प्रबल बनाने का प्रयत्न किया था; लेकिन स्पार्टा की विजय नहीं हुई। एथेन्स ने मनुष्य की पूरी शक्ति को उन्मुक्त करके उसे परिपूर्णता देने का प्रयत्न किया; एथेन्स की विजय हुई, उसकी जयपताका आज तक मानव-सभ्यता के शिखर पर फहरा रही है। योरोप में सैन्यावासों और कारखानों में क्या मानव-शक्ति को कमज़ोर नहीं बनाया जा रहा है? क्या लोभ और उद्देश्य के लिए मनुष्यत्व को संकीर्ण नही किया जा रहा है? और क्या इसीलिए योरोपीय समाज में आज आनन्दहीनता घनीभूत नहीं हो रही? मनुष्य को बड़े यन्त्र द्वारा भी छोटा बनाया जा सकता है, छोटे यन्त्र द्वारा भी; इंजिन के द्वारा छोटा किया जा सकता है और चरखे द्वारा भी। जहाँ चरखा स्वाभाविक है वहाँ वह कोई हानि नहीं पहुँचाता, वरन् उपकार ही करता है। लेकिन मानव-मन वैचित्र्यपूर्ण है, इसलिए चरखा जहाँ स्वाभाविक नहीं है वहाँ उसमें सूत के साथ-साथ मन भी कतता जाता है। मन सूत से कम मूल्यवान वस्तु नहीं!

यह कहा गया है कि भारत में अस्सी प्रतिशत लोग खेती करते हैं और साल में छः महीने उन्हें कोई काम नहीं होता; उन्हें सूत कातने का प्रोत्साहन देने

के लिए शिक्षित लोगों को भी चरखा चलाना चाहिए। पहले यह देखना है कि उपरोक्त कथन में तथ्य कहाँ तक है। वास्तव में किसान कितने दिनों तक बेकार रहते हैं; जब खेती बन्द रहती है तब किसान जिन उपायों से जीविकार्जन करते हैं उनकी तुलना में सूत कातना कहाँ तक लाभप्रद होगा—इन सभी बातों पर विचार करना आवश्यक है। खेती के अतिरिक्त जीविकार्जन के किसी अन्य उपाय में सारे किसानों को लगाने से देश का कल्याण होगा या नहीं, इसमें भी सन्देह है। किसी के अनुमान पर निर्भर होकर हम एक ऐसे मार्ग को नहीं अपना सकते जिसका सम्बन्ध जनसाधारण से है। विश्वसनीय प्रणाली से तथ्यों का अनुसन्धान करना आवश्यक है। उसके बाद ही उपाय के औचित्य के विषय में सोचना सम्भव होगा।

कुछ लोगों ने मुझसे कहा है: 'देश की चित्तशक्ति को हम चिरकाल के लिए संकीर्ण नहीं करना चाहते। यह संकीर्णता अल्प समय तक रहेगी।' लेकिन अल्पकाल के लिए भी संकीर्णता क्यों? इसलिए कि इस उपाय से हम अल्पकाल में स्वराज प्राप्त करेंगे? यह कहाँ का युक्तिवाद है! अपना कपड़ा स्वयं तैयार करना—केवल यही तो स्वराज नहीं है। स्वराज हमारी वस्त्र-स्वच्छता पर तो प्रतिष्ठित नहीं है। उसका यथार्थ आधार हमारा मन है—मन ही अपनी 'बहुधा-शक्ति' द्वारा, आत्मशक्ति पर आस्था द्वारा, स्वराज की सृष्टि करता है। किसी भी देश में यह स्वराज-सृष्टि की क्रिया समाप्त नहीं हुई—किसी-न-किसी अंश में प्रत्येक देश में लोभ या मोह की प्रेरणा से बन्धन की अवस्था बाकी रह गई है। लेकिन उस बन्धन-दशा का कारण मनुष्य का चित्त ही है। सभी देशों में निरन्तर इस चित्त पर ही स्वातन्त्र्य का दायित्व-भार पड़ता है। हमारे देश में भी चित्त के विकास पर ही स्वराज की स्थापना निर्भर है। उसके लिए कोई बाह्य क्रिया या फल नहीं, ज्ञान-विज्ञान चाहिए। देश के चित्त पर प्रतिष्ठित इस स्वराज को कुछ दिन चर्खे पर सूत कातकर ही हम प्राप्त करेंगे, इस कथन में तर्क कहाँ है? युक्ति के बदले उक्ति से काम कभी नहीं चलेगा। मनुष्य के मुँह से यदि हम दैववाणी सुनने लगें तो हमारे देश में पहले ही जो हज़ारों तरह के विनाशकारी रोग हैं, उनमें यह अन्यतम और प्रबलतम होगा। यदि एक बार हम यह सोच लें कि दैववाणी के अलावा और किसी बात से देश प्रभावित नहीं होता, तो थोड़े-से प्रयोजन के लिए दिन-रात दैववाणी ही प्रस्तुत करनी होगी—दूसरी कोई वाणी नहीं टिक सकेगी। जिन लोगों को हम युक्ति के बदले उक्ति से सन्तुष्ट करेंगे उन पर आत्मा के बदले किसी-न-किसी 'कर्ता' का ही अधिकार होगा। मैं मानता हूँ कि हमारे देश में दैववाणी, दैवी औषधि, बाह्य जगत् में दैवीक्रिया—इन सबका बड़ा प्रभाव है।

लेकिन इसीलिए यह और भी आवश्यक है कि स्वराज्य की बुनियाद डालते समय दैववाणी के आसन पर बुद्धिवाणी को बिठाया जाय, क्योंकि—जैसा मैं एक और प्रबन्ध में कह चुका हूँ—दैव ने स्वयं आधिभौतिक राज्य में बुद्धि का राज्याभिषेक कराया है। आज बाह्य जगत् में वही लोग स्वराज प्राप्त करके उस स्वराज की रक्षा कर सकेंगे जो आत्मबुद्धि के ज़ोर से आत्म-कर्तृत्व उपलब्ध कर सकते हैं, और जो इस गौरव को किसी लोभ या मोह से दूसरों के हवाले करना नहीं चाहते। आज वस्त्र के अभाव से लज्जित और कातर देश में कपड़ों के ढेर जलाए जा रहे हैं—इसकी माँग किस वाणी ने की है? उसी दैववाणी ने? कपड़े के व्यवहार अथवा वर्जन के साथ अर्थशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस शास्त्र की भाषा में ही इस विषय पर देश से कुछ कहा जा सकता है। यदि बुद्धि की भाषा मान्य करने का हमारा अभ्यास बहुत दिनों से छूट गया है, तो और सब काम छोड़कर सबसे पहले इस अनभ्यास के विरुद्ध लड़ाई करनी होगी। यह अनभ्यास ही हमारा आदि अपराध (original sin) है। इस भूल को ही प्रश्रय देकर आज यह घोषणा की गई है: 'विदेशी कपड़ा अपवित्र है, उसे जला डालो।' अर्थशास्त्र को बहिष्कृत करके उसके स्थान पर धर्मशास्त्र को ज़बरदस्ती बिठाया गया है। अपवित्रता की बात धर्मशास्त्र के क्षेत्र में है, अर्थशास्त्र से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मिथ्या का वर्जन क्यों करना चाहिए? मिथ्या अपवित्र क्यों है? केवल इसलिए नहीं कि उससे हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता या अनिष्ट होता है; बल्कि इसलिए कि प्रयोजन सिद्ध हो या न हो, उससे हमारी आत्मा मलिन होती है। इसलिए यहाँ अर्थशास्त्र या राजनीति लागू नहीं होती, यहाँ धर्मशास्त्र की वाणी ही प्रबल है। लेकिन किसी कपड़े के पहनने या न पहनने में यदि हम कोई भूल करते हैं, तो यह अर्थशास्त्र, स्वास्थ्य विज्ञान या सौन्दर्य-तत्त्व की भूल है, धर्मशास्त्र की नहीं। इसके उत्तर में कुछ लोग कहते हैं: 'जो भूल देह-मन को दुःख पहुँचाती है, वह अधर्म है:' लेकिन मैं कहूँगा, भूल चाहे जैसी भी हो, उससे दुःख तो मिलेगा ही। ज्योमेट्री की भूल से रास्ता बिगड़ जाता है, दीवार टेढ़ी बनती है, पुल का निर्माण इस तरह से होता है कि उस पर रेल चले तो दुर्घटना निश्चित है! लेकिन इस भूल का संशोधन धर्मशास्त्र से नहीं हो सकता; छात्र की जिस नोटबुक में ज्योमेट्री की अशुद्धि हो उसे अपवित्र कहकर नष्ट करने से अशुद्धि का संशोधन नहीं होता—ज्योमेट्री के सत्य नियम के अनुसार उस भूल को सुधारना होगा। लेकिन मास्टर के मन में यह विचार उठ सकता है: 'यदि मैं इस नोटबुक को अपवित्र न कहूँ तो यह लड़का अपनी भूल को भूल नहीं मानेगा।' ऐसा विचार यदि मन में है, तो सबसे पहले किसी-न-किसी उपाय से मास्टर के इस चित्तगत दोष का संशोधन

करना होगा, तभी छात्र को उचित शिक्षा मिलेगी।

कपड़ा जलाने का आदेश आज हमें मिला है। प्रथमतः, वह आदेश है केवल इसीलिए उसे मानना होगा, यह बात मैं स्वीकार नहीं कर सकता। आँखें बन्द करके आदेश मानने की विषम विपत्ति से देश को बचाने के लिए हमें युद्ध करना है। देश को एक आदेश से दूसरे आदेश तक ले जाना, उसे आदेश-समुद्र के सात घाटों का पानी पिलाना, मुझे मञ्जूर नहीं; द्वितीयतः, जिसे जलाने का आयोजन चल रहा है वह कपड़ा मेरा नहीं है—जिन देशवासियों को कपड़े का अभाव है, उन्हींका है। मैं उसे जलाने वाला कौन होता हूँ ? यदि वे स्वयं कहें 'इसे जला दो' तो आत्महत्या का भार आत्मघाती पर ही पड़ेगा, हम पर नहीं। जो मनुष्य कपड़े का त्याग कर रहा है, उसके पास काफ़ी कपड़े हैं; और जिससे ज़बरदस्ती त्याग कराया जा रहा है वह कपड़े के अभाव से घर से बाहर नहीं निकल पाता। इस तरह के बलपूर्वक कराए गए प्रायश्चित से पाप का क्षालन नहीं होता। बार-बार कह चुका हूँ, और फिर कहता हूँ, कि बाह्य फल के लोभ से हम अपने मन को नहीं खो सकते। जिस यन्त्र के दौरात्म्य से पृथ्वी पीड़ित है, उसका जब महात्माजी विरोध करते हैं तब मैं उनके साथ हूँ। लेकिन जो मोहमुग्ध, मन्त्रमुग्ध आज्ञाकारिता देश के दैन्य और अपमान की जड़ है उसकी सहायता करते हुए मैं यन्त्र के विरुद्ध लड़ाई नहीं करूँगा। उसीके विरुद्ध तो हमारा मुख्य संघर्ष है, उसको पराजित करके ही हमें अन्दर-बाहर स्वराज मिलेगा।

कपड़ा जलाना मुझे मञ्जूर है, लेकिन किसी उक्ति की ताड़ना से नहीं। काफ़ी सोच-विचार के बाद, यथोचित उपायों से, विशेषज्ञ प्रमाण संग्रह करें और हमें समझा दें कि कपड़ा पहनने के विषय में हमारी जो अर्थशास्त्रमूलक भूलें हैं उन्हें दूर करने की कौन-सी उचित व्यवस्था हो सकती है। बिना प्रमाण या तर्क के मैं कैसे कह सकता हूँ कि किसी विशेष कपड़े को पहनने का आर्थिक अपराध उस कपड़े को जला डालने से दूर होगा—कैसे कह सकता हूँ कि दूर होने के बदले इससे अपराध की जड़ें और नहीं फैलेंगी, मैन्चेस्टर का फाँस और भी दृढ़ नहीं होगा ? यह तर्क मैं विशेषज्ञ की हैसियत से नहीं बल्कि एक जिज्ञासु की हैसियत से प्रस्तुत कर रहा हूँ—मैं विशेषज्ञ नहीं हूँ। मैं यह नहीं कहता कि विशेषज्ञ का वचन वेद-वाक्य है; लेकिन सुविधा यही है कि विशेषज्ञ वेद-वाक्य की तरह बात करते ही नहीं, वे भरी सभा में हमारी बुद्धि को आह्वान देते हैं।

वह दिन आ गया है कि हम एक बात पर विचार करें—भारत का वर्तमान उद्बोधन सारी पृथ्वी के उद्बोधन का अंग है। महायुद्ध की तूर्यध्वनि से नये युग का आरम्भ हुआ है। महाभारत में हम पढ़ते हैं, आत्म-प्रकाशन के पहले का काल

अज्ञातवास का काल था। कुछ समय से पृथ्वी पर मानव-मानव में जो घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए हैं वे अब तक अज्ञात थे। इन सम्बन्धों का रूप बाह्य था, उसने हमारे मन में प्रवेश नहीं किया था। युद्ध के आधान से जब क्षण-भर के लिए सारी मानव-जाति विचलित हो उठी, तब ये सम्बन्ध छिपे नहीं रहे। एक दिन अचानक आधुनिक सभ्यता—अर्थात् पाश्चात्य सभ्यता—की दीवार काँप उठी। यह बात समझ में आई कि इस कंपन का कारण स्थानिक या क्षणिक नहीं था, वह विश्वव्यापी था। मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध एक महादेश से दूसरे महादेश तक व्याप्त है; उसमें जब तक सत्य का सामंजस्य नहीं होगा यह कारण दूर नहीं होगा। जो भी देश अपने-आपको बिलकुल अलग रूप से स्वतन्त्र देखेगा उसका वर्तमान युग से विरोध होगा, और उसे किसी तरह शांति नहीं मिलेगी। लोगों ने समझा कि अब से प्रत्येक देश जब अपने विषय में विचार करेगा तो उसके विचार का क्षेत्र दुनिया-भर में व्याप्त होगा। चित्त की इस विश्वोन्मुख वृत्ति को विकसित करना ही वर्तमान युग की शिक्षा-साधना है। कुछ दिनों से हम देख रहे हैं कि भारतीय राजनीति में एक मूलगत परिवर्तन हो रहा है। इसके पीछे भारत की राष्ट्रीय समस्या को विश्व-समस्या के अन्तर्गत करने का प्रयास है। युद्ध ने हमारे मन के सामने से एक पर्दा हटा दिया है—जो कुछ भी विश्व के लिए हितकर नहीं है, वह हमारे अपने स्वार्थ के विरुद्ध है, यह बात हमारा मन किताबों के पन्नों में नहीं, प्रत्यक्ष व्यवहार में देख पाता है। और वह समझ लेता है कि जहाँ अन्याय है वहाँ बाह्य अधिकार होने पर भी सत्य-अधिकार नहीं हो सकता। बाह्य अधिकार को संकुचित करके भी यदि सत्य-अधिकार मिल सकता है तो इसमें लाभ ही है, नुकसान नहीं। मनुष्य की बुद्धि में यह जो विराट् परिवर्तन हुआ है, जिससे उसका चित्त संकीर्णता को छोड़कर भूमा की ओर जा रहा है, उसीसे भारतीय राजनीति में भी परिवर्तन आरम्भ हुआ है। इसमें असंपूर्णता है, बाधाएँ हैं—स्वार्थबुद्धि शुभबुद्धि पर आक्रमण करेगी ही—लेकिन यह सोचना अन्याय होगा कि स्वार्थ-बुद्धि ही पूरी तरह स्वाभाविक है, और शुभबुद्धि केवल चालाकी पर आधारित है। मैंने अपनी साठ वर्षों की अभिज्ञता से एक बात जान ली है—कपटता जैसी दुःसाध्य, और इसीलिए दुर्लभ, दूसरी कोई चीज़ नहीं है। नितान्त कपटी मनुष्य विरला होता है। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य में किसी-न-किसी मात्रा में चारित्र्य का द्वैध होता है। हमारी बुद्धि के पास 'लॉजिक' का जो अधिकार है उससे दो विरोधी पदार्थों को एक-मात्र पकड़ना कठिन है; इसीलिए जब हम अच्छे के साथ बुरे को देखते हैं तो झटपट तै कर लेते हैं कि इनमें से जो अच्छा लगता है वह 'चातुर्य' मात्र है। आजकल पृथ्वी में जो सर्वजनीय प्रचेष्टाएँ चल रही हैं उनमें पग-पग पर

मानव-चरित्र का यही द्वैध दिखाई पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यदि हम मानव-चरित्र का अतीत के पक्ष से विचार करें, तो सोचेंगे कि स्वार्थबुद्धि ही यथार्थ है; क्योंकि पिछले युगों की नीति भेदबुद्धि की नीति रही है। लेकिन यदि हम उसे भविष्य के पक्ष से देखें तो शुभबुद्धि को ही यथार्थ समझेंगे; क्योंकि आगामी काल की प्रेरणा मनुष्य को संयुक्त करने की प्रेरणा है। जो बुद्धि सबको संयुक्त करती है वही शुभबुद्धि है। 'लीग ऑफ नेशन्स', भारतीय शासन-सुधार, इन सबमें भावी युग के सम्बन्ध में पश्चिम की वाणी सुनाई पड़ती है। यद्यपि यह वाणी सत्य को पूर्णतया प्रकाशित नहीं करती फिर भी इसका प्रयास सत्य की ही ओर अभिमुख है।

आज इस विश्वचित्त-उद्बोधन के प्रभात में हमारी राष्ट्रीय प्रचेष्टा में यदि विश्व की सार्वजनीन वाणी न हो तो हमारी दीनता व्यक्त होगी। मैं नहीं कहता कि हमारे प्रस्तुत प्रयोजन के जो कार्य हैं उन्हें हम छोड़ दें। लेकिन जब भोर का पक्षी जाग उठता है, उसका जागरण केवल आहार ढूंढ़ने के ही लिए नहीं होता—आकाश के आह्वान को उसके दो अथक पंख स्वीकार करते हैं; आलोक के आनन्द से उसके कंठ से गान फूट निकलता है। आज सर्वमानव के चित्त ने हमारे चित्त को पुकारा है। हमारा चित्त अपनी भाषा में उसे स्वीकार करे, क्योंकि आह्वान स्वीकार करने की क्षमता प्राणशक्ति का लक्षण है। किसी समय हमारी राजनीति दूसरों का मुँह ताकने की नीति थी; हम दूसरों के दोषों की तालिका बनाते थे, दूसरों को उनकी त्रुटियों की याद दिलाते रहते थे। आज जब हम अपनी राजनीति को परपरायणता से अलग करना चाहते हैं, हम फिर दूसरों के अपराधों की सूची बार-बार पढ़कर अपनी वर्जन-नीति का पालन-पोषण कर रहे हैं। इससे जो मनोभाव उत्तरोत्तर प्रबल हो रहा है, वह हमारे चित्ताकाश में रक्तिम धूल उड़ाकर हमारे चिंतन से विशाल जगत् को ओझल रख रहा है; प्रवृत्ति का जल्दी-से-जल्दी समाधान करने के लिए हमें उत्तेजित कर रहा है। समस्त विश्व के साथ जुड़े हुए भारत के विराट् रूप पर हमारी दृष्टि नहीं जाती, इसलिए हमारे कर्म और चिंतन से भारत का जो परिचय मिलता है वह हीन है, उसमें दीप्ति नहीं, उसमें हमारी व्यवसाय बुद्धि ही प्रधान है। व्यवसायबुद्धि कभी किसी महान् वस्तु की सृष्टि नहीं करती। पाश्चात्य जगत् में आज इसका अतिक्रमण करके शुभबुद्धि को जगाने की आकांक्षा और उद्यम दिखाई देता है। मैंने वहाँ कितने ही लोग देखे हैं जो इसी संकल्प को हृदय में लेकर संन्यासी हो गए हैं, अर्थात् जो राष्ट्रीय बन्धनों को तोड़कर ऐक्य-साधना के लिए घर का त्याग करके बाहर निकल पड़े हैं, जो अपने अन्तःकरण में मनुष्य का आन्तरिक अद्वैत देख सके हैं। अँग्रेज़ों में भी ऐसे संन्यासी

मैंने बहुत देखे हैं; उन्होंने राष्ट्रीय अहंकार से दुर्बलों को बचाने के लिए अपने देश-बांधवों के हाथ से आघात और अपमान निःसंकोच स्वीकार किया। फ्रांस में ऐसे संन्यासी देखे—इनमें रोमाँ रोला भी हैं—जिनका वहाँ के लोगों ने बहिष्कार किया है। योरोप के अख्यात प्रदेशों में भी मैंने ऐसे संन्यासी देखे हैं। योरोप के छात्रों में भी ऐसे लोग हैं; मानवता की ऐक्य-साधना से उनका मुखमण्डल दीप्तिमान है। वे भावी युग की महिमा के लिए वर्तमान युग के सारे आघात धैर्यपूर्वक वहन करना चाहते हैं, सारे अपमानों को वीरतापूर्वक क्षमा करना चाहते हैं। क्या केवल हम आज इस शुभ दिन की प्रभात वेला में दूसरों के अपराध ही स्मरण करेंगे? अपना राष्ट्रीय सृष्टिकार्य कलह के ऊपर प्रतिष्ठित करेंगे? क्या इस 'प्रभात में हम उस शुभबुद्धिदाता को स्मरण नहीं करेंगे 'य एक:' जो एक है; 'अवर्ण:'—जो वर्णहीन है, जिसमें स्याह-सफेद का भेद नहीं; 'बहुधाशक्ति योगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति'—जो अपनी बहुशक्ति के योग से अनेक वर्णों के लोगों के लिए उनके अन्तर्निहित प्रयोजन का विधान करता है, क्या हम उसी से यह प्रार्थना नहीं करेंगे:—'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'—वह हम सबको शुभबुद्धि द्वारा संयुक्त करे?

[यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट हॉल में २९ अगस्त, १९२१ को पठित। १९२० में गांधी जी द्वारा चलाए गए असहयोग आन्दोलन की समीक्षा।]

समस्या

विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा में दस-बीस हज़ार छात्र बैठते हैं; लेकिन सबको एक ही प्रश्नपत्र मिलता है—एक ही स्याही से, एक ही-जैसे अक्षरों में छपा हुआ। एक ही प्रश्न का एक ही सत्य उत्तर देकर छात्रगण परीक्षा पास करके डिग्री पाते हैं। इसके लिए निकटवर्ती परीक्षार्थी के उत्तर को नक़ल करके भी काम चल सकता है। लेकिन विधाता की परीक्षा का नियम इतना सरल नहीं। प्रत्येक देश के सामने उसने अलग समस्या भेजी है। उस समस्या की सत्य मीमांसा देश को अपने-आप करनी होती है, तभी वह विधाता के विश्वविद्यालय में सम्मान का स्थान प्राप्त कर सकता है। भारत के सामने भी एक विशेष समस्या रखी गई है; जब तक उसकी सत्य मीमांसा नहीं होगी, भारत के दुःख का अन्त नहीं होगा। हम चतुराई से योरोप के उत्तर की नक़ल करते हैं—किसी दिन मूर्खतावश ज्यों-का-त्यों उतार लिया करते थे, आज बुद्धिमानी से भाषा में कुछ परिवर्तन कर लेते हैं। लेकिन परीक्षक अपनी नीली पेंसिल से बार-बार जो शून्य बनाता है उन सबको जोड़ने से परिणाम शून्य ही निकलता है।

वायुमण्डल में जब आँधी आती है, हम उसे दुर्योग ही समझते हैं। ऐसा लगता है, क्रुद्ध आकाश हमें थप्पड़, लात, घूँसा मारने के लिए उद्यत है। यह तो एक लक्षण है। किसका लक्षण ? इस बात का कि एक वायुस्तर के साथ दूसरे वायुस्तर का जो सामंजस्य होना चाहिए वह नहीं है—वायुस्तरों में प्रभेद आ गया है। एक अंश ऊपर उठा है, दूसरा नीचे गिरा है; एक का गौरव बढ़ गया है; दूसरे का घट गया है। यह एक असह्य परिस्थिति है। इन्द्रदेव का वज्र गड़-गड़ करता है, पवनदेव का तूर्य हुंकारी भरता है। जब तक पड़ोसियों में मेल नहीं होता, वायुस्तरों का पंक्तिभेद दूर नहीं होता, तब तक आकाश शान्त नहीं होता, देवता का क्रोध नहीं मिटता। जिनको साथ-साथ मिलकर चलना चाहिए उनमें यदि तीव्र भेद उत्पन्न हो जाय, तो विपत्ति अनिवार्य है। अरण्य का गाम्भीर्य नष्ट हो जाता है, समुद्र बौखला जाता है; उन्हें दोष देने से या शान्तिशतक का पाठ करने से कुछ परिणाम नहीं निकलता। स्वर्ग में और धरती पर यही स्वर सुनाई पड़ता है : 'विच्छेद हुआ है, विच्छेद हुआ है।'

वायुमण्डल की तरह मानव-जीवन में भी ऐसा ही होता है। जो लोग बाह्य रूप से पास-पास हैं उनमें यदि आन्तरिक प्रभेद उत्पन्न हो, तो विपत्ति खड़ी हो

जाती है। जब तक यह प्रभेद है, इन्द्रदेव के वज्र को और पवन के थपेड़ों को रोका नहीं जा सकता; वैध-अवैध आन्दोलनों से आँधी का प्रतिकार नहीं किया जा सकता।

जब हम कहते हैं कि 'हमें स्वाधीनता चाहिए', तो इस बात पर विचार करना ज़रूरी है कि हमें जो चाहिए वह चीज़ क्या है। मनुष्य जहाँ पूर्णतया एकाकी हैं वहाँ वह पूर्णतया स्वाधीन है। वहाँ किसी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं; किसी के प्रति कोई दायित्व नहीं; कोई किसी पर निर्भर नहीं। वहाँ स्वातन्त्र्य में ज़रा भी हस्तक्षेप करने वाला कोई नहीं है। लेकिन ऐसी स्वाधीनता मनुष्य नहीं चाहता; यही नहीं, ऐसी स्वाधीनता पाकर वह बहुत दुःखी होता है। रॉबिन्सन क्रूसो जब तक जन-हीन द्वीप पर बिलकुल अकेला था, तब तक वह पूर्ण रूप से स्वाधीन था। जब फ्राइडे आया, क्रूसो की स्वाधीनता उतनी अबाधित नहीं रही, जितनी पहले थी। जहाँ सम्बन्ध है वहाँ अधीनता है। प्रभु भृत्य के सम्बन्ध में प्रभु भी भृत्य के अधीन होता है। लेकिन रॉबिन्सन क्रूसो फ्राइडे के साथ दायित्व के सम्बन्ध से बद्ध होकर भी, अपनी स्वाधीनता-क्षति के लिए दुःखी क्यों नहीं हुआ? इसीलिए कि उन दोनों के सम्बन्ध में प्रभेद की बाधा नहीं थी। प्रभेद कहाँ उत्पन्न होता है? वहीं, जहाँ अविश्वास और भय का पदार्पण होता है, जहाँ एक-दूसरे को धोखा देकर हराने का प्रयत्न किया जाता है, वहाँ परस्पर व्यवहार में सहज भाव नहीं रहता। फ्राइडे यदि हिंस्र, बर्बर, और अविश्वासी होता, तो उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने से क्रूसो की स्वाधीनता नष्ट होती। जिसके साथ हमारे सम्बन्ध में पूर्णता नहीं होती अर्थात् जिसके प्रति हम उदासीन होते हैं, वह हमें आकर्षित नहीं करता, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उसके सम्पर्क में हम स्वाधीनता का यथार्थ आनन्द पाते हैं। जिसके साथ हमारे सम्बन्ध में पूर्णता होती है, जो हमारा परम मित्र होता है, और इसीलिए जो हमें बाँधता है, उसीके साथ सम्बन्ध के बीच हमारा चित्त बाधाहीन स्वाधीनता प्राप्त करता है। सम्बन्धहीनता में जो स्वाधीनता है वह निषेधात्मक है, ऐसी शून्यतामूलक स्वाधीनता से मनुष्य पीड़ित होता है। इसका कारण यही है कि सम्बन्धहीन मनुष्य में सत्य नहीं है, दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उनके बीच वह अपनी सत्यता को उपलब्ध करता है। इस सत्यता उपलब्धि में जब बाधा पड़ती है अर्थात् सम्बन्ध में प्रभेद आ जाता है, तो असम्पूर्णता और विकृति से उसकी स्वाधीनता आहत होती है। सकारात्मक स्वाधीनता ही मनुष्य के लिए यथार्थ स्वाधीनता है। मनुष्य के गार्हस्थ्य में या राजनैतिक जीवन में विप्लव कब बाधा डालता है? तभी जब परस्पर के सहज सम्बन्ध विपर्यस्त हो जाते हैं। जब सन्देह,

ईर्ष्या या लोभ आकर भाई-भाई के सम्बन्धों को विच्छिन्न करते हैं, तभी वे एक-दूसरे को बाधा समझने लगते हैं, उन्हें पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं, उनकी जीवन-यात्रा का प्रवाह बार-बार अवरुद्ध होता है। ऐसे समय परिवार में संघर्ष होता है। राष्ट्रक्रांति भी सम्बन्ध-विच्छेद का ही परिणाम है। सम्बन्ध-विच्छेद में ही अशान्ति से स्वाधीनता की क्षति होती है। हमारी धर्म-साधना में मुक्ति किसे कहते हैं ? जिस मुक्ति में अहंकार दूर होकर विश्व के साथ चित्त का सम्पूर्ण योग होता है वही वास्तविक मुक्ति है। विश्व के साथ योग में ही मनुष्य का सत्य है, और उस सत्य के ही बीच वह यथार्थ स्वाधीनता प्राप्त करता है। हम निरी स्वाधीनता की शून्यता नहीं चाहते; हम भेद मिटाकर सम्बन्ध की परिपूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं; और उसीको हम मुक्ति कहते हैं। देश के लिए भी हम नेतिसूचक स्वाधीनता नहीं चाहते; देश के समस्त लोगों के सम्बन्धों को यथासम्भव सत्य और बाधाहीन बनाना चाहते हैं। भेद के कारणों को दूर करके ही यह सम्भव है; लेकिन ये कारण बाह्य भी हो सकते हैं, आन्तरिक भी। हम पाश्चात्य जगत् के इतिहास में पढ़ते हैं कि वहाँ के लोग अक्सर 'स्वाधीनता चाहिए' कहकर कोलाहल करते हैं। हम भी उस कोलाहल का अनुकरण करते हैं—कहते हैं, हमें 'स्वाधीनता चाहिए'। हमें यह बात अच्छी तरह समझनी है कि जब भी योरोप ने कहा 'स्वाधीनता चाहिए', किसी विशेष अवस्था में, किसी विशेष कारण से, उसके समाज-शरीर को प्रभेद का दुख झेलना पड़ा था। समाजवर्गी लोगों में किसी-न-किसी विषय में, किसी-न-किसी रूप से, सम्बन्ध-विच्छेद उत्पन्न हुआ था—इसे दूर करके ही योरोप मुक्ति प्राप्त कर सका है। जब हम कहते है 'स्वाधीनता चाहिए', हमें भी सोचना होगा कि हमारे दुःख और अकल्याण की जड़ें कौन-से प्रभेदों में हैं; अन्यथा केवल अभ्यासवश 'स्वाधीनता' शब्द का व्यवहार करना बेकार है। जो लोग प्रभेद को अपने बीच चाहते हैं, उसका पोषण करते हैं, ऐसे लोगों को स्वाधीनताकांक्षी कहना निरर्थक है। यह तो वैसी ही परिस्थिति होगी कि मझली बहू अपने स्वामी का मुँह देखना नहीं चाहती, सन्तानों को दूर रखना चाहती है, पड़ोसियों से मिलने-जुलने की उसे बिलकुल इच्छा नहीं है, फिर भी बड़ी बहू के हाथ से घर का काम-काज छीनकर अपने हाथ में लेना चाहती है।

योरोप के कुछ देशों में हमने देखा है कि राष्ट्रक्रांति से ही राष्ट्र-व्यवस्था का जन्म हुआ है। वहाँ भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि शासकों और शासितों में विच्छेद उत्पन्न हुआ था। यह विच्छेद जातिगत नहीं, बल्कि श्रेणीगत था। वहाँ एक ओर राजा और राजपुरुष थे, दूसरी ओर प्रजा; एक ही जाति के होने पर

भी इन दोनों वर्गों में अधिकार-भेद अत्यन्त तीव्र हो उठा था। उनकी क्रांति का लक्ष्य था इस श्रेणीभेद को राष्ट्रीय सिलाई-मशीन से अच्छी तरह जोड़ देना। आज वहाँ एक और क्रांति के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। वाणिज्य क्षेत्र में वहाँ पूँजीपतियों और मजदूरों में तीव्र अधिकार-भेद है। इस भेद से समाज पीड़ित होता है और इस पीड़ा से क्रांति होती है। धनिक डर जाते हैं, और कभी-कभी मजदूरों के लिए सुविधाएँ प्रस्तुत करते हैं—उनके रहने के लिए मकान, बच्चों के लिए स्कूल बनाये जाते हैं। लेकिग धनिकों के इस स्वल्प अनुग्रह से दोनों वर्गों का विच्छेद दूर नहीं होता।

बहुत दिन हुए, इंग्लैण्ड से कुछ लोग अमेरिका जाकर बस गए। इंग्लैण्ड के अँग्रेज़ समुद्रपार से अमेरिकावासी अँग्रेज़ों पर शासन करने लगे। इस शासन से समुद्रपार के इस पार वालों का उस पार वालों से भेद दूर नहीं हुआ। बन्धन को वलपूर्वक तोड़ना पड़ा, यद्यपि दोनों वर्गों के लोग सहोदर थे।

किसी दिन इटली में ऑस्ट्रियन लोग देश के उच्च स्थान पर थे, इटालियन बहुत पिछड़ गए थे। सिर और पूँछ में प्राण का योग नहीं था। यह प्राणहीन बन्धन दुस्सह हो गया। इटली के लोगों ने इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करके समस्या का समाधान किया है।

इससे देखा जाता है कि भेद के दुःख और कल्याण से मुक्ति ही यथार्थ मुक्ति है। हमारे देश की धर्म-साधना का मूल भी इसी बात में है—भेद-बुद्धि में असत्य है, भेद-बुद्धि को दूर करके सत्य के बीच हमारा परित्राण सम्भव है।

लेकिन पहले ही कह चुका हूँ, विधाता के परीक्षा-भवन में सभी परीक्षार्थियों से एक ही प्रश्न नहीं पूछा जाता। भेद एक ही-जैसा नहीं है। एक पाँव पर खड़ाऊँ हो, दूसरे पर बूट, तो यह एक प्रकार का भेद है; लेकिन एक पैर बड़ा हो और दूसरा छोटा, तो यह भेद बिलकुल दूसरी तरह का है; हड्डी टूट जाय और पाँव का एक अंश दूसरे अंश से विच्छिन्न हो जाय, तो यह भेद एक अलग ही प्रकार का है। ये सभी भेद स्वाधीनता से चलने-फिरने में बाधा डालते हैं, लेकिन विभिन्न भेदों का प्रतिकार विभिन्न उपायों से किया जा सकता है। खड़ाऊँ वाले पाँव से उसका उत्तर नक़ल करके टूटी हड्डी वाला पाँव अपना प्रश्न हल नहीं कर सकता, इससे उसकी कठिनाई और भी बढ़ जायगी।

अँग्रेज़ों के बीच जो आपसी भेद था उसे उन्होंने एक दिन मशीन पर पक्की सिलाई करके जोड़ दिया। लेकिन जहाँ कपड़ा तैयार ही न हुआ हो, जहाँ सूत के धागे अलग-अलग उलझे पड़े हों, वहाँ राजनैतिक सिलाई-मशीन की बात सोचना बेकार है। वहाँ हमें प्रश्न की ओर भी गहराई से देखना होगा; सामाजिक करघे

पर सूत के धागों को चढ़ाकर उनसे कपड़ा बुनना होगा। इसमें काफी समय लगेगा, लेकिन सिलाई-मशीन के प्रयोग से जल्दी-जल्दी समस्या हल करना यहाँ सम्भव नहीं है।

शिवठाकुर की तीन वधुओं[1] के विषय में लोकगीत की पंक्तियाँ हैं :

एक बहू खाना पकाती है, दूसरी बहू खाती है—
तीसरी बहू को कुछ नहीं मिलता, वह मायके चली जाती है।

तीनों बहुओं की आहार की आवश्यकता समान थी। लेकिन द्वितीय बहु ने जिस सहज उपाय से भोजन प्राप्त किया, वह उपाय किसी विशेष कारण से तृतीय बहू के अधिकार से बाहर था। इसलिए आहार-समस्या की पूर्ति करने के लिए उसे अपेक्षाकृत 'विलंबित' उपाय अपनाना पड़ा—बाप के घर जाना पड़ा। प्रथम बहू की क्षुधा-निवृत्ति का इस गीत में कोई स्पष्ट विवरण नहीं है! ऐसा लगता है कि उस बेचारी ने भोजन का प्रबन्ध मात्र किया और द्वितीय ने उसके फल से तृप्ति-लाभ किया। इतिहास में ऐसे दृष्टान्त अनेक है।

हमारी यह जन्मभूमि शिवठाकुर की मध्यमा प्रेयसी नहीं है, यह सभी मानेंगे। शताब्दियों तक यह बात स्पष्ट होती रही है। इसलिए लक्ष्यसिद्धि के लिए मध्यमा का पथ बह नहीं अपना सकती। कभी उसने बिना रसोई का काम किये भोजन माँगा है, और शिवठाकुर की डाँट खाकर मायके का रास्ता लिया है; कभी उसने रसोईघर में जान खपाई है लेकिन भोजन के समय देखा है कि किसी और ने थाली शून्य कर रखी है। इसलिए उसके सामने समस्या है, उन कारणों को ही दूर करना जिनसे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई है, और जिनसे बार-बार शिवठाकुर उस पर नाराज़ होते हैं। ज़िद करके यह कहने से काम नहीं चलेगा : 'मझली बहू जैसे खाती है वैसे ही मैं भी खाऊँगी।'

हम सदा-सर्वदा कहते रहते हैं कि विदेशी हम पर राज करता है, इस दुःख का यदि अन्त हो जाय तो हमें सभी दुखों से मुक्ति मिलेगी। विदेशी राजा मुझे पसन्द नहीं है। पेट से जुड़ी हुई प्लीहा भी मुझे पसन्द नहीं, उसके बढ़ जाने से मुझे कष्ट होता है। लेकिन मैंने बहुत दिनों से देखा है, मेरी सम्मति की प्रतीक्षा किये बग़ैर प्लीहा अपने-आप आकर मेरे शरीर में बैठ गई है। उसका पालन-पोषण करना भी विपत्तिजनक है, क्रोधित होकर उस पर बलप्रयोग करना भी खतरनाक होगा। इस विष की जानकारी रखने वाले कहते हैं : 'तुम्हारे घर के पास जो झील है उसमें मलेरियावाहक मच्छर पलते हैं। जब तक उस झील

---

१. लोक प्रचलित आख्यानों के अनुसार अन्नपूर्णा, पार्वती और कालीरूपिणी, शिव की तीन अर्धांगिनियाँ थीं।

को पाट न दिया जाय, तुम प्लीहा के कष्ट से नहीं बच सकोगे।' लेकिन मुश्किल तो यह है कि हम लोग प्लीहा से जितने असन्तुष्ट हैं उतने झील से नहीं। हम कहते हैं, यह हमारी सनातन झील है, इसके लुप्त होने से अतीत का पवित्र पद-चिह्न मिट जायगा। चाहे उस पुरातन झील की गहराई वर्तमान युग की अविरत अश्रुधारा से परिपूर्ण हो, हम उसे सुरक्षित रखेंगे।

पाठकगण अधीर होकर कहेंगे : 'अब अधिक लम्बी भूमिका आवश्यक नहीं है—हमारी विशेष समस्या कौन-सी है, स्पष्ट रूप से कहो।' मुझे कहने में संकोच होता है, क्योंकि वात बहुत ही सरल है; सुनकर लोग कहेंगे : 'यह तो सभी जानते हैं।' रोग की व्याख्या करते हुए डाक्टर महोदय यदि 'अनिद्रा' न कहकर 'इन्सोम्निया' कहें तो हम सोचते हैं सोलह रुपये फीस देना सोलह आने सार्थक है। समस्या यह है कि हममें ऐक्य नहीं है, हमारे बीच अनन्त प्रभेद हैं। पहले ही कह चुका हूँ, विच्छेद में ही दुःख है, पाप है—चाहे वह विच्छेद विदेशियों से हो या स्वदेशियों से। समाज को भेदहीन बृहत् शरीर की तरह कब बनाया जा सकता है ? तभी, जब उसके सारे अंग-प्रत्यंगों में बोधशक्ति और कर्मशक्ति का प्राणगत योग हो; जब उसके पाँव के काम करने से हाथ को फल मिले, हाथ के काम करने से पाँव का लाभ हो। मान लीजिए, सृष्टिकर्ता की असावधानी से एक ऐसा अजीब प्राणी उत्पन्न होता है जिसका प्रत्येक विभाग अन्य विभागों से विच्छिन्न है; जिसकी दाहिनी आँख का बाईं आँख से, दाहिने हाथ का बाएँ से विरोध है; जिसके पाँव की शिराओं से जब रक्त हृदय की ओर जाता है तो उसे धक्का खाकर वापस लौटना पड़ता है; जिसके अँगूठे को छोटी उँगली के साथ काम करने पर प्रायश्चित करना पड़ता है; जिसके पैर को तेल-मालिश की ज़रूरत हो तो दाहिना हाथ हड़ताल करता है। यह अजीब पदार्थ उन सुविधाओं का उपभोग नहीं कर सकता जो अन्य प्राणियों को मिलती हैं। वह देखता है, एक अन्य प्राणी जूता-कपड़ा पहनकर, लाठी-छाता हाथ में लेकर, बड़ी शान से सड़क पर घूम रहा है। वह सोचता है : 'इसकी तरह जूता-कपड़ा-लाठी-छाता मुझे मिले, तो मेरे सब दुःख दूर होंगे।' लेकिन सृष्टिकर्ता की भूल के साथ अपनी एक और भूल को जोड़ देने से परिस्थिति में सुधार नहीं होता। जूता मिल भी जाय तो वह पैर पर टिकेगा नहीं, छाता मिले भी तो वह हवा में उड़ जायगा, और यदि वह कहीं से इच्छानुरूप लाठी प्राप्त कर ले तो कोई अन्य प्राणी उस लाठी को छीनकर बेचारे की जीवलीला का ही दुःखमय अन्त कर देगा। यहाँ जूते-कपड़े या लाठी-छाते का अभाव ही समस्या नहीं है—प्राणगत-ऐक्य का अभाव ही वास्तविक समस्या है। वह प्राणी कह सकता है—'अंग-प्रत्यंगों की विच्छिन्नता का प्रश्न अभी रहने दो।

सबसे पहले यदि किसी उपाय से एक कमीज़ मिल जाय, अपने शरीर को ढक सकूँ, तो उस कमीज़ के ऐक्य से अंग-प्रत्यंग अपने-आप ऐक्यबद्ध होंगे।' लेकिन अपने-आप ऐक्य प्राप्त होगा, यह कहना अपने-आपको धोखा देना है। इस धोखे में सर्वनाश है, क्योंकि स्वनिर्मित धोखे में मनुष्य को लगाव हो जाता है, उसे जाँचने की प्रवृत्ति उसमें नहीं रह जाती।

मुझे याद है, मेरे बचपन में देश के दो विरोधी पक्षों में इस प्रश्न पर तर्क चला करता था कि हमारा भारत एक 'नेशन' है या नहीं। मैं यह नहीं कह सकता कि उन दिनों वे सब बातें मैं अच्छी तरह समझ पाता था; लेकिन इतना ज़रूर जानता हूँ कि जो आदमी यह कहता कि भारत 'नेशन' नहीं है उसे, यदि मैं राजा होता, जेलखाने भेज देता; और यदि मैं समाजनायक होता तो उस आदमी के लिए धोबी-नाई बन्द करा देता। ऐसे व्यक्ति के साथ विनम्रता का व्यवहार करना मेरे लिए कठिन होता। उन दिनों इस विषय में एक बँधा हुआ तर्क यह था कि स्विट्ज़रलैंड में विभिन्न जातियों के लोग साथ-साथ रहते हैं, फिर भी वह 'नेशन' है। इस बात को सुनकर मैं सोचता: 'चलो, हमें डर नहीं। हम भी नेशन हैं।' लेकिन मुँह से 'डर नहीं' कहकर क्या वास्तविक विपद् दूर की जा सकती है? फाँसी चढ़ने वाले से जब जेल-अधिकारी कहता है: 'डर किस बात का? दुर्गा का नाम लेकर झूल पड़ो!' तो उसको सांत्वना नहीं मिलती। दुर्गा का नाम लेने के लिए वह राज़ी है, लेकिन झूल जाने से उसे आपत्ति है। स्विट्ज़रलैंड की तरह हम लोग भी 'नेशन' हैं, यह बात केवल तर्क से निर्धारित करने में सांत्वना नहीं है। प्रत्यक्ष व्यवहार में देखा जाता है कि हम झूल पड़ते हैं और स्विट्ज़रलैंड धरती पर खड़ा है। राधिका ने चलनी में पानी लाकर कलंक मिटाने का प्रयत्न किया था। लेकिन जिस अभागी नारी में राधिका के गुण न हों, उसके पास चलनी तो अवश्य है लेकिन कलंकमोचन नहीं होता—बल्कि उसके विपरीत ही होता है। सोचने की बात यह है कि जहाँ जड़ों में विच्छेद है वहाँ फल में भी विच्छेद होगा। स्विट्ज़रलैंड में कितने ही आपसी भेद हों, भेदबुद्धि नहीं है। वहाँ धर्म, आचार या संस्कार परस्पर रक्तमिश्रण में बाधा नहीं डालते। यहाँ ऐसी बाधाएँ प्रचण्ड हैं। असवर्ण विवाह के मार्ग में जो वैधानिक रुकावटें हैं उन्हें दूर करने का प्रस्ताव सामने आते ही हिन्दू समाजनायकों ने उद्वेग प्रदर्शित किया और हड़ताल कराने की धमकी दी। गंभीर आत्मीयता की धारा हृदय से हृदय तक बहती है, केवल मौखिक शब्दों में नहीं। जो अपने-आपको महान् जाति के लोग घोषित करते हैं, उनमें यदि हार्दिक समन्वय का पथ धर्मशासन द्वारा सर्वदा अवरुद्ध हो, तो उनका मिलन कभी प्राण का मिलन नहीं हो सकता। वे

लोग कभी साथ-साथ किसी आदर्श के लिए प्राण नहीं दे सकते। उनमें प्राण का ऐक्य ही नहीं है। मेरे एक मित्र सीमाप्रान्त में नियुक्त थे। वहाँ पठान आक्रमणकारी कभी-कभी हिन्दू बस्तियों पर टूट पड़ते और स्त्रियों को पकड़ ले जाते। एक बार ऐसी ही किसी घटना के बाद मेरे मित्र ने एक स्थानिक हिन्दू से पूछा : 'ऐसा अत्याचार तुम कैसे सहते हो?' उसने अत्यंत उपेक्षा के स्वर में उत्तर दिया : 'वह तो वनिये की लड़की थी।' बनिये की लड़की हिन्दू है, उसके अपहरण के प्रति उदासीन व्यक्ति भी हिन्दू ही है। दोनों में शास्त्रगत योग हो सकता है लेकिन प्राणगत योग नहीं है। एक पर आघात होता है तो दूसरे के मर्म तक आवाज़ नहीं पहुँचती। जातीय ऐक्य का आदिम अर्थ है जन्मगत ऐक्य; उसका यही अर्थ सदा रहा है, और सदा रहेगा।

जो चीज़ अवास्तविक है उस पर किसी महान् कार्यसिद्धि की नींव नहीं रखी जा सकती। बाध्य होने पर मनुष्य अपने ही काम से स्वयं बचना चाहता है, और इस तरह अपने-आपको धोखा देता है। विभ्रान्त होकर वह सोचता है, बाएँ हाथ से धोखा देकर दाहिने हाथ से लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है। हमारी राष्ट्रीय ऐक्य-साधना के केन्द्रस्थल में एक बहुत बड़ी जातीय अवास्तविकता है, इस बात को हम सब आन्तरिक रूप से जानते हैं। हम इस पक्ष को अगोचर रखते हैं; उस पर स्वदेश-प्रेम का जयस्तंभ गाड़कर उसीको अच्छी तरह सजाना चाहते हैं, जिससे दृष्टि उसीकी ओर आकर्षित हो। कच्ची दीवार पर चुने गारे का लेप चढ़ाने से वह पक्की दीवार नहीं बनती, उसी मसाले के भार से एक दिन दीवार की कमज़ोरी का भीषण प्रमाण मिलता है। ख़िलाफत के प्रश्न का सहारा लेकर हिन्दू-मुसलमान में सन्धि स्थापित हुई थी; आज दोनों में जो तीव्र विरोध है वह ऊपर कही गई वात का दृष्टान्त हैं। मूलगत प्रश्न पर यदि भूल की जाय तो किसी मामूली उपाय से उसका संशोधन नहीं हो सकता। इन सब बातों को सुनकर कुछ लोग अधीर हो जाते हैं, कहते हैं : 'हमारे चारों ओर जो तृतीय पक्ष शत्रु रूप में में विद्यमान है, वही हम लोगों में फूट डालता है, इसलिए दोष हमारा नहीं, उसका है। अब तक हम हिन्दू-मुसलमान मिल-जुलकर रहते थे, लेकिन···इत्यादि-इत्यादि'। शास्त्र में कहा है, कलि और शनि मनुष्य के जीवन में प्रवेश करने के लिए छिद्र ढूंढ़ते हैं। पाप का छिद्र देखते ही वे अन्दर सर्वनाश आरम्भ कर देते हैं। विपद् बाहर की है, और पाप हमारा है; इसीलिए विपद् के प्रति क्रोध और पाप के प्रति ममता दिखाना सबसे बड़ी विपत्ति है।

जहाज़ के पेंदे में दरार पड़ गई है। जब तक आँधी-तूफ़ान नहीं आता, जहाज़ चलता रहता है। बीच-बीच में खारा पानी निकालना पड़ता है, लेकिन

यह छोटा-सा कष्ट स्मरण रखने योग्य नहीं है। तूफ़ान आता है, दरार बढ़ती जाती है, और आखिर जहाज़ डूबने लगता है। कप्तान यदि कहे : 'सारा दोष तूफ़ान का ही है, इसलिए सबको मिलकर तूफ़ान का धिक्कार करना चाहिए, दरार जैसी है वैसी रहे'; तो ऐसा नेता यात्रियों को समुद्र-पार नहीं बल्कि समुद्र के तले में पहुँचा देगा। तृतीय पक्ष यदि हमारे शत्रु का पक्ष है तो भी यह ध्यान में रखना होगा कि वह तूफ़ान बनकर आया है, हमारी दरार जोड़ने नहीं आया। वह भयंकर वेग से दिखा देगा कि हमारे जहाज़ का सबसे कमज़ोर स्थान कौन-सा है। थप्पड़ लगा-लगाकर वह दुर्बलों को वास्तविक परिस्थिति से अवगत करा देगा; समझा देगा कि जहाँ दाहिने-बाएँ में सामंजस्य नहीं है वहाँ एक ही रास्ता खुला है—रसातल जाने वाला रास्ता। संक्षेप में, तृतीय पक्ष जोड़ने वाला सरेस नहीं है, वह खारा पानी है। उसके प्रति क्रोध प्रकट करने में हम अपना मिजाज़ खराब करते हैं, और समय नष्ट करते हैं; इतने समय में यदि हम अपनी पूरी शक्ति के साथ दरार बन्द करने में जुट जायँ तो हमारे लिए परित्राण की आशा हो सकती है। विधाता का यदि हम पर अनुग्रह हो, तो वह वर्तमान तृतीय पक्ष के तूफ़ान को कुछ समय के लिए शान्त कर सकता है। लेकिन तूफ़ान का संपूर्ण नाश करके समुद्र को झील बना दिया जाय, यह ज़िद वह नहीं स्वीकार करेगा; धर्म-प्राण हिंदुओं की ज़िद हो तब भी नहीं! इसलिए मैं कप्तानों से अनुरोध करता हूँ, तूफ़ान के गर्जन से प्रतियोगिता करते-करते वे दरार की मरम्मत करना भूल न जायँ।

कप्तान कहते हैं : 'दरार की ओर भी हमारा ध्यान है।' इसका प्रमाण यह है कि 'सनातन पंथी होते हुए भी हम छूत-छात के विषय में लोगों के संस्कार दूर करना चाहते हैं।' मैं कहता हूँ, 'एह बाह्य'। छूत-छात तो हमारी भेद-बुद्धि का ही एक बाह्य लक्षण है। भेद-बुद्धि का जो पुराना वटवृक्ष हमारा रास्ता रोककर खड़ा है, उसकी एक छोटी-सी डाल तोड़ी भी जाय तो मार्ग उन्मुक्त नहीं होगा।

किसी और मौके पर मैं कह चुका हूँ, धर्म जिन्हें पृथक् करता है वे अलग कमरों में रहते हैं और प्रत्येक कमरे के दरवाज़े दोनों तरफ से बन्द रहते हैं। इस बात को और भी स्पष्ट करना उचित होगा। लोग अक्सर कहते हैं, 'धर्म' शब्द का मूल अर्थ है 'जो हमें धारण करता है।' अर्थात् हमारे जो स्थायी आश्रय हैं वे सब धर्म के अन्तर्गत हैं। उनके विषय में तर्क नहीं चलता, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उनके साथ अपने व्यवहार में यदि हम चंचलता दिखायें, बात-बात में अपना मन बदलते रहें और रास्ता अलग करते रहें, तो हमारी रक्षा

सम्भव नहीं।

लेकिन संसार में एक ऐसा भी क्षेत्र है जहाँ परिवर्तन होता रहता है, जहाँ आकस्मिकता है। वहाँ नई-नई अवस्थाओं में बार-बार हमें नये सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं। इस नित्य परिवर्तनशील क्षेत्र में यदि हम स्थायी का स्थान अस्थायी को और अस्थायी का स्थान स्थायी को दें, तो विपत्ति अनिवार्य है। जिस मिट्टी में वृक्ष अपनी जड़ें जमाता है वह मिट्टी जड़ों की दृष्टि में बहुत अच्छी है; लेकिन डालों और पत्तियों के लिए मिट्टी से लिपटे रहना कल्याणप्रद नहीं होता। पृथ्वी नित्य हमें धारण करती है; पृथ्वी का धर्म की तरह ध्रुव होना ही हमारे लिए अच्छा है, वह अस्थिर हो उठे तो हमारा सर्वनाश है। गाड़ी भी हमें धारण करती है; लेकिन इस क्रिया को स्थायी रूप दें, तो गाड़ी हमारे लिए पृथ्वी नहीं बनेगी बल्कि पिंजरा बनेगी। अवस्था के अनुसार हमें पुरानी गाड़ी बेचनी है, या उसकी मरम्मत करानी है, नई गाड़ी खरीदनी है या किराये पर लेनी है; कभी हमें गाड़ी पर चढ़ना है, कभी गाड़ी से नीचे उतरना है; और यदि गाड़ी टूटकर गिरने वाली हो तो हमें शीघ्रातिशीघ्र कूदकर बाहर निकलना है। कूदने से पहले साईस को ब्राह्मणों की इजाज़त लेने के लिए गाँव भेजना ज़रूरी नहीं है! धर्म जब कहता है: 'मुसलमान के साथ मैत्री जोड़ो' तो हम बिना किसी तर्क के इस बात को शिरोधार्य करेंगे। धर्म का यह आदेश हमारे लिए महासागर-जैसा नित्य है। लेकिन जब धर्म कहे: 'मुसलमान का छुआ अन्न ग्रहण न करो', तो हमें पूछना ही पड़ेगा, 'क्यों न ग्रहण करें?' यह आदेश हमारे लिए घड़े के पानी-जैसा अनित्य है, उसे रखने या फेंक देने के प्रश्न पर हमें अपनी युक्ति द्वारा विचार करना है। यदि कोई कहे: 'ये सभी प्रश्न स्वाधीन विचार से परे हैं', तब तो शास्त्र के सारे विधानों के सामने खड़े होकर हमें घोषित करना पड़ेगा: 'विचारणीय विषय को जो लोग निर्विकार ग्रहण करते हैं, उनके प्रति उस देवता का धिक्कार है जो हमारी बुद्धि को प्रेरणा देता है—धियो यो नः प्रचोदयात्। वे देवता से अधिक पंडे की श्रद्धा करते हैं, पंडे से डरते हैं और इस तरह वे देव-पूजा का अपमान करते हैं।'

संसार में जो क्षेत्र बुद्धि का है वहाँ मानव-मानव का सत्य-मिलन बुद्धि के योग से ही सम्भव है। वहाँ अबुद्धि का उत्पात एक विषम बाधा है; वह मनुष्य के घर में भूत की लीला है। भूत के ऊपर यह दायित्व नहीं होता कि वह 'क्यों', 'क्या मामला है' इत्यादि प्रश्नों का उत्तर दे। भूत घर का निर्माण नहीं करता, घर किराये पर नहीं लेता, फिर भी घर नहीं छोड़ता। आखिर उसे किस बात का ज़ोर है? इसी बात का, कि अवास्तविक होने पर भी हमारा मन उसे वास्तविक

समझता है। वास्तव वही है जो वास्तव के नियम से संयत है; यदि वह किराया नहीं देता तो अन्ततः सरकारी टैक्स चुकाता है। यदि अवास्तव को वास्तव मान लिया जाय तो उसे ज्ञान के किसी नियम से प्राप्त नहीं किया जा सकता। केवल उसके डर से छाती धड़कती है, शरीर काँपता है—बिना विचार के उसे हम मानकर चलते हैं। यदि कोई पूछे 'क्यों ?' तो हम उत्तर नहीं दे पाते—पीठ के पीछे उँगली दिखाकर कहते हैं : 'वह देखो !' उसके बाद भी यदि कोई पूछे : 'किधर ?' तो हम उसे नास्तिक कहते हैं और मारने दौड़ते हैं; सोचते हैं : 'यह मूर्ख तो आफ़त ढायगा ! भूत पर अविश्वास ! कहीं वह गरदन न मरोड़ दे !' फिर भी यदि प्रश्न उठता है 'क्यों विश्वास करें ?' तो हमारा उत्तर होता है : 'और कहीं भी यह प्रश्न उठा सकते हो, लेकिन कृपया यहाँ न उठाओ ! चुपचाप स्वीकार करो और अपना रास्ता लो। मरने के बाद तुम्हें जलायगा कौन, इस बात का विचार करो।'

जहाँ हम चित्तराज्य में बुद्धि को मानते हैं, वहीं हमारा स्वराज है; वहाँ हम अपने-आपको मानते हैं, और अपने ही बीच सर्वदेशीय, चिरकालीन मानव-चित्त को मानते हैं। जब हम अबुद्धि को मानते हैं, तो एक ऐसे अस्वाभाविक शासन को मानते हैं जो न हमारा है, न सम्पूर्ण मानव जाति का। वह एक कारागार है, वहाँ हमारे-जैसे हाथ-पाँव ज़कड़े हुए अकालवृद्ध कैदियों से ही हमारा मिलन होता है; बाहर के कोटि-कोटि स्वाधीन लोगों से नहीं। बृहत् संसार से विच्छेद ही बन्धन है; विच्छेद ही हमारी मूल विपत्ति और चरम अमंगल है। अबुद्धि का अर्थ है भेदबुद्धि, क्योंकि वह चित्तराज्य में हमें दूसरों से पृथक् कर देती है, हम एक अद्भुत पिंजरे में बैठकर सिखाई-पढ़ाई हुई कुछ बातें दोहराया करते हैं।

जो लोग जीवन-यात्रा में पग-पग पर अबुद्धि को स्वीकार करने के अभ्यस्त हैं, उन्हें यदि चित्रगुप्त की किसी भूल से अचानक स्वराज्य-स्वर्ग मिल भी जाय तो भी उनकी आदत नहीं छूटेगी। दूसरों के पैर तले उनका सिर दबता ही रहेगा, सिर्फ यही फर्क होगा कि दबाने वाला कभी एक होगा, कभी कोई और।

बड़े-बड़े कारखाने मनुष्य को पीड़ा देते हैं, इस तरह की बातें कहकर आज-कल हम यन्त्रों की निन्दा करते हैं। इस उपाय से पाश्चात्य सभ्यता का हम अपमान कर रहे हैं, यह सोचकर हमें सान्त्वना मिलती है। लेकिन कारखाने में मनुष्य पंगु क्यों हो जाता है ? इसलिए कि वहाँ उसकी बुद्धि, इच्छा और कर्म को एक विशेष संकीर्ण साँचे में ढाला जाता है, उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। लेकिन लोहे से बना हुआ कारखाना ही एक-मात्र कारखाना नहीं है—विचारहीन

नियम लोहे से भी अधिक कठोर है, यन्त्र से भी अधिक संकीर्ण है। जो बृहत् व्यवस्था-प्रणाली निष्ठुर शासन का आतंक दिखाकर युग-युग तक कोटि-कोटि नर-नारी से मुक्तिहीन आचारों की पुनरावृत्ति कराती है, वह क्या किसी यन्त्र से कम है ? उसके जाँते में क्या मनुष्यत्व नहीं पिसता ? बुद्धि की स्वाधीनता पर अविश्वास दिखाकर, विधि-निषेधों के इतने कठोर, चित्तशून्य कारखाने को भारत के अलावा और कहीं तैयार नहीं किया गया। यन्त्र से जो बोरे तैयार होकर निकलते हैं, उनका व्यवहार जड़तापूर्वक बोझ बठाने के लिए ही किया जाता है। मनुष्यत्व को पीसने वाले यन्त्र से जो कटे-छँटे सीधे-सादे आदमी निकलते हैं वे भी केवल बाहर का बोझ ही उठा सकते हैं। एक बोझ से निष्कृति पाते ही उन्हें कोई दूसरा बोझ दबा देता है।

प्राचीन भारत ने एक दिन विधाता से यह वर माँगा था : 'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु, य एकः अवर्णः'—जो एक है, वर्णभेद से परे है, वह हमें शुभ बुद्धि द्वारा संयुक्त करे। उस समय भारत ने ऐक्य चाहा था—लेकिन राजनैतिक या सामाजिक यन्त्र से बना हुआ ऐक्य नहीं ! बुद्ध्या शुभया, शुभबुद्धि द्वारा ही एक होना चाहा था; अन्ध परवशता की जंज़ीर द्वारा नहीं, विचारहीन नियम के कठोर दबाव से नहीं।

संसार में अप्रत्याशित और आकस्मिक बातों का हमें सामना करना ही पड़ता है, उसकी समीक्षा करनी ही पड़ती है। यह हमारी बुद्धि के लिए एक बड़ा काम है। हम विश्वसृष्टि में देखते हैं कि आकस्मिकता, जिसे विज्ञान में variation कहते हैं—अचानक उपस्थित हो जाती है। पहले तो वह अकेली होती है लेकिन विश्वनियम और विश्वछन्द से मिलकर वह सबकी हो जाती है। फिर भी उससे एक नए वैचित्र्य का प्रवर्त्तन होता है। मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में आकस्मिकता का पदार्पण होता है। इस आगन्तुक के साथ ऐसा व्यवहार करना होता है जिससे वह हमारे परिवेश से सुसंगत हो जाय, हमारी बुद्धि-रुचि-चारित्र्य-ज्ञान को पीड़ित या अपमानित न करे। सतर्क बुद्धि के द्वारा ही हम ऐसा व्यवहार कर सकते हैं। मान लीजिए, कोई बैरागी बीच रास्ते में खूँटा गाड़कर गाय के बछड़े को उससे बाँध देता है, और स्वयं बाजार चला जाता है। जब तक बाजार में उसका काम पूरा होता है, बछड़े की भी सद्गति हो जाती है। उचित होता यदि इस आकस्मिक खूँटे को रास्ते के बीच से हटा दिया जाता। लेकिन यह करेगा कौन ? अबुद्धि यह काम नहीं कर सकती—वह तो केवल आँखें बन्द करके प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करना जानती है। नवागत वस्तु के सम्बन्ध में विचार-पूर्वक कोई नई व्यवस्था करना बुद्धि का ही काम है। जिस देश में सभी बातों को

स्वीकार करना और जो पहले से चला आया है उसकी पुनरावृत्ति करना ही सनातन पद्धति हो, उस देश में सदियों तक खूँटा रास्ते में ही खड़ा रहेगा। आखिर एक दिन कहीं से कोई भक्ति-गद्-गद् व्यक्ति आकर खूँटे पर सिन्दूर का लेप लगा देगा; और एक मन्दिर तैयार हो जायगा। उसके बाद पंचांग में घोषित किया जायगा कि शुक्लपक्ष की कार्तिक-सप्तमी को जो आदमी इस खुँटेश्वरी देवी को एक सेर दूध और तीन तोला चाँदी अर्पित करेगा उसकी पूजा 'त्रिकोटिकुल-मुद्धरेत्'। इसी तरह अबुद्धि के राजत्व से वह आकस्मिक खूँटा सनातन हो उठता है। निष्ठावान लोग कहते हैं: 'विधाता ने हमारी सृष्टि विशेष रूप से की है, अन्य किसी के साथ हमारा सामंजस्य नहीं है। इसीलिए रास्ता बन्द हो तो हमें आपत्ति नहीं, लेकिन खूँटे के बगैर हमारा धर्म नहीं रह सकता।' जो खूँटेश्वरी को नहीं मानते वे लोग भी—यहाँ तक कि विदेशी भावुक भी—कहते हैं: 'आहा! इसीको कहते हैं आध्यात्मिकता। अपनी जीवन-यात्रा की समस्त सुविधाओं को मिट्टी में मिलाने के लिए ये लोग तैयार हैं, लेकिन मिट्टी से किसी खूँटे को बाहर निकालना नहीं चाहते।' यह भी कहा जाता है: 'हमारा विशेषत्व दूसरी तरह का है, इसलिए हम इनका अनुकरण नहीं करना चाहते? लेकिन हम कामना करते हैं कि ये लोग इसी तरह हज़ारों खूँटों से धर्म के जाल में आबद्ध होकर शान्त, समाहित भाव से पड़े रहें।' दूर से यह बड़ा सुन्दर लगता है।

सौन्दर्य के बारे में तर्क करना मैं नहीं चाहता। वह रुचि का प्रश्न है। जिस तरह अपने अधिकार-क्षेत्र में धर्म महान् है उसी तरह सौन्दर्य भी अपनी जगह पर महान् है। लेकिन आधुनिक युग में मेरे-जैसा प्रत्येक व्यक्ति बुद्धि के अधिकार से पूछेगा: 'इस तरह के खूँटों से अवरुद्ध पथ पर क्या स्वातन्त्र्य-सिद्धि का रथ आगे बढ़ाया जा सकता है?' बुद्धि के अभिमान से छाती ठोंककर नव्यमतवादी यह प्रश्न पूछता अवश्य है, लेकिन रात को उसे नींद नहीं आती। गृहिणी-पूजा का आयोजन करके कहती है: 'घर में बाल-बच्चे हैं, न जाने कब किस खूँटे की नज़र लग जाय! तुम चुपचाप रहो। कलियुग में खूँटे को उखाड़ने वाले चंचल बच्चों की कोई कमी नहीं है।' यह सुनकर हमारे-जैसे आधुनिक भय से काँपने लगते हैं, क्योंकि पुराने संस्कारों को हम अपने रक्त से निर्वासित नहीं कर पाते; दूसरे ही दिन तड़के उठकर एक सेर से भी अधिक दूध और तीन तोले से भी अधिक चाँदी खर्च करके ठंडी साँस लेते हैं।

यही है हमारी प्रधान समस्या। बुद्धि और कर्म के जिस मार्ग पर मनुष्य आपस में मिलकर समृद्धि की ओर बढ़ सकता है, उसी मार्ग पर खूँटे गाड़े जाते हैं। जिस पथ को सबके आवागमन के लिए सर्वदा खुला रहना चाहिए, उसीके बीच

असंख्य खूँटे गाड़कर पारस्परिक भेद को स्थायी बनाया जाता है—यही हमारी समस्या है। जहाँ बुद्धि के योग द्वारा सबसे संयुक्त होना है, वहाँ अबुद्धि की अचल बाधा के कारण सबसे चिर विच्छिन्न होते हैं, यही समस्या है; खूँटा जिस भेद-बुद्धि का प्रतीक है उसके सामने भक्ति-भाव से विचार-विवेचना का बलिदान दिया जाता है, यही समस्या है। भावुक लोग इसके सामने खड़े आँसू बहाते हुए कहते हैं: 'बुद्धि महान् और सुन्दर है; खूँटा जंजाल है, भक्ति जंजाल है।' लेकिन गृहिणी अशुभ की आशंका से हाथ जोड़कर देवता के पास अपना दाहिना हाथ उत्सर्ग करने में अंधता नहीं बल्कि सार्थकता है, जहाँ उसमें साहस है, वहाँ माधुर्य है; लेकिन जहाँ अशुभ की आशंका मूढ़तावश अपने भद्दे मुँह से माधुर्य को निगल जाती है वहाँ सौन्दर्य परास्त होता है, कल्याण पर आघात लगता है।

हमारी एक और मुख्य समस्या है हिन्दू-मुसलमानों का विरोध। इस समस्या का समाधान इतना कठिन इसीलिए बन गया है कि दोनों पक्षों ने अपने-अपने धर्म के द्वारा अचल भाव से अपनी सीमाओं को निर्दिष्ट किया है। धर्म ने ही उनके लिए मानव-जगत् स्याह-सफेद में अपने-पराए में विभक्त कर दिया है। अपने-पराए में थोड़ा-बहुत स्वाभाविक भेद तो संसार में सर्वत्र होता ही है; लेकिन जब यह भेद परिमाण से बाहर जाता है तब अकल्याण उपस्थित होता है। 'बुशमन' जाति के लोग किसी परकीय को देखते ही उसे विषाक्त बाण से मार डालते हैं। इसका परिणाम यह है कि दूसरों के साथ सत्य-मिलन, जिससे मनुष्यत्व परिस्फुट होता है, 'बुशमन' लोगों के लिए असम्भव हो गया है और वे बर्बरता में आबद्ध हैं। इस तरह का भेद-भाव जिस जाति के अन्तःकरण में बहुत कम होता है वही जाति उच्च श्रेणी के मनुष्यत्व तक पहुँचती है; वह जाति सबके साथ योगदान करके चिन्तन-कर्म-चरित्र में उत्कर्ष की साधना कर पाती है।

हिन्दू अपने-आपको धर्म-प्राण कहते हैं, मुसलमान भी अपने को ऐसा ही कहते हैं। इन दोनों के जीवन में धर्म के बाहर बहुत कम बाकी रह जाता है, इसलिए दोनों अपने-अपने धर्म के द्वारा परस्पर को और दुनिया-भर को यथासम्भव दूर रखते हैं। दूरत्व के इस भेद को ये अपने चारों ओर मज़बूती से स्थापित करते हैं; इसलिए दूसरों के साथ सत्य योग द्वारा मनुष्यत्व का जो विस्तार होता है वह इन लोगों के जीवन में बाधाग्रस्त हो गया है। धर्मगत भेदबुद्धि ने इन्हें सत्य के असीम स्वरूप से विच्छिन्न कर दिया है। इसीलिए मानव-जाति के साथ इनके व्यवहार में अक्षय सत्य की अपेक्षा बाह्यविधान और कृत्रिम प्रथा की ही प्रबलता इतनी अधिक है।

पहले ही कह चुका हूँ, इन दोनों सम्प्रदायों का मानव-जगत् धर्म के द्वारा

अपने-पराए में विभाजित हो गया है। हिन्दुओं की यह व्यवस्था है कि परकीय चिरकाल तक परकीय ही रहे; उनकी इच्छा है कि यह पराया—यह म्लेच्छ कहीं से भी उनके घर में प्रवेश न कर सके। मुसलमानों के पक्ष में ठीक इसके विपरीत परिस्थिति है। धर्म के वेष्टन से जो बाहर हों उन्हें वे भी परकीय समझते हैं, लेकिन इन परकीयों को—काफ़िरों को—ज़बरदस्ती घसीटकर सदा के लिए अपने घर लाने में इन्हें खुशी होती है। शास्त्र का कोई विशेष श्लोक क्या कहता है, इस बात को ये महत्त्व नहीं देते। लोक-व्यवहार के क्षेत्र में इनमें से एक पक्ष सदियों से धर्म को एक दुर्गम किला बनाकर दूसरों को दूर हटाकर आत्मकेन्द्रित हो जाता है और अन्य पक्ष धर्म को अपना व्यूह बनाकर दूसरों पर हमला करके उन्हें घसीट-कर अपनी तरफ लाता है। इस तरह इन लोगों के स्वभाव दो अलग प्रकार की भेदबुद्धि से पक्के हो गए हैं। भाग्य-क्रम से ऐसे दो दल भारत में मुख्य स्थान पर आ गए हैं, और पास खड़े हैं। ये दोनों पक्ष आत्मीयता की दृष्टि से एक-दूसरे को नहीं देखते। मुसलमान हिन्दू को नहीं चाहता, उसे 'काफ़िर' कहकर दूर रखता है, हिन्दू भी मुसलमान को नहीं चाहता, उसे म्लेच्छ कहकर दूर रखता है।

दोनों पक्ष एक स्थान पर मिलने की बार-बार कोशिश करते हैं—उस स्थान पर जहाँ तृतीय पक्ष से दोनों का विरोध है। यदि शिवठाकुर का लोकगीत इस समय पूरा किया जाता, तो उसमें यही कहा जाता कि पहली बहू, जो रसोई का काम करती है लेकिन भोजन नहीं पाती, और तीसरी बहू—जो भोजन न मिलने पर बाप के घर चली जाती है—आपस में सन्धि कर लेती हैं। दूसरी बहू के विरुद्ध वे एक हो जाती हैं। लेकिन जब दूसरी बहू भी मायके जाती है, इन दोनों सौतों में—इन दोनों political allies में—फिर संघर्ष छिड़ जाता है। मैंने अक्सर देखा है कि जब पद्मा नदी पर आँधी आती है, कौवा और फिन्गे-पक्षी मिट्टी का सहारा लेकर साथ-साथ पंख फड़फड़ाते हैं। उनका यह सहयोग देखकर मुग्ध होना ठीक नहीं है—आँधी के समय इनमें अल्पकाल तक समझौता है, लेकिन दीर्घकाल तक ये एक-दूसरे को ठोकरें मारते रहे हैं। बंगाल में स्वदेशी-आन्दोलन के दिनों में मुसलमानों ने हिन्दुओं से सहयोग नहीं किया, क्योंकि बंग-विभाजन का दुःख उनके लिए वास्तविक नहीं था। आज असहकारिता-आन्दोलन में हिन्दुओं के साथ उन्होंने योगदान किया है, क्योंकि तुर्की साम्राज्य के खण्डित होने का दुःख उनके लिए वास्तविक है। इस तरह का मिलन कभी चिरस्थायी नहीं हो सकता। हम सत्यरूप से एक नहीं हुए हैं—हममें से एक पक्षपूर्व की ओर देख रहा है, दूसरा पश्चिम की ओर, यद्यपि कुछ क्षणों के लिए हमने पास-पास खड़े होकर पंख फड़-फड़ाये हैं। अब पंख की फड़फड़ाहट बन्द होने को है—दोनों पक्षी साथ-साथ मिट्टी

का सहारा लेकर एक-दूसरे के साथ लड़ने के लिए तैयार बैठे हैं। राष्ट्रीय नेतागण सोच रहे हैं, ऐसा कौन-सा उपाय संभव है जिससे दोनों पक्ष अपनी चोंचों को भूल जायँ। वास्तविक दोष अस्थि-मज्जा में है, उसे भुलाने का प्रयत्न करने से वह दूर नहीं हो सकता। जो यह समझता है कि बर्फ के ऊपर कम्बल लपेटकर उसे गरमाया जा सकता है वह कुछ देर बाद देखेगा कि बर्फ़ का ठण्डापन कम्बल से और भी सुरक्षित हो गया है।

हिन्दू-मुसलमानों में केवल धर्मगत भेद ही नहीं, उनके बीच सामाजिक शक्ति की असमकक्षता भी आ गई है। मुसलमानों के धर्मसमाज के चिरागत नियम की ही शक्ति से उनमें निबिड़ एकता उत्पन्न हुई है; और हिन्दू धर्मसमाज के सनातन अनुशासन के प्रभाव से उनमें अनैक्य है। इसका परिणाम यह होता है कि विशेष प्रयोजन न होने पर भी हिन्दू एक-दूसरे पर आघात करते हैं, और प्रयोजन होने पर भी किसी परकीय पर आघात नहीं करते। इसके विपरीत मुसलमान प्रयोजन न होने पर भी अपनी रक्षा के लिए एक हो जाते हैं और प्रयोजन हो तो दूसरों पर तीव्र आघात कर सकते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि मुसलमान का शरीर ताक़तवर है, हिन्दू का शरीर कमज़ोर; कारण यह है कि मुसलमानों का समाज शक्तिशाली है, हिंदुओं का नहीं। एक पक्ष आभ्यंतरित रूप से प्रबल है, दूसरा निर्जीव। इनके बीच समकक्षता कैसे हो, दोनों में सन्धि कैसे हो ? मुसीबत के समय, कुछ देर के लिए, यह संभव है। लेकिन जब अधिकारों के बँटवारे का समय आता है, सिंह का हिस्सा बड़ा होता है। पिछले योरोपीय युद्ध में, जब इंग्लैंड का चेहरा फीका पड़ गया था, हमारे-जैसे क्षीणप्राण देश को भी उसने बड़े प्यार से पुकारा था और हमसे मदद माँगी थी। यही नहीं, जिस तरह विषयी लोगों में भी श्मशानभूमि में कुछ देर के लिए निष्काम विश्वप्रेम जागता है, उसी तरह युद्ध के बाद कुछ दिनों तक रक्ताहुति-यज्ञ में सहयोग देने वाले भारतीयों के प्रति अँग्रेज़ों के मन में दाक्षिण्य का संचार हुआ था। युद्ध के घाव भरने लगे, और जलियाँवाला बाग़ की दानव-लीला सामने आई; और फिर केनिया में साम्राज्य के सिंह-द्वार पर भारतीयों का अपमान। हम चाहे जितने अप्रसन्न हों, वास्तविक समकक्षता के वग़ैर बराबरी का व्यवहार नहीं मिल सकता। इसीलिए महात्माजी का यह प्रयास रहा है कि प्रजापक्ष की शक्ति संगठित हो और राजपक्ष को उसका अनुभव मिले। दोनों पक्षों में समझौता कराना ही उनका लक्ष्य है, और सबल-दुर्बल में आत्यंतिक प्रभेद हो तो समझौता नहीं हो सकता। यदि हम धर्मबल से राज्य-सिंहासन को हिला सकते, तो राजा का बाहुबल हमारी उपेक्षा न करता, सन्धि-चर्चा के लिए हमें आमंत्रित करता। भारत में हिन्दू-मुसलमानों में समझौता

कराने की आवश्यकता बार-बार सामने आती है। यदि दोनों पक्ष समकक्ष न हों तो भेद-निष्पत्ति सर्वदा विपत्ति का ही रूप धारण करेगी। झरने के जल पर अधिकार किसका है, इस बात को स्थिर करने के लिए एक दिन शेर और बकरी में सन्धि-कॉन्फरेन्स हुई थी। ईसप की कथामाला में इस कॉन्फरेन्स का इतिहास मिलता है। अन्त में प्रबलतर चतुष्पद ने तर्क के विषय को किस तरह अत्यन्त सरल बना दिया, सभी जानते हैं। इसलिए भारत का कल्याण इसीमें है कि हिन्दू-मुसलमानों का केवल मिलन ही न हो, बल्कि वे समकक्ष भी हों। ताल ठोंकनेवाले पहलवानों की व्यक्तिगत समकक्षता नहीं, दोनों पक्षों के सामाजिक बल की समकक्षता आवश्यक है।

ख़िलाफ़त के सम्बन्ध में जब हिन्दु-मुसलमानों में सन्धि हुई थी, उसी समय मलाबार में हिन्दुओं और मोपला जाति के मुसलमानों में भयानक दंगे हुए थे। दोनों विरोधी पक्ष दीर्घकाल से धर्म-व्यवहार का प्रयोग नित्य धर्मनीति के विरुद्ध करते आए हैं। नम्बूद्री ब्राह्मणों का धर्म मुसलमानों को घृणा की दृष्टि से देखता है, मोपला मुसलमानों का धर्म नम्बूद्रियों की उपेक्षा करता है। कांग्रेस-मंच पर तैयार किये गए भाईचारों के कच्चे मसाले से इन दोनों पक्षों के बीच मज़बूत पुल बनाने का प्रयत्न वृथा है। फिर भी हम लोग बार-बार कहते आए हैं, हमारा सनातन धर्म जैसा है वैसा ही रहे, हम अवास्तविकता के ही आधार पर वास्तविक फल प्राप्त करेंगे और फल प्राप्ति के बाद सारी ग़लतियाँ अपने-आप सुधर जायँगी। मात करने के बाद चाल सोचेंगे, पहले हम ईश्वर बनेंगे, उसके बाद मनुष्य !

मलाबार के झगड़ों के बारे में यह तो रही पहली समस्या। उसके बाद दूसरा प्रश्न हिन्दू-मुसलमानों की असमकक्षता का है। डाक्टर मुंजे ने इस प्रश्न का अध्ययन करके दक्षिणी भारत के हिन्दू-समाज-गुरु शंकराचार्य के पास एक रिपोर्ट भेजी है। उन्होंने लिखा है :

The Hindus of Malabar are generally speaking mild and docile and have come to entertain such a mortal fear of the Moplas that the moment any such trouble arises, the only way of escape the Hindus can think of is to run for life leaving their children and womenfolk behind, to take care of themselves as best as they could, thinking perhaps honestly that if the Moplas attack them without any previous molestation. God, the Almighty and the Omniscient, is there to teach them a lesson

and even to take revenge on their behalf.

डॉक्टर मुंजे के वक्तव्य का मतलब यही हुआ कि हिन्दुओं को ऐहिक के प्रति ऐहिक नियमानुसार व्यवहार करने का अभ्यास नहीं है; उन्होंने नित्य और अनित्य की खिचड़ी पकाकर अपनी बुद्धि को क्षति पहुँचाई है। बुद्धि के स्थान पर विधि और आत्मशक्ति के स्थान पर भगवान् को खड़ा करके वे अपने अपमान द्वारा स्वयं भगवान् का अपमान करते हैं, तभी इतना दुःख उठाते हैं; और यह बात वे मानसिक जड़त्व के कारण समझ नहीं पाते।

अपनी रिपोर्ट के एक और अंश में डाक्टर मुंजे कहते हैं, आठ सौ वर्ष पहले मलाबार के हिन्दू राजा ने, अपने ब्राह्मण मन्त्रियों की सलाह से, अरबों के रहने के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की थी। यहाँ तक कि हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के कार्य में भी राजा ने अरबों को प्रश्रय दिया था; उसने यह क़ानून जारी किया था कि प्रत्येक धीवर-परिवार का एक सदस्य मुस्लिम धर्म स्वीकार करे। इसका मुख्य कारण यह था कि धर्मप्राण राजा और उनके मन्त्रीगण समुद्र-यात्रा को धर्म के विरुद्ध समझते थे। मलाबार के समुद्र तटवर्ती राज्य की रक्षा करने का भार मुसलमानों को सौंपा गया, क्योंकि वे समुद्र-यात्रा की वैधता के बारे में बुद्धि को मानते थे, मनु को नहीं। बुद्धि के बदले अबुद्धि को मानना ही जिनका धर्म हो, वे राज्य सिंहासन पर बैठकर भी स्वाधीन नहीं होते। वे कर्म के मध्याह्नकाल को भी निद्रा की निशीथ रात्रि बना देते हैं। तभी उन्हें :

'ठीक मध्याह्न-वेला
भूत मारे ढेला।'

मलाबार-नरेश ने स्वयं केवल राजा का मुखावरण पहनकर अबुद्धि को राज्यासन पर बिठा दिया था। आज भी मलाबार के हिन्दू-सिंहासन पर यही अबुद्धि राज कर रही है; हिन्दू आज भी मार खाते हैं और आकाश की ओर देखकर भगवान् का स्मरण करते हैं। सारे भारत में हमने अबुद्धि को राजा बनाया है और हम उनके सामने हाथ जोड़कर बैठे रहते हैं। अबुद्धि के इस राजत्व को, विधाता के नियम-विरोधी इस भयंकर धोखे को, कभी पठान, कभी मुग़ल तो कभी अँग्रेज परिपूर्ण बनाता है! बाहर से किये हुए इनके आघात को हम देख पाते हैं, लेकिन ये तो निमित्त मात्र हैं। इनमें से प्रत्येक एक-एक ढेला मात्र है, भूत नहीं। हम दोपहर की रोशनी में भी बुद्धि की आँखों को बन्द करके अबुद्धि के जिस भूत को बुला लाए हैं, उसी भूत का सब किया-किराया है। इसीलिए, जब जागृत विश्व चिन्तन और कार्य में लीन है, पीछे से केवल हमारी ही पीठ

पर—-

'ठीक मध्याह्न-वेला
भूत मारे ढेला।'

हमारी लड़ाई भूत के विरुद्ध है, अबुद्धि और अवास्तविकता के विरुद्ध है। उसीने हमारे चारों ओर विच्छेद की दीवार खड़ी की है, हमारे कन्धों पर उसीने परवशता को बैठा दिया हैं, उसीने हमें इतना अन्धा बना दिया है कि ढेले को तो हम उच्च स्वर से कोसते हैं लेकिन भूत को परमात्मीय, परमाराध्य समझते हैं, उसे देवता का स्थान देते हैं। ढेले की ही ओर देखें तो हम परित्राण की आशा नहीं कर सकते; क्योंकि दुनिया में ढेले असंख्य हैं एक से हम बचें तो दूसरा प्रस्तुत है। लेकिन भूत तो एक ही है। यदि उसी भूत को भगा दें तो ढेले हमारे पैर के नीचे होंगे, शरीर पर नहीं पड़ेंगे। भारतवर्ष की उसी प्राचीन प्रार्थना को आज फिर सम्पूर्ण प्राण-मन से व्यक्त करने का समय आ गया है - केवल मुँह से नहीं, चिन्तन से, कर्म और श्रद्धा से, पारस्परिक व्यवहार से :

'स एकः अवर्णः', जो एक है सारे वर्णभेदों से परे है, 'स नो बुदध्या शुभया संयुनक्तु', वही हमें शुभ बुद्धि देकर आपस में संयुक्त करे।

['प्रवासी' (अग्रहायण १३३० बं० सं०) में प्रकाशित लेख। हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्धी तत्कालीन राजनीतिक समस्या का विवेचन।]

समस्या का समाधान

समस्या की ओर यदि कोई ध्यान आकर्षित कराये, तो देश के कृती-अकृती सब उससे माँग करते हैं कि वह समस्या का हल भी पेश करे। वे कहते हैं : 'हम लोग किसी-न-किसी समाधान की तलाश में हैं : तुम भी एक समाधान प्रस्तुत करो। देखें तो, तुम्हारी ही कितनी बड़ी योग्यता है।'

किसी दवाख़ाने में एक विदेशी डॉक्टर था। एक बार एक बूढ़ा अन्दर आया और उसने करुण स्वर में कहा : 'बुख़ार!' डाक्टर ने झटपट एक अत्यन्त कड़वी दवा को उसके गले के नीचे उतार दिया। बूढ़ा हाँफने लगा, डॉक्टर को रोकने का उसे समय ही नहीं मिला। यदि उस समय मैं डॉक्टर से कहता : 'बुखार इसे नहीं, इसकी स्त्री को है', तो क्या उसे नाराज़ होकर यह कहने का अधिकार होता : 'तो फिर तुम ही क्यों नहीं इलाज करते! मैंने कम-से-कम एक दवा तो किसी को पिलाई है, तुम तो केवल आलोचना कर रहे हो?' मुझे कहना यही है कि वास्तविक समस्या माँ की बीमारी है, बाप की नहीं; इसलिए बाप को दवा पिलाने से समस्या का समाधान नहीं होगा।

लेकिन वर्तमान अवस्था में सुविधा इस बात की है कि जिसे मैंने समस्या कहा है वह स्वयं अपने समाधान की ओर संकेत करती है। अबुद्धि के प्रभाव से हम परस्पर विच्छिन्न हैं—विच्छिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी हैं। अबुद्धि के प्रभाव से हम वास्तव जगत् को वास्तविक भाव से ग्रहण नहीं कर पाते और इसलिए जीवन-यात्रा में सर्वदा पराजित होते हैं। अबुद्धि के प्रभाव से हम अपनी प्रतिभा पर आस्था खो देते हैं; और इस तरह स्वाधीनता की धारा को हमने आरम्भ से ही देशव्यापी परवशता के पत्थर से रोक रखा है। जब यह है हमारी समस्या, तो शिक्षा के अलावा इसका समाधान अन्य किसी उपाय से हो ही नहीं सकता।

आजकल हम यह बात सर्वत्र सुनते हैं कि जब घर में आग लगी हो, शिक्षा-दीक्षा सब अलग रखकर सबसे पहले आग बुझाने के लिए कमर कसनी चाहिए—अतएव सबसे पहले चरखे पर सूत कातना चाहिए। आग लगी हो तो आग बुझानी चाहिए, यह बात तो मेरे-जैसे आदमी के लिए भी दुर्बोध नहीं है। कठिनाई तो इस बात को स्थिर करने में है कि आग कौन-सी वस्तु है; उसके बाद यह स्थिर करना है कि जल किसे कहते हैं। यदि हम राख को ही आग कहें तो ऐसी आग

बुझाई नहीं जा सकती। अपने चरखे का सूत, अपने करघे का कपड़ा हम नहीं पहन सकते—यह आग नहीं है। यह राख का एक अंश है, अर्थात् आग का चरम फल है। अपने करघे हम चला सकें तो भी आग जलती ही रहेगी। हमारा राजा विदेशी है, यह भी आग नहीं---यह भी राख है। विदेशी राजा यदि हमसे विदा हो जाय, तब भी आग बनी रहेगी; यहाँ तक की यदि हमें स्वदेशी राजा मिल जाय, तो भी दुःख-दहन की निवृत्ति नहीं होगी। हज़ारों बरसों से जिस आग ने देश को जलाया है वह अपने हाथ से सूत कातकर कपड़ा बुनते ही दो दिन में शान्त होगी, यह मैं नहीं मान सकता। आज दो सौ वर्ष से चरखा चलाया जा रहा है; करघे भी बन्द नहीं हुए, लेकिन साथ-साथ आग भी धधकती रही है। उस आग का ईंधन है धर्म-कर्म में अबुद्धि का अन्धापन।

जहाँ बर्बर अवस्था में मनुष्य अकेला घूमता है, वहाँ वह जंगल के फल-मूल खाकर निर्वाह कर लेता है। लेकिन जहाँ बहुत-से लोगों के समावेश से सभ्यता का वैचित्र्यपूर्ण उद्यम व्यक्त होता है, वहाँ बड़े-बड़े खेतों में अच्छी तरह खेती करना आवश्यक हो जाता है। सभी बड़ी सभ्यताओं के 'अन्नरूप' का आश्रय खेत रहा है। लेकिन सभ्यता का एक 'बुद्धिरूप' भी होता है जो अन्नरूप से बड़ा है। जो सभ्यता जनता के मनरूपी खेत का कर्षण करके उसमें फल उत्पन्न कर पाती है वही महान् होती है। जहाँ अधिकांश लोग मूढ़तावश अन्धसंस्कारों और विभीषिकाओं से त्रस्त होते हैं, गुरु, पुरोहित, ज्योतिषी के द्वार पर सिर पटकते हैं, वहाँ किसी ऐसे सर्वव्यापी, स्वाधीनतामूलक राजनैतिक या सामाजिक व्यवस्था-तंत्र का निर्माण नहीं हो सकता जिसकी सहायता से जनता अपने न्याय्य अधिकार प्राप्त कर सके। आज के युग में हम उसी राजनीति को श्रेष्ठ कहते हैं जिसके बीच जनता की स्वाधीन बुद्धि और शक्ति व्यक्त हो सके। इसका आदर्श रूप हम पूरी तरह किसी भी देश में नहीं देखते। लेकिन आधुनिक योरोप, अमेरिका में इस आदर्श की ओर जाने का प्रयत्न अवश्य देखा जाता है। यह प्रयास पाश्चात्य जगत् में तभी से शक्तिशाली हुआ जब से वहाँ ज्ञान और शक्ति-साधना की वैज्ञानिक दृष्टि जनता में व्याप्त हुई। जब से संसार-यात्रा में मनुष्य ने अपनी बुद्धि और साहस के साथ स्वीकार किया तब से जनता ने राजा, गुरु, जड़प्रथा और संस्कारगत शास्त्रविधि के दबाव से मुक्त होने के लिए अपनी बुद्धि के योग से सभी बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया। अन्ध आज्ञाकारिता का चिराभ्यास लेकर कोई देश मुक्ति के विपुल दायित्व को समझ तक नहीं सकता, उसे वहन करना तो दूर रहा। ऐसे देश के लोग जिसे अलौकिक शक्ति-सम्पन्न मानते हैं उसकी वाणी को दैव-वाणी कहकर अल्पकाल के लिए कठिन लक्ष्य तक

पहुँच भी सकते हैं; जो आत्मशक्ति उनमें ही होनी चाहिए थी उसे किसी और पर आरोपित करके वे किसी विशेष समय कोई विशेष कार्य सम्पादन कर भी सकते हैं। नित्य व्यवहार के लिए आग जलाने का काम जो उन्हें अपनी बुद्धि से ही करना चाहिए, ज्वालामुखी के आकस्मिक उच्छ्वास से साध्य हो भी सकता है। लेकिन जिनके गृह-द्वीप को जलाने का भार ज्वालामुखी के आकस्मिक विस्फोट पर हो, न कि बुद्धि-शक्ति पर, उनका प्रदीप मुक्ति के नित्योत्सव में नहीं जल सकता। इसलिए घर से अन्धकार दूर करने का एकमात्र उपाय है ऐसी शिक्षा प्राप्त करना जिसके द्वारा लोग अपने-आप आग जलाना सीख लें, और जिससे उनमें यह आत्मविश्वास उत्पन्न हो कि आग जलाना असाध्य क़ाम नहीं है।

ऐसे व्यक्ति का दृष्टान्त लीजिए जिसने कभी काम नहीं किया, जिसका आलस्य मज्जागत है। उसके लिए पैतृक सम्पत्ति एक आफ़त बन जाती है; उसकी देख-भाल वह नहीं कर सकता। धन के बग़ैर तो उसका काम नहीं चलता, लेकिन धन कमाने का रास्ता उसे लम्बा और टेढ़ा-मेढ़ा लगता है। रास्ते के किनारे बैठकर वह आँखें मूँद कर इसी चिन्ता में पड़ा रहता है कि रास्ते को छोटा बनाने का कोई दैवी उपाय कैसे प्राप्त किया जाय। इससे चिन्ता बढ़ती है, रास्ता नहीं घटता। इसी समय संन्यासी आकर कहता है: 'मैं तीन महीने के अन्दर एक सहज उपाय से तुम्हें लखपति बना सकता हूँ।' क्षण-भर के लिए उसकी जड़ता दूर हो जाती है। संन्यासी के आदेशानुसार तीन मास तक वह कठिन परिश्रम करके दु:साध्य लक्ष्य को भी प्राप्त कर लेता है। ऐसे जड़प्रकृति के आदमी में सहसा इतना उद्यम देखकर लोग संन्यासी की अलौकिक शक्ति से विस्मित हो जाते हैं; वे नहीं समझते कि यह संन्यासी की शक्ति का लक्षण नहीं, वरन् उस मनुष्य की ही अशक्ति का लक्षण है। उसके पास वह बुद्धि या अध्यवसाय नहीं जो आत्मशक्ति के मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक है; लेकिन किसी अलौकिक शक्ति के पथ का आभास मिलते ही वह अपनी जड़-शय्या से उछल पड़ता है। तभी तो हमारे देश में तागा-ताबीज़ की इतनी अधिक बिक्री है! जो लोग विपत्ति या रोग से बचने के लिए अपनी मानसिक जड़ता के कारण किसी बुद्धि संगत उपाय पर आस्था नहीं रखते, वही लोग तन्त्र-मन्त्र और तागा-ताबीज़ प्राप्त करने के लिए त्याग कर सकते हैं, समय नष्ट कर सकते हैं, चेष्टा कर सकते हैं। वे भूल जाते हैं कि उनके रोग या विपत्ति का अन्त किसी देवता या अपदेवता की कृपा से नहीं होता—बल्कि इन तागा-ताबीज़ वालों के घर में ही अकल्याण की शत-शत धाराएँ बहती रहती हैं।

जिस देश में चेचक का कारण बुद्धि के द्वारा समझ लिया गया है और उस

कारण को बुद्धि द्वारा दूर किया गया है, वहाँ से चेचक ने पलायन किया है। लेकिन जिस देश के लोग शीतला-माता को चेचक का कारण समझकर निष्क्रिय बैठे रहते हैं, उस देश में शीतला देवी का आसन भी जम जाता है और चेचक जाने का नाम नहीं लेती। वहाँ शीतला माता मानसिक परवशता का प्रतीक है, बुद्धि के स्वातन्त्र्य-नाश का कुत्सित लक्षण है।

मेरी बात के उत्तर में कहा जाता है : देश के कुछ लोगों ने तो विद्या-शिक्षा प्राप्त की है। परीक्षाएँ पास करते समय उन्होंने तो जागतिक नियम की नित्यता और उसके आमोघत्व के बारे में शुद्ध अँग्रेज़ी भाषा में उत्तर दिए हैं, और डिग्रियाँ प्राप्त की हैं। लेकिन हमारे देश के इन डिग्रीधारियों के व्यवहार से क्या यह प्रमाणित होता है कि आत्मबुद्धि पर या विश्व-नियम पर उनका सच्चा विश्वास है ? क्या वे भी बुद्धि की अन्धता में संसार में चारों ओर दैन्य ही नहीं प्रसारित कर रहे हैं ?

मानना पड़ेगा कि शिक्षित लोगों में भी बहुत-से ऐसे हैं जिनमें बुद्धि-मुक्ति का प्रभाव कम दिखाई पड़ता है। वे भी बिना सोचे-समझे तरह-तरह की बातों को मान लेते हैं, अंधभक्ति से अचानक अद्भुत मार्गों पर चलाये जाते हैं। आधिभौतिक तथ्यों की आधिदैविक व्याख्या करते हुए उन्हें संकोच नहीं होता। उन्हें भी अपनी बुद्धि के दायित्व को दूसरों के हाथ सौंपने में लज्जा नहीं; बल्कि आराम का बोध होता है।

इसका एक मुख्य कारण यह है कि मूढ़ता के भार का आकर्षण बहुत प्रबल होता है। अपनी सतर्क बुद्धि को सदा जागृत रखने के लिए सचेष्ट शक्ति आवश्यक होती है। जो समाज दैवी गुरु और अप्राकृत प्रभावों के प्रति आस्थावान नहीं होता, जिस समाज ने बुद्धि पर विश्वास रखना सीखा है, उसमें पारस्परिक सहायता और उत्साह से मनुष्य की मानसिक शक्ति सक्रिय रहती है। हमारे देश की सदोष शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा या तो सतही होती है या उसका दायरा बहुत संकीर्ण होता है। इसलिए समाज की सम्मिलित मानसिक शक्ति हमें प्रगति की ओर या आत्म-शक्ति की ओर नहीं बढ़ाती। वह सहज ही आलसी बन जाती है, प्रचलित विश्वास और चिरागत प्रथा के सामने आत्म-समर्पण करके छुटकारा पाती है। उसके बाद हममें और अशिक्षित लोगों में केवल इतना ही प्रभेद रह जाता है कि वे अपने अन्धविश्वास के कारण बेखटके सोते रहते हैं, और हम आत्म-विस्तृत होकर अफ़ीम की नींद में पड़े रहते हैं; हम कुतर्क द्वारा अपनी लज्जा बचाना चाहते हैं; जो काम जड़ता या कायरता के कारण करते हैं उसके लिए सुनिपुण या अनिपुण व्याख्या तैयार करते हैं और यह दिखाते हैं कि वह

काम वास्तव में गर्व का विषय है। लेकिन वकालत के ज़ोर से दुर्गति को छिपाया नहीं जा सकता।

'देश को मुक्त करने के लिए देश को शिक्षित करना होगा', यह सुझाव इतना लम्बा-चौड़ा लगता है कि हमारा मन इसे ग्रहण करने में हिचकता है; वह यह एकदम ही नहीं मानना चाहता कि समस्या का इस तरह से समाधान हो सकता है।

देश की मुक्ति का कार्य बहुत बड़ा है, फिर भी उसका उपाय छोटा होगा, यह आशा करना ही बड़ी भूल है। इसी आशा के कारण हम वास्तविकता में या अपनी बुद्धि में विश्वास रखने के बदले भुलावे में विश्वास रखते हैं।

['प्रवासी' (अग्रहायण १३३० बं० सं०) में प्रकाशित। तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम-समस्या के समाधान पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचार।]

स्वराज-साधन

हमारे देश में विज्ञ लोग संस्कृत भाषा में उपदेश दे गए हैं कि 'जो चाहो सो कहो, लेकिन लिखो मत।' मैं यह उपदेश नहीं मानता, इस बात का यथेष्ट प्रमाण है। किसी हद तक मैंने यह उपदेश माना भी है—लेकिन केवल उत्तर लिखने के सम्बन्ध में। जो मुझे कहना है कह जाता हूँ लेकिन जब विरोध में कुछ लिखा जाता है मैं कलम को रोक देता हूँ। छन्द और गद्य के जितने प्रकार हैं, सबका मुझ पर असर हुआ है—केवल उत्तर-लेखन की विद्या मुझे कभी प्रभावित न कर सकी।

हमारे पास 'मत' नाम की जो चीज़ होती है वह अधिकतर विशुद्ध युक्तिवाद पर आधारित नहीं होती—उसका एक बड़ा हिस्सा हमारे मिज़ाज पर निर्भर होता है। तर्क की प्रेरणा से विश्वास का उत्पन्न होना कम देखने में आता है—अधिकतर क्षेत्रों में विश्वास पहले होता है, तर्क बाद में प्रस्तुत किया जाता है। केवल वैज्ञानिक मत शुद्ध प्रमाण-पथ पर चलकर सिद्धान्त तक पहुँचता है—दूसरे प्रकार के मत राग-विराग के आकर्षण से व्यक्तिगत इच्छा की ही प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

यह बात और भी अधिक सत्य होती है जब मत की प्रतिष्ठा फल-लोभ पर हो, और जब वह लोभ बहुसंख्यक लोगों के मन पर अधिकार कर ले। बहुत-से लोगों के लोभ को उत्तेजित करके उन्हें किसी पथ पर प्रवृत्त करने में युक्ति आवश्यक नहीं होती—पथ सहज़ होना चाहिए, और शीघ्र फल-लाभ मिलने की आशा होनी चाहिए। कुछ दिन से देश के मन को इस बात का खुमार है कि स्वराज आसानी से मिल सकता है, और शीघ्र मिल सकता है। जनता के मन की जब ऐसी अवस्था हो, इस विषय में किसी प्रश्न पर वाद-प्रतिवाद या उत्तर-प्रत्युत्तर छेड़ने से केवल शब्दों का 'साइक्लोन' उत्पन्न होता है—और इस 'साइक्लोन' की हवा में पाल फैलाकर किसी मत को किसी बन्दरगाह तक पहुँचाना कठिन है। बहुत दिनों तक हमारी धारणा थी कि स्वराज-प्राप्ति दुर्लभ है, आज सुना जाता है वह बिलकुल सहज और थोड़े-से समय में सम्भव है। इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछने या विचार करने की ओर लोगों की रुचि नहीं है। ताँबे के पैसे को संन्यासी सोने की मुहर बना सकता है, इस बात से जो लोग उत्तेजित होते हैं वे बुद्धिहीन नहीं होते, बल्कि लोभ में पड़कर बुद्धि का उपयोग नहीं करना चाहते।

कुछ दिन हुए, लोग इस धारणा से उत्तेजित हुए थे कि स्वराज बिलकुल पास आ पहुँचा है। लेकिन जब मियाद पूरी हुई और स्वराज नहीं मिला तो यह कहा गया कि हमने अपनी शर्त पूरी नहीं की इसीलिए हम स्वराज से वंचित रह गए हैं। बहुत कम लोगों ने शांतिपूर्वक यह सोचा कि शर्त पूरी करना ही तो हमारी समस्या है। 'स्वराज पाने की शर्त का हमने पालन नहीं किया इसीलिए हमें नहीं मिला', यह बात तो स्वतःसिद्ध है। हिन्दू-मुसलमान यदि आत्मीयता के भाव से आपस में मिल जायँ तो स्वराज-प्राप्ति की सीढ़ी तैयार होगी, यह कहना अनावश्यक है। मुश्किल तो यह है कि हिन्दू-मुसलमानों का मिलन नहीं हुआ—यदि होता तो वर्ष में जो ३६५ दिन हैं सब-के-सब शुभ दिन होते। यह बात सच है कि पंचांग में किसी विशेष दिन को स्वराज्य-प्राप्ति के लिए स्थिर करने से मन को नशा-सा होता जाता है—लेकिन केवल नशा हो जाने से ही पथ सहज नहीं हो जाता।

कलेण्डर में स्थिर किया हुआ दिन कब का बीत चुका, लेकिन अभी तक नशा दूर नहीं हुआ। नशे का विषय यह है कि स्वराज्य-साधन को सहज-साधन समझ लिया गया है। इसके केवल एक या दो संकीर्ण मार्ग हैं। इस मार्ग के अन्तर्गत ही चर्खा भी है।

यह प्रश्न पूछना पड़ता है, स्वराज आखिर क्या चीज़ है? हमारे देश के नेताओं ने स्वराज की स्पष्ट व्याख्या नहीं की। 'स्वाधीनता' शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है। अपने चर्खे पर अपने लिए सूत कातने की स्वाधीनता हमारे पास है—यदि हम नहीं कातते तो इसका कारण यह है कि चर्खे का सूत मशीन के सूत की बराबरी नहीं कर सकता। शायद बराबरी कर भी सकेगा, यदि भारत के कोटि-कोटि लोग अपना अवकाश काल सूत कातने में बिताएँ, जिससे चर्खे के सूत का दाम कम हो जाय। लेकिन यह सम्भव नहीं है, जैसा कि इस बात से सिद्ध होता है कि बंगाल में जो लोग चर्खे के पक्ष में कलम चलाते हैं उनमें से अधिकतर चर्खा नहीं चलाते।

दूसरी बात यह है कि देश में सब लोग मिलकर यदि चर्खा चलायें तो इससे आर्थिक कठिनाई कुछ कम हो सकती है, लेकिन यह भी स्वराज नहीं है। कुछ लोग कहते हैं, नहीं है तो नहीं हो! धन तो मिलेगा। दरिद्र के लिए यही क्या कम है? देश के किसान अपना अवकाश-काल बेकार गँवा देते हैं—यदि वे सूत कातने लगें तो उनका दैन्य बहुत-कुछ दूर होगा।

मान लिया कि यह एक विशेष समस्या है। किसानों के खाली समय को काम में लाना होगा। लेकिन बात उतनी आसान नहीं है जितनी सुनने में

लगती है। यदि इस समस्या के समाधान का भार लेना है तो बुद्धि की दुरूह साधना आवश्यक है। इतना ही कह देने से काम नहीं चलेगा कि 'उन्हें चर्खा चलाना चाहिए।'

किसान ने खेती के निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने मन और देह को एक विशेष प्रवणता दी है। उसके लिए खेती का मार्ग ही सहज मार्ग है। जब वह खेती करता है तभी काम करता है, जब खेती नहीं करता तब काम नहीं करता। आलस्यवश काम नहीं करता, यह दोष उस पर नहीं लगाया जा सकता। यदि साल-भर खेती चल सकती तो वह साल-भर काम करता।

खेती-जैसे शारीरिक श्रम की प्रकृति यह है कि उससे मन निश्चेष्ट हो जाता है—चालना के अभाव से। एक अभ्यस्त कार्य से किसी भिन्न प्रकार के कार्य तक पहुँचने के लिए मन को सक्रिय होना पड़ता है। लेकिन खेती-मज़दूरी का काम लाइन में बँधा हुआ काम है। वह ट्राम-गाड़ी की तरह चलता है। हज़ार कोशिश करने पर भी लाइन के बाहर नए पथ पर वह नहीं चल सकता। किसान को खेती के बाहर का कोई काम करने के लिए कहा जाय तो उसका मन 'डिरेल' हो जाता है। उसे ज़बरदस्ती काम में लगाया जा सकता है, लेकिन ऐसा करने से शक्ति का अपव्यय होगा।

बंगाल के दो ज़िलों के किसानों से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अभ्यास का बन्धन उनके लिए कितना कठिन है इसकी मुझे अभिज्ञता है। इन दो ज़िलों में से एक ऐसा है जहाँ एक ही फसल होती है। चावल उत्पादन करने के लिए किसान अत्यन्त कठिन परिश्रम करते हैं। उसके बाद अपने घर के अहाते में वे सब्ज़ियाँ भी उगा सकते थे। मैंने बहुत प्रोत्साहन दिया, लेकिन कोई फल नहीं मिला। जो लोग धान की खेती के लिए प्राण की बाज़ी लगा सकते हैं वही लोग सब्ज़ी उगाने के लिए हाथ-पाँव हिलाना तक नहीं चाहते। धान की लाइन से सब्जी की लाइन तक उनके मन को ले जाना कठिन है।

दूसरे ज़िले में किसान चावल, सरसों, गन्ना, पटसन सभी कुछ उगाते हैं। लेकिन जहाँ ये चीज़ें आसानी से नहीं होतीं, वहाँ की ज़मीन बेकार पड़ी रहती है। हर साल पश्चिमी ज़िलों से लोग आकर इस ज़मीन में तरबूज, खरबूजे, ककड़ी वग़ैरा की खेती करते हैं और काफी लाभ प्राप्त करके लौट जाते हैं। लेकिन स्थानिक किसान इस अनभ्यस्त खेती से लाभ उठाना नहीं चाहते। उनका मन उधर नहीं झुकता। जो किसान केवल पटसन की ही खेती करता है उसे यह कह-कर बदनाम नहीं किया जा सकता कि वह स्वभावत: आलसी है। सुना है पृथ्वी पर और भी ऐसे स्थान हैं जहाँ पटसन पैदा करना कठिन नहीं है, लेकिन वहाँ के

लोग पटसन उगाने का दु:साध्य कष्ट स्वीकार नहीं करते। बंगाल को यदि पटसन पर एकाधिकार है तो इसका श्रेय केवल यहाँ की ज़मीन को ही नहीं है, यहाँ के किसान को भी है। फिर भी मैंने देखा है कि यही किसान दूसरों को बालू में तरबूज की लाभदायक खेती करते हुए देखकर भी, स्वयं उस अनभ्यस्त मार्ग पर जाना नहीं चाहता।

जब हम किसी समस्या का विचार करते हैं तो हमें इस बात पर ध्यान देना होता है कि मनुष्य के मन को एक पथ से दूसरे पथ पर किस तरह ले जाया जा सकता है। मैं नहीं सोचता कि किसी सहज उपाय से, वाह्य रूप से समझा-बुझाकर, काम निकल सकेगा। पहले तो मानव-मन से निपटना है। 'हिन्दू-मुसलमान मिल जायँ !'—यह फ़रमान बाहर से जारी करना कठिन नहीं है। इस सम्बन्ध में हिन्दू खिलाफ़त आन्दोलन में योग दे सकते हैं—इस तरह का योगदान सहज है। यही नहीं, अपनी आर्थिक सुविधाओं का भी वे मुसलमानों के लिए किसी हद तक त्याग कर सकते हैं; यह मुश्किल अवश्य है, परन्तु फिर भी 'एह बाह्य'। लेकिन हिन्दू-मुसलमानों के मिलन की खातिर अपने-अपने मन के चिरागत संस्कार बदलना सहज नहीं है। समस्या वहीं विकट हो जाती है। हिन्दू के लिए मुसलमान अपवित्र है, मुसलमान की दृष्टि में हिन्दू काफ़िर। यह बात दोनों में से कोई पक्ष, स्वराज-प्राप्ति के लोभ से भी, भूल नहीं सकता।

मैं अँग्रेज़ी भाषा के एक पंडित को जानता था, जिसे होटल में जाकर खाना खाने का बड़ा शौक़ था। वह और सब चीज़ें तो रुचिपूर्वक खाता था, लेकिन 'ग्रेट ईस्टर्न होटल' में पकाए चावल छोड़ देता था—कहता था : 'मुसलमान के हाथों से बने चावल किसी तरह गले से नहीं उतरते।' जिस संस्कारगत कारण से भात खाने में रुकावट है, उसी कारण से मुसलमान के साथ अच्छी तरह मिलने-जुलने में भी रुकावट होगी। धर्म-नियम के आदेश को लेकर हमारे मन में जो अभ्यास अन्तर्निहित है; उन्हीं अभ्यासों के बीच हिन्दू-मुसलमान-विरोध ने अपना दुर्ग बनाया है। खिलाफ़त का समर्थन या आर्थिक त्याग उस दुर्ग के अन्दर नहीं पहुँचा।

हमारे देश की ये समस्याएँ आन्तरिक हैं, इसीलिए इतनी दुरुह हैं। बाधा तो हमारे मन में है, जब उसको दूर करने की बात उठती है तो हमारा मन विद्रोह करता है। इसीलिए जब कोई अत्यन्त सहज बाह्यप्रणाली सामने आती है तो हम छुटकारा पाते हैं। जिसका अन्तःकरण धन कमाने का उचित मार्ग स्वीकार नहीं कर पाता वही आदमी जुआ खेलकर रातों-रात अमीर होने की दुराशा को स्थान देता है, और इसके लिए अपना सर्वनाश करने को भी प्रस्तुत होता है।

यदि वास्तव में साधारण लोगों की दृष्टि में चरखा चलाना ही स्वराज-साधन का प्रधान अंग है, तब तो मानना पड़ेगा कि जनसाधारण के लिए स्वराज एक बाह्य फल-लाभ है। देश की मंगल-साधना में जो चरित्रगत और सामाजिक-प्रथागत बाधाएँ हैं, उनसे हमारा ध्यान हट जाता है और चर्खे पर केन्द्रित हो जाता है। इससे लोग विस्मित नहीं होते, बल्कि आराम पाते हैं। ऐसी अवस्था में यही मान लिया जाय कि यदि किसान अपना अवकाश-काल लाभदायक कार्य में व्यतीत करें तो स्वराज के रास्ते की एक मुख्य बाधा दूर होगी। और यह भी मान लिया जाय कि इस तरह का बाह्य व्यवहार ही आज देश के सामने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चिंतनीय विषय है।

देशनायकों को सोचना होगा कि किसानों के खाली समय का सम्यक् रूप से कैसे उपयोग किया जाय। यह कहना न होगा कि उसे खेती के काम में लगाना ही सही रास्ता है। मुझे यदि कठिन दैन्यसंकट झेलना पड़े तो मेरे हितैषियों और परामर्शदाताओं को सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना ही होगा कि मैं दीर्घकाल तक साहित्य-रचना करता आया हूँ, उसीका मुझे अभ्यास है। यदि उन्हें मेरा उपकार करना है तो वे इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते, चाहे वाक्-व्यवसाय के प्रति उन्हें श्रद्धा न हो। हो सकता है, वे हिसाब लगाकर मुझे दिखा सकें कि यदि मैं कॉलेज के पास छात्रों के लिए चाय की एक दुकान खोलूँ तो मुझे पन्द्रह प्रतिशत मुनाफ़ा मिलेगा। हिसाब से यदि मानव-मन को अलग रख दिया जाय तो मुनाफ़े के आँकड़े को बढ़ाकर दिखाना आसान है। चाय की दुकान करके मेरा सर्वस्व समाप्त होगा—इसलिए नहीं कि योग्य चाय वाले से मेरी बुद्धि कम है, बल्कि इसलिए कि मेरा मन चाय वाले के मन-जैसा नहीं है। यदि मेरे हितैषी मित्र मुझसे डिटेक्टिव-कहानियाँ या स्कूल-कॉलेज के पाठ्य विषयों पर 'नोट्स' लिखने की सलाह दें, तो शायद मेरे लिए यह चेष्टा बिलकुल ही असंभव न हो। मेरा विश्वास है, चाय की दुकान खोलने की अपेक्षा इसमें मेरे सर्वनाश की आशंका कुछ कम है। लाभ के विषय में संदेह हो सकता है, लेकिन यह तो निश्चित है कि किसी साहित्यिक के मन को काव्य की लाइन से हटाकर डिटेक्टिव-कहानी की लाइन पर ले जाना दुःसाध्य नहीं है।

ज़िन्दगी-भर किसान के देह-मन को जो अभ्यास मिला है और जो शिक्षा मिली है उससे अचानक हटाकर उसे सुखी या धनी बनाना सहज नहीं। पहले ही कह चुका हूँ, जिसमें मनोयोग कम हो वह सामान्य नूतनत्व को भी सहन नहीं कर सकता। अपने प्लान की सरलता के आकर्षण से यदि इस नियम का ज़बरदस्ती उल्लंघन किया गया तो मनस्तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहेगा और प्लान की भी क्षति

होगी।

दूसरे कृषि-प्रधान देशों में यह प्रयास चल रहा है कि किसान को खेती के ही मार्ग पर उत्तरोत्तर अधिक सफलता दिलाई जाय। वहाँ वैज्ञानिक बुद्धि के प्रयोग से मनुष्य खेती को उन्नत कर रहा है। यदि हमारे देश के साथ तुलना की जाय तो हम देखते हैं कि वहाँ की ज़मीन में यहाँ से दुगुनी-चौगुनी फ़सल उत्पन्न होती है। यह ज्ञानालोकित पथ सहज पथ नहीं, सत्य पथ है। इस पथ के आविष्कार में मनुष्यत्व प्रमाणित होता है। खेती के उत्कर्ष द्वारा किसान के उद्यम को पूर्णतया सार्थक करने के बदले उसे चर्खा घुमाने का आदेश देने से शक्तिहीनता का परिचय मिलता है। हम किसान को आलसी कहकर दोष देते हैं, लेकिन जब अपनी अवस्था की उन्नति-साधना के लिए उसे चर्खा चलाने की सलाह देते हैं तो हमारा ही मानसिक आलस्य प्रमाणित होता है।

अब तक जो कहा गया वह मैंने इस बात को मानकर कहा है कि सूत और खद्दर का देश में बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से श्रमिकों के एक दल का अर्थ-कष्ट दूर होगा। लेकिन यह भी बिना प्रमाण के मानी हुई बात है। इस सम्बन्ध में जिन्हें अभिज्ञता है वे इस पर सन्देह भी कर सकते हैं, मेरे-जैसे अनाड़ी को इस बहस में नहीं पड़ना चाहिए। मेरी शिकायत केवल यही है कि स्वराज के साथ चर्खे को जोड़कर स्वराज के बारे में जनसाधारण की बुद्धि को विभ्रान्त किया जाता है।

देश-कल्याण की धारणा से हमारा क्या अर्थ है, इस बात को स्पष्ट करना आवश्यक है। इस धारणा को अत्यन्त संकीर्ण और बाह्य बनाने से हमारी शक्ति में छोटापन आ जाता है। मन के ऊपर जो दायित्व है उसे घटा देने से मन आलसी और निर्जीव हो जाता है। देश की कल्याण-साधना में चर्खे को प्रधान स्थान देना मन की अवमानना करना है, उसे निश्चेष्ट बनाना है। देश-कल्याण का विश्व-रूप मन के सामने उज्ज्वल किया जाय तो लोगों की शक्ति-धारा उसकी ओर जाने का पथ हृदय और बुद्धि द्वारा तैयार कर सकेगी। यदि देश-कल्याण का रूप छोटा हो तो हमारी साधना भी छोटी होगी। दुनिया में जिन्होंने देश और मानवजाति के लिए दुःसाध्य त्याग स्वीकार किया है उन्होंने देश और मानव की कल्याण छवि को उज्ज्वल आलोक द्वारा, ध्यान-मग्न नेत्रों से, विराट् रूप में देखा है। यदि हम मनुष्य से त्याग चाहते हैं तो उस ध्यान की सहायता करनी होगी। सूत और खद्दर के ढेर का चित्र देश-कल्याण का विशाल चित्र नहीं है। यह हिसाब करने वालों का चित्र है—यह उस अपरिमित शक्ति को नहीं जगा सकता जो बृहत्-उपलब्धि के आनन्द की खातिर केवल दुःख और मृत्यु को स्वीकार करने के लिए ही प्रस्तुत नहीं है, वरन् विरोध और व्यर्थता से भी विचलित नहीं होती।

शिशु आनन्द से भाषा सीखता है, क्योंकि वह अपने माँ-बाप के मुख से भाषा का समग्र रूप प्राप्त करता है। जब वह स्पष्ट समझ नहीं पाता उस समय भी यह रूप उसे आकर्षित करता है। इस प्रकाशन के पूर्णता-लाभ के लिए उसकी आनन्द-मय चेष्टा सर्वदा जागृत रहती है। शिशु-मन को घेरकर यदि यह परिपूर्ण भाषा न विराजती, यदि उसके चारों ओर व्याकरण के सूत्र ही घूमते रहते, तो बेंत के प्रहार से रुलाकर शिशु को मातृभाषा सिखानी पड़ती—और फिर भी उसे सीखने में बहुत समय लगता।

इसीलिए मैं सोचता हूँ कि यदि देश को सत्य भाव से स्वराज-साधना की दीक्षा देनी है तो स्वराज की समग्र मूर्ति को प्रत्यक्ष रूप से गोचर कराने का प्रयत्न आवश्यक है। मैं यह नहीं कहता कि थोड़े से ही समय में इस मूर्ति का आकार बहुत बड़ा हो सकेगा—लेकिन यह माँग तो की जा सकती है कि वह संपूर्ण हो, सत्य हो। प्राणमय वस्तु की परिणति पहले से ही समग्रता का रास्ता पकड़कर होती है। ऐसा न होता तो शिशु केवल पैर का अँगूठा बनकर जन्म लेता, धीरे-धीरे बढ़कर जाँघ समेत पाँव बनता, और उन्नीस-बीस वर्ष की अवस्था तक उसका पूरा मानवीय देह दिखाई पड़ता। शिशु में समग्रता का आदर्श पहले से ही है, इसीलिए हम उसके जीवन से इतना आनन्द प्राप्त करते हैं। इस आनन्द के लिए शिशु के पोषण का कठिन दुःख माँ-बाप स्वीकार कर लेते हैं। यदि केवल पैर बनकर ही उसे चार-पाँच वर्ष बिताने पड़ते, तो आंशिकता का दासत्व असह्य हो उठता।

ऐसी ही दशा हमारी भी होगी यदि स्वराज को एक लम्बे प्राथमिक काल में हम केवल चर्खे से कते हुए सूत के आकार में देखें। इस तरह की अन्ध-साधना में महात्मा गांधी-जैसे व्यक्ति कुछ दिनों तक देश के एक वर्ग के लोगों को प्रवृत्त कर भी सकते हैं, क्योंकि उनकी व्यक्तिगत महानता पर लोगों की श्रद्धा है। उनका आदेश पालन करने को ही बहुत-से लोग फल-लाभ मानते हैं। मैं सोचता हूँ, इस तरह की मति स्वराज-लाभ के लिए अनुकूल नहीं है।

स्वदेश के दायित्व को केवल सूत कातकर नहीं बल्कि सम्यक् भाव से ग्रहण करने की साधना को छोटे-छोटे आकार में देश के विविध स्थानों पर प्रतिष्ठित करना मैं आवश्यक समझता हूँ। जनसाधारण का मंगल बहुत-सी बातों के समन्वय से ही होता है। इन बातों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है, इनमें से किसी एक को पृथक् करने से फल-लाभ असम्भव है। स्वास्थ्य, बुद्धि, ज्ञान, कर्म और आनन्द के साथ यदि हम मनुष्य के किसी विशेष कल्याण को मिला सकें, तभी वह पूर्ण रूप से कल्याणप्रद हो उठता है। स्वदेश-कल्याण के रूप को हम अपनी आँखों से देखना

चाहते हैं। ऐसे प्रत्यक्षीकरण से सहस्रों उपदेशों की अपेक्षा अधिक काम निकल सकता है। जहाँ-जहाँ जनसाधारण के कल्याण का दायित्व किसी-न-किसी रूप में ग्रहण करके एक स्वस्थ, श्रीसम्पन्न प्राणधारा प्रवाहित की गई है, वहाँ की सफलताओं के दृष्टान्त लोगों के सामने रखने होंगे। सिर्फ सूत कातकर, खद्दर पहनकर और उपदेश सुनाकर स्वराज का अर्थ हम किसी को समझा नहीं सकेंगे। जो चीज़ हम सारे भारत के लिए चाहते हैं उसे यदि देश के किसी छोटे अंश में भी स्पष्ट रूप से देख सकें तो उसकी सार्थकता के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होगी। आत्म-निर्भरता का मूल्य हम समझ सकेंगे—'न मेधया न बहुना श्रुतेन', साक्षात् दर्शन करके हम उसे समझेंगे। भारत के गाँव में भी यदि लोग आत्म-शक्ति द्वारा सारे गाँव को पूरी तरह अपना सकें तो देश के वास्तविक स्वदेश रूप-लाभ करने का काम आरम्भ होगा। जीवित प्राणी किसी विशेष स्थान पर जन्म ग्रहण करता है, लेकिन इसीसे वह स्थान उसका नहीं हो जाता। मनुष्य अपने देश की सृष्टि स्वयं करता है। इसी सृष्टि में और उसकी रक्षा के कार्य में देशवासियों में परस्पर सम्बन्ध घनिष्ठ हो जाते हैं, और उस स्वनिर्मित देश को वे प्राण से भी अधिक चाहने लगते हैं। लेकिन हमारे यहाँ मनुष्य देश में केवल जन्म ग्रहण करता है, देश की सृष्टि नहीं करता। इसलिए लोगों के परस्पर मिलन का कोई गम्भीर आधार नहीं है, देश के अनिष्ट से प्रत्येक व्यक्ति को अनिष्ट बोध नहीं होता। देश की सृष्टि करते हुए ही देश को उपलब्ध करने की साधना हमें शुरू करनी होगी। इस सृष्टि-कार्य में मानव की वैचित्र्यपूर्ण शक्ति आवश्यक है। विविध मार्गों से एक लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई शक्ति के प्रयोग द्वारा ही हम अपने-आपको देश के बीच उपलब्ध करते हैं। देश-सृष्टि की इस साधना को धीरे-धीरे दूर तक प्रसारित करके ही हमें फल मिल सकता है। इस उद्योग की हम यदि उपेक्षा करें—केवल इसलिए कि इसका आयतन छोटा है—तो गीता के ये शब्द ध्यान में रखने उचित होंगे : 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' सत्य का बल आयतन में नहीं, स्वयं अपने में होता है।

सम्मिलित आत्मकर्तृत्व का परिचय और उसके विषय में गौरव-बोध यदि जन-साधारण में व्याप्त हो, तो इस पक्की बुनियाद पर स्वराज्य सत्य हो उठेगा। गाँव-गाँव में इस आत्मकर्तृत्व का जब तक अभाव है तब तक देश की जन-संगठन में जो चित्तदैन्य है उससे ऊपर उठकर किसी वाह्य अनुष्ठान के ज़ोर से स्वराज स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मकर्तृत्व का अभाव ही अन्न, शिक्षा, स्वास्थ्य, ज्ञान और आनन्द के अभाव का मूल कारण है। अँग्रेज़ी में कहावत है, सिद्धि ही सिद्धि को आकर्षित करती है, उसी तरह स्वराज ही स्वराज को बुला

लाता है। विश्व में विधाता का जो अधिकार है, वही है उसका स्वराज, अर्थात् विश्व की सृष्टि करने का अधिकार। हमारा स्वराज भी वैसा ही है। अर्थात् अपने देश को स्वयं निर्माण करने का अधिकार। सृष्टि से ही वह प्रमाणित होता है। उसका उत्कर्ष साधन होता है। हम जीवित रहते हैं, तभी यह बात प्रमाणित होती है कि हमारे पास प्राण है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि सूत कातना भी सृष्टि है। लेकिन चर्खा घुमाने से मनुष्य चर्खे का ही अंग बन जाता है, वही करता है जो मशीन से भी किया जा सकता है। यन्त्र के पास मन नहीं है, इसीलिए वह एकाकी है, अपने बाहर उसका कुछ भी नहीं। इसी तरह सूत कातता हुआ आदमी अकेला है—उसके चर्खे का सूत किसी और के साथ उसका योग नहीं कराता। उसके लिए यह जानने की ज़रूरत ही नहीं है कि उसका कोई पड़ोसी भी है। रेशम का कीड़ा जिस तरह अपने चारों ओर रेशम के धागे बुनता रहता है वैसा ही काम चर्खा चलाने का है। वह यन्त्र है—एकाकी, विच्छिन्न। जब कोई कांग्रेस-सदस्य सूत कातता है, वह साथ-साथ देश के आर्थिक स्वर्गराज्य का ध्यान भी कर सकता है; लेकिन इस ध्यानमन्त्र की दीक्षा जो उसे किसी अन्य उपाय से मिली है, चरखे में उस मंत्र का बीज नहीं है। इसके विपरीत जो व्यक्ति गाँव से महामारी दूर करने के उद्योग में व्यस्त है वह यदि दुर्भाग्य से बिलकुल अकेला हो तब भी उसके कार्य के आदि-अन्त से समस्त गाँव की चिन्ता का संयोग है। इस कार्य द्वारा ही वह अपने-आपमें सारे गाँव को उपलब्ध करता है। ग्राम की सृष्टि में ही उसका सज्ञान आनन्द है। उसीके काम में स्वराज्य-साधना का वास्तविक आरम्भ है। बाद में यदि उस व्यक्ति के काम में गाँव के सभी लोग योगदान करें तो यह दिखाई देगा कि अपनी सृष्टि करके ही गाँव अपने-आपको यथार्थ रूप में प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हो रहा है—इस प्राप्ति को ही स्वराज-लाभ कहते हैं; परिणाम में कम होने पर भी यह सत्य में कम नहीं है। सौ प्रतिशत लाभ न सही, एक प्रतिशत लाभ तो अवश्य होगा, और यह लाभ सौ प्रतिशत लाभ का सगोत्र है, बल्कि सहोदर है। जिस गाँव के लोग शिक्षा-स्वास्थ्य-अन्नोपार्जन में हँसी-खुशी मिल-जुलकर काम करते हैं वह गाँव सारे भारत के स्वराज-लाभ के पथ पर दीप जलाता है। एक दीप से दूसरे दीप की शिखा को जलाना कठिन नहीं। स्वराज स्वयं अपने-आपको बढ़ायेगा—चर्खे की यान्त्रिक प्रदक्षिणा के मार्ग पर नहीं, प्राण की आत्म-प्रवृत्त समग्र वृद्धि के मार्ग पर।

[दक्षिण अमरीका की यात्रा के उपरान्त लिखित। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम समस्या गहन होती जा रही थी। रवीन्द्रनाथ का

कहना था कि गांधीजी का चर्खा-कार्यक्रम समस्या को हल नहीं कर सकेगा। 'सबुज पत्र' (कार्तिक १३३२) अक्तूबर १९२५ में प्रकाशित। अँग्रेज़ी अनुवाद दिसम्बर, १९२५ के 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित।]

रवीन्द्रनाथ के राजनैतिक विचार

जब मैंने सुना कि एक लेखक महोदय ने मेरी रचनाओं से राजनीति, समाज-नीति और धर्मनीति के सम्बन्ध में मेरे विशेष सिद्धान्तों को ढूँढ निकाला है, तो मैं जान गया कि मेरे विचारों के साथ लेखक के अपने विचारों का मिश्रण अवश्य हुआ होगा। गवाह का कथन और वकील की व्याख्या, इन दोनों के संयोग से जो चीज़ तैयार होती है उसे प्रमाण के रूप में ग्रहण करना कठिन होता है। प्रतिपक्ष का वकील उसी गवाही का उल्टा अर्थ लगा सकता है। उसमें से चुने हुए किसी विशेष वाक्य का अर्थ बहुत-कुछ इस पर निर्भर करता है कि चुनने वाला कौन है।

अभी हाल में प्रकाशित एक अँग्रेज़ी पुस्तक में मेरे राजनैतिक विचारों की चर्चा की गई है। व्यक्तिगत रूप से मैं लेखक का ऋणी हूँ। मेरे प्रति असम्मान दिखाने की चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की। उनके मन में मेरे लिए मैत्री का भाव है और शायद इसीलिए उनका प्रयत्न रहा है कि मेरे विचारों को इस तरह रखा जाय कि वे प्रचलित विचारों से सुसंगत जान पड़ें। इस तरह उन्होंने जनसाधारण की प्रतिकूलता से मेरी रक्षा करने का यत्न किया है।

मुझे यह पुस्तक पढ़नी ही पड़ी; क्योंकि मेरे राजनैतिक सिद्धान्तों को पाठक किस दृष्टि से देखते हैं यह जानने का कुतूहल मैं दबा न सका। मुझे मालूम है कि इस विषय में मेरे विचारों को संगृहीत करना आसान नहीं है। मेरे बचपन से आज तक देश कई अवस्थाओं से गुज़रा है और मेरी अभिज्ञता भी कई मंज़िलें पार कर चुकी है। इस दीर्घ काल में मैं सोचता भी रहा हूँ और काम भी करता रहा हूँ। शब्दों को वाक्यों में गूँथना मेरा स्वाभाविक कार्य-सा है। जब भी, जैसी भी बात मन में उठी मैंने उसे व्यक्त कर दिया। मैंने जो लिखा है उसे यदि रचनाकालीन प्रयोग और प्रसंग से अलग करके देखा जाय तो उसका सम्पूर्ण तात्पर्य ग्रहण करना असम्भव है। जिस व्यक्ति का लेखन एक बहुत लम्बे चिंतन-काल से जुड़ा हुआ हो, उसकी रचना-धारा को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखना ही उचित होता है।

ब्राह्मण-क्षत्रियादि चार वर्ण अपने परिपूर्ण रूप में सृष्टि के आदिक्षण में ब्रह्मा के मुख से नहीं निकले। आर्य-समाज में वर्णभेद की प्रथा युग-युग में, अनेक परिवर्तनों के बीच, विकसित हुई। इसी तरह मेरे बारे में भी यह समझना चाहिए

कि राजनीति-जैसे विषय में कोई अटल और सम्पूर्ण सिद्धान्त किसी विशेष समय मेरे मन से उत्पन्न नहीं हुआ। जीवन की अभिज्ञता के साथ-साथ तरह-तरह के परिवर्तनों के बीच मेरे विचारों का गठन हुआ। इन सब परिवर्तनों की परम्परा में निःसंदेह कोई ऐक्य-सूत्र भी है। इस ऐक्य-सूत्र का अन्वेषण करने के लिए यह देखना होगा कि मेरी रचनाओं का कौन-सा अंश मुख्य है और कौन-सा गौण; कौन-सा अंश सामयिक है और कौन-सा समय की सीमा को पार करते हुए प्रवाहशील है। रचनाओं का आंशिक रूप में विचार किया गया तो यह ऐक्य-सूत्र कभी नहीं मिल सकता। उनका समग्रभाव से अनुभव करना होगा।

पुस्तक मैंने पढ़ी, लेकिन अपने सिद्धान्त की स्पष्ट रूपरेखा मेरे सामने नहीं आई। मेरे मन ने कुछ अवरोध-सा अनुभव किया। इस अवरोध के बहुत-से कारणों में एक यह भी है कि इस पुस्तक में जगह-जगह अवतरणों का अनुवाद किया गया है। इनकी भाषा मेरी भाषा नहीं है, लेकिन इस बात का उल्लेख नहीं किया गया है। भाषा संकेत द्वारा बहुत-कुछ कहती है। संकेत का अभाव हो तो शब्दों का अर्थ प्राप्त किया जा सकता है लेकिन उनकी व्यंजना नष्ट हो जाती है। जो कुछ भी हो अपनी भाषा का दायित्व तो निभाया जा सकता है लेकिन किसी दूसरे की भाषा का दायित्व ग्रहण करने से काम नहीं चलता।

इस त्रुटि की भी शायद उपेक्षा की जा सकती है। लेकिन यह बात तो कहनी ही पड़ती है कि मेरी अलग-अलग रचनाओं से मेरे सिद्धान्त की जो प्रतिमा बनाई गई है उसमें अंशतः सभी बातें हैं परन्तु सम्पूर्ण अभिप्राय व्यक्त नहीं हुआ। ऐसा होना किसी सीमा तक अनिवार्य ही था। मेरी रचनाओं में किस बात का महत्त्व अधिक है और किस बात का कम, इसका निर्णय लेखक ने अपने अभिमत और अभिरुचि द्वारा किया है, और इसी निर्णय के आधार पर सम्पूर्ण सिद्धान्त की रचना की हैं।

इस सम्बन्ध में अपने समस्त चिन्तन-क्षेत्र पर मुझे दृष्टिक्षेप करना पड़ेगा। यह उचित होगा कि राष्ट्रीय समस्या के बारे में मैंने जो कुछ सोचा है और जो कुछ कहने की मेरी इच्छा रही है उसे मैं स्वयं ही संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँ। इसके लिए मैं तर्क या प्रमाण का सहारा नहीं लूँगा। स्मृति के ऊपरी तल पर जो बातें स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं उन्हींके आधार पर कुछ कहूँगा।

बाल्यकाल के अनेक प्रभाव जीवन-पथ पर अन्त तक हमारा साथ देते हैं। उनका प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं होता, फिर भी उनसे हम प्रेरित होते रहते हैं। हमारा बाह्य परिवार आधुनिक हिंदू-समाज के बाह्य आचार-विचार और क्रिया-कर्म के

बन्धनों से अलग था। मेरा विश्वास है कि इस तरह किसी सीमा तक समाज से दूर रहने के कारण ही मेरे गुरुजनों के मन में भारतवर्ष के सार्वजनीन, सर्वकालीन आदर्श के प्रति प्रबल श्रद्धा की भावना थी। इस आदर्श के गौरव-बोध ने हमारे कुटुम्ब की आंतरिक प्रकृति और बाह्य व्यवहार दोनों को कई तरह से प्रभावित किया। उन दोनों प्रचलित आनुष्ठानिक हिन्दूधर्म के प्रति जिन लोगों की आस्था विचलित होती थी उनका झुकाव या तो अठारहवीं शताब्दी के योरोपीय नास्तिकवाद की ओर होता था या ईसाई धर्म की ओर। लेकिन यह बात सर्वविदित है कि उस समय हमारे परिवार में भारतवर्ष के ही श्रेष्ठ आदर्श का अनुसरण करते हुए भारतीय धर्म का परिशोधन करने के लिए उत्साह जागृत था।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस उत्साह ने बाल्यकाल में मेरे मन को एक विशेष भाव की दीक्षा दी थी। वह भाव यह था कि जीवन की जो महानतम देन है उसका पूर्ण विकास हमारी आंतरिक प्रकृति में ही होता है। हमारी स्वभाव-सीमा के बाहर भी श्रेष्ठ वस्तुओं का अभाव नहीं है। बहुत-से लोभनीय पदार्थ हैं। लेकिन उन सबको हम ग्रहण नहीं कर पाते जब तक हमारी प्रकृति उन्हें आत्मसात् नहीं कर लेती। जब हम बाहर की किसी चीज़ से मुग्ध हो जाते हैं तो हमारा मन अनुकरण की मरीचिका खड़ी करके उस चीज़ को अपनाने के लिए व्यग्र होता है। यह अनुकरण बहुधा आत्यंतिक सीमा तक पहुँच जाता है। उसमें ऊपरी चमक-दमक अधिक होती है, आवाज़ ऊँची होती है, आत्मश्लाघा उग्र होती है। हम ज़बरदस्ती अपने-आपको समझाने का प्रयत्न करते हैं कि वह चीज़ वास्तव में हमारी ही है। फिर भी चारों ओर से उसकी क्षणभंगुरता और उसका आत्म-विरोध प्रकाशित होता है। बाहर की वस्तु को जब हम आत्मसात् करते हैं तब उसका भाव सुरक्षित रहते हुए भी हमारे मन में अपने ढंग से उसका प्रकाश होता है। जब तक वह चीज़ हमारे साथ बाहर से जुड़ी हुई रहती है, हमारे अन्दर घुल-मिल नहीं जाती, तब तक वह मोटे कलम से अंकित किये हुए अक्षरों की तरह होती है। मूल से उसका आकार बड़ा होता है पर मूल के साथ वह लिपटी हुई होती है। ऐसे अक्षर स्वतन्त्र रूप से लेखक के अपने वाक्यों में उसके अपने विचार व्यक्त नहीं कर पाते। हमारी राष्ट्रीय चेष्टाओं में जो कुछ हमें बाहर से मिला, स्कूल की पाठ्यपुस्तकों से मिला, वह हमारे प्राण में विलीन नहीं हुआ। इसीलिए हम उसकी बाह्य आकृति को बड़े आडम्बर के साथ सजाते हैं, बड़े परिश्रम से उसकी प्रत्येक रेखा प्रतिलिपित करते हैं। और जब आकृति से आकृति मिल जाती है तो हम समझते हैं कि हमें जो कुछ प्राप्त करना था, प्राप्त

कर चुके, जो कुछ करना था, कर चुके।

राष्ट्रीय समस्याओं की चर्चा मैंने सबसे पहले 'साधना' पत्रिका में आरम्भ की थी, और उसमें मैंने इसी बात पर ज़ोर दिया था। उन दिनों आँखें लाल करके भीख माँगना और भर्राई हुई आवाज़ से गवर्नमेंट को डराना-धमकाना, इसीको पराक्रम समझा जाता था। हमारे देश में राजनैतिक अध्यवसाय की भूमिका कितनी अवास्तविक थी, इसकी कल्पना करना आज की तरुण पीढ़ी के लिए सम्भव नहीं है। उन दिनों पालिटिक्स का आकर्षण ऊपरी श्रेणी के लोगों तक ही था। जनता से उसका सम्पर्क नहीं था। इसीलिए प्रादेशिक राष्ट्र-सम्मेलनों में या ग्रामीण-मंडलियों की सभाओं में अँग्रेज़ी में भाषण देना एक आम बात थी। कोई उसे असंगत नहीं समझता था। नाटोर के स्वर्गीय महाराजा जगदेन्द्रनाथ के साथ मैंने एक षड्यन्त्र रचा, और सभा में बँगला भाषा का प्रवर्त्तन करने की चेष्टा की। उस पर उमेशचन्द्र बंद्योपाध्याय महाशय और अन्य राष्ट्रीय नेता मुझ पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने मेरा उपहास किया। उपहास और बाधाएँ जीवन के सभी कार्यों में मुझे यथेष्ट मात्रा में प्राप्त हुई हैं। इस क्षेत्र में भी वैसा ही हुआ। एक वर्ष बाद ढाका कॉफ़रेन्स में भी मुझे अपना प्रयत्न जारी रखना पड़ा, यद्यपि मैं उस समय अस्वस्थ था। मेरे विचित्र उत्साह को देखकर इस तरह की कानाफूसी भी की गई कि अँग्रेज़ी भाषा पर प्रभुत्व न होने के कारण ही राष्ट्रसभा में बंगला को प्रचलित कराने के लिए मैं उद्यत था। किसी बंगाली लड़के के लिए जो सबसे लज्जास्पद गाली हो सकती है उसका प्रयोग मुझ पर किया गया, अर्थात् 'यह अँग्रेज़ी नहीं जानता।' इस दुःसह लांछन को मैंने चुपचाप झेला। इसका एक कारण यह था कि बाल्यकाल से अँग्रेज़ी शिक्षा की मैंने वास्तव में अवहेलना की है। दूसरा कारण यह था कि उन दिनों भी हमारे परिवार में—जिस पर मेरे पितृदेव का शासन था—आपसी पत्र-व्यवहार या अन्य कार्यों के लिए अँग्रेज़ी भाषा का प्रयोग अपमानजनक समझा जाता था।

इसी बीच लॉर्ड कर्जन के आदेश से दिल्ली-दरबार का आयोजन किया गया। मैंने इसका तीव्र भाषा में विरोध किया यद्यपि इससे मुझे सरकार का क्रोध सहना पड़ा। मेरे उस निबन्ध को यदि आजकल के पाठक पढ़ें तो वह देखेंगे कि अँग्रेज़ों के साथ भारतीयों के राष्ट्रीय सम्बन्ध में वेदना और अपमान का पक्ष कौन-सा है, यह बात मेरे उस लेख में स्पष्ट हुई है। उस लेख में मैं जो बात कहना चाहता था वह यह है—दरबार एक प्राच्य वस्तु है। जब पाश्चात्य अधिकारी उसका उपयोग करते हैं तो उसका खोखलापन ही सामने आता है; उसकी पूर्णता नहीं। इस प्राच्य समारम्भ में 'प्राच्यता' कहाँ है? प्राच्यता इसमें है कि दो

पक्षों के बीच आत्मिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। तलवार के ज़ोर से जो सम्बन्ध जुड़ता है वह तो विरोध का सम्बन्ध होता है। लेकिन सौजन्य द्वारा प्रस्थापित सम्बन्ध दोनों पक्षों को निकट लाता है। दरबार में सम्राट् को अपना औदार्य व्यक्त करने का अवसर मिलता था। उस दिन सम्राट् के महल का द्वार खुला रहता था और उसके दान की कोई सीमा न होती थी। पाश्चात्य नकली दरवार में कृपणता है, वहाँ जन-साधारण का स्थान बहुत ही संकीर्ण है। पहरे-दारों के हथियार 'राजपुरुषों' की संशय-वृत्ति जताते हैं और दरबार में जो व्यय होता है उसका भार अतिथियों को ही वहन करना पड़ता है। नतमस्तक होकर राजा का प्रताप स्वीकार करना—यही है इस दरबार का एक-मात्र तात्पर्य। इस उत्सव-समारोह में दोनों पक्षों के सम्बन्धों में जो अपमान-भावना निहित है वही व्यक्त होती है, और तड़क-भड़क से व्यक्त होती है। ऐसे कृत्रिम, हृदयहीन आडम्बर से प्राच्य हृदय को आक्रान्त किया जा सकता है इस विचार से ही धृष्टता टपकती है और शासकों की प्रजा के प्रति अपमानजनक भावना स्पष्ट होती है। भारत में अँग्रेज़ों का प्रभुत्व प्रत्येक स्थान पर व्याप्त है—विधान में, सभागृह में, शासनप्रणाली में। लेकिन इस प्रभुत्व को उत्सव का रूप देकर उसे और भी तीव्र बनाने का आखिर क्या प्रयोजन है ?"

इस तरह के कृत्रिम उत्सव से घोषित होता है कि भारतवर्ष में अँग्रेज़ मज़बूती से जम गए हैं; लेकिन उनके साथ हमारा सम्बन्ध यान्त्रिक है, मानवीय नहीं। इस देश के साथ उनका नाता लाभ का है, व्यवहार का है, हृदय का नाता नहीं है। कर्तव्य के जाल से देश आवृत्त है। इस कर्तव्य की निपुणता और उपयोगिता स्वीकार की जा सकती है। फिर भी हमारी मानवीय प्रकृति तो स्वभावतः इस प्राणहीन शासन-तन्त्र से पीड़ित होती है।

इस वेदना को मन में लेकर मैंने अपने लेखों में विशेष रूप से कहा है—और बार-बार कहा है—कि भारतवासी यदि आजीवन एक प्रबल शक्तिशाली यन्त्र का हाथ पकड़कर चलने के अभ्यस्त हो जायँ तो इससे बढ़कर देश की दूसरी दुर्गति नहीं, चाहे इससे कितनी ही सुविधा क्यों न प्राप्त हो। आज किसी भी तरह के अभाव-निवारण का हमारे हाथ में एक ही उपाय है, और वह है 'सरकार बहादुर' नाम की एक अमानविक शक्ति—यह धारणा यदि हमारे मन में बद्ध-मूल हो जाय तब तो सचमुच ही हम अपने देश को खो देंगे। आज हमारा देश वास्तव में अपना नहीं है। इसका मुख्य कारण यह नहीं कि वह विदेशी शासन के अधीन है। मुख्य कारण यह है कि देश में हमने दैव कर्म से जन्म तो लिया है, लेकिन उसे त्याग द्वारा, सेवा, तपस्या और ज्ञान द्वारा पूरी तरह अपनाया नहीं

है, उसके ऊपर अधिकार प्राप्त नहीं किया है। अपनी बुद्धि, प्राण और प्रेम देकर जिसकी हम रचना करते हैं उसीके ऊपर हमारा अधिकार होता है। उस पर यदि अन्याय हो तो हम उसे कदापि सह नहीं सकते, चाहे हमारे प्राण ही क्यों न निकल जायँ। कुछ लोग कहते हैं, हमारा देश पराधीन है इसीलिए देश-सेवा के सम्बन्ध में लोग उदासीन हैं। यह बात सुनने के भी योग्य नहीं है। सच्चा प्रेम आत्म-त्याग के लिए उद्यत होता है, चाहे परिस्थिति अनुकूल हो या प्रतिकूल। बाधाओं से उसका उद्यम बढ़ता है, घटता नहीं। हमने कांग्रेस की स्थापना की है, तीव्र भाषा में अपने हृदय का आवेग व्यक्त किया है। लेकिन जिन अभावों के प्रहार से हमारा शरीर रोग से जीर्ण और उपवास से क्लान्त हो उठा है, जिनसे हम अकर्मण्य हो गए हैं, जिनसे हमारा चित्त अन्ध-संस्कार के भाव से आक्रान्त है और समाज शत-शत खंडों में विभाजित है, उन अभावों को दूर करने के लिए हमने बुद्धि द्वारा, विद्या द्वारा और सामूहिक चेष्टा द्वारा कोई प्रयत्न नहीं किया। केवल यही बात कहकर हम दूसरों को और अपने-आपको भुलावा देते हैं कि जिस दिन स्वराज मिलेगा उसके दूसरे दिन से सब-कुछ अपने-आप ठीक हो जायगा। इस तरह कर्तव्य को दूर रखना और अकर्मण्यता के लिए बेकार बहाने प्रस्तुत करना दुर्बल, उत्साहहीन और निरुद्यम चित्त के लिए ही सम्भव है।

हमारे देश को हमसे सम्पूर्ण रूप से कोई भी नहीं छीन सकता, और न कोई उसे बाहर से वापस लाकर दयावश हमारे हाथ में रख सकता है। जिस मात्रा में हम अपना स्वाभाविक अधिकार खो बैठे हैं उसी मात्रा में अन्य लोगों ने देश पर अधिकार जमाया है। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने एक दिन 'स्वदेशी समाज' शीर्षक एक भाषण दिया था। उस भाषण के मूलगत विचारों को फिर एक बार संक्षेप में प्रस्तुत करना मैं आवश्यक समझता हूँ।

भारत और चीन में समाज-व्यवस्था सर्वदा प्रबल रही है, और राजकीय व्यवस्था उसके अधीन रही है। समाज की सम्मिलित शक्ति से ही देश यथार्थ रूप से आत्मरक्षा कर सका है। समाज ने ही विद्या का प्रबन्ध किया है, प्यासों को पानी और भूखों को अन्न दिया है, धार्मिक लोगों को मन्दिर दिए हैं। अपराधियों को दण्ड समाज से ही मिला है; और श्रद्धेय लोगों को श्रद्धा मिली है, वह भी समाज से। समाज-व्यवस्था ने ही गाँव-गाँव में देश के चरित्र की रक्षा की है और उसकी सम्पदा को बनाये रखा है। कितने राज्य-साम्राज्य आए और गए, स्वदेशी राजाओं में अधिकार के लिए कितने झगड़े चलते रहे, विदेशी राजाओं ने सिंहासन को खींचने के प्रयत्न किए, लूट-मार और अत्याचार भी कुछ कम नहीं हुए; पर इन सबके बीच देश की आत्म-रक्षा होती रही। अपना काम

उसने आप ही किया। अन्न-वस्त्र, धर्म-कर्म सभी कुछ उसके अपने हाथ में था। इस तरह देश अपने ही लोगों का था। राजा देश ही का एक अंश था, उसका स्थान वही था जो मस्तक पर मुकुट का होता है। राज्य-प्रधान व्यवस्था में राजनीति के अन्दर ही देश का मर्म-स्थान एक विशेष रूप से आबद्ध हो जाता है, लेकिन समाज-प्रधान व्यवस्था में देश का प्राण सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है। राज्य-प्रधान व्यवस्था में राजनैतिक पतन से देश का अधःपतन हो जाता है और अन्त में उसका नाश हो जाता है, जैसे ग्रीस और रोम का हुआ। लेकिन चीन और भारत-जैसे देशों की राजकीय परिवर्तनों के बीच दीर्घकाल तक रक्षा हुई है, क्योंकि इन देशों की आत्मा सर्वव्यापी समाज में प्रसारित होती रही।

पाश्चात्य राजा के शासन से भारत को जो आघात पहुँचा है वह इसी दिशा में पहुँचा है। गाँव-गाँव में उसका जो सामाजिक स्वराज व्याप्त था उस पर राज्य-शासन ने अधिकार कर लिया। जब यह अधिकार परिपक्व हुआ तब से गाँव-गाँव में तालाब का पानी सूख गया। पुराने मन्दिर की अतिथिशालाएँ खाली पड़ी रहीं और उसमें पीपल के पेड़ जम गए। झूठे मुकदमों के जाल से लोगों को बचाने वाला कोई नहीं रहा। रोग, दैन्य, कष्ट, अज्ञान और अधर्म—सारे रसातल की ओर ले गए।

सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि देश यदि कुछ माँगता है तो देशवासियों की ओर से कोई प्रतिक्रिया ही नहीं होती। जल-दान, विद्या-दान—प्रत्येक वस्तु के लिए सरकार बहादुर का मुँह ताकना पड़ता है। इसी दिशा में देश की गम्भीर क्षति हुई है। देश का लोगों के साथ यथार्थ सम्बन्ध सेवा के सूत्र से होता है, और इसी सम्बन्ध में हमारे यहाँ मर्मान्तिक विच्छेद घटा है। 'पहले स्वराज प्राप्त करना है, उसके बाद यह स्वाभाविक सम्बन्ध कार्यान्वित होगा'—यह तो वैसी ही बात हुई कि 'पहले धन-लाभ होगा, फिर बेटा माँ को स्वीकार करेगा।' स्वाभाविक सम्बन्ध तो दारिद्रय में भी बना रहना चाहिए। वास्तव में दारिद्रय की अवस्था में स्वाभाविक सम्बन्ध का दायित्व बढ़ जाता है, कम नहीं होता। इसलिए मैंने 'स्वदेशी समाज' निबन्ध में कहा था कि अँग्रेज़ हमारा राजा है या और कोई हमारा राजा है, इस बात को लेकर व्यर्थ बहस में समय नष्ट नहीं करना चाहिए। सबसे पहले यह प्रयत्न करना होगा कि त्याग और सेवा द्वारा हम अपने देश पर सत्य रूप से अधिकार प्राप्त कर लें। देश की समस्त बुद्धि-शक्ति और कर्म-शक्ति को संगठित करके उसका देश-भर में विस्तार कैसे किया जा सकता है, इस आदर्श की व्याख्या मैंने उस निबन्ध में की थी। सारे देशवासियों का सम्पूर्ण आदर्श 'खद्दरधारियों का देश' है, यह बात मैं किसी हालत में नहीं

मान सकता। जब देश की आत्मा सजग थी तब उसने केवल अपने करघों पर बुना हुआ कपड़ा पहना हो, ऐसी बात नहीं है। उस समय समाज की शक्ति विविध सृष्टि-क्रियाओं से अपने-आपको सार्थक करती थी। आज शक्ति में जो दैन्य आ गया है वह समग्र रूप से आया है, केवल चरखे पर सूत कातने की शक्ति ही कम नहीं हुई है।

आज अपने देश में हमने चरखे का चिह्न बनाया हुआ झण्डा फहराया है। यह संकीर्ण जड़शक्ति का झण्डा है, अविकसित यन्त्रशक्ति का झण्डा है, व्यवसाय की दुर्बलता का झण्डा है। इसमें चित्तशक्ति का आह्वान कहीं नहीं है। समस्त देश को मुक्ति-पथ पर चलने का आमंत्रण किसी बाह्य प्रक्रिया की विवेकहीन पुनरावृत्ति करने का आमन्त्रण नहीं हो सकता। उसके लिए आवश्यक है पूर्ण मनुष्यत्व का उद्‌बोधन। यह उद्‌बोधन क्या चरखा चलाने से होगा? चिन्ताहीन, मूढ़, बाह्य अनुष्ठान को पारलौकिक सिद्धिलाभ का उपाय मानकर ही क्या हमने आज तक अपने मन और कर्म को जड़त्व के वेष्टन में बन्द नहीं किया है? क्या यही देश की सबसे बड़ी दुर्गति का कारण नहीं रहा है? आज क्या आकाश में झण्डा उड़ाकर हम यह कहेंगे: 'हम बुद्धि नहीं चाहते, विद्या नहीं चाहते, हमें प्रीति, पौरुष, आन्तरिक मुक्ति की आवश्यकता नहीं; हमारी सबसे बड़ी ज़रूरत यही है कि आँखें बन्द करके, मन को अवरुद्ध करके, हाथ घुमाते रहें—कई हज़ार वर्ष पहले जिस तरह घुमाये जाते थे ठीक उसी तरह?' क्या स्वराज-साधना की यात्रा का यही राज-पथ है? इस तरह की बात कहना क्या मनुष्य का अपमान नहीं है?

वास्तव में यदि सारे देश की बुद्धि-शक्ति और कर्म-शक्ति समग्र रूप से प्रयत्नशील हो तो विदेशी कपड़ा खरीदकर पहनने से स्वराज को आघात नहीं पहुँचता। वृक्ष की जड़ों में विलायती खाद देने से वृक्ष विलायती नहीं हो जाता। जब तक मिट्टी स्वदेशी है और उस मिट्टी के मुख्य गुण सुरक्षित हैं तब तक चिन्ता की कोई बात नहीं। दुनिया में ऐसा कोई स्वाधीन देश नहीं है जहाँ दूसरे देशों से आई हुई चीज़ों का उपयोग न किया जाता हो। लेकिन जो यथार्थ में स्वाधीन देश है वह अपनी शक्ति को भी विविध प्रयत्नों से सार्थक करता रहता है—एकांगी रूप से नहीं, केवल वणिक् की तरह माल तैयार करके नहीं, बल्कि विद्यार्जन से, बौद्धिक आलोचना से, लोक-हित से, शिल्प और साहित्य के सृजन से, मनुष्यत्व के पूर्ण विकास से। इन दिशाओं में यदि हमारा देश पीछे रहा तो अपने दोनों हाथों को जड़ मशीनों में परिणत करके हम चाहे जितना सूत कातें और कपड़ा बुनें, हमारी लज्जा का अन्त नहीं होगा और हमें स्वराज्य नहीं मिलेगा।

मैंने शुरू से ही बार-बार कहा है कि जिन कामों को हम अपने-आप कर सकते हैं उन सबको अलग छोड़कर केवल दूसरों पर अभियोग लगाना और सदा-सर्वदा कर्महीन उत्तेजना में दिन बिताना, इसे मैं राष्ट्रीय कर्तव्य नहीं समझता। अपने पक्ष की त्रुटियों को हम बिलकुल भूल गए हैं, तभी दूसरे पक्ष की हम इतनी तीव्र आलोचना करते रहते हैं। इससे हमारी शक्ति का ह्रास होता है।

स्वराज्य प्राप्त करने से पहले हमें इस बात का प्रमाण देना होगा कि स्वराज्य के कर्तव्यों का हम निर्वाह कर सकेंगे। इस प्रमाण का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। देश-सेवा द्वारा स्वदेश-प्रेम व्यक्त करने के लिए बाह्य अवस्थान्तर की आवश्यकता नहीं, केवल आन्तरिक सत्य की आवश्यकता है। आज यदि हम देखते हैं कि स्वदेश-प्रेम के व्यक्तीकरण में आलस्य और औदासीन्य है, तो बाहरी लोगों के अनुग्रह से, बाह्य स्वराज्य प्राप्त करने से हमारे अन्तःकरण की यह जड़ता दूर नहीं हो सकेगी। पहले बाहर की बाधाओं से छुटकारा मिलेगा, उसके बाद हमारा देश-प्रेम आन्तरिक बाधाओं को पार करके परिपूर्ण शक्ति से देश-सेवा में नियुक्त होगा, इस तरह की आत्म-विडम्बनाजनक बातें हमें नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति कहता है 'पहले फाउण्टेन-पेन मिले तब महाकाव्य लिखने बैठूँ', उसका लोभ निश्चय ही फाउण्टेन-पेन के प्रति है, महाकाव्य के प्रति नहीं। जो देशाभिमानी यह कहता है कि 'पहले स्वराज्य मिल जाय तब देश का कार्य करूँगा', उसका लोभ झण्डा फहराने के लिए है, रंगीन वर्दी के लिए है। मैं एक आर्टिस्ट महोदय को जानता हूँ जो बहुत दिनों से कहते चले आ रहे थे : 'जब तक बाकायदा स्टूडियो नहीं मिलता मैं अपने हाथ का कौशल नहीं दिखा सकता।' उनका स्टूडियो तो तैयार हो गया लेकिन हाथ का कौशल अभी तक नहीं दिखाई पड़ा। जब तक स्टूडियो नहीं था भाग्य को कोसने का और दूसरे लोगों को कृपण कहकर उन्हें दोष देने का बड़ा अच्छा मौका आर्टिस्ट महोदय के पास था। स्टूडियो मिला तो यह मौका भी गया और उनका मुँह बन्द हो गया। 'स्वराज्य पहले आयगा, देश की साधना बाद में होगी', यह बात भी उतनी ही असत्य है और इस तरह का स्वराज्य भित्ति-हीन है।

[शचीन्द्रनाथ सेन की रचना 'दि पालिटिकल फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ' की समीक्षा। 'प्रवासी' (अग्रहायण १३३६ बं०सं०,) नवम्बर १९२९ में प्रकाशित।]

रूस के पत्र

(उपसंहार)

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सोवियत शासन के प्रथम परिचय से ही मेरा मन वहुत आकर्षित हुआ। इसके कुछ विशेष कारण हैं जो विचारणीय हैं। वहाँ का जो चित्र मेरे मन में है उसके पीछे भारतवर्ष की दुर्गति की काली पट-भूमिका है। इस दुर्गति का मूल जिस इतिहास में है उसमें से एक तत्त्व निकलता है, और उस तत्त्व पर विचार करने से मेरे मन का भाव स्पष्ट होगा।

भारत में मुसलमान-शासन का जो विस्तार हुआ उसके पीछे राज-महिमा की आकांक्षा थी। उन दिनों राज्य पर अधिकार जमाने के लिए लगातार जो संघर्ष होता रहता था उसका मूल कारण इसी इच्छा में था। ग्रीस के सिकन्दर ने धूमकेतु की ज्वलन्त शिखा की तरह अपनी सेना लेकर विदेशों को पादाक्रांत किया। इसमें भी उसका उद्देश्य अपने प्रताप का प्रदर्शन ही था। रोमन लोगों में भी यही प्रवृत्ति थी। लेकिन फिनीशियावासी दूर-दूर के समुद्र-तट पर केवल वाणिज्य के लिए गए; राज्य के लिए उन्होंने संघर्ष नहीं किया।

जिस दिन योरोप से वणिकों की नौका पूर्व महादेश के समुद्र-तट पर पहुँची तब से पृथ्वी पर मानवीय इतिहास का एक नया पर्व शुरू हुआ। क्षत्रिय-युग का अन्त होकर वैश्य-युग आरम्भ हुआ। इस युग में व्यापारियों के दल विदेशों में गये और बाजार के दरवाज़े से प्रवेश करके अपना राज्य स्थापित करने लगे। उनका प्रधान लक्ष्य मुनाफ़ा था, वीरता द्वारा सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा उनमें नहीं थी। मुनाफ़े के लिए तरह-तरह के कुटिल मार्गों का अवलम्बन करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ, क्योंकि वे सफलता चाहते थे, कीर्ति नहीं।

उस समय भारत अपने विपुल ऐश्वर्य के लिए दुनिया-भर में प्रसिद्ध था। तत्कालीन विदेशी इतिहास-लेखकों ने इस बात का बार-बार उल्लेख किया है। यहाँ तक कि स्वयं क्लाइव के शब्द हैं: 'भारतवर्य के ऐश्वर्य पर जब मेरी दृष्टि जाती है तो अपने अपहरण-नैपुण्य के संयम पर मुझे आश्चर्य होता है।' ऐसा विपुल धन सहज ही प्राप्त नहीं होता, लेकिन भारत इस धन को उत्पन्न कर सका था। विदेश से आकर जिन लोगों ने भारत पर राज्य किया, उन्होंने इस धन का उपयोग किया, उसे नष्ट नहीं किया। वे भोगी थे, वणिक् नहीं थे।

उसके बाद वाणिज्य का पथ सुगम करने के लिए विदेशी वणिकों ने व्यवसाय की गद्दी के ऊपर राजसिंहासन स्थापित किया। समय अनुकूल था। मुगलों का राज्य टूट रहा था, सिख और मरहठे इस साम्राज्य की ग्रंथियाँ शिथिल करने में लगे थे। अँग्रेज़ों के हाथों से वे छिन्न-भिन्न हो गए और उनका विनाश हुआ।

इसके पहले जब लोग राज-गौरव की लालसा से इस देश में राज करते थे उस समय यहाँ अत्याचार, अविचार या अव्यवस्था नहीं थी, यह कोई नहीं कहेगा। लेकिन वे शासक इस देश के अंग बन गए थे। उनसे देश को जो चोट पहुँची वह त्वचा तक ही सीमित थी,—रक्तपात बहुत हुआ, लेकिन देश के अस्थि-बन्धन नहीं टूटे। धन-उत्पादन का कार्य अव्याहत चलता रहा, नवाबों-बादशाहों से उसे प्रश्रय भी मिला। यदि ऐसा न होता तो यहाँ विदेशी सौदागरों की भीड़ लगने का कोई कारण ही न होता; मरुभूमि में टिड्डी दल क्यों आने लगा?

भारत में वाणिज्य और साम्राज्य के अशुभ संगमकाल में वणिक्-शासकों ने देश के धनकल्पतरु की जड़ें काटना आरम्भ किया। इस इतिहास को सैकड़ों बार दोहराया जा चुका है और वह अत्यन्त कटु है, लेकिन यह बात पुरानी है, केवल इसीलिए उस पर विस्मृति का पर्दा डालने से काम नहीं चलेगा। हमारे वर्तमान दारिद्र्य की उपक्रमणिका उसी इतिहास में है। भारत में जो विपुल धन था वह किस तरह द्वीपान्तरित हुआ है, यह यदि हम भूल जायँ तो आधुनिक इतिहास का एक प्रमुख तत्त्व हम समझ नहीं सकेंगे। आधुनिक राजनीति की प्रेरणा-शक्ति वीर्याभिमान नहीं, धन का लोभ है—यह तत्त्व हमें ध्यान में रखना ही होगा। राजगौरव के साथ प्रजा का एक मानवीय सम्बन्ध होता है; धन-लोभ के साथ वैसा सम्बन्ध रहना असम्भव है। धन निर्मम और निर्वैयक्तिक होता है। जो मुर्गी सोने के अण्डे देती है उसके अण्डे ही नहीं छीने जाते, लोभी मनुष्य उसकी जान ही ले लेता है।

वणिक् शासकों के लोभ ने भारत की वैचित्र्यपूर्ण धनोत्पादन-शक्ति को पंगु बना दिया है। केवल खेती बाकी रह गई है; वह भी इसलिए कि कच्चे माल की अव्याहत धारा कहीं बन्द न हो और विदेशी बाज़ारों में हमारे शासकों की शक्ति कहीं कम न हो जाय। भारत की पतनशील जीविका आज खेती की अति क्षीण डाल पर किसी तरह सँभली हुई है।

यह स्वीकार करना होगा की पुराने ज़माने में जिस निपुणता से और जिन उपायों के योग से, हस्तकलाएँ चलती थीं और शिल्पी रोज़ी कमाते थे, उनका विनाश यन्त्रों की प्रतियोगिता से अपने-आप हो गया है। प्रजा को बचाने के लिए

यह नितान्त आवश्यक था कि लोगों को यंत्र-कुशल बनाने का प्रयत्न किया जाता। वर्तमान युग में ऐसा प्रयत्न सभी देशों में किया गया है। जापान ने अल्पकाल में ही यन्त्रों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है; वह ऐसा न करता तो यन्त्रवान् योरोप के षड्यन्त्र से उसके धन और प्राण दोनों का ही नाश होता। हमारे भाग्य में यन्त्र-कुशल बनने का सुयोग नहीं था, क्योंकि लोभ ईर्ष्यालु होता है। प्रकाण्ड लोभ के कारण शासकों ने हमारा धन-प्राण लूटा और हमें इन शब्दों से सान्त्वना दी : 'अभी तक तुम्हारे पास जो धन-प्राण बाक़ी है, उसकी रक्षा के लिए क़ानून और चौकीदार की व्यवस्था करने का भार हम लेते हैं।' अपना अन्न-वस्त्र, विद्या-बुद्धि सब गिरवी रखकर हम बड़ी मुश्किल से चौकीदार की वर्दी का ख़र्च चुकाते हैं। हमारे प्रति यह जो सांघातिक औदासीन्य है उसका मूल कारण लोभ ही है। जहाँ ज्ञान और कर्म के क्षेत्रों में शक्ति का पीठस्थान है, वहाँ से बहुत नीचे के स्तर पर खड़े होकर हम इतने दिनों तक ऊपर ताकते रहे है, और ऊपर वालों की यह आश्वासवाणी सुनते आए हैं : 'यदि तुम्हारी शक्ति का क्षय हो तो इसमें डरने की क्या बात है? हमारे पास शक्ति है, हम तुम्हारी रक्षा करेंगे।'

जिसके साथ लोभ का सम्बन्ध होता है उससे मनुष्य अपनी ज़रूरतें पूरी करता है, लेकिन उसका सम्मान कभी नहीं करता और जिसका सम्मान नहीं करता उसके अधिकारों को मनुष्य यथासम्भव कम कर देता है। अन्त में दूसरे का जीवन इतना सस्ता हो जाता है कि उसके आत्यन्तिक अभाव को पूरा करना भी अखरने लगता है। हमारी प्राण-रक्षा और लज्जा-रक्षा के लिए कितना कम रुपया निर्धारित किया गया है, यह तो सब जानते हैं। हमारे पास अन्न नहीं, विद्या नहीं, पीने का पानी कीचड़ छानकर मिलता है; लेकिन चौकीदारों का अभाव नहीं। मोटी तनख्वाह वाले अफ़सर भी हैं; उनका वेतन, 'गल्फ स्ट्रीम' की तरह सीधे ब्रिटेन के शीत-निवारण के लिए चला जाता है, उनकी पेंशन का धन हम उपस्थित करते हैं अपने अन्त्येष्टि संस्कार के खर्च में बचत करके। इसका एकमात्र कारण यही है कि लोभ अन्धा होता है, निष्ठुर होता है; और भारतवर्ष भारतेश्वर के लोभ की सामग्री है।

फिर भी, कठिन वेदना की अवस्था में भी, मैंने इस बात को कभी अस्वीकार नहीं किया कि अँग्रेज़ों के स्वभाव में औदार्य है। विदेशी शासन कार्य में अन्य योरोपीयों के व्यवहार में और अधिक कृपणता और निष्ठुरता है। अँग्रेजों और उनकी शासन-नीति के बारे में हमने अपने मुँह से या आचरण से जितना विरोध व्यक्त किया है उतना विरोध अन्य किसी शासनकर्ता का हम न कर पाते। उसकी

दण्डनीति और भी अधिक दुःसह होती; योरोप और अमेरिका में इसके यथेष्ट प्रमाण हैं। खुलेआम विद्रोह घोषित करते हुए भी हम शासकों के दमन पर विस्मय प्रकट करते हैं, इसीसे सिद्ध होता है कि इंग्लैंड के प्रति हमारी जो गूढ़ श्रद्धा है वह मार खाते-खाते भी मरना नहीं चाहती। अपने स्वदेशी राजाओं-ज़मींदारों से हमारी प्रत्याशा अपेक्षाकृत कम है।

जब मैं इंग्लैंड में था मैंने अच्छी तरह देखा कि भारतवर्ष के दण्ड-विधान से सम्बन्धित ग्लानिजनक घटनाओं की वार्ताएँ वहाँ के अखबारों में नहीं छपतीं। इसका कारण यही है कि अँग्रेज़ नहीं चाहते कि ऐसे समाचार पढ़कर योरोप-अमेरिका के लोग उनकी निन्दा करें। वस्तुतः अँग्रेज़ शासनकर्ता स्वदेश की शुभबुद्धि से भी डरता है। 'हमने जो कुछ किया ठीक ही किया,' 'बहुत अच्छा किया', 'दमन करना ज़रूरी हो गया था'—इत्यादि बातें आत्मविश्वास के साथ अँग्रेज़ों के सामने कहना इन शासकों के लिए आसान नहीं है, क्योंकि उनमें भी विशाल मन के लोग हैं। भारत के बारे में वास्तविक घटनाएँ अँग्रेज़ बहुत कम जानते हैं। जिन कामों के लिए शासकों को पछताना पड़ता है, वे काम ब्रिटिश जनता के सामने नहीं आते। यह बात भी सच है जिन्होंने भारत का नमक दीर्घकाल तक खाया है उनका अँग्रेज़ी कलेजा और हृदय कलुषित हो जाता है, और हमारे भाग्य-क्रम से उन्हींको भारत के बारे में 'अथॉरिटी' माना जाता है।

भारत की वर्तमान क्रान्ति में लोगों को जो दण्ड दिया गया है उसके विषय में अधिकारियों ने कहा है कि 'न्यूनतम मात्रा में दमन किया गया है।' इस बात को मानने की हमारी इच्छा नहीं होती; लेकिन अतीत और वर्तमानकाल की शासन-नीति से तुलना करने पर उनके दावे को अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता। हम पर मार पड़ी है, अन्यायपूर्वक मार पड़ी है। इससे भी बड़ा कलंक यह है कि गुप्त रूप से हमें पीटा गया है। यह भी कहूँगा, बहुत-से स्थानों पर जिन्होंने मार खाई है उन्हींको माहात्म्य मिला है, और मारने वालों की मानहानि हुई है। फिर भी प्रचलित शासन-नीति को देखते हुए दमन की मात्रा 'न्यूनतम' ही है। हमारे और अँग्रेज़ों के बीच कोई आत्मीयता का आकर्षण तो है ही नहीं। सारे भारत को जलियाँवाला बाग़ बना देना उनके लिए असम्भव नहीं था—बाहु-बल की कमी नहीं थी। अमेरिका में यदि सारी नीग्रो जाति संयुक्त राज्य से अलग होने का प्रयत्न करती तो वहाँ कैसा वीभत्स रक्तपात होता इसका अनुमान लगाने के लिए अधिक कल्पना-शक्ति की आवश्यकता नहीं है और इटली प्रभृति देशों में जो हुआ है उसकी तो बात ही अलग है।

लेकिन इससे मुझे सांत्वना नहीं मिलती। जो लाठी से मारता है वह कुछ समय

बाद थक जाता है; उसका लज्जित होना भी असम्भव नहीं। लेकिन आन्तरिक रूप से जब मारा जाता है तब परिस्थिति अलग होती है। कुछ लोगों के सिर फोड़कर फिर क्लब की 'ब्रिज पार्टी' में अन्तर्धान हो जाना, इसीसे बात समाप्त नहीं हो जाती। सारे देश को अन्दर-ही-अन्दर बर्बाद किया जाता है, उसका सर्वनाश होता है; शताब्दियों तक इस क्रिया को विराम नहीं मिलता। क्रोध की मार कहीं जाकर रुकती है, लोभ की मार का अन्त नहीं मिलता।

'टाइम्स' के साहित्यिक क्रोड़पत्र में मॅके-नामक एक लेखक महोदय कहते हैं कि भारत के दारिद्रय का मूल कारण—root cause—निर्विचार विवाह और उसके फलस्वरूप अति प्रजनन ही है। मतलब यह हुआ कि बाहर से जो शोषण चल रहा है वह दुःसह न होता यदि थोड़े-से लोग थोड़ा-सा अन्न लेकर अपनी हँडिया पकाते। इंग्लैंड में सन् १८७१ से सन् १९२१ तक आबादी में ६६ प्रतिशत वृद्धि हुई है। भारत में पिछले पचास वर्षों में ३३ प्रतिशन प्रजा-वृद्धि हुई है। एक ही-जैसी परिस्थिति के अलग-अलग परिणाम क्यों? हम देख सकते हैं कि root cause प्रजावृद्धि नहीं, बल्कि अन्न-व्यवस्था का अभाव है और इस अभाव का root कहाँ है?

शासकों और शासितों का भाग्य यदि एक-जैसा होता तो अन्न के अभाव की हम शिकायत न करते; विपुलता हो या दुर्भिक्ष, दोनों के हिस्से बराबर होते। लेकिन जहाँ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के बीच महासमुद्र का और महा-लोभ का व्यवधान है वहाँ विद्या-स्वास्थ्य-सम्मान की सम्पदा अमावस्या के प्रति कृपणता दिखाती है, फिर भी निशीथ रात्रि के चौकीदार के हाथ में लालटेन का आयोजन बढ़ता जाता है। एक सौ साठ वर्षों से भारत का सर्वांगीण दारिद्रय और इंग्लैंड का सर्वांगीण ऐश्वर्य साथ-साथ बढ़ते रहे हैं, इस बात का हिसाब लगाने के लिए 'स्टॅटिस्टिक्स्' की आवश्यकता बहुत कम है। इस परिस्थिति का सम्पूर्ण चित्र अंकित करना हो तो पटसन उत्पन्न करने वाला बंगाल का किसान और सुदूर डन्डी में पटसन के मुनाफ़े का उपभोग करने वाला अँग्रेज, इन दोनों की जीवन-यात्रा को पास-पास रखकर देखना होगा। दोनों के बीच सम्बन्ध लोभ का है, विच्छेद भोग का है—यह विभाजन डेढ़ सौ वर्षों तक बढ़ता ही रहता है, कम नहीं हुआ।

जब से यान्त्रिक उपायों द्वारा प्राप्त अर्थ-लाभ का गुणगान करना सम्भव हुआ है तब से मध्य युग की 'शिवलरी' अर्थात् वीरधर्म को वाणिज्यधर्म की दीक्षा मिली है। समुद्र-यान द्वारा सारी पृथ्वी का जब आविष्कार आरम्भ हुआ तभी इस निदारुण वैश्ययुग की प्रथम सूचना मिली। वैश्ययुग की आदिम भूमिका

दस्युवृत्ति में है। दास-हरण और धन-हरण की वीभत्सता से उस दिन धरती रो उठी थी। इस निष्ठुर व्यवसाय को विशेष रूप से दूसरों के देशों में चलाया गया। उस दिन स्पेन ने मैक्सिको में केवल स्वर्ण-संचय ही नहीं किया, वहाँ की सम्पूर्ण सभ्यता को रक्त से धो डाला। उस रक्त मेघ की आँधी पश्चिम से बढ़ती हुई भारत में आ पहुँची—इस इतिहास का विवरण यहाँ अनावश्यक है। धन-सम्पदा का स्रोत पूर्व से पश्चिम की ओर बहने लगा।

तब से पृथ्वी पर कुबेर का सिंहासन सुदृढ़ हो गया है। विज्ञान ने घोषित किया कि यन्त्र का नियम ही विश्व का नियम है, बाह्य सिद्धिलाभ के अलावा कोई अस्थायी सत्य नहीं है। प्रतियोगिता उग्र और सर्वव्यापी हो गई, दस्युवृत्ति ने भद्र वेश धारण करके सम्मान प्राप्त किया। लोभ के खुले और छिपे रास्तों से कारखानों में, बड़ी-बड़ी बस्तियों में, खानों में मिथ्याचार और निर्दयता ने कैसे हिंस्र रूप लिये हैं इसका भयावह वर्णन आज के योरोपीय साहित्य में मिलता है। पाश्चात्य जगत् में रुपया कमाने वालों और उसके लिए परिश्रम करने वालों में तीव्र संघर्ष उत्पन्न हो गया है। मानव के सबसे बड़े धर्म—समाज धर्म—पर लोभ निर्मम आघात करता है। आज के युग में लोभ-प्रवृत्ति ने समाज को आलोड़ित करके उसके सारे बन्धन शिथिल और विच्छिन्न कर दिए हैं।

प्रत्येक देश में धनार्जन के क्षेत्र में इस तरह समाज विभक्त हो गया है। यह विभाजन चाहे जितना दुःखप्रद हो, यदि वह देश के अन्दर की ही बात होकर रहे तो सबके लिए अवसर खुला रहता है। शक्ति में विषमता अवश्य होती है, लेकिन अधिकार बने रहते हैं; धन के जाँते में जो आज 'पिसने वालों' के वर्ग में है वह कल 'पीसने वालों' के वर्ग में पहुँच सकता है। यही नहीं, धनवान् लोग जो सम्पत्ति कमाते हैं उसका एक अंश—चाहे वह कितना ही छोटा अंश हो—किसी-न-किसी रूप में समाज को मिलता है; उसका बँटवारा हो जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति किसी-न-किसी सीमा तक राष्ट्रीय सम्पत्ति का दायित्व लिये बगैर रह ही नहीं सकती। जनसाधारण की शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन के लिए उस सम्पत्ति का व्यय थोड़ा-बहुत होता ही है। धनियों की इच्छा हो या न हो, एक मात्रा में वे देश के विविध प्रयोजन पूर्ण करने के लिए अपने धन को लगाते ही हैं।

लेकिन भारत में ऐसा भी नहीं होता। विदेशी वणिकों और राज्यशासकों के धन का उच्छिष्ट मात्र भारत के हिस्से में पड़ता है। पटसन की खेती करने वाले किसानों की शिक्षा या स्वास्थ्य के लिए कोई व्यवस्था नहीं है, विदेश जाने वाले मुनाफे का कोई भाग इस काम के लिए लौटकर नहीं आता। जो कुछ जाता है पूर्णतया जाता है। पटसन से यथेष्ट मुनाफा कमाने के लिए गाँव के जलाशयों को

नष्ट कर दिया जाता है; इससे जो असह्य जलकष्ट होता है उसके निवारण के लिए विदेशी महाजनों से एक पैसा भी नहीं मिलता। यदि जल की व्यवस्था करनी है तो टैक्स का सम्पूर्ण भार गरीब किसानों के ही खून पर पड़ता है। जनसाधारण की शिक्षा के लिए राजकोष में रुपया नहीं है। क्यों नहीं है ? इसका मुख्य कारण यही है कि धन बड़ी मात्रा में भारत को त्याग कर बाहर जाता है—यह लोभ का धन है; रुपये में सोलहों आने पराये का हो जाता है। समुद्र के इस पार जलाशय का जल सूखता है, और पानी बरसता है समुद्र के उस पार। वहाँ के अस्पतालों-विद्यालयों का खर्च दीर्घकाल तक भारतवर्ष प्रस्तुत करता आया है—अभागा, अशिक्षित, अस्वस्थ, मरणप्राय भारतवर्ष।

मैं अपने देशवासियों की शारीरिक और मानसिक अवस्था के दुःखमय दृश्य बहुत दिनों से देखता आया हूँ। दारिद्र्य से मनुष्य का विनाश तो होता ही है, वह अपने-आपको अवज्ञा का विषय भी बना डालता है। Sir John Simon कहते हैं :

"In our view the most formidable of the evils from which India is suffering have their roots in social or economic customs of long standing which can only be remedied by the action of the Indian people themselves."

यह है अवज्ञा का उदाहरण। भारत की ज़रूरतों को Sir John Simon ने जिस मापदण्ड से देखा है वह उनके देश का अपना मापदण्ड नहीं है। प्रचुर धनोत्पादन के लिए जो शिक्षा, सुयोग और स्वाधीनता उनके पास है, जिन सुविधाओं से उनकी जीवन-यात्रा का आदर्श ज्ञान-कर्म-भोग सभी क्षेत्रों में परिपुष्ट हो सका है, उन सुविधाओं की कल्पना भी वे नहीं कर सकते जब जीर्णवस्त्र, कृशकाय, रोग-पीड़ित, शिक्षा-वंचित भारत के विषय में सोचते हैं। हम अपने दिन किसी तरह बिताते रहें, खर्च कम करके और लोकसंख्या घटाकर और उनकी जीविका का विस्तृत आदर्श कार्यान्वित करने के लिए हम अपने जीवन का स्तर गिराते रहें—इससे अधिक उन्हें कुछ सोचना नहीं है। इसलिए 'रेमेडी' की ज़िम्मेदारी हमारे ही हाथ में है; जो लोग 'रेमेडी' को दुःसाध्य बनाते हैं उन्हें कुछ भी नहीं करना है।

मनुष्य और विधाता के विरुद्ध इन सब शिकायतों को बन्द करके, आंतरिक दिशा से हमारे निर्जीव गाँवों में प्राण-संचार करने के लिए कुछ समय से अपनी अतिक्षुद्र शक्ति का प्रयोग किया है। इस कार्य में सरकार के समर्थन की मैंने उपेक्षा नहीं की, बल्कि उसकी इच्छा की है। लेकिन फल कुछ भी नहीं मिला। इसका कारण है वेदना का अभाव। समवेदना का अस्तित्व इस परिस्थिति में सम्भव ही

नहीं है—हमारी अक्षमता और सर्वांगीण दुर्दशा से हमारे अधिकार क्षीण हो गए हैं। आखिर मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी यथार्थ कल्याण कार्य में गवर्नमेंट के साथ हमारे कार्यकर्त्ताओं का उपयुक्त सहयोग नहीं हो सकता। चौकीदार की वर्दी का खर्च चुकाकर जो कौड़ियाँ बचती हैं उन्हींसे काम चलाना होगा।

राजकीय लोभ—और परिणामस्वरूप औदासीन्य से जब मेरे मन में निराशा का अन्धकार छा गया था, उसी समय मैंने रूस की यात्रा की। योरोप के अन्य देशों में ऐश्वर्य का आडम्बर मैंने काफ़ी देखा है। वह इतना उत्तुंग है कि दरिद्र देश की ईर्ष्या भी उसके शिखर तक नहीं पहुँच सकती। रूस में यह भोग-समारोह नहीं है; शायद इसीलिए उस देश का आंतरिक रूप देखना सरल सिद्ध हुआ।

जिन चीज़ों से भारत बिलकुल वंचित है उन्हींके आयोजन को सर्वव्यापी बनाने का प्रबल प्रयास मैंने रूस में देखा। यह कहना आवश्यक नहीं है कि मेरी बहुत दिनों की क्षुधित आँखों ने सब-कुछ देखा। पाश्चात्य जगत् के किसी अन्य स्वाधीन, भाग्यशाली देश के किनारे को रूस के दृश्य कैसे लगते, यह मैं नहीं कह सकता। मैं इस बात को लेकर भी तर्क करना नहीं चाहता कि भारत से कितना धन ब्रिटेन चला गया है और आज भी प्रतिवर्ष विविध मार्गों से कितनी सम्पत्ति वहाँ जा रही है। लेकिन यह तो मैं स्पष्ट देख सकता हूँ—और बहुत-से अँग्रेज़ लेखक भी इसे स्वीकार करते हैं कि हमारे देश के रक्तहीन शरीर में मानसिक शक्ति आच्छन्न हो गई है, जीवन में आनन्द नहीं, हमारा आंतरिक और बाह्य दोनों दिशाओं में विनाश हो रहा है और इसका root eause भारतवासियों के ही मर्मगत अपराध से संलग्न है—कोई गवर्नमेंट इसका प्रतिकार कर ही नहीं सकती—यह बात हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

यह विचार मेरे मन में सदा रहा है कि भारत के साथ जिन विदेशी शासनकर्त्ताओं का स्वार्थ-सम्बन्ध प्रबल है, और वेदना का सम्बन्ध नहीं है, उन्होंने केवल अपनी ही गरज़ से विधान और व्यवस्था की रक्षा में इतना उत्साह दिखाया है। लेकिन जिन मामलों में गरज़ हमारी है, जहाँ धन-मन-प्राण से हमारे देश को बचाना आवश्यक है, वहाँ यथोचित शक्ति का प्रयोग करने में सरकार उदासीन है अर्थात् इस सम्बन्ध में अपने देश के प्रति शासनकर्त्ताओं में जितनी सचेष्टता है, जितना वेदना-बोध है, उसका छोटा-सा अंश भी हमारे देश के प्रति होना सम्भव नहीं है। लेकिन हमारा धन-प्राण उन्हीं के हाथ में है; जिन उपायों और उपादानों से हमारी रक्षा हो सकती है उन पर हमारा अधिकार नहीं।

यदि यह सच है कि समाज-विधि के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान ही हमारी अवनति का कारण है, तो जिस शिक्षा द्वारा यह अज्ञान दूर हो सकता है वह भी

विदेशी सरकार की मर्जी पर और खजाने पर अवलम्बित है। देशव्यापी अशिक्षा से जो विपत्ति उत्पन्न होती है उसे किसी कमीशन के परामर्श से दूर नहीं किया जा सकता। इसके लिए सरकार को वैसी तत्परता दिखानी होगी जैसी तत्परता ब्रिटिश गवर्नमेंट दिखाती, यदि इंग्लैंड के सामने ऐसी समस्या होती। साइमन कमीशन से हम पूछते हैं: भारत के अज्ञान और अशिक्षा में ही इतना बड़ा मृत्युशूल इतने दिनों तक निहित रहा है और रक्तपात करता रहा है, यह बात यदि सच है तो एक सौ साठ वर्ष के ब्रिटिश शासन में उनके विषय में कोई उपाय क्यों नहीं किया गया? क्या कमीशन ने आँकड़े जमा करके देखा है, पुलिस के डंडों पर ब्रिटिश राज जितना खर्च करता है उसकी तुलना में इतने लम्बे अर्से में शिक्षा पर कितना व्यय हुआ है? दूर देश में रहने वाले धनी शासक पुलिस के डंडे को आवश्यक समझते हैं, लेकिन उस डंडे से जिनके सिर फूटते हैं उनकी शिक्षा पर खर्च करना शताब्दियों तक स्थगित रखकर भी उनका काम चल जाता है।

रूस में पहुँचते ही मैंने देखा कि वहाँ के किसान और श्रमिक, जो आठ वर्ष पूर्व भारतीय जनसाधारण की तरह निःसहाय, निरन्न और निरक्षर थे, जिनका दुःख-भार कई विषयों में हमारे भार से कम नहीं वरन् अधिक ही था, आज थोड़े ही समय में इतनी शिक्षा प्राप्त कर सके हैं जितनी हमारे देश के उच्च श्रेणी के लोग भी डेढ़ शताब्दियों में नहीं प्राप्त कर सके। हमारे 'दरिद्राणां मनोरथा:' स्वदेश की शिक्षा के सम्बन्ध में जो चित्र मरीचिका के पट पर भी अंकित करने का साहस नहीं कर सके उसका प्रत्यक्ष रूप मैंने रूस में एक दिगन्त से दूसरे दिगन्त तक फैला हुआ देखा।

मैंने अपने-आपसे अनेक बार पूछा है: ऐसी आश्चर्यजनक सफलता कैसे सम्भव हुई? मेरे मन ने यही उत्तर दिया कि लोभ की बाधा कहीं नहीं थी, इसी-लिए यह हो सका। शिक्षा के द्वारा सभी मनुष्य यथोचित क्षमता प्राप्त कर सकते हैं, इस बात को रूस में सर्वत्र बेखटके माना जाता है। दूर-एशिया में तुर्कमानि-स्तानवासियों को भी पूरी तरह शिक्षा प्रदान करने में इन्हें कोई आशंका-बोध नहीं होता, बल्कि इसके लिए इनके मन में प्रबल आग्रह है। 'तुर्कमानिस्तान का प्रथागत अज्ञान ही वहाँ के लोगों के दुःखों का कारण है', इस तरह की बात रिपोर्ट में लिखकर रूस के शासक उदासीन नहीं हुए।

कोचिन-चायना में शिक्षा-विस्तार के सम्बन्ध में फ्रांस के किसी पांडित्य-व्यवसायी ने कहा है—'भारत में अँग्रेज़ी राज ने देशी लोगों को शिक्षा प्रदान करके जो भूल की है उससे फ्रांस को बचना चाहिए'। यह मानना पड़ता है कि अँग्रेज़ी चरित्र में एक ऐसी महानता है जिससे विदेशी शासन-नीति में अंग्रेज कभी-

कभी भूल कर बैठते हैं; शासन-वस्त्र को बुनने में कहीं-कहीं उनके टाँके ढीले पड़ जाते हैं। ऐसा न होता तो हमारे मुँह से आवाज़ निकलने में शायद एक शताब्दी और लगती!

यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि शिक्षा के अभाव से दुर्बलता अटल हो जाती है; इसलिए अशिक्षा पुलिस के डंडे से कम बलवान नहीं है। शायद लॉर्ड कर्जन इस बात को थोड़ा-बहुत समझते थे। शिक्षा-दान के सम्बन्ध में फ्रांसीसी विद्वानों ने स्वदेश के लिए जो आदर्श स्थिर किया है वह शासित देशों के लिए नहीं किया, इसका एक-मात्र कारण लोभ है। जो उनके लोभ के शिकार होते हैं ऐसे लोगों का मनुष्यत्व भी लोभियों की दृष्टि में अस्पष्ट हो जाता है, उनके अधिकारों को वे काट-छाँटकर छोटा बना देते हैं। जिनके साथ भारत का शासन-सम्बन्ध रहा है उनकी दृष्टि में पिछले डेढ़ सौ वर्षों तक भारत के अधिकार बहुत छोटे रहे हैं। इसीलिए देश के मर्मगत प्रयोजनों के प्रति वे उदासीन रहे हैं। हम क्या खाते हैं, हमारी प्यास किस तरह बुझती है, हमारा चित्त निरक्षरता के घने अँधेरे से किस तरह आच्छन्न हो गया है, ये सब बातें उन्होंने आज तक ठीक से देखी ही नहीं। हम स्वयं उनके प्रयोजन-साधन की वस्तु बन गए हैं, हमारे अपने भी प्रयोजन हो सकते हैं, यह बात वे नहीं समझते। इसके अलावा हम इतने नगण्य हो गए हैं कि हमारे प्रयोजनों का सम्मान भी नहीं किया जा सकता।

भारत की जो कठिन समस्या है, जिसके कारण इतने दिनों तक हमारे धन-प्राण-मन का विनाश होता रहा, पाश्चात्य देशों में कहीं नहीं है। समस्या यह है कि भारत के सारे अधिकार दो भागों में बँट गए हैं, और इस सर्वनाश-विभाजन का एक-मात्र आधार लोभ ही है। इसलिए रूस में जब मैंने लोभ को तिरस्कृत देखा, मुझे इतना अधिक आनन्द हुआ जितना शायद किसी अन्य देश के निवासी को न होता। लेकिन मूल तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता; केवल भारत में ही नहीं, समस्त पृथ्वी पर जहाँ भी विपत्तियों का जाल फैलाया गया वहाँ लोभ की ही प्रेरणा ने काम किया है—लोभ के साथ भय और संशय रहे हैं, और लोभ के पीछे अस्त्र-सज्जा रही है, मिथ्या, निष्ठुर राजनीति रही है।

डिक्टेटरशिप का प्रश्न भी उठता है। मैं व्यक्तिगत रूप से किसी विषय में नेताशाही पसन्द नहीं करता। क्षति या दंड का भय दिखाकर या भाषा-भंगिमा-व्यवहार से अपनी ज़िद व्यक्त करके मत-प्रचार का मार्ग प्रशस्त करने की चेष्टा मैं अपने कर्मक्षेत्र में कभी नहीं कर सकता। इसमें सन्देह नहीं कि एक-नायकत्व में बहुत-सी विपत्तियाँ हैं। उसकी एकरूपता और नित्यता अनिश्चित होती है;

चालकों और चलितों की इच्छा में योग-साधन न होने से क्रान्ति की सम्भावना सदा बनी रहती है। इसके अलावा किसी दूसरे से चलाए जाने का अभ्यास चित्त और चरित्र को दुर्बल बनाता है। एकनायकत्व से बाह्य सफलता मिल सकती है—दो-चार फसलें अच्छी हो सकती हैं, लेकिन अन्दर-ही-अन्दर जड़ें कट जाती हैं।

जनता का भाग्य यदि उसीकी इच्छा से निर्मित और पोषित न हो तो एक पिंजरा तैयार हो जाता है। उसमें दाना-पानी काफी मिल भी सकता है, लेकिन उसे हम घोंसला नहीं कह सकते; वहाँ रहते-रहते पंख निर्जीव हो जाते हैं। एकनायकत्व जहाँ भी हो—शास्त्र में, गुरु में, या राष्ट्र-नेता में, उससे मनुष्यत्व की हानि होती है।

हमारे समाज में यह दुर्बलता-सृष्टि युग-युग में होती रही है, और इसका परिणाम मैं प्रतिदिन देखता आया हूँ। महात्माजी ने जब विदेशी कपड़ों को अपवित्र कहा था, मैंने उनकी बात का विरोध किया था; मैंने कहा था विदेशी कपड़ा आर्थिक दृष्टि से हानिप्रद हो सकता है, अपवित्र नहीं हो सकता। 'हमारे शास्त्र-चालित, अन्धचित्त को खुश रखना होगा अन्यथा हमारा काम नहीं निकलेगा'—क्या मनुष्यत्व के प्रति इस कथन से अधिक अपमानजनक कुछ हो सकता है? नायक-चालित देश इसी तरह मोहाच्छन्न हो जाता है। जब एक जादूगर उससे विदा लेता है तो कोई और जादूगर किसी और मन्त्र की सृष्टि करता है।

डिक्टेटरशिप एक बड़ी विपत्ति है, यह बात मैं मानता हूँ। उसने रूस में बहुत-से अत्याचार किये हैं, यह भी मानता हूँ। यह नकारात्मक पक्ष है—बल-प्रयोग का पक्ष—जिसमें पाप है। लेकिन मैंने सकारात्मक पक्ष भी देखा है; वह है शिक्षा, जो 'ज़बरदस्ती' के बिलकुल विपरीत है।

देश के भाग्यनिर्माण में यदि जनसाधारण का चित्त सम्मिलित हो तो निर्माण-क्रिया सजीव और स्थायी हो जाती है। जो अपने एकनायकत्व से लुब्ध है वह दूसरों के चित्त को अशिक्षा द्वारा जड़ बनाना चाहता है—यही उसकी प्रयोजन-सिद्धि का उपाय होता है। ज़ार के राज्यकाल में निरक्षरता के कारण जनता मोहान्वित थी; सर्वव्यापी धर्ममूढ़ता ने उसके चित्त को अजगर की तरह सैकड़ों पाशों में जकड़ रखा था। उस मूढ़ता को अपने काम में लगाना सम्राट् के लिए आसान था। यहूदियों का ईसाइयों से, मुसलमानों का आर्मीनियन धर्म वालों से संघर्ष होता था—धर्म के नाम पर बीभत्स उत्पात कराए जाते थे। ज्ञान और धर्म के मोह से देश अपनी शक्ति खो चुका था। उसकी ग्रंथियाँ

शिथिल हो गई थीं, वह विभक्त था और बाह्य-शक्ति से अभिभूत था। एकनायकत्व के चिराधिपत्य के लिए इससे अधिक अनुकूल परिस्थिति नहीं हो सकती थीं।

क्रान्ति के पूर्व रूस में जो परिस्थिति थी वह हमारे देश में बहुत दिनों से रही है। आज हमारे देश ने महात्माजी का निर्देशन माना है; कल जब वह नहीं रहेंगे नेतृत्व का दावा करने वाले बहुत-से लोग अचानक दिखाई पड़ेंगे, जैसे धर्माभिभूत लोगों के सामने नये-नये अवतार और गुरु उपस्थित होते रहते हैं। चीन में आज नेतृत्व के लिए कुछ अधिकार-लोभी लोगों में प्रबल संघर्ष चल रहा है, क्योंकि अशिक्षित जनता अपनी सम्मिलित इच्छा द्वारा देश का भाग्य निर्धारित नहीं कर पाती। सारा देश क्षत-विक्षत हो गया है। हम यह नहीं कह सकते कि हमारे देश में भी नायक पद के लिए दारुण संघर्ष नहीं होगा; यदि हुआ तो जनता पददलित होगी, क्योंकि वह घास की तरह है, वटवृक्ष की तरह नहीं।

रूस में भी आजकल नेता का प्रबल शासन देखा जाता है। लेकिन इस शासन ने अपने-आपको चिरस्थायी बनाने का मार्ग नहीं अपनाया। एक दिन रूस में बल-प्रयोग, अशिक्षा और धर्म-मोह द्वारा जनसाधारण के मन को अभिभूत किया गया था, कोड़े की चोट से उसका पौरुष क्षीण कर दिया गया था। वर्तमान रूस में शासन-दंड निश्चल है, यह मैं नहीं कहता। लेकिन शिक्षा-प्रचार की प्रबलता असाधारण है, क्योंकि यहाँ व्यक्तिगत या दलगत अधिकार-पिपासा या अर्थलोभ नहीं है। एक विशेष आर्थिक मतवाद की दीक्षा सारी जनता को देकर, वर्ण-जाति-श्रेणी के भेदों की उपेक्षा करते हुए, सबको विकास-मार्ग पर ले जाने की उत्कट इच्छा है। यदि ऐसा न होता तब तो फ्रांसीसी विद्वान् के शब्द मानने पड़ते : 'शिक्षा देना बहुत बड़ी भूल है।'

यह आर्थिक मतवाद पूर्णतया ग्राह्य है या नहीं, इसका निर्णय करने का समय अभी नहीं आया, क्योंकि अब तक यह पुस्तकों तक ही सीमित था, इतने बड़े क्षेत्र में इतने साहस के साथ कार्यान्वित नहीं हुआ था। जिस लोभ-वृत्ति ने इसका शुरू से विरोध किया उसे ही इस मतवाद ने दूर हटा दिया है। परीक्षाओं के बीच परिवर्तित होते-होते उसका हिस्सा बचेगा, और वह कहाँ पहुँचेगा, आज कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता। लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि रूस की जनता इतने दिनों बाद जो प्रचुर शिक्षा प्राप्त कर रही है उससे लोगों के मनुष्यत्व ने स्थायी उत्कर्ष और सम्मान-लाभ किया है।

वर्तमान रूसी शासन की निष्ठुरता के बारे में बहुत-सी जनश्रुतियाँ हैं। हो सकता है, वे सही हों। निष्ठुर शासन की धारा वहाँ चिरकाल से बहती आ रही है,

उसका एकदम लुप्त हो जाना ही असम्भव लगता है। लेकिन वहाँ चित्रों द्वारा, सिनेमा द्वारा, इतिहास की नई व्याख्या द्वारा सोवियत सरकार प्राचीन शासन-विधि के अत्याचारों पर प्रकाश डालती है। यह सरकार स्वयं यदि वैसा ही निष्ठुर पथ-अवलम्बन करे, तो निष्ठुरता के प्रति इतनी तीव्र घृणा जगाने का उसका प्रयत्न एक बहुत बड़ी भूल होगी। सिराजुद्दौला के 'ब्लैक होल' के अत्याचार को यदि सिनेमा और अन्य माध्यमों से सर्वत्र लांछित किया जाय, तो इस प्रचार के साथ-साथ जलियाँवाला बाग में जो व्यवहार किया गया उसे मूर्खता ही कहा जायगा। इस क्षेत्र में विमुख अस्त्र लौटकर अस्त्र चलाने वाले पर ही चोट करता है।

सोवियत रूस में मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में सर्वसाधारण की विचार-बुद्धि को एक साँचे में ढालने का प्रबल प्रयास स्पष्ट देखा जाता है। इस मतवाद की ज़िद से स्वाधीन आलोचना का पथ अवरुद्ध कर दिया गया है, इस अभियोग को मैं सही मानता हूँ। योरोपीय युद्ध के समय इसी तरह लोगों का मुँह बन्द कर दिया गया था; गवर्नमेण्ट नीति के विरोधियों को जेलखाने में डालकर या फाँसी पर लटकाकर स्वातंत्र्य को दबाने का यत्न किया गया था।

जहाँ तुरन्त फल प्राप्त करने का लोभ प्रबल होता है वहाँ राष्ट्रनायक मत-स्वातंत्र्य के अधिकार को स्वीकार नहीं करना चाहते। रूस की अवस्था युद्धकाल-जैसी है। उसके अन्दर और बाहर शत्रु हैं। उसके सारे प्रयोगों को विफल बनाने के लिए चारों ओर षड्यंत्र रचे जा रहे हैं। इसलिए निर्माण-कार्य की नींव शीघ्रातिशीघ्र पक्की बनाने के लिए वहाँ के शासक बल-प्रयोग करने में नहीं हिचकते। लेकिन चाहे जितनी बड़ी ज़रूरत हो, बल एकांगी वस्तु है। वह तोड़ता है, सृष्टि नहीं करता। सृष्टि-कार्य के दो पक्ष होते हैं। उपादान को अपने हाथ में लाना आवश्यक है—लेकिन ज़बरदस्ती नहीं, उसके नियम को स्वीकार करके।

रूस जिस काम में लगा है वह है युगान्तर का मार्ग बनाने का काम। पुरातन विधि-विश्वास की जड़ें उसे ज़मीन से उखाड़नी हैं, अभ्यासगत आराम को सर्व-तिरस्कृत बनाना है। ऐसे विध्वंसक उत्साह के आवर्त्त में पड़कर मनुष्य को नशा-सा लग जाता है। वह भूल जाता है कि मानव-प्रकृति को साधना द्वारा वश में करना ज़रूरी है; वह सोचता है मानव-मन को उसके आश्रय-स्थान से खींचकर लाया जा सकता है। धीरे-धीरे स्वभाव के साथ मेल करने में जो विलम्ब लगता है वह उसके लिए असह्य हो जाता है, क्योंकि उत्पात पर उसका विश्वास है।

आखिर जल्दी-जल्दी, ठोक-पीटकर वह जो कुछ तैयार करता है वह एक अस्थायी चीज़ होती है, उस पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

जहाँ मनुष्य का नहीं, मतवाद का निर्माण होता है वहाँ के प्रचण्ड दण्ड-नायकों पर मैं विश्वास नहीं करता। प्रथमत: अपने ही मत को अटल सत्य मानना सुबुद्धि नहीं; उसे कार्य में लगाकर उसके सत्य का परिचय प्राप्त करना चाहिए। वहाँ जो नेतागण धर्मतत्त्व के क्षेत्र में शास्त्र-वाक्य नहीं मानते वही लोग अर्थतत्त्व के क्षेत्र में शास्त्र को स्वीकार करके अचल हो जाते हैं। किसी-न-किसी तरह से बाल खींचकर, गला दबाकर—वे आदमी का उस शास्त्र के साथ मिलन कराना चाहते हैं। वे यह नहीं समझते कि यदि इस तरह ज़बरदस्ती लोगों को शास्त्र से मिलाया गया तो उस शास्त्र का सत्य प्रमाणित नहीं होता। वस्तुत: जिस मात्रा में बल का प्रयोग होता है उसी मात्रा में शास्त्र असत्य प्रमाणित होता है।

योरोप में जब क्रिश्चियन शास्त्र-वाक्यों पर अटल विश्वास था, मनुष्य की हड्डियाँ तोड़कर, उसे जिन्दा जलाकर, धर्म को सत्य प्रमाणित करने की चेष्टा की गई। आज बोल्शेविक मतवाद को लेकर उसके मित्र और शत्रु दोनों ही उद्दाम असहिष्णुता के साथ बहस करते हैं। दोनों पक्ष एक-दूसरे पर अभियोग लगाते हैं कि मनुष्य के मत-स्वातंत्र्य का अधिकार छीन लिया गया है। आज पश्चिमी जगत् में मानव-प्रकृति को दोनों ओर से पत्थर लगते हैं। मुझे यह बाउल-गीत याद आता है :

अरे निठुर गरज़ी,
तू क्या मानस-मुकुल को आग में भूनेगा ?
या कि तू फूल खिलायगा,
उषाकाल में परिमल वितरित करेगा ?
देख, मेरे परम गुरु साँईं को देख !
वह युग-युगांतर फूल खिलाता है, उसे कोई जल्दी नहीं है।
तेरा लोभ प्रचण्ड है, तेरा भरोसा लाठी पर है—
इसका क्या उपाय है, अरे गरज़ी ?
कहे मदन, दु:ख न दे, निवेदन सुन…
उस श्रीगुरु के मन में सहज धारा, आत्म-विस्मृत होकर,
भगवान् की वाणी सुनती है, रे गरज़ी !

सोवियत रूस में लोक-शिक्षा की उन्नति के बारे में मैंने कुछ कहा। वहाँ की राजनीति मुनाफ़ाखोरों के लालच से कलुषित नहीं है, इसलिए रूस ने राष्ट्र के अन्तर्गत सभी जातियों और वर्णों के लोगों को समान अधिकार देकर और शिक्षा

का सुयोग देकर सम्मानित किया है—इस बात का भी उल्लेख मैंने किया। मैं ब्रिटिश भारत का नागरिक हूँ, इसीलिए इन दोनों बातों से मुझे गम्भीर आनन्दबोध हुआ है।

मैं सोचता हूँ, एक अन्तिम प्रश्न का भी उत्तर मुझे देना पड़ेगा। बोल्शेविक अर्थनीति के विषय में मेरा निजी मत बहुतों ने पूछा है। हमारा देश सर्वदा शास्त्रों और पण्डों से निर्देशित हुआ है, इसलिए विदेश से आए हुए सिद्धान्तों को वेद-वाक्य समझने की ही प्रवृत्ति हममें है, क्योंकि हमारा मन आसानी से मुग्ध हो जाता है। गुरुमन्त्र के मोह से बचकर हमें यह कहना चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रयोग के आधार पर ही किसी मतवाद की समीक्षा की जा सकती है। बोल्शेविक अर्थनीति अभी प्रयोगाधीन है। जिस मतवाद का सम्बन्ध मानव-जीवन से हो, उसका प्रधान अंग मानव-प्रकृति ही है—मानव-प्रकृति के साथ उसका सामंजस्य कहाँ तक है, यह काफी समय बीतने पर ही दिखाई पड़ता है। तत्त्व को पूर्णतया ग्रहण करने से पहले हमें प्रतीक्षा करनी होगी। फिर भी उसका विवेचन करने का अधिकार हमें है— केवल तर्कशास्त्र या आँकड़ों द्वारा नहीं बल्कि मानव-प्रकृति को सामने रखते हुए।

मनुष्य के दो पक्ष हैं—एक ओर वह स्वतंत्र है, दूसरी ओर सबसे संयुक्त। एक पक्ष को अलग करने से जो बाकी रहता है वह अवास्तविक है। जब किसी आकर्षण से मनुष्य एक ही तरफ मुड़ता चला जाता है तब सन्तुलन खोकर वह विपत्ति में पड़ जाता है। ऐसे समय उसके परामर्शदाता संकट दूर करने के लिए यह सलाह देते हैं कि स्वार्थ से 'स्व' को बिलकुल उड़ा देना चाहिए—सब ठीक हो जायगा। हो भी सकता है कि इससे उत्पात कम हो जाय; लेकिन चलना-फिरना बन्द हो जाने की भी आशंका है। बे-लगाम घोड़ा गाड़ी को गड्ढे में ले जाता है। लेकिन कोई यह नहीं सोचता कि घोड़े को गोली मारने से गाड़ी ठीक चलेगी—लगाम के विषय में चिन्ता करना ही आवश्यक हो जाता है। मनुष्यों के शरीर अलग-अलग होते हैं, इसीलिए यह सम्भव होता है कि वे आपस में झगड़ा करें, उनमें संघर्ष हो। लेकिन सब मनुष्यों को एक ही रस्सी से बाँधकर पृथ्वी पर एक ही विशाल कलेवर निर्माण करने का प्रस्ताव बलोन्मत्त ज़ार को ही शोभा देता है। विधाता के नियम को समूल नष्ट करने के प्रयत्न में साहस से अधिक परिमाण में मूर्खता आवश्यक होगी।

किसी दिन भारतीय समाज प्रधानतः ग्रामीण समाज था। इस घनिष्ठ ग्राम-समाज में व्यक्तिगत संपत्ति का समाजगत संपत्ति के साथ सामंजस्य था। लोकमत इतना प्रभावशाली था कि धनी अपने धन को केवल अपने उपभोग में खर्च करने

से लज्जित होता था। समाज जब उसकी सहायता स्वीकार करता तो यह कृतार्थ होता था—जिसे अँग्रेज़ी में 'चैरिटी' कहते हैं वह बिलकुल अलग चीज़ है—हमारे गाँव के धनी जो करते थे उसमें 'चैरिटी' का रूप नहीं था। धनी का स्थान वहीं था जहाँ निर्धन का। उस समाज में अपनी मर्यादा रखने के लिए धनी को बहुत-से अप्रत्यक्ष तरीक़ों से काफ़ी रुपया ख़र्च करना पड़ता था। विशुद्ध जल, देवालय, वैद्य और पंडित, यात्रा, गान, कथा—इन सबको सुरक्षित रखने के लिए राज्य-कोष से नहीं बल्कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाजोन्मुख प्रवाह से धन मिलता था। यहाँ स्वेच्छा और समाज की इच्छा का मिलन हो सका था। यह आदान-प्रदान किसी राजनैतिक यंत्र के योग से नहीं, मनुष्य की इच्छा से होता था; इसमें धर्म-साधना की क्रिया थी—इससे केवल नियम के पालन में बाह्य फल नहीं मिलता था, बल्कि आन्तरिक दिशा में व्यक्तिगत उत्कर्ष होता था। ऐसा व्यक्तिगत उत्कर्ष ही मानव-समाज का स्थायी, कल्याणमय और प्राणवान आश्रय होता है।

वणिक् सम्प्रदाय—जिसका व्यवसाय रुपया लगाकर मुनाफ़ा प्राप्त करना था—समाज के निम्न स्तर पर था। धन का विशेष सम्मान नहीं होता था, इसलिए धनी और निर्धन में तीव्र भेद नहीं था। धनी वृहत् संचय द्वारा नहीं, अपने महान् दायित्व को पूर्ण करके समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे। सम्मान धर्म का था, धन का नहीं। इस सम्मान का त्याग करने में किसी के आत्म-सम्मान की हानि नहीं होती थी। आज वह समय बीत चुका है। धन पर सामाजिक दायित्व नहीं है और उसके प्रति असहिष्णुता के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि आज धन मनुष्य को अर्घ्य नहीं देता, उसे अपमानित करता है।

योरोपीय सभ्यता ने आरम्भ से ही नगरों में संहत होने का मार्ग ढूँढा। नगरों में मनुष्य की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं, लेकिन मानवीय सम्बन्ध छोटे हो जाते हैं। नगर बहुत बड़ा होता है, वहाँ लोग बिखर जाते हैं, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एकांगी हो जाता है, प्रतियोगिता से समाज का मंथन होता है। ऐश्वर्य वहाँ धनी-निर्धन के विभाजन को बढ़ा देता है, और 'चैरिटी' से जो योगसाधन होता है उसमें न सान्त्वना है, न सम्मान। धन के अधिकारी और धन के वाहन, इन दोनों में केवल आर्थिक सम्पर्क होता है, उनके सामाजिक सम्बन्ध या तो विच्छिन्न होते हैं या विकृत।

इस अवस्था में यन्त्रयुग आया, मुनाफ़े की मात्रा बहुत बढ़ गई। जब लाभ की महामारी सारी दुनिया में फैलने लगी, जो दूरवासी अनात्मीय थे उन पर आफ़त आई। चीन को अफ़ीम खानी पड़ी; भारत को अपना सर्वस्व खोना पड़ा; अफ्रीका

को—जो सदा से ही पीड़ित रहा है—और भी अधिक कष्ट भोगने लगा। यह तो रही योरोप के बाहर की बात। पश्चिमी जगत् के अन्दर भी आज धनी-निर्धन का विभाजन अत्यन्त कठोर हो गया है—जीवन-यात्रा का स्तर ऊँचा और उपकरण-बहुल होने से दोनों पक्षों में तीव्र प्रभेद देखा जाता है। प्राचीन काल में, विशेषत: हमारे देश में, ऐश्वर्य का आडम्बर मुख्यता सामाजिक दान और कर्म में था, आज वह व्यक्तिगत भोग में है। वह अचम्भा पैदा कर सकता है, आनन्द नहीं पहुँचा सकता; ईर्ष्या जगा सकता है, प्रशंसा नहीं। प्राचीन युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि समाज में धन का व्यवहार केवल दाता की इच्छा पर ही निर्भर नहीं था, सामाजिक इच्छा का भी प्रबल प्रभाव था। दाता को नम्रतापूर्वक दान करना पड़ता था; 'श्रद्धया देयम्'--यह उपदेश माना जाता था।

लेकिन आधुनिक काल में व्यक्तिगत धन-संचय से धनी को जो प्रबल शक्ति मिलती है उसमें जनसाधारण का सम्मान या आनन्द नहीं रह सकता। एक पक्ष में असीम लोभ है, दूसरे पक्ष में ईर्ष्या, और दोनों के बीच तीव्र पार्थक्य। समाज में सहयोगिता की अपेक्षा प्रतियोगिता बहुत बढ़ गई है। देश के अन्दर, वर्ग-वर्ग में प्रतियोगिता है, बाहर देश-देश में। तभी चारों ओर भीषण अस्त्रों में धार लगाई जा रही है; किसी उपाय से अस्त्रों की संख्या को घटाया नहीं जा सकता और जो परदेशी इस दूरस्थित राक्षस की क्षुधा मिटाते हैं उनकी कृशता लगातार बढ़ती ही जाती है। इस कृशता के बीच विश्व-व्यापी अशान्ति है—जो लोग शक्ति के अहंकार से यह नहीं समझते वे अपने ही अज्ञान के अन्धकार में हैं। जो निरन्तर दुःख सहते हैं वे अभागे ही दुःख-विधाता के दूतों के मुख्य सहायक हैं—उनके उपवास में प्रलय की आग संचित हो रही है।

वर्तमान सभ्यता की इस अमानवीय अवस्था में बोल्शेविज़्म का अभ्युदय हुआ। वायुमंडल के एक हिस्से में जब 'विरलन' होता है, तब आँधी अपने विद्युद्दंत निकालकर विनाशकारी रूप धारण करती है। मानव-समाज का सामंजस्य टूट जाने से ही इस अप्राकृतिक क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ है। समष्टि के प्रति व्यष्टि की उपेक्षा क्रमशः बहुत बढ़ गई थी। तभी आज समष्टि के नाम पर व्यष्टि को बलि देने का आत्मघातक प्रस्ताव किया जा रहा है। किनारे पर ज्वालामुखी फूट निकला है, इसलिए सागर को एकमेव मित्र घोषित किया जा रहा है। जब अनन्त समुद्र की विपत्तियों से परिचय मिलेगा तब फिर किनारे पर पहुँचने के लिए बेचैनी का अनुभव होगा। व्यष्टिवर्जित समष्टि की अवास्तविकता मनुष्य चिरकाल के लिए नहीं सहेगा। समाज में लोभ के दुर्ग पर विजय पानी होगी; लेकिन व्यक्ति को वैतरणी के पार पहुँचा दिया गया तो समाज की रक्षा को कौन करेगा? सम्भव है

कि वर्तमान रुग्ण युग में बोल्शेविज़्म की चिकित्सा ही उचित सिद्ध हो, लेकिन चिकित्सा तो नित्य नहीं हो सकती—जिस दिन डॉक्टर का शासन बन्द होता है वही रोगी के लिए शुभ दिन होता है।

हमारे देश में गाँव-गाँव में धनोत्पादन और धन-परिचालन के कार्य में सहकारिता की विजय हो, यही मेरी कामना है; क्योंकि इस नीति में सहयोगियों की इच्छा और विचार का तिरस्कार नहीं किया जाता; इसमें मानव-प्रकृति को स्वीकार किया जाता है। इस प्रकृति के विरुद्ध यदि बलप्रयोग किया गया तो वह निष्फल होगा।

इसके साथ एक और बात विशेष रूप से कहना ज़रूरी है। मैं चाहता हूँ कि देश के गाँवों की रक्षा हो; लेकिन मेरी यह इच्छा कदापि नहीं है कि ग्राम्यता वापस लौटे। ग्राम्यता उस बुद्धि, विद्या, संस्कार, विश्वास और कर्म में है जो गाँव की सीमा में आवद्ध हैं, बाहर की दुनिया से विच्छिन्न। वर्तमान युग की प्रकृति से इसका पार्थक्य ही नहीं, विरोध है। आधुनिक विद्या और बुद्धि की भूमिका विश्वव्यापी है, यद्यपि उसकी हृदय-वेदना उस परिमाण में व्यापक नहीं हुई है। गाँव में ऐसे प्राण को संचारित करना होगा जिसके उपादान तुच्छ या संकीर्ण न हों, जिसके द्वारा मानव-प्रकृति को किसी दिशा में हीन या आच्छन्न न बनाया जाय।

मैं एक बार इंग्लैंड के किसी गाँव में एक किसान के घर गया था। मैंने देखा, उस घर की स्त्रियाँ लन्दन जाने के लिए अधीर थीं। नगर के सर्वांगीण ऐश्वर्य की तुलना में गाँव का सम्बल इतना कम होता है कि गाँव का चित्त स्वभावतः नगर की ओर झुकता है। देश में रहते हुए भी गाँव निर्वासित-से लगते हैं। रूस में मैंने देखा कि गाँव और नगर के विरोध को मिटाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि यह प्रयास सफल हो तो नगर की अस्वाभाविक अति वृद्धि का निवारण होगा। देश की प्राण-शक्ति और चिन्तन-शक्ति सर्वत्र व्याप्त होकर अपना काम कर सकेगी।

मेरी कामना है कि हमारे देश के गाँव भी शहरों के उच्छिष्ट-भोजी न हों, मनुष्यत्व का पूर्ण सम्मान और सम्पदा उन्हें मिले। मेरा विश्वास है कि सहकारिता द्वारा ही हमारे गाँव अपनी सर्वांगीण शक्ति को उन्मुक्त कर सकेंगे। शिकायत तो इसी बात की है कि आज तक बंगाल में सहकारिता केवल रुपया उधार देने तक ही सीमित रही है, महाजन की ग्राम्यता को ही उसने, कुछ संशोधन करके, स्वीकार किया है। सम्मिलित प्रयास से जीविका उत्पादन और उपभोग करने के लिए सहकारिता ने कुछ नहीं किया।

इसका कारण यह है कि जिस शासन-यंत्र के आश्रय से हमारे देश में कर्मचारी-ग्रस्त सहकारिता का आविर्भाव हुआ हैं, वह यान्त्रिक है, अन्ध, बधिर और उदासीन है। यह भी लज्जा के साथ मानना पड़ेगा कि सहकारिता के लिए जो चारित्रिक गुण आवश्यक होते हैं वे हमारे पास नहीं हैं। दुर्बल लोगों का पारस्परिक विश्वास भी दुर्बल होता है। अपने प्रति अश्रद्धा से ही दूसरों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती है। दीर्घकाल तक पराधीन रहकर जिन्होंने आत्म-सम्मान खो दिया है उनकी ऐसी ही दुर्गति होती है। उच्चवर्ग के लोगों का शासन वे सिर झुकाकर स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन अपने ही वर्ग के लोगों से निर्देशन प्राप्त करना उनके लिए असह्य होता है। अपने वर्ग के लोगों की वंचना करना, उनके साथ निष्ठुर व्यवहार करना, उन्हें सरल लगता है।

रूसी कथा-साहित्य पढ़ने से पता चलता है कि वहाँ के चिर-पीड़ित किसानों की भी यही दशा थी। काम कितना ही दुःसाध्य हो, दूसरा कोई रास्ता नहीं है—शक्ति और मन को सम्मिलित करके किसानों की प्रकृति में संशोधन करना होगा। सहकारिता-प्रणाली में केवल कर्ज़ देकर नहीं, वरन् एकत्र काम करके ग्रामवासियों के चित्त को ऐक्य-प्रवण बनाना होगा। तभी हम अपने गाँवों को बचा सकेंगे।

[दिसम्बर १९३० में न्यूयॉर्क से रामानन्द चट्टोपाध्याय, सम्पादक 'प्रवासी' को 'सोवियत नीति' शीर्षक से प्रेषित। 'प्रवासी' (वैशाख १३३८ बं० सं०) अप्रैल, १९३१ में प्रकाशित।]

कालान्तर

एक ऐसा समय था जब गाँव के चंडी-मण्डप में हमारा अड्डा जमता, पड़ोसियों से गप-शप रहती, बातचीत के विषय गाँव तक ही सीमित रहते। एक-दूसरे को लेकर राग-द्वेष, किस्सा-कहानी, ताश-चौपड़, और तीन-चार घण्टे ऊँघना—इस तरह दिन कट जाता। इसके अतिरिक्त बीच-बीच में कुछ आयोजन भी थे—कीर्तन, यात्रा, कथक, रामायण-पाठ इत्यादि। इन सभी आयोजनों के विषय पौराणिक कहानियों के भण्डार में चिरसंचित हैं। जिस जगत् में हम रहते थे वह संकीर्ण और अति-परिचित था। उसके सारे तथ्य, उसकी रस-धारा वंशानुक्रम से बार-बार एक ही रास्ते पर आवर्तित हुई है। उन्हीं पर अवलम्बित होकर हमारी जीवन-यात्रा के संस्कार निबिड़ हो गए हैं। इन कठिन संस्कारों की ईंट-पत्थरों से हमारी दुनिया का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ है। हमने यह देखा ही नहीं कि इस दुनिया के बाहर मानव-ब्रह्माण्ड के दिगन्त में विराट् इतिहास की अभिव्यक्ति निरन्तर चल रही है; इतिहास की नीहारिका आद्योपांत सनातन प्रथाओं या शास्त्रोक्तियों से सदा के लिए स्थावर नहीं हुई है; उसमें एक अंश के साथ दूसरे अंश के घात-प्रतिघात से नई-नई समस्याओं की सृष्टि हो रही है; और इनकी समस्याओं के संकोचन-प्रसारण से इतिहास का रूप परिवर्तित हो रहा है।

बाहर से हमें पहला आघात मुसलमानों से लगा। लेकिन मुसलमान भी प्राच्य थे, उनकी मनोवृत्ति भी आधुनिक नहीं थी। वे भी अपनी गुज़री हुई शताब्दियों में आबद्ध थे। बाहु-बल से उन्होंने भारत में राज्य-संघटन किया, लेकिन उनके चित्त में सृष्टि-वैचित्र्य नहीं था। इसीलिए उन्होंने जब हमारे दिगन्त में स्थायी निवास-स्थान बनाया तो हमारा उनसे संघर्ष अवश्य हुआ, लेकिन वह संघर्ष बाह्य था; एक प्रथा का दूसरी चिरप्रथा से—एक अटल का दूसरे अटल मत से संघर्ष था। हमारी राजनैतिक प्रणाली तक मुसलमानों का प्रभाव पहुँचा, चित्त में वह सर्वतोभाव से प्रबल नहीं हुआ। इसका प्रमाण हम साहित्य में देखते हैं। उस समय भद्रसमाज में फारसी सर्वत्र प्रचलित थी, लेकिन बंगला-काव्य की प्रकृति पर फ़ारसी विद्या का हस्ताक्षर नहीं पड़ा। केवल भारतचन्द्र के 'विद्या-सुन्दर' की मार्जित भाषा और अस्खलित छन्द में जो नागरिकता व्यक्त हुई है, उसमें फ़ारसी की परिहास-पटुता का आभास मिलता

है। तत्कालीन बंगला साहित्य के मुख्यतः दो भाग थे—मंगल-काव्य और वैष्णव पदावली। मंगल-काव्य में कहीं-कहीं मुसलमान राज्य-शासन का विवरण है, लेकिन उसके विषय-वस्तु और मनोभाव पर मुस्लिम साहित्य की छाप नही है; वैष्णव गीति-काव्य के बारे में तो इसका प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी बंगला भाषा में बहुत-से फ़ारसी शब्द आ गए हैं—इसका अलावा उन दिनों शहरों में फ़ारसी रीति-रिवाज का प्रादुर्भाव काफी हुआ। दो सनातन, गतिहीन सभ्यताएँ भारत में पास-पास खड़ी थीं—एक-दूसरे से मँह फेरकर। उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया बिलकुल ही न हुई हो, यह बात नहीं—लेकिन वह सामान्य परिमाण में हुई। बाहुबल का धक्का देश पर ज़ोर से लगा, लेकिन किसी नूतन चिन्तन-राज्य से, नई सृष्टि के उद्यम से, उसका मन प्रेरित नहीं हुआ। एक और बात ध्यान देने योग्य है—मुसलमान बाहर से हिन्दुस्तान में आए और स्थायी रूप से यहाँ बस गए, लेकिन उन्होंने हमारी सृष्टि को बाहर की दिशा में प्रसारित नहीं किया। वे घर में बैठ गए और उन्होंने बाहर के दरवाज़े बन्द कर दिए। बीच-बीच में दरवाज़े टूटते भी रहे, लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ जिससे बाह्य विश्व से हमारा परिचय विस्तारित हो। इसीलिए गाँव के चण्डी-मण्डप में ही हमारा जमघट बना रहा।

फिर आए अँग्रेज़—केवल मनुष्य के रूप में नहीं, आधुनिक योरोपीय चित्त के प्रतीक बनकर। मनुष्य एक स्थान को दूसरे स्थान से जोड़ता है, लेकिन चित्त मनों को जोड़ता है। आज मुसलमानों को हम संख्या-गणना की दृष्टि से देखते हैं—हाल में उनके कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन में योग-वियोग की समस्या उत्पन्न हुई है; अर्थात् उनकी संख्या से गुणन का अंकफल नहीं, विभाजन का ही अंकफल निकल रहा है। वे देश में हैं, फिर भी राष्ट्रगत ऐक्य के अनुसार नहीं रहते। भारत की लोक-संख्या-तालिका उनके बहुलत्व से अत्यन्त शोकावह हो उठी है।

अँग्रेज़ों के आगमन से भारतीय इतिहास में एक विचित्र बात हुई। मनुष्य के हिसाब से वे हमसे बहुत दूर हैं; मुसलमानों से भी अधिक दूर। लेकिन योरोप के चित्तदूत बनकर वे व्यापक और गम्भीर भाव से हमारे समीप आ गए हैं; अन्य कोई विदेशी जाति किसी दिन हमारे इतने समीप नहीं आ सकी। योरोपीय चित्त की जंगम शक्ति ने हमारे स्थावर मन पर आघात किया; जैसे सुदूर आकाश से वृष्टि-धारा धरती पर आघात करती हैं, उसके निश्चेष्ट अन्तर में प्रवेश करके प्राणचेष्टा संचारित करती है जो विचित्र रूप लेकर अंकुरित और विकसित होती है। केवल मरुभूमि में यह चेष्टा बिलकुल ही नहीं होती—मरुभूमि

की अनन्य योगिता मृत्यु का धर्म है। हमने योरोप से क्या कुछ पाया है, इसका सूक्ष्म विचार करके आजकल कुछ समालोचक कल्पना और अन्वेषण दोनों की सहायता से—आधुनिक लेखकों पर बड़ी निपुणता से दोषारोपण करते हैं। किसी दिन 'रेनेसाँ' की चित्तधारा इटली से उद्वेलित होकर सारे योरोप के मन में फैली थी। उस समय इंग्लैंड के साहित्य-स्रष्टाओं के मन में 'रेनेसाँ' का प्रभाव विविध रूपों में व्यक्त हुआ था। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है—ऐसा न होता तो इंग्लैंड के दैन्य को बर्बरता कहा जाता। सजीव मन के लिए यह सम्भव ही नहीं है कि वह सचल मन से प्रभावित न हो। लेन-देन का यह प्रवाह वहीं नियत चलता रहता है जहाँ चित्त सुरक्षित है, जागृत है।

वर्तमान युग-चित्त की ज्योति पश्चिमी दिगन्त से प्रसारित होकर मानव-इतिहास के समस्त आकाश में प्रकाशमय है। उसका स्वरूप हम देखें। एक प्रबल उद्यम के वेग से योरोप का मन पृथ्वी भर में व्याप्त हो रहा है। यह किसके ज़ोर से है? सत्य-सन्धान के ज़ोर से। बुद्धि के आलस्य, कल्पना की माया या प्राचीन पांडित्य के अन्ध अनुवर्तन से उसने अपने-आपको भुलावा नहीं दिया; मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति जिस विश्वास पर निर्भर होकर निश्चिन्त रहना चाहती है उस प्रलोभन का भी उसने निर्ममता से दमन किया है। उसने सत्य को अपनी इच्छा के साथ संगत करके नहीं जाँचा। उसकी बुद्धि-साधना विशुद्ध है, व्यक्तिगत मोह से मुक्त है, इसीलिए वह प्रतिदिन ज्ञान-जगत् पर विजय प्राप्त कर रहा है।

यद्यपि हमारे चारों ओर अब भी पंचांग की दीवार उन्मुक्त आलोक के प्रति सन्देह जताती है, फिर भी उस दीवार को कहीं-कहीं भेदकर योरोप के चित्त ने हमारे प्रांगण में प्रवेश किया है, ज्ञान के विश्वरूप को हमारे सामने खड़ा किया है। उसने हमारे सामने मानवीय बुद्धि की सर्वव्यापी उत्सुकता को व्यक्त किया है—यह उत्सुकता अपने अहैतुक आग्रह से निकटवर्ती और दूरवर्ती, छोटी और बड़ी, प्रयोजनीय और अप्रयोजनीय सभी वस्तुओं का सन्धान करना चाहती है। इस तरह योरोपीय चित्त ने हमें दिखाया है कि ज्ञान-राज्य में कहीं व्यवधान नहीं है, उसके सभी तथ्य एक-दूसरे से अविच्छिन्न सूत्रों से बँधे हुए हैं; पंचानन या चतुरानन का कोई विशेष वाक्य विश्व के क्षुद्रतम साक्षी के विरुद्ध अपनी प्रामाणिकता का दावा नहीं कर सकता।

विश्व-तत्त्व की तरह चरित्र-नीति में भी योरोपीय चित्त की महत्त्वपूर्ण देन है। नये शासन में जो कानून बने उनमें एक वाणी है—यह वाणी कहती है कि व्यक्ति-भेद से अपराध-भेद नहीं होता। ब्राह्मण शूद्र का वध करे, या शूद्र ब्राह्मण

का—हत्या का अपराध एक ही जैसा है, और दोनों के लिए समान दण्ड है; किसी मुनि या ऋषि के अनुशासन से यहाँ किसी विशेष न्याय-अन्याय का प्रवर्त्तन नहीं हो सकता।

समाज में उचित-अनुचित का वज़न श्रेणीगत अधिकारों की बाँट से नहीं किया जा सकता, यह बात अभी तक हमारा मन आन्तरिक रूप से नहीं मानता। फिर भी हमारे चिन्तन और व्यवहार में एक क्रान्ति निस्सन्देह हुई है। इस बात का एक प्रमाण यह है कि जिन्हें समाज अस्पृश्यों की श्रेणी में रखता है उन्हें भी मन्दिर-प्रवेश का अधिकार देने की बात उठी है। यद्यपि ऐसे लोग हैं जो नित्य धर्मनीति का सहारा लेने के बदले इस बात पर ज़ोर देते हैं कि पुरानी प्रथाओं को शास्त्रों का समर्थन प्राप्त है, फिर भी उनकी यह वकालत प्रभावशाली नहीं हो पाती। जन-साधारण के मन में यही बात ज़ोर पकड़ रही है कि जो अन्याय है वह श्रेय नहीं हो सकता, चाहे उसे प्रथागत, व्यक्तिगत, या शास्त्रगत शक्ति का समर्थन प्राप्त हो; चाहे उस पर "शंकराचार्य' उपाधि धारण करने वाले किसी महानुभाव की छाप लगी हो।

मुसलमान-कालीन बंगला साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि देवचरित्र की कल्पना को इस विश्वास ने कलुषित कर रखा था कि अन्याय करने का निर्बाध अधिकार ही ऐश्वर्य का लक्षण है। उन दिनों जिस तरह प्रबल लोग अत्याचार द्वारा अपना शासन पक्का करते थे, उसी तरह देवी-देवताओं के विषय में भी हमारी कल्पना थी कि उनकी प्रतिष्ठा अन्याय की विभीषिका पर निर्भर है। निष्ठुर बल की हार-जीत से ही उनकी श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का निर्णय होता था। साधारण मनुष्य को धर्म-नियम मानकर चलना होता था; नियम तोड़ने का दुर्दम्य अधिकार असाधारण लोगों का था। सन्धिपत्र के अनुसार सत्य-रक्षा और लोकमत की खातिर अपने को संयत करना आवश्यक था; लेकिन प्रताप का अभिमान सन्धिपत्र को 'स्कैप ऑफ पेपर' की तरह छिन्न करने के लिए उत्सुक था। नीतिबन्धन न मानने वाली धृष्टता को मनुष्य ने एक दिन ईश्वरत्व का लक्षण माना। उन दिनों प्रचलित उक्ति 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का अर्थ यही है कि जगदीश्वर का जगदीश्वरत्व उसकी अप्रतिहत शक्ति के कारण है, न्याय-परता के विधान से नहीं, और इस हिसाब से दिल्लीश्वर भी जगदीश्वर-जैसी ही ख्याति का अधिकारी है। उस समय ब्राह्मण को भूदेव कहा गया—उसके देवत्व में महत्ता का अपरिहार्य दायित्व नहीं वरन् अकारण श्रेष्ठता का निरर्थक अहंकार देखा जाता है। यह अकारण श्रेष्ठता न्याय-अन्याय के परे है, इसका प्रमाण स्मृति-शास्त्र में है, शूद्र के प्रति अधर्माचरण के अव्याहत अधिकार में है। इसमें सन्देह

नहीं कि अँग्रेज़ी साम्राज्य मुग़ल साम्राज्य से भी अधिक प्रबल और व्यापक है; लेकिन किसी मूर्ख के अधरों से भी ये शब्द नहीं निकल सकते कि 'वेलिंग्टनो वा जगदीश्वरो वा'; क्योंकि आकाश से बम बरसाकर शत्रु के गाँवों का विध्वंस करने की निर्मम शक्ति में आज कोई ईश्वरत्व का आदर्श नहीं देखता। आज हम मरते-मरते भी अँग्रेज़ी शासन की चर्चा न्याय-अन्याय का आदर्श सामने रखते हुए कर सकते हैं—आज हम यह नहीं मानते कि शक्तिमान से अपनी शक्ति को संयमित करने की माँग करना अशक्त की धृष्टता है। वास्तव में आज एक ऐसा स्थान है जहाँ न्याय-आदर्श की सार्वभौमता स्वीकार करके अँग्रेज़ी राज की प्रचण्ड शक्ति ने अपने-आपको अशक्त के साथ एक ही भूमि पर लाकर खड़ा किया है।

जब अँग्रेज़ी साहित्य से हमारा प्रथम परिचय हुआ, हमें उसमें केवल अभिनव रस का ही आस्वाद नहीं मिला था। मनुष्य का मनुष्य के प्रति अन्याय दूर करने का आग्रह भी हमने अँग्रेज़ी साहित्य में प्राप्त किया था; राजनैतिक क्षेत्र में मनुष्य की जंज़ीरों के टूटने की घोषणा सुनी थी; वाणिज्य-क्षेत्र में मनुष्य को पण्यवस्तु बनाने के विरुद्ध प्रयास देखा था। मानना पड़ेगा कि हमारे लिए यह मनोभाव नूतन था। इसके पहले हम समझते थे कि जन्मगत नित्यविधान या पूर्वजन्मार्जित कर्मफल से विशेष जाति के लोग अपने असम्मान को, अधिकारहीनता को शिरोधार्य करने के लिए बाध्य हैं; उसका लांछन केवल दैवक्रम से किसी दूसरे जन्म में दूर हो सकता है। आज भी हमारे देश के शिक्षित वर्ग में ऐसे अनेक लोग हैं जो राष्ट्रीय गौरव की प्राप्ति के लिए आत्मचेष्टा को आवश्यक समझते हैं; लेकिन जो समाज-विधि द्वारा अधःकृत हैं उन्हें धर्म की दुहाई देकर निश्चेष्ट रहने को—अपमान स्वीकार करने को—कहते हैं। वे भूल जाते हैं कि भाग्यनिर्दिष्ट विधान को निर्विरोध मान लेने की मनोवृत्ति ही वह शक्ति है जो राष्ट्रीय पराधीनता की शृंखला से हमारे हाथ-पाँव कसती है। योरोप के साथ हमारे सम्पर्क ने एक ओर तो हमें विश्व-प्रकृति में कार्य-कारण-विधि की सार्वभौमिकता दिखाई; दूसरी ओर, न्याय-अन्याय का वह विशुद्ध आदर्श दिखाया जो किसी शास्त्र-वाक्य के निर्देश से, किसी चिर-प्रचलित प्रथा के वेष्टन से, या किसी विशेष विधि से खण्डित नहीं हो सकता। इसी तत्त्व के सहारे आज हम दुर्बलता के बावजूद अपनी राष्ट्रीय अवस्था बदलने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। हम जिन माँगों को मुग़ल सम्राट् के सामने पेश करने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे उनको लेकर उच्चकण्ठ से हम एक प्रबल राजशासन का विरोध कर रहे हैं—यह भी हम उसी तत्त्व के ज़ोर से कर रहे हैं जो कवि के इस वाक्य में व्यक्त हुआ है : 'A man is a man for all that !'

आज मेरी आयु सत्तर से ऊपर है। वर्तमान युग में—जिसे 'योरोपीय युग' कहना ही होगा—मैंने पहले प्रवेश किया उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में। 'विक्टोरियन युग' कहकर आजकल के युवक इसका उपहास करते हैं। योरोप के जिस अंश से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हुआ, वह अंश—अर्थात् इंग्लैंड—उस समय ऐश्वर्य और राष्ट्रीय प्रताप के उच्चतम शिखर पर अधिष्ठित था। कभी उसके भाण्डार में अकल्याण किसी छिद्र द्वारा प्रवेश कर सकता है, यह कल्पना उन दिनों कोई नहीं कर पाता था। प्राचीन इतिहास में चाहे कुछ भी हुआ हो, आधुनिक इतिहास में पाश्चात्य सभ्यता के कर्णधार इंग्लैंड का सौभाग्य कभी कम हो सकता है, हवा उल्टी दिशा में बह सकती है, ऐसा कोई लक्षण उस समय नहीं था। जिस मत-स्वातन्त्र्य और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए रिफॉर्मेशन-युग में और फ्रेंच रेवोल्यूशन के युग में योरोप ने संघर्ष किया था उस पर उन दिनों लोगों का अक्षुण्ण विश्वास था। अमेरिका में दास प्रथा के विरुद्ध गृहयुद्ध चल रहा था। मेजिनी-गैरीबाल्डी की कीर्तिमयी वाणी से वह युग गौरवान्वित था, तुर्की के सुलतान के अत्याचारों की निन्दा करते हुए ग्लैड्स्टन का स्वर गूँज रहा था। भारत के स्वातन्त्र्य की प्रत्याशा भी हमारे मन में स्पष्ट रूप से विकसित होने लगी थी। उस प्रत्याशा में एक ओर अँग्रेज़ों के प्रति विरोध-भावना थी, दूसरी ओर अँग्रेज़ चरित्र के प्रति असाधारण आस्था; वरना केवल मनुष्यत्व के नाम पर भारतीय शासन में अँग्रेज़ों से सहभागी हो सकेंगे, यह विश्वास हमारे मन में कहाँ से आया? एक युग से सहसा हमने दूसरे युग में कैसे पदार्पण किया? किस शिक्षा ने हमें मानवीय मूल्यों की महत्ता दिखाई?

हमारे अपने परिवार में, पड़ोस में, गाँव में मनुष्य के व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सम्मान की माँग—प्रत्येक वर्ग के लिए न्यायसंगत व्यवहार समान अधिकार का सिद्धान्त अब भी हमारे चित्त में सम्पूर्ण रूप से प्रवेश नहीं कर पाया है। फिर भी हमारे आचरण में पग-पग पर विरोध का सामना करते हुए, योरोप का प्रभाव धीरे-धीरे हमारे मन में काम कर रहा है। वैज्ञानिक बुद्धि के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। पाठशाला के मार्ग से विज्ञान हमारे द्वार पर आया है, लेकिन घर में अभी तक शास्त्र-ग्रन्थों का ही अधिकार है। फिर भी योरोपीय विद्या, विरोध के बावजूद, हमारे मन में सम्मान का स्थान प्राप्त कर रही है।

इसलिए यदि हम सोच-विचार कर देखें तो इस युग को योरोप के साथ हमारी सहयोगिता का युग कहेंगे। वस्तुतः जहाँ योरोप के साथ हमारे चित्त का, हमारी शिक्षा का, असहयोग है वहीं हमारा पराभव है। यदि हमारी श्रद्धा पर आघात

न लगे तो सहयोग सहज होगा। पहले कह चुका हूँ, योरोपीय चरित्र के प्रति आस्था से ही हमारा नवयुग आरम्भ हुआ था; हमने देखा था कि ज्ञानक्षेत्र में योरोप को मनुष्य की मोहमुक्त बुद्धि पर श्रद्धा है और व्यवहारक्षेत्र में वह मनुष्य के न्याय-संगत अधिकार को स्वीकार करता है। इसीसे, समस्त अभाव और त्रुटियों के बावजूद, हमारे आत्म-सम्मान का पथ खुल गया है। इस आत्म-सम्मान के गौरव-बोध से ही हम देश के लिए दु:साध्य को भी साध्य बनाने की आशा रखते हैं और प्रबल पक्ष के साथ, उसके ही विचारों का आदर्श लेकर, बहस करने का साहस करते हैं। मानना होगा कि यह चित्तगत, चरित्रगत सहयोग हमारे पुराने राज-दरबारों में नहीं था। उस समय अधिकारियों से हम मूलत: दूर थे; सौभाग्य या दुर्भाग्य-क्रम से शक्तिशाली शासकों का हमें अनुग्रह मिल भी सकता था, लेकिन यह उन शासकों के ही गुण से होता था; हम यह नहीं कह पाते थे कि सार्वजनीन न्यायधर्म के अनुसार, मनुष्य के नाते, हमें उनके सहयोग का अधिकार है।

इधर इतिहास ने रुख बदला। बहुत दिनों से जो सोता रहा था उस एशिया में जागरण के चिह्न दिखाई पड़े। पाश्चात्यों के ही संघात और सम्पर्क से जापान ने अल्पकाल में देश-मण्डली में सम्मान का अधिकार प्राप्त कर लिया—उसने सम्यक् रूप से सिद्ध किया कि वह वर्तमान काल में ही था, अतीत की छाया से आच्छन्न नहीं। हमने देखा कि प्राच्य देश नवयुग की ओर यात्रा कर रहे थे। बहुत दिनों तक यह आशा थी कि विश्व-इतिहास के साथ हमारा भी सामंजस्य होगा, हमारी राष्ट्रीयता का रथ भी आगे बढ़ेगा। हम यह भी सोचते थे कि अँग्रेज़ स्वयं हमारे रथ को आगे बढ़ायँगे। लेकिन दीर्घ परीक्षा के बाद हमने देखा कि पहिये धँसे हुए हैं। आज अँग्रेज़ी शासन का गर्व 'लॉ एण्ड ऑर्डर'—विधि और व्यवस्था—को लेकर है। इस विस्तृत देश में शिक्षा और स्वास्थ्य का विधान अकिंचित् है। देश के लोगों के पास नये-नये मार्गों से धन उत्पादन करने की सुविधाएँ नहीं हैं। निकट भविष्य में ऐसी सुविधाएँ प्राप्त करने की संभावना भी हम नहीं देख पाते, क्योंकि देश का संबल 'लॉ एण्ड ऑर्डर' के प्रकाण्ड कवच में लुप्त हो चुका है। योरोप के ही सम्पर्क से भारत योरोपीय नवयुग के श्रेष्ठ दान से वंचित हुआ है। हमारा देश नवयुगीन सूर्यमण्डल के बीच कलंक की तरह बनकर रह गया है।

आज इंग्लैंड, फ्रान्स और जर्मनी अमेरिका के ऋणी हैं। ऋण की मात्रा बहुत बड़ी है। लेकिन वह इससे दुगुनी होती, तो भी उसे चुकाना इन देशों के लिए असाध्य न होता यदि उन्हें केवल 'लॉ एण्ड ऑर्डर' बनाए रखते हुए दूसरे सभी क्षेत्रों में वंचित रहना मंजूर होता; यदि वे आधा पेट ही भोजन करते; यदि पीने का पानी देश की तृष्णा के हिसाब से बहुत कम होता; यदि केवल पाँच प्रतिशत

लोगों के लिए ही शिक्षा-व्यवस्था होती; यदि चिरस्थायी रोग से देश की हड्डी-हड्डी दुर्बल होने पर भी आरोग्य-विधान निश्चेष्ट पड़ा रहता। लेकिन यह सब उन्होंने स्वीकार नहीं किया। जीवन-यात्रा के सभ्य आदर्श के लिए ये सब अभाव विनाशकारी सिद्ध होते, इसीलिए इन देशों ने ऋणदाता से कहा : 'हम क़र्ज़ नहीं चुका सकते।' सभ्यता के नाम पर भारत भी कह सकता है : 'प्राण का दिवाला निकालने वाले तुम्हारे इस शासन-तन्त्र का कर्ज़ हम नहीं उठा सकते। यह हमारे सीने पर बर्बरता का भारी पत्थर है।' वर्तमान युग में योरोप ने सभ्यता के जिस आदर्श का निर्माण किया है क्या उसे स्वयं योरोप ने ही पश्चिमी जगत् की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया ? क्या इस सभ्यता के सम्बन्ध में योरोप पर सभी देशों और युगों के प्रति दायित्व नहीं है ?

आगे चलकर देखा गया, योरोप के बाहर योरोपीय सभ्यता की मशाल दीप जलाने के लिए नहीं, आग जलाने के लिए है। तभी एक दिन चीन के मर्मस्थल पर तोप का गोला और अफ़ीम की गोली एक साथ बरसाई गई। इतिहास में आज तक ऐसा सर्वनाश एक ही बार हुआ था, जब योरोप के सभ्य देशों ने नवाविष्कृत अमेरिका में स्वर्ण के लोभ से 'माया जाति' की अपूर्व सभ्यता का छल-बल से नाश किया था। मध्ययुग में असभ्य तातारों ने विजित देशों में नरमुंडों के स्तूप बनाए थे, लेकिन इस अत्याचार की वेदना थोड़े दिनों में लुप्त हो गई। 'सभ्य' योरोप चीन-जैसे महान् देश को ज़बरदस्ती जो अफ़ीम का ज़हर खिला रहा है उससे चिरकाल के लिए चीन की मज्जा जर्जर हो गई है। एक दिन जब ईरान के तरुणों ने दीर्घकालीन निर्जीवता से अपने देश को बचाने के लिए प्राणपण से यत्न किया, तब सभ्य योरोप ने उनका गला घोंटा था। इस शोकावह व्यवहार का विवरण अमरीकी राज्य-सचिव शुस्टर की लिखी हुई पुस्तक 'Strangling of Persia' में मिलता है। उधर अफ्रीका के कांगो प्रदेश में योरोपीय शासन कैसी अकथ्य विभीषिका में परिणत हो गया है, यह तो सभी जानते हैं। आज भी अमेरिका के युक्त-राष्ट्र में नीग्रो जाति के लोग असम्मान से लांछित हैं; जब किसी नीग्रो को ज़िन्दा जलाया जाता है, श्वेतचर्मी नर-नारी उस पाशविक दृश्य का उपभोग करने के लिए भीड़ जमाते हैं।

महायुद्ध ने अचानक पाश्चात्य इतिहास का एक पर्दा हटा दिया; मानो किसी शराबी की मर्यादा लुप्त हो गई हो। इसके पहले भी ऐसे अन्धे युग आए थे जब मिथ्या ने, वीभत्स हिंस्रता ने क्षण-भर के लिए उत्पात मचाया था; लेकिन हिंस्रता की ऐसी भीषण और उग्र मूर्ति का आविर्भाव कभी नहीं हुआ था। पुराने ज़माने में मिथ्या और हिंसा आँधी की तरह आते थे, धूल से घिरे हुए। लेकिन आज वे

ज्वालामुखी के 'लावे' की तरह आए हैं, पाप की बाधामुक्त धारा से सारे आकाश को रंग रहे हैं; दूर-दूर तक पृथ्वी की श्यामलता को दग्ध कर रहे हैं। हम देखते हैं कि तब से योरोप की शुभ बुद्धि ने आत्मविश्वास खो दिया है, वह कल्याण के आदर्श का उपहास कर रही है। आज उसे लज्जा का बोध नहीं होता। किसी दिन अँग्रेज़ों के सम्पर्क से हमने योरोप को जाना था। कुरूपता या भद्दापन देखकर अँग्रेज़ों को संकोच होता था। लेकिन आज उनका व्यवहार उस संकोच-बोध को ही लज्जित कर रहा है। आज अपने को भद्र प्रमाणित करने के लिए सभ्यता का दायित्वबोध लुप्त हो रहा है। अमानुषिक निष्ठुरता सीना फुलाकर खुले आम विचरण कर रही है। सभ्य योरोप के 'मॉनिटर' जापान को हमने कोरिया में देखा, चीन में देखा। जब उसके निष्ठुर, उद्धत व्यवहार की निन्दा की गई, उसने अट्टहास के साथ योरोपीय इतिहास से उदाहरण पेश किए। आयरलैण्ड में रुद्र की जो उन्मत्त बर्बरता देखी गई उसकी कल्पना भी हम कुछ दिन पहले नहीं कर सकते थे। जलियाँवाला बाग का अत्याचार आँखों के सामने आया। जिस योरोप ने एक दिन तुर्की को अमानुष कहकर उसकी निन्दा की थी, उसीके खुले आँगन में फ़ासिज़्म की निर्विचार दारुणता प्रकाश में आई।

एक दिन आत्मप्रकाश की स्वाधीनता योरोप की श्रेष्ठ साधना थी; आज हम देखते हैं कि योरोप और अमेरिका में उस स्वाधीनता पर प्रतिदिन आघात किये जा रहे हैं। बचपन से हमने योरोप की वेदी से यह बात सुनी थी कि व्यक्तिगत बुद्धि पर श्रद्धा रखनी चाहिए। आज योरोप में जो ईसा के उपदेश को सत्य मानते हैं, और शत्रु के प्रति भी हिंसा करना अधर्म समझते हैं, उनकी क्या दशा होती है— इसका एक दृष्टान्त देखिये। युद्ध-विरोधी फ्रांसीसी युवक रेने रेइमाँ लिखते हैं :

"So after the war I was sent to Guiana......Condemned to fifteen years' penal servitude. I have drained to the dregs the cup of bitterness, but the term of penal servitude being completed, there remains always the accessory punishment—banishment for life. One arrives in Guiana sound in health, young, vigorous; one leaves, (if one leaves) weakly, old, ill......One arrives in Guiana honest—a few months later one is corrupted...they (the transporters) are an easy prey to all the maladies of this land—fever, dysentery, tuberculosis and most terrible of all, leprosy.

राजनैतिक मतभेद के लिए इटली में द्वीपान्तर वास का जो दण्ड दिया जाता

है वह कैसा दुःसह नरकवास होता है, यह सर्वविदित है। योरोपीय सभ्यता का दीप जिन देशों ने उज्ज्वल किया है उनमें जर्मनी का स्थान प्रमुख है। लेकिन आज वहाँ सभ्यता के सारे आदर्श टूट गए हैं, उन्मत्त दानविकता ने अचानक सारे देश पर अधिकार कर लिया है। युद्ध के बाद भी ज़ब योरोप में निर्दयता का इतना निर्लज्ज रूप हम देखते हैं, तो बार-बार यही विचार मन में उठता है : वह दरबार कहाँ है जहाँ मानव की अन्तिम अपील पहुँच सकती है? क्या मनुष्यत्व पर हमारा जो विश्वास है उसका त्याग करना होगा? क्या बर्बरता का प्रतिकार बर्बरता से ही करना होगा? लेकिन इसी निराशा के बीच हम यह भी सोचते हैं कि दुर्गति चाहे जितनी उद्धत और भयंकर हो उठे ऐसे लोग भी हैं जो उस दुर्गति के सामने घोषणा कर सकते हैं : 'तुम अश्रद्धेय हो'; उसे शाप देकर कह सकते हैं : 'तुम्हारा अधः-पात हो!' ऐसे लोगों का अस्तित्व सारे दुःख और भय से बड़ा सत्य है। आज चपरासी हमें सताता है, लेकिन उसके सामने हाथ जोड़कर हम पहले की तरह नहीं कहते : 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा'; अब हम यह नहीं कहते कि जो प्रताप-शाली है उसका कोई दोष नहीं हो सकता; बल्कि हम मुक्तकंठ से कहते हैं कि उसीका दायित्व सबसे बड़ा है; उसीका अपराध सबसे अधिक निन्दनीय है। जिस दिन दुखी और अपमानित व्यक्ति न्याय को अत्याचार से बड़ा समझकर प्रबलता के गर्व को धिक्कार देने का अधिकार और आत्म-विश्वास पूर्णतया खो देगा, उस दिन मैं समझूंगा हमारे युग की श्रेष्ठ सम्पदा लुप्त हो चुकी है और उसके बाद महाप्रलय ही आए!

[१९३५ में नए संविधान के अवसर पर लिखित। 'परिचय' (श्रावण, १३४० बं० सं०) अगस्त, १९३४ में प्रकाशित।]

सभ्यता का संकट

आज मेरे जीवन के अस्सी वर्ष पूर्ण हुए। अपने जीवन-क्षेत्र का दीर्घ विस्तार आज मेरे सामने आता है। जिस तट से जीवन आरम्भ हुआ था उसे आज दूसरे तट से देखता हूँ—निर्लिप्त दृष्टि से देखता हूँ—और अनुभव करता हूँ कि मेरी और समस्त देश की मनोवृत्ति में जो परिणति हुई है उसमें विच्छिन्नता है, द्विखण्डिता है। इस विच्छिन्नता से बड़ा दुःख होता है।

वृहत् मानव-संसार के साथ हमारा प्रत्यक्ष परिचय अँग्रेज़ जाति के तत्कालीन इतिहास से शुरू हुआ। भारत में आए हुए इस आगंतुक के चरित्र को हमने एक महान् साहित्य के उच्च शिखर पर देखा। उन दिनों हमारे विद्यार्जन की सामग्री में न प्राचुर्य था, न वैचित्र्य। आजकल विद्या और ज्ञान के विविध केन्द्रों में विश्व-प्रकृति का परिचय मिलता है, उसकी शक्ति का रहस्य नई-नई दिशाओं से दृष्टि-गोचर होता है। लेकिन इसमें से अधिकांश उन दिनों नेपथ्य में था। प्राकृतिक विज्ञानों में विशेषज्ञों की संख्या बहुत कम थी। अँग्रेज़ी भाषा सीखकर अँग्रेज़ी साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना—यही उस समय परिष्कृत मन की रसिकता और विद्वत्ता का लक्षण माना जाता था। बर्क के वक्तृत्व और मेकॉले के भाषा-प्रवाह की चर्चा दिन-रात सुनाई पड़ती थी। शेक्सपियर के नाटक, बायरन की कविता और तत्कालीन राजनीति में साधारण मानव की विजय-घोषणा—इन सब विषयों पर निरन्तर बहस चलती थी। देश की स्वाधीनता के लिए साधना आरम्भ हो चुकी थी, फिर भी मन-ही-मन हमें अँग्रेज़ जाति के औदार्य पर विश्वास था। यह विश्वास बहुत गहरा था, और देश के अनेक साधक यह समझते थे कि विजेताओं के सौजन्य से ही विजित देश का स्वातन्त्र्य-पथ प्रशस्त हो सकता है। इस भावना का कारण यह था कि किसी समय इंग्लैंड अत्याचार से पीड़ित लोगों का आश्रय-स्थान रह चुका था। जिन्होंने अपने देश के सम्मान के लिए जान की बाज़ी लगाई थी उन्होंने इंग्लैंड में ही अकुंठित होकर अपना आसन जमाया था। अँग्रेज़ों के चरित्र में मानवीय मैत्री का विशुद्ध रूप दिखाई पड़ा था। इसलिए हमने आन्तरिक श्रद्धा के साथ अँग्रेज़ों को अपने हृदय में बड़ा ऊँचा स्थान दिया था। तब तक साम्राज्य-सुरा के उन्माद से उनके स्वभाव का दाक्षिण्य कलुषित नहीं हुआ था।

जब मैं पहले इंग्लैंड गया मेरी आयु बहुत कम थी। उस समय पार्लियामेंट में,

और पार्लियामेंट के बाहर सभाओं में, जॉन ब्राइट के भाषण मैंने सुने। उनमें मुझे अँग्रेज़ों की चिरन्तन वाणी सुनाई पड़ी थी। संकीर्ण जातिगत सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए इन भाषणों ने हृदय को कैसे प्रभावित किया था, मुझे अब तक याद है। आज के इस दुर्दिन में भी वे स्मृतियाँ हैं। निश्चय ही यह पर-निर्भरता हमारे लिए गर्व की बात नहीं थी। लेकिन उसमें एक प्रशंसनीय अंश भी था। हमारे बदलते हुए युग की अनभिज्ञता के बावजूद मनुष्यत्व का महान् रूप हमने देखा था, और यद्यपि यह रूप विदेशियों द्वारा प्रकाशित हो रहा था फिर भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने की शक्ति हममें थी। इस सम्बन्ध में हमारे मन में कोई कुंठा नहीं थी। मानव में जो कुछ भी श्रेष्ठ है वह किसी देश के संकीर्ण दायरे में आबद्ध नहीं होता। वह ऐसी सम्पत्ति नहीं होती जो कृपण के भाण्डार में बन्द पड़ी हो। इसलिए जिस अँग्रेज़ी साहित्य से उन दिनों हम लोगों के मन पुष्ट हुए थे उसका विजय-शंख आज भी मेरे अन्तर में निनादित होता है।

'सिविलज़ेशन' के लिए हम 'सभ्यता' शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन वास्तव में 'सिविलज़ेशन' का प्रतिशब्द हमारी भाषा में ढूँढ निकालना कठिन है। सभ्यता का जो रूप हमारे देश में प्रचलित था उसे मनु ने 'सदाचार' कहा। सामाजिक नियमों के बन्धन का ही वह दूसरा नाम था। इन नियमों के बारे में प्राचीन काल में जो धारणाएँ थीं वे भी एक संकीर्ण भूखण्ड तक सीमित थीं। सरस्वती और दृशद्वती नदियों के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त के नाम से प्रसिद्ध था, और वहाँ जो आचार-प्रणाली परम्परागत रूप से चली आ रही थी उसीको सदाचार कहा गया। इस आचार की दीवार प्रथा के ऊपर खड़ी थी, चाहे उस प्रथा में कितनी ही निष्ठुरता क्यों न हो, कितना ही अविचार क्यों न हो। इसीलिए प्रचलित संस्कार—जिनमें आचार-व्यवहार को ही प्राधान्य प्राप्त था—हमारे चित्त के स्वातन्त्र्य का अपहरण कर चुके थे। सदाचार के जिस आदर्श को मनु के एक दिन ब्रह्मावर्त में प्रतिष्ठित देखा उसी आदर्श से लोकाचार को आश्रय मिला। मेरे जीवन के प्रारम्भिक काल में इस तरह के बाह्य आचार के विरुद्ध देश के शिक्षित लोगों में विद्रोह की भावना फैली थी: अँग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव ही इस भावना के पीछे था। यह बात उस विवरण को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है जिसमें राजनारायण बाबू ने तत्कालीन शिक्षित संप्रदाय के व्यवहार का वर्णन किया है। अँग्रेज़ों के चरित्र से सम्बन्ध स्थापित करके इस सदाचार के बदले सभ्यता का आदर्श हमने ग्रहण किया था। न्याय-बुद्धि के अनुशासन से प्रेरित होकर हमारे परिवार ने, धर्म-मत और लोक-व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में, यह परिवर्तन पूर्ण रूप से स्वीकार किया था। इसी भाव के वातावरण में मेरा जन्म हुआ था। मेरे

स्वाभाविक साहित्य-प्रेम ने भी अँग्रेज़ों को उच्चासन पर बिठाया। इस तरह जीवन का प्रथम भाग व्यतीत हुआ। उसके बाद जो अध्याय शुरू हुआ वह कठिन दुःख का अध्याय था। बार-बार मैंने देखा कि जो लोग चरित्र के मूल स्रोत से सभ्यता को ग्रहण करते हैं वे भी प्रतिद्वन्द्वियों के सामने आते ही बड़ी आसानी से सभ्यता का अतिक्रमण कर सकते हैं।

एकान्त में किये गए साहित्य-रसभोग के वेष्टन से एक दिन मुझे बाहर आना पड़ा। उस दिन भारतीय जनता का दारुण और हृदय-विदारक दारिद्र्य मेरे सामने आया। खाने-पहनने के साधनों का और शिक्षा तथा आरोग्य की सुविधाओं का जैसा आत्यन्तिक अभाव भारत में है वैसा शायद पृथ्वी के किसी दूसरे ऐसे देश में न होगा जहाँ आधुनिक शासन-व्यवस्था विद्यमान है। फिर भी यही देश दीर्घकाल तक अँग्रेज़ों के ऐश्वर्य का संवर्धन करता आया है। जब मैं सभ्य जगत् की महिमा का एकान्त-चित्त से ध्यान करता था उस दिन कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सभ्य कहलाने वाले मानव-आदर्श का ऐसा निष्ठुर और विकृत रूप भी सम्भव है। अन्त में मैंने इसी विकृति के बीच कोटि-कोटि जन-साधारण के प्रति सभ्य देशों का असीम, अवज्ञापूर्ण औदासीन्य देखा।

यह निःसहाय देश उस यान्त्रिक शक्ति से वंचित है जिसके आधार पर अँग्रेज़ अपने विश्वव्यापी कर्त्तृत्व की रक्षा करते आए हैं। लेकिन मेरे सामने जापान का भी चित्र है। देखते-ही-देखते उसी यान्त्रिक शक्ति की सहायता से जापान सभी तरह से सम्पन्न हो उठा है। जापान की समृद्धि मैंने अपनी आँखों से देखी है। वहाँ मैंने एक स्वाधीन जाति के सभ्य शासन का रूप भी देखा है। और मैंने यह भी देखा है कि रूस के मास्को नगर में जनता के बीच शिक्षा-विस्तार और आरोग्य-साधन के क्षेत्रों में कैसा असाधारण अध्यवसाय है। इस अध्यवसाय के प्रभाव से उस विशाल साम्राज्य की सीमाओं से मूढ़ता, दैन्य और अवमानना निर्वासित हो चुके हैं। उस सभ्यता में जातिभेद नहीं है। विशुद्ध मानवीय सम्बन्ध का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। रूस की आश्चर्यजनक परिणति देखकर मैंने एक ही समय ईर्ष्या और आनन्द का अनुभव किया है। जब मैं मास्को गया, रूसी शासन-व्यस्था की एक विशेषता ने मेरे अन्तःकरण को स्पर्श किया — मैंने देखा कि वहाँ राष्ट्रीय अधिकारों में मुसलमान भी हिस्सेदार हुए, और इस बात का अमुसलमानों के पक्ष से कोई विरोध नहीं हुआ। दोनों ने मिल-जुलकर कल्याणकारी सम्बन्ध जोड़े, और यही वहाँ की शासन-व्यवस्था की यथार्थ भूमिका है। बहुसंख्यक परकीय जातियों को इतना प्रभावित कर सके, ऐसी राष्ट्रीय शक्ति आज मुख्यतः केवल दो देशों के हाथों में है— एक इंग्लैंड और दूसरा सोवियत

रूस। अँग्रेज़ों ने इस शक्ति के द्वारा परकीय जातियों के पौरुष को दलित करके उन्हें सदा के लिए निर्जीव कर दिया है। सोवियत रूस के साथ रेगिस्तान के मुसलमानों की बहुसंख्यक जातियों का राष्ट्रीय जीवन में सम्बन्ध जुड़ा है—और मैं स्वयं इस बात का साक्षी हूँ कि उन्हें सभी तरह से शक्तिमान् बनाने का रूस ने निरन्तर प्रयत्न किया है। सभी विषयों में उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए सोवियत सरकार ने जो चेष्टाएँ की हैं उनके प्रमाण मैं देख चुका हूँ, और उनके बारे में मैंने पढ़ा भी है। इस तरह का सरकारी प्रभाव अपमानजनक नहीं होता, उससे मनुष्यत्व की हानि नहीं होती। वहाँ का शासन ऐसी विदेशीय शक्ति का शासन नहीं है जो एक कठोर यन्त्र की तरह जनता को पीसती रहे। मैं देख आया हूँ कि वही फ़ारस जो एक दिन योरोपीय देशों के जाँते में पिस रहा था आज उस निष्ठुर आक्रमण से अपने-आपको मुक्त कर चुका है। यह नवजागृत देश अपनी शक्ति को परिपूर्ण करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। मैंने यह भी देखा है कि ज़रथुस्त-वादियों और मुसलमानों के बीच जो संघर्ष और प्रतियोगिता थी उसे वर्तमान सभ्य शासन ने बिलकुल समाप्त कर दिया है। फ़ारस के सौभाग्य का मुख्य कारण यही है कि योरोपीय देशों के चक्र से उसे छुटकारा मिला है। आज फ़ारस के कल्याण के लिए मैं अन्तःकरण से कामना करता हूँ। हमारे पड़ोसी देश अफ़गानिस्तान में शिक्षा और समाज-नीति में इस तरह का सर्वव्यापी उत्कर्ष अभी तक नहीं हुआ। लेकिन ऐसे उत्कर्ष की सम्भावना आज बनी हुई है। और इसका भी एक-मात्र कारण यही है कि सभ्यता के गर्व में चूर कोई योरोपीय देश उसे आज आक्रान्त नहीं कर रहा है। देखते-ही-देखते ये लोग चारों दिशाओं में उन्नति और मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होते जा रहे हैं।

अँग्रेज़ों के 'सभ्य' शासन का भारी पत्थर अपने सीने पर लिये हुए हमारा देश निरुपाय निश्चलता की धूल में पड़ा रहा। चीन के इतने बड़े इस प्राचीन सभ्य देश को अँग्रेज़ों ने जातीय स्वार्थ-साधना के विषैले देश से जर्जरित कर दिया। उसके कुछ ही दिन बाद चीन का एक हिस्सा भी उन्होंने हड़प लिया। अतीत की यह घटना हम भूल चले थे जब हमने यकायक देखा कि चीन का उत्तरी भाग अपने गले के नीचे उतारने के लिए जापान प्रस्तुत है। इंग्लैंड के प्रवीण राज-नीतिज्ञों ने तिरस्कारपूर्ण और उद्धत शब्दों में जापान की निन्दा की और उसकी नीति को 'तुच्छ दस्यु वृत्ति' ठहराया ! बाद में स्पेन की प्रजातन्त्रवादी सरकार के साथ इंग्लैंड ने कैसा व्यवहार किया, और किस कौशल के साथ उस सरकार की जड़ें काटी गईं, यह भी हमने दूर से देखा। लेकिन उस समय यह भी देखने में आया कि इंग्लैंड में ऐसे लोगों का एक दल अवश्य था जिसने विपद्ग्रस्त स्पेन के

लिए आत्म-बलिदान किया। यद्यपि इंग्लैंड की यह उदारता उस समय जागरित नहीं हुई जब एक प्राच्य देश—अर्थात् चीन—संकट में था, फिर भी एक योरोपीय देश की स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए जब कुछ वीरों को प्राणाहुति देते देखा तब यह बात स्मरण हो उठी कि किसी दिन इंग्लैंड को हमने मानव-हितैषी के रूप में देखा था और विश्वास के साथ उसकी भक्ति में हम लगे थे। योरोपीय देशों की स्वभावगत सभ्यता के प्रति हमारा विश्वास धीरे-धीरे क्यों जाता रहा, यह समझाने के लिए ही यह शोचनीय इतिहास आज मुझे दोहराना पड़ा। सभ्य शासन की अधीनता में भारत की जो सबसे बड़ी दुर्गति हुई है वह यह नहीं है कि यहाँ अन्न, वस्त्र, शिक्षा और आरोग्य-साधनों का दुखद अभाव है। सबसे बड़ी दुर्गति तो यह है कि आज भारतवासियों के बीच अतिनृशंस आत्मविच्छेद उत्पन्न हो गया है। इस तरह का आत्म-विच्छेद भारत के बाहर किसी भी स्वाधीन मुसलमान देश में दिखाई नहीं पड़ता। और मुश्किल यह है कि इस परिस्थिति के लिए हमें अपने ही समाज को उत्तरदायी ठहराना पड़ता है। किन्तु इस दुर्गति का रूप क्रमशः अत्यन्त उत्कट होता जा रहा है। शासन-यन्त्र के ऊपरी भाग में यदि इस आत्मविच्छेद को गुप्त रूप से प्रश्रय न मिलता तो भारतीय इतिहास में जो इतनी बड़ी अपमानजनक और असभ्य बातें हुईं, वह न होतीं। बुद्धि-सामर्थ्य में भारत के लोग जापानियों से किसी तरह कम हैं, यह बात मानी नहीं जा सकती। इन दो प्राच्य देशों में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ भारत अँग्रेज़ी शासन से अधिकृत और आक्रान्त रहा, जापान पाश्चात्य देशों की छाया के आवरण से मुक्त रहा। यह विदेशी सभ्यता—यदि इसे सभ्यता कहा जाय—हमसे क्या कुछ छीन चुकी है, हम जानते हैं। उसके हाथ में वह दण्ड है जिसे 'विधि और व्यवस्था' (Law and Order) का नाम दिया गया है। यह पूर्णतया बाहर की चीज़ है। यह तो 'दरबानी' है।

पाश्चात्य जातियों को अपनी सभ्यता पर जो गर्व है उसके प्रति श्रद्धा रखना अब असम्भव हो गया है। वह सभ्यता हमें अपना शक्ति-रूप दिखा चुकी है लेकिन मुक्ति-रूप नहीं दिखा सकी। मनुष्य का मनुष्य के साथ वह सम्बन्ध, जो सबसे अधिक मूल्यवान है और जिसे वास्तव में सभ्यता कहा जा सकता है, यहाँ नहीं मिलता। इसके अभाव से भारत का उन्नति-पथ अवरुद्ध हो गया है। फिर भी मेरा यह व्यक्तिगत सौभाग्य रहा है कि बीच-बीच में मैं महान् अन्तःकरण के अँग्रेजों के साथ मिलता रहा हूँ। ऐसी महानता मैं अन्य किसी देश या सम्प्रदाय में नहीं देख पाया। इन लोगों ने अँग्रेज़ों के प्रति मेरे विश्वास को आज भी बनाए रखा है। उदाहरण के लिए मैं एण्ड्रयूज़ का उल्लेख कर सकता हूँ। यह मेरा सौभाग्य था कि मित्र के रूप में एण्ड्रयूज़ को मैंने बहुत समीप से देखा। उनमें मुझे एक यथार्थ

अँग्रेज़, यथार्थ ईसाई और यथार्थ मानव का दर्शन हुआ। कई कारणों से हमारा देश एण्ड्रयूज़ के प्रति कृतज्ञ है, किन्तु एक विशेष कारण ऐसा है जिससे मैं व्यक्तिगत रूप से उनका अत्यन्त ऋणी हूँ। अँग्रेज़ी साहित्य के परिवेश में मैंने अपनी तरुण अवस्था में अँग्रेज़-जाति को सम्पूर्ण चित्त से निर्मल श्रद्धा अर्पित की थी। एन्ड्रयूज़ की सहायता से आज जीवन के अन्तिम दिनों में इस श्रद्धा को जीर्ण या कलंकित होने से मैं बचा सका हूँ। उनकी स्मृति के साथ अँग्रेज़-जाति की मर्मगत महानता मेरे मन में अटल रहेगी। एण्ड्रयूज़-जैसे लोगों को मैं अपने निकटतम मित्रों में गिनता हूँ और उन्हें समस्त मानव-जाति का सुहृद मानता हूँ। उनका परिचय मेरे जीवन में एक श्रेष्ठ सम्पदा के रूप में सञ्चित है। मैं सोचता हूँ, उनके द्वारा अँग्रेज़ों की महत्ता का सब तरह की विपत्तियों से उद्धार हो सकेगा। उन्हें यदि मैं न देखता और न जानता तो पाश्चात्य देशों के प्रति मेरा नैराश्य ज्यों-का-त्यों बना रहता।

इसी बीच मैंने देखा कि योरोप में मूर्तिमन्त बर्बरता अपने नखदन्त बाहर निकालकर विभीषिका की तरह बढ़ती जा रही है। मानव-जाति को पीड़ित करने वाली इस महामारी का पाश्चात्य सभ्यता की मज्जा में जन्म हुआ। वहाँ से उठकर आज उसने मानव-आत्मा का अपमान करते हुए दिग्दिगन्तर के वातावरण को कलुषित कर दिया है। हमारे अभागे, निःसहाय, जकड़े हुए देश की दरिद्रता में क्या हमें उसका आभास नहीं मिलता ?

एक-न-एक दिन भाग्यचक्र पलटा खायगा, और अँग्रेज़ों को अपना भारतीय साम्राज्य छोड़कर चला जाना होगा। लेकिन किस तरह के भारत को वे पीछे छोड़ जायँगे ? वह कैसी दारुण दीनता और मलिनता होगी ? एक शताब्दी से अधिक काल तक जो शासन-धारा चली आ रही है वह जब शुष्क होगी तो उसकी विस्तृत पंक-शय्या इस दुःसह निष्फलता का भार कैसे वहन कर सकेगी ? जीवन के प्रथम भाग में मेरा हार्दिक विश्वास था कि सभ्यता-दान ही योरोप की आन्तरिक सम्पत्ति है। आज जब जीवन से विदा होने का दिन समीप आ रहा है मेरे इस विश्वास का दिवाला निकल चुका है। आज मेरी यही आशा है कि हमारी इस दारिद्र्य-लांछित कुटिया में कोई परित्राता जन्म ग्रहण करेगा। मैं यह भी उम्मीद करता रहूँगा कि वह परित्राता पूर्व-दिगंत से ही आयगा, सभ्यता की देववाणी साथ लाकर मनुष्य को मनुष्यत्व के चरम आश्वास की वार्ता सुनायगा। आज नदी-पार यात्रा कर रहा हूँ। जिन घाटों से गुज़रा हूँ वहाँ मैंने क्या-क्या देखा है, वहाँ क्या-क्या छोड़ आया हूँ ! इतिहास के जुठारे हुए सभ्यताभिमान के कैसे भग्न स्तूप ! लेकिन मनुष्य के प्रति विश्वास खो देना पाप है। अन्तिम क्षण तक इस विश्वास

की रक्षा करूँगा। आशा करूँगा कि महाप्रलय के बाद, वैराग्य के मेघमुक्त आकाश में, इसी पूर्वांचल से इतिहास का नया आत्मप्रकाशन आरम्भ होगा और एक दिन अपराजित मानव, अपनी खोई हुई मर्यादा फिर से प्राप्त करने के लिए, सभी बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए जय-यात्रा के लिए अग्रसर होगा। मनुष्यत्व के पराभव को अन्तहीन, प्रतिकारहीन और चरम समझना मेरी दृष्टि में अपराध है।

आज यही बात कहकर विदा होता हूँ कि जो लोग प्रबल और प्रतापशाली हैं उनकी शक्ति, गर्व और आत्माभिमान अजेय नहीं हैं। इस बात के स्पष्ट होने का दिन आज हमारे सम्मुख है। निश्चय ही इस सत्य का हमें प्रमाण मिलेगा कि—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ।।

महामानव का आगमन है।
दिशा-दिशा में घास का तिनका-तिनका रोमाञ्चित है।
देवलोक में शंख बज उठा—!
महाजन्म की शुभ घड़ी आ पहुँची।
आज अमावस्या के तोरण टूट कर धूलि-धूसरित हुए।
उदय के शिखर पर 'मा भैः मा भैः' के शब्द निनादित होते हैं,
उनमें नवजीवन का आश्वास है।
'जय-जय-जय रे मानव अभ्युदय'—
इस मन्द्र-ध्वनि से आकाश गूँज उठा।

[बंगला नव-वर्ष-दिवस (वैशाख १३४८ बं० सं०) १४ मई, १९४१ को शान्तिनिकेतन में पढ़ा गया रवीन्द्रनाथ का अन्तिम सन्देश। द्वितीय विश्वयुद्ध १९३९ में प्रारम्भ हुआ था। इसका अँग्रेजी अनुवाद 'क्राइसिस इन सिविलाइज़ेशन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।]

गाँव का रूप

मधुमक्खियाँ छत्ता बनाती हैं---उनकी मूल इच्छा है अन्न-व्यवस्था। फूल-फूल में, कण-कण में, शहद है। कोई ऋतु उदार है, कोई कृपण। जो मधुमक्खियाँ दल बाँधकर मधु-संचय कर सकती हैं, उनके छत्ते में लोकालय की सृष्टि होती है। लोकालय का अर्थ केवल अनेक लोगों के एकत्रित होने का गणित रूप नहीं; इसमें व्यवहार-नीति द्वारा एकत्रित होने का कल्याण रूप भी है।

जिसका आरम्भ उपभोग की दिशा से होता है वही क्रिया आगे चलकर त्याग की ओर अभिमुख होती है। सबके लिए काम करना केवल अपने लिए काम करने की अपेक्षा श्रेयस्कर माना जाता है। जो दान अपने जीवन-काल में उपयुक्त नहीं होता उस दान में भी कृपणता नहीं रहती। लोकालय से एक ऐसे आश्रय-स्थान का बोध होने लगता है, जहाँ अपने साथ पराए का और वर्तमान के साथ भविष्य का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो। यही है 'अन्न ब्रह्म' का तत्त्व; अर्थात् अन्न का प्रयोजन जब बृहत् होता है तो वह अन्न को पीछे छोड़कर एक ऐसे सत्य को व्यक्त करता है जो महान् है। आदिम काल में पशुओं का शिकार करके मानव अपनी जीविका चलाता था; इससे लोकालय का निर्माण नहीं हो सका। अन्न-प्राप्ति अनिश्चित थी, दस्युवृत्ति ही उनका व्यवसाय था, और उनका व्यवहार असामाजिक था।

बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे मनुष्य की अन्न-व्यवस्था सुनिश्चित और प्रचुर हुई। नील, यांग-सी-क्यांग, ऑक्सस, युफ्रेटीस, गंगा, यमुना—इन नदियों के तट पर बड़ी-बड़ी सभ्यताओं का जन्म हुआ, लोकालय के निर्माण की व्यवस्था हुई। जब भूमि कर्षण-द्वारा मनुष्य एक ही स्थान पर प्रतिवर्ष यथेष्ट फसल उगाने लगा, तब बहुत-से लोगों का स्थायी भाव से एकत्र आवास बन सका; और तब से दूसरों को वंचित करने के बदले दूसरों को अपने अनुकूल करने में ही मनुष्य सफलता समझने लगा। एकत्र होने की जो सामाजिक मनोवृत्ति आन्तरिक रूप से मनुष्य के लिए स्वाभाविक है वह अन्न-व्यवस्था का सुयोग पाकर शक्तिशाली हुई। मनुष्य को धरतीमाता का निमन्त्रण मिला। सब लोग साथ-साथ एक ही पंगत में बैठ गए। पारस्परिक भाई-चारे का सन्धान मिला। अन्न के द्वारा लोगों ने एक प्राण का सम्बन्ध स्वीकार किया; उन्होंने देखा, पारस्परिक योग में केवल सुविधा ही नहीं, आनन्द भी है। इस आनन्द के लिए व्यक्तिगत क्षति को---यहाँ

तक कि मृत्यु को भी—स्वीकार करना सम्भव हुआ।

पृथ्वी हमें जो अन्न देती है उससे हमारा पेट ही नहीं भरता, हमारी आँखें भी तृप्त होती हैं, मन सन्तुष्ट होता है। दिगन्त तक फैली हुई सुनहरी फसल आकाश में प्रसारित स्वर्ण-राग में अपना सुर मिलाती है। इस रूप को देखकर मनुष्य केवल भोजन की ही बात नहीं सोचता, वह उत्सव का आयोजन करता है, वह लक्ष्मी को देख पाता है---उस लक्ष्मी को जो सुन्दरी होने के साथ-साथ कल्याणी भी है। धरणी के अन्न-भण्डार से हम केवल क्षुधा-शान्ति की ही आशा नहीं करते, उसमें सौन्दर्य का अमृत भी है। वृक्ष में लगे फल हमें पुकारते हैं—केवल पौष्टिक अन्न-पिंड बनकर नहीं, रूप-रस-गंध-वर्ण लेकर। इससे हिंसा को प्रेरणा नहीं मिलती—यह सौहार्द की पुकार है; पृथ्वी के अन्न की तरह मनुष्य का सौहार्द भी सुन्दर है। अकेले अन्न खाने से केवल पेट भरता है; जब पाँच जने मिलकर खाते हैं, आत्मीयता का बोध होता है। इस आत्मीयता के यज्ञ-क्षेत्र में अन्न की थाली सुन्दर होती है, उसकी वितरण-क्रिया शोभनीय होती है, सारा वातावरण परिष्कृत होता है।

दैन्य से मनुष्य का दायित्व संकुचित होता है। लेकिन दाक्षिण्य में ही समाज की प्रतिष्ठा है। इसीलिए धरती के अन्न-भण्डार के प्रांगण में ही गाँव बसे हैं। मनुष्य के अन्दर जो अमरत्व है वह इस मिलन में प्रकाशित होता है—धर्म-नीति साहित्य, संगीत, शिल्प-कला, कितने ही वैचित्र्यपूर्ण आयोजन, सब उसी अमरत्व को व्यक्त करते हैं। इस मिलन से मनुष्य को गम्भीर भाव से आत्म-परिचय मिला है, अपनी परिपूर्णता का रूप उसे दिखाई पड़ा है।

गाँव के साथ-साथ नगर का भी उद्‌भव होता है। वहाँ राष्ट्रशासन की शक्ति पुंजीभूत होती है, सैनिकों का दुर्ग, वणिकों की पण्यशाला, विद्यार्जन और विद्यादान के लिए शिक्षकों-छात्रों का मिलन-स्थान—सभी कुछ बनता है। पृथ्वी के साथ लेन-देन का योग प्रस्थापित होता है। वहाँ मिट्टी के सीने पर पत्थर का भार पड़ता है, जीविका कठिन होती है, प्रतियोगिता में शक्ति-व्यय होता है। वहाँ 'सर्वमानव' को पराजित करके 'एकाकी मानव' बड़ा होना चाहता है। यदि उचित सीमा तक रहे तो इस प्रवृत्ति का भी परिणाम बुरा नहीं होता। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर बहुत अधिक दबाव पड़े, तो व्यक्तिगत शक्ति की उन्नति नहीं हो पाती। समान ऊँचाई वाले पेड़ों के दबाव से वट वृक्ष भी बौना रह जाता है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की आकांक्षा समाज की साधारण आश्रय-भूमि को ऊँचा उठाती है; उत्कर्ष का आदर्श ऊपर उठता है, परस्पर अनुसरण और प्रतियोगिता से मनुष्य की शक्ति सचेष्ट हो जाती है, ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में नव-नवोन्मेष

सम्भव होता है, विविध देशों और जातियों के चित्त-समवाय से विद्या का आयतन प्रशस्त होता है। शहर में, जहाँ समाज का दबाव बहुत प्रबल नहीं होता, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को बढ़ने का अवसर मिलता है, मनःशक्ति साधारण आदर्श के निम्न स्तर को छोड़कर ऊपर उठती है। इसीलिए सभी देशों और युगों में बौद्धिक जड़ता या संकीर्णता को 'ग्राम्यता' कहा गया है।

शहर में मनुष्य का कर्मोद्यम केन्द्रित होता है। यह आवश्यक भी है। हमारे शरीर में प्राण-शक्ति व्याप्त है, लेकिन वह विशेष रूप से अलग-अलग जगहों पर संहत भी है। निम्न श्रेणी के प्राणियों में मर्मस्थान इस तरह संहत नहीं होते। शारीरिक विकास के साथ-ही-साथ मस्तिष्क, फेफड़े, हृत्पिंड, पाक-यन्त्र इत्यादि विशेष यन्त्र उत्पन्न हुए। इनकी तुलना नगरों के साथ की जा सकती है।

नगर समाज के विशेष प्रयोजनों के साधन-केन्द्र होते हैं। मनुष्य के उद्यम ने अलग-अलग स्थानों पर, विशेष लक्ष्य सामने रखकर, उनका निर्माण किया है। प्राचीन काल में धनसृष्टि-जैसे प्रयोजनों की सिद्धि में यन्त्र का विशेष महत्त्व नहीं था। उन दिनों यन्त्रों के साथ मनुष्य के देह-मन का योग अविच्छिन्न था। उनसे जो उत्पन्न होता था उसमें मुनाफ़ा अधिक नहीं होता था। वस्तुओं के निर्माण में कर्म-शक्ति का आनन्द ही महत्त्वपूर्ण था। कर्मफल का लोभ कम था। इसलिए प्राचीन काल के नगर मानव-कीर्ति का आनन्द-रूप ग्रहण कर पाते थे।

अन्य विकारों की तरह लोभ भी एक समाज-विरोधी प्रवृत्ति है — इसीलिए मनुष्य उसे 'रिपु' कहता है। बाहर से जिस तरह चोर समाज का 'रिपु' है वैसे ही आन्तरिक पक्ष से लोभ है। जब तक यह सीमित होता है, तब तक उससे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की कार्यशीलता बढ़ती है और वह समाज-नीति को क्षति नहीं पहुँचाता। लेकिन जब लोभ का कारण प्रबल होता है और उसकी सफलता का उपाय विपुल होता है, समाज-नीति उसको रोक नहीं पाती। आधुनिक काल में यन्त्र की सहायता से कर्मशक्ति का विकास हुआ है; उसी तरह लाभ की मात्रा — और साथ-साथ लोभ की मात्रा बहुत बढ़ गई है। इसीलिए व्यक्तिगत स्वार्थ का समाज-कल्याण के साथ जो सामञ्जस्य था वह विचलित हो गया है। देखते-ही-देखते चारों ओर संघर्ष बढ़ गया। इस अवस्था में गाँव के साथ शहर का सामञ्जस्य नहीं रहता; शहर गाँव का शोषण करता है, बदले में उसे कुछ नहीं देता।

आज गाँव का दीप बुझ गया है। नगर में कृत्रिम दीप जल उठा है; उसमें सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र का संगीत नहीं है। उदीयमान सूर्य को प्रणाम नहीं किया जाता, सूर्यास्त के समय आरती का जो दीप जलता था वह म्लान है। जलाशय का

पानी ही नहीं सूखा, हृदय भी शुष्क हो गया है। हृदय के आनन्द से जो नृत्य-गीत फूल की तरह जाग उठते थे, वे धूलि-लुण्ठित है। प्राण के औदार्य ने आज तक सहज आनन्द के सुन्दर उपकरण अपने-आप बनाए थे लेकिन अब वह निःशब्द हो गया है, उसे हमारा आश्रय लेना पड़ता है। उसकी निर्भरता जितनी बढ़ती जा रही है, उतनी ही उसकी सृजन-शक्ति घटती जा रही है।

नवाबों के काल में बड़े-बड़े कर्मचारी, जो राजधानी में राज-दरबार में— उन्नत हुए थे, अपने गाँव के सामाजिक बन्धनों को प्रेमपूर्वक स्वीकार करते थे। वे शहर में जो कुछ कमाते थे उसे गाँव में खर्च करते थे। मिट्टी से जल आकाश में जाता था, फिर मिट्टी के पास लौटता था; अन्यथा धरती मरुभूमि बन जाती। लेकिन आजकल गाँव से जो प्राण-धारा शहर की ओर जाती है उसका गाँव के साथ योग नहीं रहता।

आज यन्त्र की भेरी बजी है; उसने एक के बाद एक मानव-समूहों को लोभ दिखाकर स्निग्ध समाजनीति से दूर पुकारा है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था की ओर लौटा है—आरण्यक युग की बर्बर व्यक्ति-स्वतन्त्रता ने फिर प्रबल रूप धारण किया है। स्वातन्त्र्य-भोग के लिए अपना अलग दुर्ग बनाकर मनुष्य दूसरों का शोषण और अपना पोषण करने लगा है। किसी दिन गाँव में लोगों का एकत्रीकरण हुआ था, मिल-जुलकर संग्रह, संचय और भोग करने के लिए। आज कहीं अधिक संख्या में लोग एकत्रित हो रहे हैं, लेकिन प्रत्येक का भोग-केन्द्र वह स्वयं है। तभी समाज के सहज विधान की अपेक्षा पुलिस का पहरा ज़्यादा कड़ा है। आत्मीयता के बदले क़ानून की जटिलता बाहर से ज़ंजीरें कस रही है। हमारे देश में धनी-दरिद्र का विच्छेद तीव्र नहीं था, धन का सम्मान अन्य सभी के नीचे था; और धनी अपने धन का दायित्व स्वीकार करता था। अर्थात् उस समय धन असामाजिक नहीं था, प्रत्येक के धन से सारा समाज धनी हो उठता था। मान-अपमान और भोग ने धन का आश्रय लेकर, अहंकार-पूर्वक, मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों का मार्ग अवरुद्ध नहीं किया था। आज 'अन्नब्रह्म' लोभ का विषय हो गया है, छोटा बन गया है। जिसने एक दिन समाज को बनाया वह आज समाज को तोड़ रहा है, पृथ्वी को रक्त में प्लावित कर रहा है, मनुष्य के मन को दासत्व से जीर्ण कर रहा है। तभी आज धन-दारिद्रय का तीव्र असामञ्जस्य दूर करने के लिए चारों ओर लोग उत्तेजित हो रहे हैं

आज की साधना है समाज को फिर से समग्र करने की साधना। विशिष्ट लोग और साधारण लोग, सबको शक्ति और सौहार्द से, नगर में और ग्राम में, मिलकर अपने जीवन को परिपूर्ण करना है। क्रान्ति के द्वारा यह पूर्णता नहीं

प्राप्त की जा सकती। क्रान्तिकारी एक असामंजस्य से दूसरे असामंजस्य तक दौड़ लगाते हैं, सत्य को काट-छाँटकर सरल बनाना चाहते हैं। वे भोग को निर्वासित करते हैं। वे मानव-प्रकृति को पंगु बनाकर शासन के अधीन लाना चाहते हैं। सत्य को समग्र रूप से ग्रहण न किया गया तो मानव-स्वभाव वंचित रह जाता है—और इसमें अस्वास्थ्य है, अशान्ति है। मैंने यन्त्रों का उल्लेख किया—उनसे काफी अकाज होता है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि उन्हें वर्जित करना चाहिए। यन्त्र भी हमारी प्राण-शक्ति का अंग है—यह पूर्णतया मनुष्य की बनाई चीज़ है। हाथ से डाका डाला है इसलिए हम उसे काटेंगे नहीं —उसी हाथ से प्रायश्चित कराना है। अपने को पंगु बनाकर अच्छा होने की साधना कायरता की साधना है। मानव की शक्ति विविध दिशाओं में विकासोन्मुखी है; उनमें से किसी दिशा की अवज्ञा करने का हमें अधिकार नहीं। आदिम युग से मनुष्य ने लगातार यन्त्र बनाने का प्रयत्न किया है। जैसे ही वह किसी प्राकृतिक शक्ति के रहस्य का अविष्कार करता है, कोई-न-कोई यन्त्र बनाकर उस शक्ति को अपने अधीन कर लेता है, अपने व्यवहार में लाता है। इसीसे मानव-सभ्यता के नए पर्यायों का आरम्भ होता है। जब पहले-पहल मनुष्य ने हल तैयार करके भूमि की उर्वरा-शक्ति पर अधिकार प्राप्त किया, उसकी जीवन-यात्रा के इतिहास पर से एक पर्दा उठ गया। उस आवरण के हटने से मानव की अन्नशाला का ही विस्तार नहीं हुआ; इतने दिनों तक उसके मन में जो बहुत-से कक्ष अन्धकार में पड़े थे, उनमें आलोक ने प्रवेश किया। इस सुयोग से वह बहुत-सी दिशाओं में महान् हुआ। एक दिन मनुष्य पशु-चर्म से अपना शरीर ढकता था; जब चरखा चलाकर उसने पहले-पहल कपड़ा बुना उस दिन शरीर ढाँपने में ही आसानी नहीं हुई, उसकी शक्ति उद्बोधित हुई और उसके प्रभाव में वृद्धि हुई। आज मनुष्य का शरीर ही नहीं, उसका मन भी आच्छादित हो गया है। जिस मानव-लोक की वह सृष्टि करता है उसमें कपड़ा एक आवश्यक उपादान है। आज हम राष्ट्रीय पोषाक को छोटी बना रहे हैं, लेकिन उधर राष्ट्रीय झण्डे का आकार बढ़ता जा रहा है! इसका अर्थ यही है कि कपड़ा केवल आच्छादन नहीं, उसमें एक भाषा है। कपड़ा तैयार करके मानव-मन ने आत्म-प्रकाश का एक नया माध्यम प्राप्त किया। इस प्रवृत्ति का आरम्भ तभी हुआ जब चतुष्पद की अवस्था से मनुष्य दो हाथ और दो पैर वाले जीव की अवस्था में पहुँचा। मनुष्य ने जब दो हाथ प्राप्त किये, पृथ्वी के साथ उसकी व्यवहार-क्षमता बढ़ गई। देह-शक्ति की इस विशेषता से मनःशक्ति की विशेषता भी उसे मिली। तब से हाथों की सहायता से औज़ार बनाकर मनुष्य अपने हाथों की शक्ति को बढ़ाता रहा है। विश्व के साथ उसके

सम्बन्ध बढ़ते गए, मन के रुद्ध-द्वार विविध दिशाओं में खुलते चले गए। यदि कोई संन्यासी कहे कि विश्व के साथ मानव की व्यवहार-शक्ति को संकुचित करना चाहिए तो उसे मनुष्य के दोनों हाथों को ही सबसे पहले अपराधी ठहराना होगा। घोर संन्यासी ऐसा करते भी हैं; वे ऊर्ध्वबाहु हो जाते हैं, कहते हैं : संसार से हमारा कोई सम्पर्क नहीं, हम मुक्त हैं। यदि हम कहें कि हाथ की शक्ति को थोड़ी दूर तक बढ़ने देंगे, बहुत दूर तक नहीं, तो यह भी एक तरह से ऊर्ध्वबाहुत्व का ही सिद्धान्त हुआ। इतने बड़े अनुशासन का अधिकार दुनिया में किसके पास है ? "विश्व-कर्मा ने मनुष्य को जितनी दूर तक पहुँचने का आह्वान दिया है उतनी दूर तक हम उसे जाने नहीं देंगे:" यह कहकर विधातादत्त-शक्ति को पंगु बनाने की धृष्टता किस समाज-नायक को शोभा देती है ? शक्ति को व्यवहार में लाने के मार्ग को हम समाज-कल्याण के अनुगत कर सकते हैं, उसे नियमित बना सकते हैं, लेकिन शक्ति के प्रकाशन-मार्ग को हम अवरुद्ध नहीं कर सकते।

जिस तरह मनुष्य ने एक दिन हल-बैल को, चर्खा-ताँत को, तीर-कमान को, और पहियेदार वाहनों को ग्रहण किया, उन्हें अपनी जीवन-यात्रा का अनुगत बनाया, वैसे ही हमें आधुनिक यन्त्रों को ग्रहण करने करना पड़ेगा। यन्त्रों के प्रयोग में पिछड़े हुए लोग इस क्षेत्र में आगे बढ़े हुए लोगों की बराबरी नहीं कर सकते--ठीक उसी कारण से जिससे चतुष्पद-जीव दो पैर वाले मानव की बराबरी नहीं कर सकता।

आज यन्त्र की मदद से एक आदमी धनी है तो हज़ार आदमी उसके नौकर हैं, इससे यही प्रमाणित होता है कि यन्त्र द्वारा एक मनुष्य एक हज़ार मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली बन सकता है। यदि इसमें दोष है तो वह दोष विद्यार्जन का है। विद्या की सहायता से विद्वान् मनुष्य अविद्वान् की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिलाभ कर सकता है। हम केवल यही माँग कर सकते हैं कि यन्त्र से और उससे सम्बन्धित विद्या से, जो वृहत् शक्ति उत्पन्न होती है वह किसी व्यक्ति या दल विशेष तक ही सीमित न हो, बल्कि सर्व-साधारण में व्याप्त हो जाय, किसी विशेष व्यक्ति के अधीन होकर शक्ति मनुष्य को विच्छिन्न न करे, शक्ति सर्वदा अपना सामाजिक दायित्व स्वीकार कर सके।

प्रकृति का दान और मनुष्य का ज्ञान—इन दोनों के मिलने से ही सभ्यता का विविध क्षेत्रों में विकास हुआ है। आज भी इन दोनों का सहयोग आवश्यक है। जहाँ मानव-ज्ञान किसी प्राचीन अभ्यस्त रीति में अपनी सम्पदा को बन्द करके सो जाता है, वहाँ कल्याण नहीं। संचित धन का क्षय होता रहता है। एक युग के मूलधन से हम अनेक युगों की जीवन-यात्रा नहीं चला सकते—हमारे युग

में यही देखा जा रहा है।

विज्ञान ने मनुष्य को महान् शक्ति प्रदान की है। जब वह शक्ति सारे समाज की होकर काम करेगी तभी सत्य-युग का पदार्पण होगा। आज उसी परम-युग का आह्वान मिला है। आज हमें मनुष्य से कहना है: 'तुम्हारी यह शक्ति अक्षय हो, कर्म और धर्म के क्षेत्र में विजयी हो, मानव की शक्ति दैवी है, उसके विरुद्ध करना नास्तिकता है।'

मानवीय शक्ति के नूतनतम विकास को गाँव-गाँव में लाना है। ग्राम इस शक्ति को आह्वान देकर अपने पास नहीं ला सका, इसीलिए आज उसके जलाशय सूखे पड़े हैं, मलेरिया के प्रकोप से दुःख-शोक ने विनाश-मूर्ति धारण की है, कायरता पुंजीभूत हो गई है। चारों ओर पराभव के ही दृश्य दिखाई पड़ते हैं। पराभव की क्लांति से मनुष्य निर्जीव हो गया है, इसीलिए उसे इतने अभाव सहने पड़ते हैं। वह कहता है: 'मैं असमर्थ हूँ।' शुष्क जलाशय से, उजड़े खेत से, श्मशानभूमि की अन्तहीन चिताओं से मानव के यही क्रन्दनमय शब्द सुनाई पड़ते हैं: 'मैं असमर्थ हूँ, मैंने हार मान ली।' इसलिए यदि हम आधुनिक युग की शक्ति को ग्रहण कर सकें तभी हमारी रक्षा होगी।

हमारे श्रीनिकेतन की यही वाणी है। हमने खेतों में कुछ विलायती बैंगन और आलू उगाए हैं, चिरकालीन करघों पर चादरें बुनी हैं, इसीसे हमारा उद्धार नहीं होगा। जिस महान् शक्ति को हम अपने वश में नहीं कर सके हैं वह हमारे लिए दानवी शक्ति है। आज हमने जो थोड़ा-बहुत संग्रह किया है उससे हमें दानवों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए यथेष्ट उपकरण नहीं मिलते।

पुराणों में हमने पढ़ा है, एक दिन दैत्यों के विरुद्ध संग्राम में देवताओं की पराजय हो रही थी। तब उन्होंने अपने गुरु-पुत्र को दैत्यों के गुरु के पास भेजा। उनका संकल्प था ऐसी विद्या को देवलोक में लाना जिसके द्वारा मृत्यु से रक्षा हो सके। उन्होंने अवज्ञापूर्वक यह नहीं कहा कि 'हमें दानवों की विद्या नहीं चाहिए।' दानवों से विद्या प्राप्त करके उन्होंने दानवपुरी का निर्माण करना नहीं चाहा बल्कि स्वर्ग की रक्षा करनी चाही। दानवों का व्यवहार स्वर्ग का व्यवहार नहीं है, लेकिन जिस विद्या ने दानवों को शक्ति दी है वह देवताओं को भी शक्ति देती है। विद्या में जातिभेद नहीं होता।

आजकल हमारे देश में यह बात अक्सर सुनी जाति है कि योरोपीय विद्या हमें नहीं चाहिए, वह शैतान की विद्या है। हम ऐसी बात नहीं कहेंगे। हम नहीं कहेंगे कि शक्ति हम पर आघात करती है, इसलिए अशक्ति ही श्रेयस्कर है। शक्ति के आघात से बचना हो तो शक्ति को ग्रहण करना होगा, उसका त्याग करने

से आघात अधिक तीव्र होगा, घटेगा नहीं। सत्य को अस्वीकार करने से सत्य हमारा नाश करता है। उससे रूठकर यह कहना कि 'हमें सत्य नहीं चाहिए' मूढ़ता है।

उपनिषद् में कहा है कि जो 'एक' है वह—'वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति'—नाना देशों के लोगों को उनका निहितार्थ प्रदान करता है। मतलब यह है कि लोग जो चाहते हैं उसे प्रजापति ने उन्हींके अन्तःकरण में प्रच्छन्न रखा है। मनुष्य को उसका आविष्कार करना है, तभी वह दान दी हुई वस्तु उसकी अपनी हो उठेगी। युग-युग में इस निहितार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। इस निहितार्थ को ईश्वर ने दिया है। 'बहुधा शक्ति योगात्'—बहुधा-शक्ति के योग से। निहितार्थ के साथ-साथ हम इस बहुदिशागामिनी शक्ति को भी प्राप्त करते हैं। आधुनिक युग के योरोपीय साधकों को इस निहितार्थ का विशेष रूप से सन्धान मिला है; उसके योग से उन्होंने एक विशेष शक्ति उपलब्ध की है। यह शक्ति आज 'बहुधा' होकर विश्व को फिर से जीतने के लिए निकली है। लेकिन यह शक्ति, यह अर्थ, जिसका है वह सभी वर्णों के लोगों के लिए एक है—एकोऽवर्णः। उस शक्ति का अर्थ चाहे किसी विशेष काल या देश में व्यक्त हो, वह सभी युगों और देशों के लिए एक है। विज्ञान का सत्य कोई भी पण्डित कहीं भी आविष्कार करे, वह देश-निरपेक्ष है, एक है। इसलिए, इस शक्ति के आविष्कार से सबको एक होने में सहायता मिलनी चाहिए। विज्ञान जहाँ भी सत्य है, वहाँ वह सभी देशों के लोगों को ऐक्य प्रदान करता है। लेकिन उस शक्ति का बँटवारा करके मनुष्य एक-दूसरे से झगड़ा करता है। यह विरोध सत्य में या शक्ति में नहीं, हमारे चरित्र में जो असत्य है, दुर्बलता है, उसीमें है। इसलिए उसी श्लोक के अन्त में कहा गया है :

'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'

वह हम सबको, हम सबकी शक्ति को, शुभ बुद्धि द्वारा संयुक्त करे !

सहकारिता

सभ्यता की एक विशेष अवस्था में नगर अपने-आप गाँव की अपेक्षा अधिक प्राधान्य लाभ करता है। यह बात नहीं कि देश का प्राण नगर में अधिक विकसित होता है; लेकिन देश की शक्ति नगर में अवश्य संहृत हो उठती है, और इसीमें उसका गौरव है।

सामाजिकता लोकालय का प्राण है। लेकिन नगर में सामाजिकता सुदृढ़ नहीं हो सकती—नगर का आयतन विस्तृत होता है और स्वभावतः लोगों के पारस्परिक सामाजिक सम्बन्ध शिथिल-से हो जाते हैं। व्यवसाय और अन्य विशेष प्रयोजनों के कारण नगर में जनसंख्या बढ़ती जाती है इसलिए वहाँ मनुष्य आवश्यकतानुसार ही सम्बन्ध जोड़ता है। शहर के एक ही मोहल्ले में रहने वाले लोगों का भी एक-दूसरे से परिचय न हो तो यह लज्जा की बात नहीं समझी जाती। जीवन-यात्रा की जटिलता के साथ-साथ यह विच्छेद क्रमशः तीव्र होता गया, मेरे बचपन में मोहल्ले के लोग हमारे घर में आत्मीयता के भाव से आते-जाते थे। हमारे घर के तालाब में आस-पास रहने वाले कितने ही लोग नहाते, पड़ोसी हमारे बाग़ में सैर करने आते, लोग पूजा के लिए बिना रोक-टोक फूल चुनकर ले जाते, बरामदे में चौकी पड़ी रहती और पड़ोसी आकर इच्छानुसार हुक्का पीते। क्रिया-कर्म और आमोद-प्रमोद के मौक़े पर सभी आते। उन दिनों इमारत से लगे हुए कई आँगन थे—केवल धूप और हवा के मुक्त प्रवेश के लिए नहीं, वरन् सर्वसाधारण के प्रवेश के लिए भी। अपने प्रयोजन के बीच दूसरों के प्रयोजन को स्थान दिया जाता था; अपनी सम्पत्ति को अपने ही भोग के लिए नहीं रखा जाता था। धनवान् के भण्डार का एक दरवाज़ा उसके अपने लिए होता था, दूसरा दरवाज़ा समाज के लिए। धनी का सौभाग्य दूसरों के जीवन में अभिव्यक्त होता था। उन दिनों क्रिया-कर्म का अर्थ था अनिमन्त्रित लोगों को भी अपने घर में स्वीकार करने का आयोजन।

इससे हम देख सकते हैं कि ग्रामीण बंगाल की सामाजिक प्रकृति को उन दिनों नगरों में भी स्थान मिला था। नगर और गाँव में बाह्य रूप से विभेद होने पर भी उसमें चारित्रिक मिलन था। प्राचीन युग में हमारे देश के बड़े-बड़े नगर इसी श्रेणी के थे, इसमें सन्देह नहीं। अपने 'नागरिकत्व' पर गर्व करते हुए भी वे गाँव के साथ अपना एकजातित्व स्वीकार करते थे। नगर और गाँव का सम्बन्ध दालान और

कमरे के सम्बन्ध की तरह था—दालान में ऐश्वर्य और आडम्बर हो सकता है, लेकिन आराम कमरे में ही मिलता है और घर के इन दोनों हिस्सों के बीच पथ खुला रहता है।

स्पष्ट देखा जाता है कि आज परिस्थिति बदल गई है। पिछले पचास वर्षों में नगर नितान्त नगर हो उठा है, उसके खिड़की-दरवाज़ों से 'गाँव' का प्रवेश नहीं होता। इसीको कहते हैं : 'घर के लिए आँगन विदेश'। नगर के चारों ओर गाँव हैं, पर ऐसा लगता है, मानो वे शत-योजन दूर हों।

इस तरह का कृत्रिम असामञ्जस्य कभी कल्याणप्रद नहीं हो सकता। यह केवल हमारे देश में ही आधुनिक जीवन की विशेषता नहीं है; आज के युग का यह एक साधारण लक्षण है। वस्तुतः पश्चिम की हवा ने ही सामाजिक आत्मविच्छेद के बीज पृथ्वी के प्रत्येक भाग में पहुँचाए हैं। इससे मानवजाति की सुख और शान्ति को आघात लगता है, और अन्दर-ही-अन्दर ये बीज प्राण-घातक सिद्ध होते हैं। इसलिए सभी देशों के लोगों को इस समस्या पर विचार करना है।

योरोप में जिसे 'सभ्यता' कहा जाता है वह साधारण प्राण का शोषण करके विशेष शक्ति को संहत करती है—वह बाँस-वृक्ष पर लगने वाले फूल की तरह है, जो पेड़ का सारा प्राण खींच लेता है। विशिष्टता बढ़ते-बढ़ते एकांगी हो जाती है, उसके भार से 'समस्त' में दरार पड़ जाती है और पतन अनिवार्य हो जाता है। तरह-तरह के आत्म-विद्रोह, जो आज हम योरोप में देखते हैं, ऐसी ही दरार के लक्षण हैं। कू-क्लुक्स-क्लैन, सोवियतवाद, फ़ासिज़्म, नारी-क्रान्ति, श्रमिक-विद्रोह इत्यादि आत्मघाती रूपों से यह बात सामने आती है कि वहाँ के समाज की ग्रन्थियाँ शिथिल हो गई हैं।

अँग्रेज़ी में जिसे exploitation कहते हैं—अर्थात् शोषण-नीति—वही है वर्तमान सभ्यता की नीति। थोड़े लोग बहुतों का शोषण करके बड़ा होना चाहते हैं। इससे कुछ विशिष्ट व्यक्ति, अपनी क्षुद्रता के बावजूद, फूलकर मोटे हो जाते हैं और साधारण लोगों का भरण-पोषण तक नहीं हो पाता। इससे समाज-विरोधी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का विकास होता है।

मैं पहले ही इस बात की ओर संकेत कर चुका हूँ कि देश की शक्ति का क्षेत्र नगर है, प्राण का क्षेत्र गाँव। आर्थिक या राजनैतिक शक्ति के लिए एक विशेष ढंग की विधि-व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। यह विधि सामाजिक विधि नहीं होती, इसमें मानव-धर्म की अपेक्षा यन्त्र धर्म अधिक प्रबल होता है। जो इस यन्त्र-व्यवस्था पर अधिकार जमा लेता है वही शक्ति-लाभ करता है। इसीलिए नगर

प्रधानत: प्रतियोगिता का क्षेत्र होता है; यहाँ सहयोगिता-प्रवृत्ति को यथोचित प्रोत्साहन नहीं मिलता।

शक्ति उत्पन्न करने के लिए अहंभाव और प्रतियोगिता का प्रयोजन होता है। लेकिन जब वह अपरिमित हो जाते हैं तब उनकी क्रिया सैद्धान्तिक सिद्ध होती है। आधुनिक सभ्यता ने, इस क्षेत्र में, परिमाण को बहुत पीछे छोड़ दिया है। इस सभ्यता की रक्षा के लिए बहुत-से आयोजन आवश्यक होते हैं; इसमें बहुत-सा धन व्यय होता है। यह सभ्यता विपुल उपकरणों पर आधारित है, अर्थ-दैन्य से इसका विरोध है। तभी इसकी दृष्टि में पूँजी की न्यूनता एक अपराध है। विद्या हो या स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद या कानून-अदालत, यातायात या खाद्य-सामग्री, युद्ध-चालना या शान्ति-रक्षा—इस सभ्यता में हर बात के लिए प्रचुर धन आवश्यक होता है। यहाँ निर्धन का प्रतिक्षण अपमान होता है। दारिद्र्य इस सभ्यता को बाधाग्रस्त करता है।

इसलिए आज धन का ही आदर होता है और धनवान् का ही समाज में प्रभाव होता है। आज की राजनीति का आधार राज्य-प्रताप का लोभ नहीं, वरन् धन-प्राप्ति के लिए वणिज्य-विस्तार का लोभ है। जब सभ्यता ने यह रूप धारण नहीं किया था उस समय गुणी, वीर, विद्वान्, कीर्तिवान् लोगों का धनिकों से अधिक आदर किया जाता था। उस समय यथार्थ मनुष्यत्व का सम्मान होना था। धन-संचय करने वालों के प्रति साधारण लोगों के मन अवज्ञा की भावना होती थी। आज सारी सभ्यता धनिकों की 'पराशित' (parasite) है। इसीलिए धन का अर्जन ही नहीं उसकी पूजा की जाती है। अपदेवता-पूजन से मनुष्य की शुभबुद्धि नष्ट हो जाती है--आज दुनिया में इस बात का प्रमाण सर्वत्र मिल रहा है। मानव मानव में ऐसी तीव्र शत्रुता पहले कभी नहीं थी। धन-लोभ-जैसी निष्ठुर और अन्यायपरायण प्रवृत्ति भी दूसरी कोई नहीं हो सकती। आधुनिक सभ्यता के असंख्य हाथों से यही लोभ उन्मथित हो रहा है। लोभपरितृप्ति का प्रयास उसके अन्य सब प्रयासों से अधिक परिमाण में आगे बढ़ा है।

लेकिन यह बात निश्चित रूप से समझनी होगी कि लोभ में पाप है, और पाप में मृत्यु है। लोभ सामाजिकता के प्रतिकूल प्रवृत्ति है। जो भी प्रवृत्ति मनुष्य की सामाजिकता को कमज़ोर बनाती है उससे पग-पग पर आत्म-विच्छेद उत्पन्न होता है, अशान्ति की आग सुलगती रहती है और आखिर मनुष्य की समाज-स्थिति विभक्त होकर उसका अवसान होता है।

पाश्चात्य देशों में हम आज देखते हैं कि धन अर्जन करने वालों का और जिनके

द्वारा धन अर्जन किया जाता है उनका आपस में तीव्र विरोध है। इस विरोध के मिटने का कोई उपाय भी नज़र नहीं आता। रुपया पैदा करने वाले का लोभ रुपया जमा करने वाले के लोभ से किसी तरह कम नहीं। दोनों पक्षों के लिए प्रचुर धन आवश्यक होता है—यदि सभ्यता का यथेष्ट मात्रा में उपभोग करना हो। ऐसी हालत में आपस की खींचातानी रुक नहीं सकती।

जब किसी कारण से लोभ और शक्ति की उत्तेजना असंयत हो जाती है, मनुष्य अपनी सर्वांगीण मनुष्यत्व-साधना पर ध्यान नहीं दे पाता। वह प्रबल होना चाहता है, परिपूर्ण होना नहीं चाहता। ऐसी ही अवस्था में नगर का आधिपत्य अपरिमित हो जाता है और गाँव की उपेक्षा की जाती है। प्रत्येक सुविधा या सुयोग, भोग का प्रत्येक आयोजन, नगर में ही एकत्रित हो जाता है। गाँव दास की तरह अन्न प्रस्तुत करता है और उसके बदले जो मिलता है उससे किसी तरह जीव-निर्वाह करता है। समाज के दो भाग हो जाते हैं—एक ओर कड़ी धूप होती है, दूसरी ओर घना अँधेरा। इस तरह योरोप की नगर-केन्द्रित सभ्यता मनुष्य की सर्वांगीणता को विच्छिन्न कर देती है। प्राचीन ग्रीक सभ्यता पूर्ण रूप से नगरों में संहत थी, तभी अल्पकाल के लिए ऐश्वर्य-सृष्टि करके वह लुप्त हो गई। ग्रीक-समाज प्रभु और दास में विभक्त हो गया। प्राचीन इटली भी नगर-केन्द्रित देश था। कुछ समय तक उसने प्रबलता से शक्ति-साधना की। लेकिन शक्ति स्वभावतः असामाजिक होती है—उससे देश के लोग दो हिस्सों में बँट जाते हैं : एक ओर शक्तिमान, दूसरी ओर शक्ति के वाहक। अल्प-संख्यक प्रभु बहुसंख्यक दासों के पराशित (parasite) हो जाते हैं और इस 'पाराशित्य' से मनुष्यत्व की नींव हिल जाती है।

पाश्चात्य महादेश की सभ्यता नागरिक है। वहाँ के लोगों ने केवल अपने ही देशों को नहीं, बल्कि सारी पृथ्वी को दो हिस्सों में बाँट दिया है—एक ओर आलोक, दूसरी ओर अन्धकार। उनकी आकांक्षा इतनी अधिक बढ़ गई है कि अपने निजी अधिकारों से वे तृप्त नहीं होते। इंग्लैण्ड निवासी जिस ऐश्वर्य को सभ्यता का आवश्यक अंग समझते हैं, उसकी रक्षा के लिए भारत की अधीनता उनके लिए अपरिहार्य हो गई है। भारत का त्याग करना उनके लिए तभी सम्भव होगा, जब वे इस अतिभोगी सभ्यता के आदर्श का त्याग करें। जो शक्ति-साधना उनका चरम लक्ष्य है उसके उपकरण के रूप में दास-जातियों की उन्हें ज़रूरत है। तभी आज ब्रिटिश जाति भारतवर्ष की 'पराशित' (parasite) हो गई है। और तभी योरोप के बड़े-बड़े देश एशिया-अफ्रीका को आपस में बाँट लेना चाहते है—अन्यथा उनकी भोग-बहुल सभ्यता भूखी रह जायगी। उनके अपने देशों में भी

अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्य लोगों के 'पराशित' हो गए हैं। आत्यन्तिक भोग में समानता असम्भव है—अल्पसंख्यक लोगों के संचय को बढ़ाने के लिए सर्वसाधारण को वंचित रहना ही पड़ता है। आज पाश्चात्य देशों में यही सबसे उग्र समस्या है। वहाँ श्रमिकों और धनिकों में जो विरोध है उसका मूल अपरिमित भोग का लोभ ही है। धनिकों और उनके 'वाहकों' का परस्पर विभेद गम्भीर है, और प्रभु-जाति-दासजाति का विरोध भी वैसा ही तीव्र है। दोनों पूर्णतया पृथक हैं। यह अति पार्थक्य मानव धर्म के विरुद्ध है। जहाँ मानवीय ऐक्य आहत होता है वहाँ विनाशकारी शक्तियाँ आगे बढ़ती हैं। मानव-समाज में प्रत्यक्ष रूप से दास प्रभु पर और भी अधिक तीव्र आघात करता है; वह धर्म-बुद्धि का ही विनाश करता है। मानव के लिए इससे अधिक सान्धानिक कुछ नहीं हो सकता। अन्न के अभाव से पशु की मृत्यु होती है, लेकिन धर्म के अभाव से मानव की मृत्यु होती है।

'ईसप' की एक कहानी है जिसमें एक काणा हिरन है। जिस दिशा में उसकी फूटी आँख है वहीं से बाण उस पर लगता है। वर्तमान मानव-सभ्यता का 'काणा' पक्ष है उसकी विषयलोलुपता। आज हम देखते हैं कि ज्ञानार्जन की दिशा में दारुण प्रतियोगिता है। वर्तमान युग में योरोप का ज्ञान-प्रदीप सहस्र शिखाओं में जल उठा है। ज्ञान के प्रभाव से योरोप ने सारी पृथ्वी में अपना मस्तक ऊँचा किया है। मनुष्य के ज्ञान-यज्ञ में आज योरोप के देश ही पुरोहित हैं। होमानल के लिए वे विविध दिशाओं से ईंधन जमा करते हैं। यह होमाग्नि सदा जलती रहे, यही योरोप का प्रयास है। मानवीय इतिहास में ज्ञान-क्षेत्र में ऐसी व्यापक सहकारिता पहले कभी नहीं देखी गई। अब तक प्रत्येक देश स्वतन्त्र रूप से अपनी विद्या का उद्भावन करता रहा है। ग्रीस की विद्या प्रधानतः ग्रीस तक ही सीमित थी, रोम की रोम तक—और यही बात भारत तथा चीन की विद्या के बारे में कही जा सकती है। सौभाग्यवश योरोपीय महाद्वीप के विभिन्न देश-प्रदेश एक-दूसरे से निकट हैं, उनकी प्राकृतिक सीमाएँ दुर्जेय नहीं हैं। विस्तीर्ण मरुभूमि या उत्तुंग पर्वतमाला से योरोप के देश पृथक् नहीं हुए हैं। इसके अलावा योरोप में एक ही धर्म ने सारे देशों पर अधिकार किया है; और इस धर्म का दीर्घकाल तक एक ही केन्द्र रहा है, अर्थात् रोम।

एक ही लैटिन भाषा के आधार पर योरोप के देशों में सदियों विद्या का विकास हुआ है, आलोचना हुई है। धर्म के साथ-ही-साथ सारे योरोपीय महादेश में विद्या का भी ऐक्य प्रतिष्ठित हुआ है—योरोप का धर्म ऐक्यमूलक रहा है—क्राइस्ट का प्रेम इस धर्म का केन्द्र और सर्वमानव की सेवा इसका अनुशासन रहा है। बाद में

लैटिन की छत्रछाया से बाहर निकलकर योरोप के प्रत्येक देश में अपनी अलग भाषा में विद्या का विकास आरम्भ हुआ। लेकिन सहयोग-नीति के अनुकरण से विभिन्न देशों की विद्या एक प्रणाली से संचारित और एक भण्डार में संचित होने लगी। इसीसे उत्पन्न हुई पाश्चात्य सभ्यता सहयोग-मूलक ज्ञान की सभ्यता, विद्या के क्षेत्र में अनेक प्रत्यंगों के संयोग से एकांगीकृत सभ्यता। हम 'प्राच्य-सभ्यता' की बातें करते हैं, लेकिन यह सभ्यता अलग-अलग एशियायी देशों के चित्त के सहयोग पर आधारित नहीं है। इसका परिचय नेतिवाचक है—यह सभ्यता 'योरोपीय नहीं है,' इतना ही कहा जा सकता है। अरब और चीन की विद्या में कोई मेल नहीं—वरन् अनेक विषयों में उनमें विरोध है।

हिन्दू और पश्चिम-एशियायी सेमिटिक सभ्यता की तुलना की जाय तो तीव्र वैषम्य सामने आता है, चाहे हम बाह्य रूप की ओर ध्यान दें या आन्तरिक प्रकृति की ओर। इन दोनों का चित्त-ऐश्वर्य अलग-अलग भण्डारों में संचित हुआ है। ज्ञान के क्षेत्र में सहयोग के अभाव से एशियायी सभ्यता प्राचीन इतिहास के अलग-अलग अध्यायों में खण्डित हो गई है। ऐतिहासिक संघात से कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत आदान-प्रदान अवश्य हुआ है, लेकिन एशिया के चित्त ने एक कलेवर नहीं धारण किया। इसलिए जब हम 'प्राच्य सभ्यता' शब्दों का प्रयोग करते हैं तो स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी अलग सभ्यता पर ही हमारी दृष्टि जाती है।

एशिया की यह विच्छिन्न सभ्यता वर्तमान युग पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकी, जैसा कि योरोप डाल सका है। इसका कारण यही है कि सहयोगी-नीति ही मनुष्यत्व की मूल नीति है, मनुष्य सहयोगिता की शक्ति से मनुष्य बना है। सभ्यता का अर्थ है मनुष्यों की पारस्परिक सहकारिता।

लेकिन इस योरोपीय सभ्यता में कहीं विनाश के बीज बोये जा रहे हैं—उस स्थान पर जहाँ वह मानव-धर्म-विरोधी हो जाती है, जहाँ वह सहयोग-नीति पर नहीं चलती। यह है उसका वैषयिक पक्ष। जहाँ योरोप के विभिन्न देश स्वतन्त्र और परस्पर-विरोधी हैं वैषयिक क्षेत्र में यह विरोध अस्वाभाविक मात्रा में बढ़ गया है—और इसका कारण यह है कि विज्ञान की सहायता से विषम वस्तुओं का आयोजन-आयतन अत्यन्त विपुल हो [illegible] है। परिणामस्वरूप योरोपीय सभ्यता में एक अद्भुत [illegible] क ओर मानव की रक्षा करने वाली [illegible] की उर्वरता, शरीर का आरोग्य, [illegible] आज सम्पन्न हुआ है वैसा पहले [illegible] से अमृत प्राप्त किया है। लेकिन [illegible] की ऐसी विराट साधना भी आज

तक कभी नहीं देखी गई। पश्चिम का प्रत्येक देश इस मृत्यु-साधना के उत्सव में मग्न है। ऐसे आत्म-घातक अध्यवसाय की मनुष्य ने आज तक कभी कल्पना भी नहीं की थी। ज्ञान-सहयोग द्वारा योरोप ने जिस प्रचण्ड शक्ति को हस्तगत किया है उसका प्रयोग आत्मविनाश के लिए किया जा रहा है। मानव-जीवन में सहकारिता और असहकारिता का ऐसा प्रकाण्ड विरोध इतिहास में और कभी नहीं देखा गया। ज्ञान के अन्वेषण से मनुष्य रक्षा के पथ पर चल रहा है, विषय-भोग के अन्वेषण से मृत्यु-पथ पर चल रहा है। अन्त में विजय किस पथ की होगी, यह कहना मुश्किल है।

कुछ लोग कहते हैं, मानवीय व्यवहार से यन्त्र बिलकुल निर्वासित करने से सारी विपत्ति दूर होगी। लेकिन यह विचार श्रद्धा के योग्य नहीं। पशुओं के चार पैर होते हैं, हाथ नहीं होते। जीविका-निर्वाह के लिए आवश्यक काम वे किसी-न-किसी तरह कर लेते हैं—और इस 'किसी-न-किसी तरह काम चलाने' में ही दैन्य है, पराजय है। मनुष्य को भाग्यवश दो हाथ मिले हैं, काम करने के लिए। इनसे उसकी कार्य-शक्ति बहुत बढ़ गई है। इसी सुविधा के कारण वह जीव-जगत् के अन्य सब प्राणियों पर विजय-लाभ कर सका है। आज सारी पृथ्वी पर उसका अधिकार है। दो हाथ प्राप्त करने के बाद मनुष्य ने जब भी यन्त्र की मदद से अपनी कर्म-शक्ति को बढ़ाया तब वह जीवन-पथ पर विजय की ओर अग्रसर हुआ है। इस कर्म-शक्ति का अभाव ही पशुत्व है, इसकी पूर्णता मनुष्यत्व है। इस शक्ति को संकुचित करने का परामर्श कभी नहीं दिया जा सकता—और यदि ऐसी सलाह दी जाय तो मनुष्य उसे मानेगा नहीं। कर्म-शक्ति के वाहन पर जो देश अधिकार नहीं कर पाता उसकी पराजय उतनी ही अनिवार्य है जितनी मनुष्य के हाथों पशु की पराजय।

शक्ति संकुचित न होने पाये; साथ-ही-साथ शक्ति के संगठन से मनुष्य पर आघात भी न हो—इन दोनों बातों का सामंजस्य कैसे संभव है, यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय है।

जब शक्ति के उपायों और उपकरणों को एक विशेष व्यक्ति या दल अपने हाथों में ले लेता है तो अन्य लोगों के लिए कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। किसी
समय सभी देशों की राजनैतिक व्यव ... ों दीर्घका... ...ित किसी एक
व्यक्ति और उसके अनुचरों तक सीमि...
...र योरोप के देशों में सदियों विद्या का विकास
थोड़े-से लोगों की इच्छा को दबाकर ...थ-ही-साथ सारे योरोपीय महादेश में विद्या
विकृति से मनुष्य को बचाने के लिए ...ोप का धर्म ऐक्यमूलक रहा है—क्राइस्ट का
...की सेवा इसका अनुशासन रहा है। बाद में